

THE
KASHI SANSKRIT SERIES

93

THE
ĀPASTAMBA-DHARMA-SŪTRA

WITH THE 'UJJVALĀ' COMMENTARY

OF
ŚRĪ HARADATTA MIŚRA

AND

*Notes by Śrī A. Chinnaswāmi Śāstrī
and Pandit A. Rāmanātha Śāstrī*

Edited with

Hindī Translation, Explanatory Notes, Critical

Introduction & Index

by

DR. UMEŚA CHANDRA PĀNDEYA, M. A., Ph. D.,

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1969

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

९३



॥ श्रीः ॥

आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्

श्रीमद्भरतमिश्रविरचितया उज्ज्वलाह्वयया
दृष्ट्या संवलितम्

महामहोपाध्यायश्रीचिन्नस्वामिशशिणा
मीमांसाशिरोमणि पं० अ० रामनाथशास्त्रिणा च
टिप्पण्यादिभिः संयोज्य संशोधितम् ।

हिन्दी-व्याख्याकारः

डॉ० उमेशचन्द्रपाण्डेयः

एम० ए०, पी-एच० डी०,



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-६

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-१
संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०२६
मूल्य : ३०

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office
Gopal Mandir Lane
P. O. Chowkhamba, Post Box 8
Varanasi-1 (India)
1969
Phone : 3145

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चीक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन.: ३०७६

Second Edition

1969

Price : Rs. ~~200.00~~

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Phone : 3076

भूमिका

इदमिदानीं श्रीमदापस्तम्बमहर्षिप्रणीतं धर्मसूत्रं श्रीमिश्रहरदत्तप्रणी-
तया उज्ज्वलाख्यया वृत्त्या समुज्ज्वलितं मुद्रयित्वा प्रकाशं प्राप्य प्रेक्षावतां
चक्षुर्गोचरतामापाद्यते । ग्रन्थोऽयं बहुत्र बहुधा मुद्रितोऽपि एतद्दि-
दीर्घभ्यमेवासाद्य एतदधीतिबोधोपाचरणप्रचाराणां छात्राणामव्या-
पयितृणां च कामपि कष्टमेव दशामापादयन्नवर्तते । तदिदं दुःखं
दूरीकर्तुं कामेन चोत्सन्नासंस्कृतपुस्तकालयाधिपतिना सुरभारतीसेवने-
कफलात्मात्मजीवितमापाद्यता श्रेष्ठिर्षयेण श्रीजयकृष्णदासगुप्तमहोदयेन
ग्रन्थस्यास्य पुनस्तसंस्करणे कृतमतीभूय एतत्संशोधनार्थमावामभ्य-
र्थितौ । आवाभ्यामपि तच्चिन्तितं साधु मन्वानाभ्यां कार्यमेतत् स्वीकृत्य,
अभ्ययनाभ्यापनाद्यवशिष्टेऽल्पीयसि काले यथामति परिशोभ्य प्रकाशं
नीतोऽयं ग्रन्थः ।

एतद्ग्रन्थसंशोधनार्थं अथोऽङ्कितान्यादर्शपुस्तकानि समुपयोजितानि-

- (१) कुम्भघोरो नागराक्षरेषु मुद्रितं मदीयं पुस्तकमेकम् ।
- (२) सुन्दर्यां Dr. बूलर् महाशयेन मुद्रितं विश्वविद्यालयीयं
पुस्तकं द्वितीयम् ।
- (३) अस्मन्मातुलपृष्ठादानीतं ग्रन्थाक्षरैस्तालपत्रेषु लिखितं तृतीयम् ।
- (४) पण्डितप्रवरश्रीविद्याधरशर्ममहोदयानां हस्तलिखितं पुस्तकं
चतुर्थम् ।
- (५) मैसूरपुरे देवनागराक्षरेषु मुद्रितं सरस्वतीभवनाल्लङ्घं पुस्तकं
पञ्चमम् ।
- (६) मदीशरपुर एव नैलङ्गाक्षरेषु मुद्रितं षष्ठम् ।
- (७) दक्षिणदेशस्थसुन्दरगिरिसमाख्यग्राम(नल्लूर)वास्तव्यातां
श्रीमतां पं० कन्याणसुन्दरशास्त्रिणां ग्रन्थाक्षरैस्तालपत्रेषु लिखितं सप्तमम् ।
- (८) श्रीमतामाचार्यप्रथममहोदयानां पुस्तकमंगलभाषणुवाद्-
रूपमष्टमम् ।

एतत्पुस्तकाष्टकमवलम्ब्य संशोध्य मुद्रितमपीदं पुस्तकमन्ततः पुरय-
स्वभावसुलभया कथाचिदशुद्धिसन्तत्याऽपरिरक्तमेव धर्वतीति तदप्युक्त-
चेऽशुद्धसंशोधनं ग्रन्थान्ते सन्नियोजितम् । प्रथमप्रस्तीयस्याष्टमपटलाः

स्मकस्याऽध्यात्मपटलस्यापरा काचिद्व्याख्या श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यप्रणीता अनन्तशयनग्रन्थमालायां पूर्वं मुद्रिताऽपि अभ्येष्टसौकर्यार्थमत्रैवोच्चलया साकं पुनर्मुद्रिता । यद्यपि व्याख्याया अस्याः शङ्करभगवत्पादीयत्वेऽत्रैव तथोल्लेखनमृते नान्यत्किञ्चन प्रमाणमुपलभ्यते, नापि तदीयव्याख्याशैल्याऽन्यत्र स्थितया सद्देयं संवदति, तथाऽपि यावत्तदनुरोधि विरोधि वा प्रमाणमुपलभामहे तावदस्मिन्विषये जोषंभावमेव शरणं समुचितं मन्यानौ तूष्णीमास्वहे ।

सूत्रप्रयोगः श्रीमदापस्तम्बहर्षेः श्रीमिश्रहरदत्ताचार्यस्य चेतिवृत्तविषये यदुक्तमस्माभिरापस्तम्बगृह्यसूत्रभूमिकायां न ततोऽधिकं विशेषं वक्तुं पायतेऽस्मद्धस्तगतामैतिहासिकसामग्रीमवलम्ब्य, परन्तु—हरदत्ताचार्योः मद्रदेशान्तर्गतचोलदेशनिवासिनः द्राविडभाषाभाषिणश्चेत्यवगम्यते तदीयैरेव वचनैः । ते हि—‘यथावर्षं प्रजा दानं दूरेदर्शनं मनोजवता’ (आप. धर्म. २-२३-७) इति सूत्रव्याख्यानवसरे दूरदर्शनोदाहरणार्थं यस्य कस्यचिद्देशस्योपादाने प्रसक्ते, ‘चोलेष्ववस्थितास्तदेव हिमवन्तं दिदृशेरन्’ इति चोलदेशमेवोपाददते । एवं ‘स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णभ्यः’ (आप. धर्म. २-२६-१६) इति सूत्रे ‘द्राविडाः कन्या-भेपस्थे सवितर्या-दित्यपूजामाचरन्ती’ति द्राविडाचारमेव प्रमाणयन्ति । एवमेव गौतमधर्मसूत्रव्याख्यायां ‘मिताक्षरायामपि’ ‘चाल्देशान्तरितप्रव्रजितानामसपिण्डानां सद्यशौचम्’ (गौ. ध. १४-४४) इत्याशौचप्रकरणस्थं सूत्रं व्याचक्षाणाः ‘अनुष्ठानमपि चोलदेशे प्रायेणैवम्’ इति चोलदेशाचारमेव प्रमाणयन्ति । एवं तत्रैव ‘मौञ्जी ज्या मौर्वी मेखला क्रमेणे’ (गौ. ध. १-१५) ति सूत्रे ‘मूर्धा क्षारण्य ओषधिविशेषः, यस्यारत्रिप्रमाणानि पत्राणि व्यङ्गुलविस्वारोणि मरल् इति द्राविडभाषायां प्रसिद्धिरिति,’ ‘कुण्डाशी’ (गौ. ध. १५-१८) इति सूत्रे, ‘किलासः त्वग्दीपः तेमल् इति द्राविडभाषायां प्रसिद्धः’ इति च द्राविडीमेव प्रसिद्धिसुपादाना इमे आत्मनो द्राविडदेशनिवासित्वं द्राविडभाषाभाषित्वञ्च स्पष्टमेवावगमयन्ति ।

१. इमे एव हरदत्ताचार्याः गौतमधर्मसूत्रव्याख्यातार इति निरूपितमापस्तम्बगृह्यसूत्रभूमिकायाम् । तत् ततोऽवगन्तव्यम् ।

२. गौतमधर्मसूत्रव्याख्यायां मिताक्षरायां मद्रपुरे तैलङ्गारमुद्रितायां ११९ पृष्ठे २३ पङ्क्ती द्रष्टव्यम् ।

३. ४. तैलङ्गारमुद्रितमिताक्षरापुरस्तके यथाक्रमं ४, १६, १२५, २३, पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

उज्ज्वलानाकुलयोः पौर्वापर्यालोचनायां प्रथममनाकुला तत उज्ज्वलोल्ययगम्यते, यत उज्ज्वलायां बहूत्र “तस्यापि प्रयोगो गृह्य एवोक्तः ।” ‘प्रपञ्चितमेतत् गृह्ये’ “वयं तु न तथेति गृह्य एवाऽत्रोचाम” ‘एतत् गृह्ये व्याख्यातम्’ (आप. ध. पृ. ५१, ७२, २०८) इति व्यपदिष्टं तैः । अतो यथा मूलभूतयोगृह्यधर्मसूत्रग्रन्थयोः पौर्वापर्यं, एवमेव तद्दृष्टयोरनाकुलो-उज्ज्वलयोरपीति प्रतीयते—इत्येतावदधिकमत्र विवक्षितम् ।

एसन्मुद्रणत्रिपये पुस्तकप्रदानेन, पुस्तकालयीयं नियममव्यविगणध्यथावन्मुद्रणमस्मद्धस्त एव पुस्तकस्यावस्थापनेन चास्मान् सुदूरमनु-गृहीतवतां श्रीमतामाचार्यध्रुवमहोदयानां, श्रीमतां पण्डितप्रकाण्ड-गोपीनाथकविराजमहोदयानां, अन्येषाञ्च विद्युधरेण्यानां विषयेऽत्यन्त-मधमर्णावावां तान् प्रति कार्तहमतितरामाविष्कुर्वहे ।

एवं सुरभारतीसमुज्जीवनबद्धपरिकरं श्रीजयकृष्णदासहरिदासगुप्तम-होदयं श्रेष्ठिष्वर्यं प्रति बह्वीराशिषः प्रयुञ्ज्वहे ।

इतः पूर्वतनान्यदसीयान्ति, संस्करणान्यपेक्ष्य संस्करणोऽस्मिन् केनच-नापि वैजात्येन तादृश्या च छात्रोपकृत्या भाव्यमिति संकल्पेनावाभ्या-मत्र यतितम् । तत्रावां प्राप्तसाफल्यौ न वेति निर्णये मनीषिमनीषैव निकषोपलः ।

॥ इति सर्वं शिवम् ॥

वाराणसी

चैत्रकृष्णनवमी सं० १९८८

३०—३—१९३२

सुधीजनवशंवदौ

अ. चित्रस्वामिशास्त्री

अ. रामनाथशास्त्री च

दो शब्द

‘गौतमधर्मसूत्र’ के हिन्दी अनुवाद के बाद ‘आपस्तम्बधर्मसूत्र’ को हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत करते हुए मेरा लक्ष्य यही है कि धर्मशास्त्रीय विचारों के व्यापक बोध में कुछ योगदान कर सकूँ। प्राचीन मान्यताओं का अध्ययन कर उनकी युगसापेक्ष व्याख्या करने से ही हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं का समाधान हो सकता है। अतीत के ऐतिहासिक अध्ययन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि परिवर्तन के पहिए को पीछे घुमाने का निष्फल प्रयास किया जाय। परम्परागत धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों की उपयोगिता उनके उत्तम पहलू एवं नैतिकता के जीवनदर्शन को समझने एवं व्यवहार में अनूदित करने में ही निहित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सूत्रों का सरल हिन्दी अनुवाद देने का प्रयास किया गया है और जहाँ सूत्र के अर्थ के विषय में स्पष्टीकरण आवश्यक है, वहाँ टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। प्रस्तावना में धर्मसूत्र साहित्य एवं भारतीय धर्म के स्वरूप पर विचार किया गया है और विशेषतः ‘आपस्तम्बधर्मसूत्र’ का समालोचनात्मक एवं सामाजिक अध्ययन भी संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। अन्त में सूत्रों में आए हुए विषयों एवं नामों की अनुक्रमणिका दी गयी है, जिससे अनुसन्धाताओं को सुविधा होगी।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन और मुद्रण का सारा श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस के अनुभवी संचालकों को है अतः उन्हें अपनी ओर से धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है। अन्त में जिनके विश्वासपूर्ण सहयोग एवं प्रेरणा से मैं भारतीय साहित्य की यत्किंचित् सेवा करने में सलम हूँ, उन स्वजन एवं प्रियजन के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ हूँ। गुरुजनों के आशीर्वाद से यह मेरा परिश्रम सफल होगा, यही आशा है।

‘विधानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।

यद् मद्रं तत्र आ सुव ॥’

धिनीत

उमेशचन्द्र पाण्डेय

प्रस्तावना

सूत्र साहित्य—

सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है और इसकी अनोखी शैली ही इसकी विशेषता है। वैदिक साहित्य में सूत्रों का काल अध्ययन और चिन्तन की एक परंपरा का प्रतिनिधि है और भारतीय साहित्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। सूत्र साहित्य एक ऐसी गूढ़ता है जो वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत साहित्य से जोड़ती है। जैसा कि माक्स म्युल्लेर ने कहा है। इन सूत्रों की शैली का परिचय उसी व्यक्ति को मिल सकता है जिसने इन्हें समझने का प्रयत्न किया है और इनका सांख्यिक अनुवाद तो सम्भव ही ही नहीं सकता। सूत्र का अर्थ है धारा और सूत्रों में छोटे, सुस्त, अर्थसम्पित वाक्यों को मानों एक धागे में पिरोकर रखा जाता है। सचिसता इनकी विशेषता है। पश्चिमी विद्वानों ने इन सूत्रों की शैली पर बहुत आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। प्रो० माक्स म्युल्लेर ने प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास नामक ग्रन्थ में सूत्र साहित्य के सन्दर्भ में लिखा है—

“Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law or philosophy, is reduced to a mere skeleton. All the important points and joints of a system are laid open with the greatest precision and clearness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas.”

(Page 37).

कोलेक्क ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है—

“Every apparent simplicity of design vanishes in the plexity of the structure. The endless pursuit of exceptions and limitations so disjoins the general precepts, that the reader cannot keep in view their intended connection and mutual relation. He wonders in an intricate maze, and the clue to the labyrinth is continually slipping from his hands.”

सूत्र रचनाओं में अनेक शताब्दियों के ज्ञान का भण्डार एकत्र किया गया है। वे शताब्दियों के चिन्तन, मनन और अध्ययन के परिणाम हैं और उन्हें जो रूप प्राप्त हुआ है वह भी अनेक शताब्दियों की अनवरत परम्परा का परिणाम है। धर्मसूत्रों को ध्रुव के अन्तर्गत नहीं माना जाता है, जैसा कि इसके पूर्ववर्ती साहित्य—संहिता और ब्राह्मण—को माना जाता है। इस प्रकार

धर्मसूत्र अपौरुषेय न होकर पौरुषेय रचनाएँ हैं। यदि ब्राह्मणों और परवर्ती काल के मन्त्रों के साथ तुलना करें, तो हमें सूत्रों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिसके कारण उन्हें श्रुति में सम्मिलित न किया जाय। हाँ, इसका एक ठोस कारण हो सकता है उनकी वाद के समय की रचना। इनके मनुष्यों द्वारा लिखित होने का स्पष्ट ज्ञान है, यथा—

“यथैव हि कल्पसूत्रग्रन्थानितरांगस्मृति-नियन्धनानि चाध्येन्नप्यापकितारः स्मरन्ति तथाध्यायन-दौघायनापरतन्मन्त्रकार्यायानप्रभृतीन् ग्रंथकारश्चेन ।”

श्रुति के विपरीत स्मृति में न केवल सूत्र रचनाएँ आती हैं, अपितु मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि के श्लोक में निबद्ध ग्रंथ भी आते हैं, जिन्हें स्पष्टतः स्मृति कहा गया है।

स्मृति का आधार भी श्रुति ही है। श्रुति से स्वतन्त्र रूप में स्मृति की प्रामाणिकता नहीं होती। जैसा कि कुमारिल ने कहा है इसके नाम से ही यह तथ्य स्पष्ट है—

पूर्वविज्ञानविषयज्ञानं स्मृतिरिहोच्यते ।

पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते ॥

इस प्रकार सूत्रों के दो विस्तृत वर्ग किये जाते हैं—श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र। इनमें श्रौतसूत्र तो वे हैं जिनके स्रोत श्रुति में मिलते हैं और स्मार्त वे हैं जिनका कोई इस प्रकार का स्रोत नहीं है। यह स्मरणीय है कि जिन विषयों का विवेचन सूत्रों—श्रौत, गृह्य और सामय्याचारिक सूत्रों—में किया गया है, उन्हीं का प्रतिपादन श्लोकबद्ध स्मृतियों में भी किया गया है। जैसा कि आगे बताया जायगा, इनका अन्तर विषय-वस्तु का नहीं, अपितु उनके काल और उनकी शैली का है।

वैदिक साहित्य में सूत्र साहित्य को वेदाङ्ग के अन्तर्गत कल्प शीर्षक में रखा गया है। षरणस्पृह के अनुसार—“शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्’ ये वेदाङ्ग हैं। आपस्तम्ब ने भी इन्हें इस क्रम में गिनाया है २.४.८ ‘पठङ्गो वेदः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा’। कल्प सबसे पूर्ण वेदाङ्ग है, इसके अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है। ये सूत्र यज्ञ के नियमों के विषय में हैं। इनके महाव के विषय में माक्स म्युलेर ने ठीक ही कहा है :—कल्पसूत्रों का वैदिक साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से महाव है। वे न केवल साहित्य के एक नये युग के द्योतक हैं और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन के एक नये प्रयोजन के सूचक हैं, अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के छोप में योग दिया, जिनका अब केवल नाम ही ज्ञात है। यज्ञ का सम्पादन केवल वेद द्वारा, केवल कल्पसूत्र द्वारा ही हो

सकता था, किन्तु बिना सूत्रों की सहायता के ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान पादा कठिन ही नहीं, असम्भव था । कुमारिल ने कल्पसूत्र के महारच के विषय में कहा है—

वेदाह्तेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः ।

न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात् ॥

कल्पसूत्रों के महारच के कारण ही इनके रचयिता स्वयं नयी शाखाओं के संस्थापक बन गये और उनकी शाखा में उनके सूत्र का ही प्रधान स्थान हो गया तथा ब्राह्मण और वेद का महारच कुछ सीमा तक कम हो गया । यद्यपि सूत्र रमृति थे, श्रुति नहीं, तथापि उन्हें स्वाध्याय के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया । विभिन्न चरणों एवं शाखाओं में सूत्र साहित्य के विकास के सम्बंध में यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी कल्पसूत्र शाखाओं के अन्तर्गत मिश्र होते हैं और कभी मिश्र नहीं होते हैं । शाखाओं के भेद का एक कारण उनके स्वाध्याय का भेद है । कुछ कारण सूत्रों की भिन्नता भी है । अतः कई स्थानों पर जहाँ शाखा का भेद है वहाँ सूत्र का भी भेद है । यही बात महादेव ने शिष्यकेशिसूत्र की टीका में कही है—

‘तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशालं भिन्नमभिन्नमपि क्वचित् शाखाभेदऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा । आश्रम्यायनीयं कात्यायनीयं च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरकैकमेव । तैत्तिरीयके च समाज्ञाये समानाध्ययने नाता सूत्राणि । अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः शाखाभेदो व सूत्रभेद इति परम्पराश्रय इति वाच्यम् ॥’

इसी आचार्य ने अर्वाचीन कहे जाने वाले सूत्रों की प्राचीनता के विषय में भी एक नवीन बात कही है कि वे सूत्र भी जिनके रचयिता अर्वाचीन माण्डस पढ़ते हैं, वस्तुतः माधव हैं और प्राचीन ऋषियों से निःसृत हैं ।

‘न हि सूत्राणां कर्तृसम्बन्धिसंज्ञाद्यतनी किन्तु मानाकल्पगतासु सत्साम्बन्ध-विषयक्यु नित्या तदप्रणीतसूत्रेषु च नित्यां जातिमवलंब्य तिष्ठति यथा पुरुष-नामाङ्कितशाखासु संज्ञा ।’

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं—

१. श्रौतसूत्र—श्रौत अग्नि से होने वाले बड़े बड़े यज्ञों का विवेचन करने वाले सूत्र ।
२. गृह्यसूत्र—गृह्य अग्नि में होने वाले छोटे यज्ञ का, उपनयन, विवाह आदि संस्कारों का विवेचन करने वाले सूत्र ।
३. धर्मसूत्र—चारों आश्रमों, चारों वर्गों तथा उनके धार्मिक आचारों का तथा राजा के कर्तव्यों का वर्णन करने वाले सूत्र ।

४. शुद्धसूत्र—यज्ञ में वेदि आदि के निर्माण की विधि का वर्णन करने वाले सूत्र ।

धर्म सूत्र

वैदिक साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग हैं—धर्मसूत्र । सामान्यतः, वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों के समान धर्मसूत्र भी प्रत्येक शाखा में अलग-अलग होते हैं, किन्तु अनेक शाखाओं के विशिष्ट धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं । धर्मसूत्र कल्प की परम्परा में आते हैं और कल्प का अर्थ है “वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र ।” “कल्पो वेदविहितानां कर्मणामनुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्”—विष्णुमित्र, ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३ । इस प्रकार धर्मसूत्रों का अटूट सम्बन्ध यज्ञ-यागादि बड़े कर्मों, विवाह इत्यादि गृह्य कर्मों का प्रतिपादन करने वाले साहित्य के साथ है और इस कल्प साहित्य के सन्दर्भ में हमें श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध ध्यान में रखना चाहिए । अनेक शाखाओं के विशिष्ट सूत्र साध-साध मिलते हैं । आश्वलायन, शांखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं, किन्तु इनके धर्मसूत्र का अभाव है । जिन शाखाओं के सभी कल्पसूत्र उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं—दौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यदेशि । सभी शाखाओं के धर्मसूत्र उपलब्ध न होने का मुख्य कारण यह है कि कई शाखाओं ने पृथक् धर्मसूत्र रचने की आवश्यकता नहीं समझी और उन्होंने अन्य प्रमुख शाखा के धर्मसूत्र को ही अपना लिया । इसी बात का स्पष्ट निर्देश ‘पूर्वमीमांसासूत्र’ १, ३, ११ की तन्त्रवार्तिक व्याख्या में किया गया है, जिसके अनुसार सभी धर्मसूत्र और सभी गृह्यसूत्र सभी आर्यों के लिए प्रामाणिक और मान्य हैं । कल्पसूत्रों के रचयिता अपनी शाखा के नियमों का विधान करते हैं, किन्तु दूसरी शाखाओं के विकल्प-नियमों का भी अनुसरण करते हैं :—

“स्वशास्त्राविहितैश्चापि शास्त्रान्तरगतान्विधीन् ।

कल्पकारा निचक्षन्ति सर्वं पृब विकल्पितान् ॥

सर्वशास्त्रोपसंहारो जैमिनेश्चापि संमतः ॥”

किन्तु यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी सूत्रकार अपनी ही शाखा से मनुष्ट न था ।

“न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशास्त्रोपसंहारमाश्रेणावस्थितः ।”

धर्मसूत्रों के निर्माण का काल—

धर्मसूत्रों का विशेष महत्त्व हमलिये भी है कि वे सामाजिक जीवन की

रोचक झौंकी प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों के टीकाकारों के उल्लेखों से परिलक्षित होता है कि धर्मसूत्र श्रौत और गृह्यसूत्रों से पहले विद्यमान थे। उदाहरण के लिए, श्रौतसूत्र में कहा गया है कि यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त ही विशिष्ट यज्ञों का संपादन किया जा सकता है, किन्तु यज्ञोपवीत धारण करने अथवा उपनयन संस्कार की विधि नहीं बतायी गयी है और संकेत दिया गया है कि इसकी विधि धर्मसूत्रों से ज्ञात है। इसी प्रकार मुख, मुखशुद्धि (आचारत) और सन्यासव्रतन के नियमों के ज्ञात होने का संकेत है, किन्तु इस तर्क को निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत धर्मसूत्रों को याद के समय का सिद्ध करने वाले प्रमाण अधिक पुष्ट हैं जिनके अनुसार धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के बाद के रचित ठहरते हैं। धर्मसूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य सूत्र में शूद्र की स्थिति का स्पष्ट निर्देश नहीं है। धर्मसूत्रों में शूद्र की सामाजिक स्थिति पतित होकर उस अवस्था में पहुँची हुई है, जिस अवस्था में वह स्त्रियों में दिखायी पड़ती है।

अनेक स्थलों पर धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों के विषय का ही प्रतिपादन करते हैं, किन्तु वे स्वतन्त्र रचनाओं के वर्ग में हैं और प्रामाणिकता में गृह्यसूत्रों के समकक्ष हैं। धर्मसूत्रों का रचनाकाल निरिक्त करने के लिए जब हम इनके पूर्ववर्ती साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि निरक्त ३-४-५ में शिष्याधिकार के प्रश्न पर अनेक मतों का उल्लेख किया गया है—

‘अथैतां जान्या विषयप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ।’

यास्क ने इस विषय में वैदिक अंशों का संकेत तो किया ही है, साथ ही उन्होंने एक श्लोक का भी निर्देश किया है, जिससे ज्ञात होता है कि यास्क के समय में धर्मसम्बन्धी ग्रन्थ विद्यमान थे—

“तदेतादृक् श्लोकाभ्यामभ्युक्तम् । अङ्गादङ्गाःसम्भवसि.....स जीव शारदः शतम् ।”

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।

मिथुनानां विसर्गादी मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

इस प्रकार यदि यह स्वीकार कर लें कि यास्क के पहले धर्मशास्त्र के ग्रन्थ विद्यमान थे, तो धर्मसूत्रों की तिथि काफी पहले माननी पड़ेगी। इतना तो निरिक्त है कि धर्मसूत्रों में प्राचीनतम—गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र—ई० पू० ३०० और १०० के बीच के हैं। इन सूत्रकारों ने धर्मशास्त्रों के स्पष्ट उल्लेख किये हैं। विशेषतः, गौतमधर्मसूत्र में, जो प्राचीनतम धर्मसूत्र है, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों का निर्देश बहुशः हुआ है—

‘तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेशः पुराणम् ॥’

१-९-२१।

‘अचाररचतुर्णां पारगा चेदानां प्रागुत्तमाश्रय आश्रमिणः

पृथग्धर्मविदस्त्रय पृतान्दशावरान्परिपदिस्थाचक्षते ।’ २-१०-४७

‘त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्मनुः’ ३,३,७।

इसी प्रकार कई धर्मशास्त्रकारों के मतों के उल्लेख गौतम ने ‘३ लोक’ कहकर किया है, जैसे प्रथम प्रश्न में २-१५ में, २-५८, ३-१, ४-२१, ७-२३ में। मनु तथा आचार्यों का भी निर्देश है—

“ऐकाश्रम्यं स्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गाहैश्चरय” १,३,३५।

“वर्णान्तरगमनमुक्तकर्म्यास्तस्ये पञ्चमे वाऽऽचार्याः” १.४.१८।

अन्य सूत्रकारों ने भी दूसरे धर्मशास्त्रकारों का सामान्य अभिधान से या नामतः उल्लेख किया है। पतंजलि ने भी ‘धर्मशास्त्रं च तथा’ एवं जैमिनि ने भी ‘शूद्रश्च धर्मशास्त्रात्वात्’—पूर्वमीमांसा ६.७.६ वाक्यों द्वारा धर्मसूत्रों का निर्देश किया है और जैसा कि डॉ० काणे ने इन प्रमाणों से निष्कर्ष निकाला है ‘धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम से कम ६००-३०० के पूर्व तो चे धे ही और ईसा की द्वितीय शताब्दी में वे मानव आचार के लिए सवसे बड़े प्रमाण माने जाते थे ।’

—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, अनु० आचार्य काश्यप, पृ० ८।

सूत्र ग्रन्थों और श्लोकबद्ध धर्मग्रन्थों के आपेक्षिक काल के विषय में विद्वानों में मतभेद और विवाद है। प्रो० माक्स म्युल्लेर एवं दूसरे विद्वान् यथा डॉ० भण्डारकर यह मानते हैं कि सूत्रों की रचना के बाद अनुष्टुप् छन्द वाले धर्मग्रन्थों की रचना हुई। डॉ० काणे को यह मत स्वीकार नहीं है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों के विषय में हमारा ज्ञान अल्प है तथा श्लोक छन्द वाले कुछ ग्रन्थ, जैसे मनुस्मृति, कुछ धर्मसूत्रों यथा-विष्णुधर्मसूत्र से प्राचीन है और यगिष्ठधर्मसूत्र के समय का है। इसी प्रकार कुछ पुराने सूत्रों यथा बौधायन-धर्मसूत्र में भी श्लोक बद्ध है। ‘दूसरे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्लोकबद्ध ग्रन्थ धर्मसूत्रों से पूर्व भी विद्यमान थे’—काणे, वही, पृ० ९।

गौतमधर्मसूत्र—

‘धर्मसूत्रों में प्राचीनतम गौतम धर्मसूत्र है। यह केवल गद्य में है तथा इसमें श्लोक का कोई उद्धरण नहीं दिया गया है, जबकि दूसरे धर्मसूत्रों में श्लोक का उद्धरण आ जाता है। इसकी प्राचीनता के कई प्रमाण हैं—इयका उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है। यह तीन प्ररणों में विभक्त है,

जिनमें क्रमशः नौ, दस, दस अध्याय हैं। विस्तृत समालोचना के लिए चौखम्बा से प्रकाशित मेरे अनुवाद से युक्त संस्करण देखें।

चौधायन धर्मसूत्र—

चौधायन का धर्मसूत्र चार प्रारतों में विभक्त है, इनमें अन्तिम प्रारन परिशिष्ट माना जाता है और उसे बाद के समय की रचना मानते हैं। यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र से पहले के समय का है। इसमें दो बार गौतम के नाम का तथा एक बार उनके धर्मसूत्र का उल्लेख आता है। चौधायन ने अनेक आचार्यों के नाम गिनाये हैं तथा उपनिषदों के उद्धरण दिये हैं। कुमारिल ने चौधायन को आपस्तम्ब के बाद के समय का माना है। चौधायन का काल ई० पू० २००-५०० के बीच माना जाता है। मेरे हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्बा से प्रकाशित संस्करण में इसके अनेक पहलुओं पर समीचात्मक दृष्टि डाली गयी है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—

इस धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं, जिनमें प्रथम में ११ पटल हैं। सभी सूत्रों में यह छोटा है और इसकी शैली बड़ी सुस्त है। भाषा भी पाणिनि से बहुत पहले की है। अधिकांश सूत्र गद्य में हैं, किन्तु यत्र-तत्र श्लोक भी हैं। इसका समय पूर्वमीमांसा से दिखायी पड़ता है। यह बहुत ग्रामागिक माना जाता रहा है। इसका समय ६००-३०० ई० पू० स्वीकार किया गया है।

हिरण्यकोशि धर्मसूत्र—

हिरण्यकोशि कल्प का २६ वाँ और २७ वाँ प्रश्न है। प्रायः इसे स्वतन्त्र धर्मसूत्र नहीं माना जाता, क्योंकि इसमें आपस्तम्ब धर्मसूत्र से सैकड़ों सूत्र लिये गये हैं।

चसिष्ठ धर्मसूत्र—

इसके कई संस्करण हैं। जीवानन्द के संस्करण में २० अध्याय हैं तथा ३१ वें अध्याय का कुछ अंश है। इसके अतिरिक्त इसके ३० अध्यायों, ६ अध्यायों एवं २१ अध्यायों के अलग-अलग संस्करण भी हैं। इससे पता चलता है कि यह कालान्तर में परिवर्द्धित, परिवर्द्धित और परिवर्द्धित होता रहा है। इसका समय ३००-२०० ई० पू० है।

विष्णु धर्मसूत्र—

इस सूत्र में १०० अध्याय हैं, किन्तु सूत्र छोटे हैं। पहला अध्याय और अन्त के दो अध्याय पद्य में हैं। शेष में गद्य है या गद्य और पद्य का मिश्रण।

इसका सम्बन्ध यजुर्वेद की कठ शाखा से यथाया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न कालों के अंग दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे इसका काल निश्चित करना कठिन होता है। इसके आरम्भ के अंशों का समय ३००-१०० ई० पू० के बीच माना जा सकता है। इसमें भगवद्गीता, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत-सी बातें ली गयी हैं।

द्वारित धर्मसूत्र—

इस सूत्र का ज्ञान उद्धरणों से मिलता है। अनेक धर्मशास्त्रकारों ने इनका उल्लेख किया है। इसमें गद्य के साथ अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग है। द्वारित का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है, किन्तु उन्होंने सभी वेदों से उद्धरण लिये हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं थे।

राहुल्लिखित-धर्मसूत्र—

यह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा का धर्मसूत्र था। 'तन्त्रयातिक' में इस सूत्र के अनुष्टुप् श्लोकों का उद्धरण है। याज्ञवल्क्य और पाराशर ने इनका उल्लेख किया है। जीवानन्द के स्मृति-संग्रह में इस धर्मसूत्र के १८ अध्याय एवं शङ्खस्मृति के ३३० तथा लिखित स्मृति के १३ श्लोक पाये जाते हैं। यह धर्मसूत्र गौतम एवं आपस्तम्ब के वाद के काल का है और इसकी रचना का समय ई० पू० ३०० से १०० ई० के बीच है।

अन्य सूत्र ग्रन्थ—

अनेक धर्मसूत्र धर्मविषयक ग्रन्थों में विकीर्ण हैं। उनमें इन आचार्यों के सूत्र-ग्रन्थ गिनाये जाते हैं—अत्रि, उदना, कण्व एवं काण्व, कश्यप एवं काश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातुकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, ब्रुध, बृहस्पति, भारद्वाज एवं भारद्वाज, शातातप, सुमन्तु आदि।

धर्मसूत्रों का वर्ण्यविषय—

धर्मसूत्रों का मुख्य वर्ण्यविषय है 'आचार, विधि-नियम एवं क्रियासंस्कार।' ये इन्हीं का विधिवत् विवेचन करते हैं। निश्चय ही, धर्मसूत्र कभी-कभी गृह्य-सूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों के भी क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, किन्तु ऐसा कम स्थलों पर हुआ है। गृह्यसूत्रों का ध्येय गृह्ययज्ञ, प्रातः-सायं पूजन, पके हुए भोजन की चलि, वार्षिक यज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं दूसरे संस्कार, छात्रों एवं स्नातकों के नियम, मधुपर्क और श्राद्धकर्म का वर्णन करना तथा इनकी विधियों को स्पष्ट करना है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का स्पष्ट सम्बन्ध घरेलू जीवन तथा स्पर्द्धिगत जीवन से है। ये कर्त्तव्यों (Duties) और कानून

(Laws) को अपना विषय नहीं बनाते । इनके विपरीत, धर्मसूत्र मनुष्य को समाज में लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ उसे व्यावहारिक जगत में दूसरों के साथ रहते हुए अपने आचार-व्यवहार को नियमित और संयमित करना है, उसे कुछ कर्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करना होता है, कुछ अधिकार प्राप्त करने होते हैं और अपने अपराधों के लिए दण्ड भोगने होते हैं । इस प्रकार धर्मसूत्रों का वातावरण अधिक सामाजिक और नैतिक है । जैसा हम वृह आये हैं धर्मसूत्रों में गृह्यसूत्रों के कुछ विषयों पर भी विचार किया गया है जैसे विवाह, संस्कार, मधुपकं, ज्ञातक का जीवन, श्राद्धकर्म आदि । संक्षेप में धर्मसूत्रों के वर्णविषय की सूची इस प्रकार दी जा सकती है :—धर्म और उसके उपादान, चारों वर्णों के आचार और कर्तव्य एवं जीवनवृत्तियों, दण्डार्थ, गृहस्थ, ब्राह्मणस्थ, संन्यास आश्रमों के आचार, उपजातियाँ एवं मिश्रित जातियाँ, सपिण्ड और सगोत्र, पाप और उनके प्रायश्चित्त एवं व्रत, अशौच और उससे शुद्धि, ऋण, व्याज, साक्षी और न्यायव्यवहार, अपराध और उनके दण्ड, राजा और राजा के कर्तव्य, स्त्री के कर्तव्य, पुत्र और दत्तक पुत्र, उत्तराधिकार, स्त्रीधन और सग्यति का विभाजन ।

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ—

'स्मृति' शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् वेद के ईश्वर प्रकाशित एवं ऋषिरष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिये हुआ है । श्रुति और स्मृति के विषय में आगे धर्म के स्वरूप का विवेचन करते समय विचार किया गया है । उपर्युक्त अर्थ के अनुसार धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ है :

“श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।” मनु० २.१०

किन्तु संकुचित अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं, जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है । इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ । 'मनुस्मृति' सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गयी थी । अन्य स्मृतियाँ ४०० और १००० के बीच की हैं । स्मृतिज्ञानों की संख्या विस्तृत है, मुख्य स्मृतिज्ञान १४ हैं, इनके अतिरिक्त २१ अन्य स्मृतिज्ञान हैं, जिनके नाम कीरमिश्रोदय ने गिनाये हैं ।

डॉ० कानो ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के प्रमुख लक्षण स्पष्टतः निर्दिष्ट किये हैं, जिन्हें यहाँ साभार उद्धृत करना अपंगत नहीं होगा ।

१. अनेक धर्मसूत्र किसी चरण के, वरूप के अंग हैं, अथवा इनका गहरा सम्बन्ध गृह्यसूत्रों से है ।

२. धर्मसूत्रों में कमी-कमी अपने चरण तथा अपने वेद के उद्वरण विशेषतः दिये गये हैं ।
३. प्राचीन धर्मसूत्रों के रचयिताओं को ऋषियों का ओहदा प्राप्त नहीं है और न वे अपने को मानवीय घरातट से ऊपर उठे हुए अलौकिक बताते हैं, इतके विपरीत मनु और याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों को मानव से ऊपर देवी शक्ति से संबन्ध दर्शाया गया है ।
४. धर्मसूत्र प्रायः गद्य में हैं या कहीं-कहीं मिश्रित गद्य और पद्य में हैं, किन्तु स्मृतियाँ श्लोकों में या पद्यबद्ध हैं ।
५. भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्र स्मृतियों के पहले के हैं, और स्मृतियों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है ।
६. विषयवस्तु के विन्यास की दृष्टि से भी उनमें भेद है । धर्मसूत्रों में विषय की व्यवस्था, क्रम या तारतम्य का अनुसरण नहीं करता, किन्तु स्मृतियों अधिक व्यवस्थित और सुराजित हैं, उनमें विषयवस्तु सुव्यवतः गौण शीर्षकों में विभक्त है—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त ।
७. बहुत बड़ी संख्या में धर्मसूत्र अधिकतम स्मृतियों से प्राचीन हैं ।

धर्म

धर्म शब्द का दार्शनिक अर्थ जानने के लिये जब हम अपने प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' का अवलोकन करते हैं तो हम देखते हैं कि इस शब्द का प्रयोग विशेषतः या संज्ञा शब्द के रूप में हुआ है । प्रायः यह शब्द 'धर्म' है और इसका प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है । 'धर्म' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है—ऋग्वेद—१.२२.१८; १.१६४.४३, ५५; ३.२.१; ३.१७.१; ३.६०.६; ५.२६.६; ५.६३.७; ५.७२.२ । अथर्ववेद में १४.१.५१ वाजसनेयि-मंहिता में १०.२९ और धर्म शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में ११.७.१७ और १२.५.७, १.३.१ तैत्तिरीयमंहिता ३.५.२.२ वाजसनेयिसंहिता १५.६, २०.९.३०.६ । अधिकतर वैदिक साहित्य में धर्म का अर्थ है 'धार्मिक विधि' 'धार्मिक क्रिया', 'निरिच्छत नियम', 'आचरण नियम', 'जैसा कि इन प्रयोगों से स्पष्ट है :

'पितृ न स्तोत्रं महो धर्मानं तद्विधीम्' १.१८७. १

'इममज्रस्मानुभये अकृष्वत धर्मानमर्निव दिद्युषस्य साधनम्'

'आ प्र रज्ज्वांसि दिस्पानि पार्ष्णिवा श्लोकं देवः वृषुने रथाय धर्मने'

'धर्मगा मित्रावरुणा विप्रश्चित्ता मता रथेभ्ये असुरस्य मायया ।' ५.६२.७

'पात्रावृथिवी वरुणस्य धर्मगा विरश्मिते अत्रे भूरिरेतसा ।' ६.७०.१

‘अचिन्ती यत्नव धर्मा युयोपिम मा नस्तरमादेवसो देव रीरियः । ७.८१.५
‘सनता धर्माणि’ ३.२.१

‘प्रथमा धर्मा’ ३.१७.१

‘सावि धर्माणि प्रथमान्यासन्’ १०.९०.१६

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में धर्म का अर्थ ‘पुण्यफल’ प्रतीत होता है ।
शतं सद्यं तपो राष्ट्रं धर्मो धर्मरश्च कर्म च ।

भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले ॥ ९.९.१७

किन्तु आगे चलकर धर्म वर्णाश्रम की विधियों के समीप आ जाता है ।
उपनिषद् काल में धर्म द्वारा वर्ण और आश्रमों के आधारों एवं संस्कारों का
स्पष्ट बोध होता था यह तथ्य छान्दोग्योपनिषद् २.२३ से सिद्ध होता है—

‘अयो धर्मरक्षण्धा यज्ञोऽव्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचा-
यंकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमारामनाचार्यकुले भवसादयन् । सर्व एते पुण्यस्थोका
भवन्ति ब्रह्म संवयोऽष्टतरवमेति ।’

धर्म को जिस रूप में धर्मशास्त्रों में—धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में वर्णित
किया गया है उसके अन्तर्गत चार प्रकार के धार्मिक नियमों का निर्देश किया
जा सकता है : १. वर्णधर्म २. आश्रमधर्म ३. नैमित्तिकधर्म जैसे प्रायश्चित्त,

४. गुणधर्म, राजा के कर्त्तव्य ।

धर्म की कुछ परिभाषाएँ बहुत प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख करना उचित
होगा ।

‘चोदनालङ्कार्यो धर्मः’ अर्थात् वेद में बताये गये प्रेरक नियम और लक्षण
धर्म हैं, उन नियमों का आचरण ही धर्म का आचरण है ।

—जैमिनि, पूर्वमीमांसासूत्र १.१.२
वैशेषिकसूत्र में धर्म उसे माना गया है जिससे अन्त्युदय और निःश्रेयस की
सिद्धि होती है—‘यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसमिद्धिः स धर्मः ।

‘धृतिप्रमाणको धर्मः’ हारीत, कुश्लुक, मनु० २-१ की टीका ।

‘धृतिस्मृतिविहितो धर्मः’—धृति और स्मृति द्वारा विहित आचरण धर्म
है ।—वसिष्ठधर्मसूत्र १.४.६ ।

इन कतिपय परिभाषाओं से यही ज्ञात होता है कि भारतीय धर्म का मूल
दे वेद और स्मृति, और इनको प्रमाण मानकर विहित नियम या आचार ही
धर्म हैं । धर्म के इन उपादानों और आधारों पर विचार करना आवश्यक है ।
धर्म के उपादान—

धर्म के उपादानों या स्रोतों का उल्लेख प्रायः नियमपूर्वक [प्रत्येक धर्मसूत्र
और स्मृति में किया गया है । गौतमधर्मसूत्र में यह स्पष्टतः कहा गया है कि

वेद धर्म का मूल है—'वेदो धर्ममूलम् । तद्विद्वां च स्मृतिशीले ।' आपस्तम्ब-धर्मसूत्र—'धर्मसमयः प्रमाणं वेदारच' १.१.१.२ । धर्म को ज्ञानने वाले वेद का धर्म समझने वाले व्यक्तियों का मत ही वेद का प्रमाण है । इसी प्रकार वशिष्ठधर्मसूत्र में भी, जिसकी धर्म की परिभाषा का ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रुति और स्मृतिद्वारा विहित आचरण नियमों को धर्म माना गया है । तथा उसके अभाव में शिष्टजनों के आचार को प्रमाण माना गया है ।

“श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः । तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम् । शिष्टः पुनर-कामारमा ।”

इसी प्रकार मनुस्मृति में वेद, स्मृति, वेदज्ञों के आचरण के अलावा आत्मा की तुष्टि को भी धर्म का मूल कहा गया है—

‘वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विद्वाम् ।

आचारश्चैव साधुनामानसतुष्टिरेव च ॥’ २.६

‘याज्ञवल्क्यस्मृति’ में उपर्युक्त के साथ-साथ उचित संकल्प से उत्पन्न अभिलाषा या इच्छा को भी धर्म का मूल स्वीकारा गया है :—

‘श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वश्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ १.७

इस प्रकार धर्म के उपादान, स्रोत, मूल या प्रमाण स्वयं धर्मशास्त्रों की दृष्टि में ये हैं : १—वेद, २—वेद से भिन्न परम्परागत ज्ञान अर्थात् स्मृति, ३—श्रेष्ठ लोगों के आचार विचार ४—अपनी विवेक बुद्धि से स्वयं को रुचिकर लगने वाला आचरण और उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा ।

वेद और धर्मशास्त्रों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है उसका आधार वेद ही है और वेद की मान्यताओं के अनुसार ही धर्मसूत्रों के नियमों की रचना हुई । वेद की संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रन्थों में धर्मसूत्रों के विषयों का प्रसंगतः उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है, जैसे विवाह, उत्तराधिकार, धाद, स्त्री की स्थिति आदि । संहिताओं और ब्राह्मणों में जिस समाज और सभ्यता का दर्शन होता है वह धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं की व्यावहारिक पृष्ठभूमि है । शास्त्रार्थों में भी नियमों का पोंपण हुआ जिससे विवाही पकृता है जिनका उपदेश धर्मशास्त्रों ने दिया है । ब्रह्मचर्य का महत्त्व, उत्तराधिकार और सम्पत्ति का विभाजन, यज्ञ और अतिथि-सम्कार ऐसे ही विषय हैं, जिन पर धर्मसूत्रों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी अनेक स्थलों पर विचार हुआ है । जैसा कि म० कण्ठ ने कहा है : ‘काजान्तर में धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतलायी गयीं, उनका मूल वैदिक साहित्य में अशुण्य रूप में पाया जाता है । धर्मशास्त्रों

ने वेद को जो धर्म का मूल कहाँ है वह उचित ही है ।'—धर्मशास्त्र का इतिहास
 पृ० ७, अनु० अ० काश्यप ।

भारतीय धर्म का स्वरूप—

भारतीय संस्कृति और विशेषतः धर्म पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दृष्टिपात किया है । कुछ ने इसके मर्म को समझा है तो कुछ ने इसके वास्तविक तत्त्व को जाने बिना अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का दुरुपयोग मात्र किया है । वस्तुतः, भारतीय धर्म या हिन्दू धर्म को किसी एक विशेष शब्द द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता । जान मैकेजी ने यह परामर्श दीक ही दिया है कि धर्म में 'रिलीजन', 'वर्च्यु', 'ला' और 'ट्र्यूटी,' अंग्रेजी के इन चारों पदों का अर्थ समाहित समझना चाहिये । 'हिन्दू पवित्रस' नामक पुस्तक के पृ० ३८ पर वे कहते हैं :—

"In India in those days no clear distinction was drawn between moral and religious duty, usage, customary observance and law and dharma was the term which was applied to the whole complex forms of conduct that were settled or established."

परन्तु मैकेजी साहब का यह कथन भ्रमपूर्ण है कि हिन्दू ने धर्म को अन्य सभी व्यवस्थित नियमों से पृथक नहीं किया, मानो ऐसा अज्ञानवश किया गया हो । वस्तुस्थिति तो यह है कि हिन्दू धर्म में धर्म बहुत व्यापक रहा है । वह जीवन के विविध पक्षों के पार्थक्य को उन्मूलक समाप्त करता है । समन्वय उसका मूलमन्त्र है । मानवजीवन के चार पुरुषार्थ समन्वित होकर ही उपयोगी बनते हैं अलग-अलग नहीं । हिन्दू धर्म कोरा आदर्शवादी नहीं है । अपितु यह व्यावहारिक जीवन में वास्तविक और आदर्श का समन्वय करता है । यह धर्म मनुष्य से भिन्न नहीं है, अलग नहीं है । यह उसकी मौलिक अर्हता है, जिसके अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता । पशु में और धर्महीन मनुष्य में कोई भेद नहीं रह जाता, अतः भारतीय धर्म मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व से सम्बद्ध है । वह उसके छोटे-छोटे कार्यों पर भी दृष्टिपात करता है और उनका नियमन करता है । मनुष्य को प्रत्येक स्थिति और अवस्था के परिमेष्य में देवता है—सुख में, दुःख में, समृद्धि में और विपत्ति में भी । उसके सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक और पारलौकिक जीवन पर विचार करता है । भारतीय धर्म मनुष्य से सम्बद्ध सभी बातों पर इस प्रकार दृष्टिपात करता है और उन्हें इस प्रकार व्याप्त करता है कि सम्पूर्ण जीवन धर्मस्य प्रतीत होता है । संस्कारों की मृदुला रेलगाड़ी की पटरी की तरह

बनायी गयी है, जिससे जीवन की गाड़ी उतरने पर अनर्थ ही होता है। मानव जीवन की अवधि में भिन्न-भिन्न अवस्था में उस अवस्था के उपयुक्त आधर्मों का विधान संस्कारों की व्यवस्था को और भी पुष्टि प्रदान करता है।

धर्म के जीवन के साथ तादात्म्य इतना स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान भी भारतीय धर्म के इस अनूठे स्वरूप से प्रभावित होते हैं। प्रो० माक्स म्युल्लर ने इस रूप को सही ढंग से समझा है और अपना विचार व्यक्त करते हुये लिखा है : 'प्राचीन भारतवासियों के लिये सबसे पहले धर्म अनेक विषयों कि बीच एक रुचि का विषय नहीं था, यह सबका आत्मार्पण करने वाली रुचि थी। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी, परन्तु वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता, कानून और शासन कहते हैं—सभी धर्म से व्याप्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके लिए एक धर्म था और दूसरी चीजें मानो इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिये निर्मित मात्र थीं।'

हाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०७।

'धर्मो रक्षति रक्षितः' धर्म की रक्षा करने पर धर्म मनुष्य की रक्षा करता है, धर्महीन उच्छृंखल जीवन विनाश की ओर ले जाता है। जीवन को एक उद्देश्य प्रदान करता है, उसे एक सुनिश्चित मार्ग प्रदान करता है, जिस पर चलकर आदमी अपना विकास कर सकता है, जीवन के कर्तव्यों का पालन कर सकता है। साथ ही इस जीवन से परे दूसरे जीवन की स्पृहा से प्रेरित होता है। परलोक की यह स्पृहा कल्पना की तरंग में बहते हुए कवि की कृति नहीं, वास्तविक जीवन की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इसी पारलौकिक स्पृहा को कवि वर्द्धस्वर्थ ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"Those obstinate questionings of sense and outward things,
falling from us, vanishing, blank misgivings of a creature
moving about in worlds not realised."

माक्स म्युल्लर ने भारतीय चरित्र की विशेषता यह बताया है कि वह पारलौकिक होता है : 'यदि मुझे एक शब्द में भारतीय चरित्र की विशेषता बताने को कहा जाय तो मैं यही बूँगा कि वह पारलौकिक था।'—'भारतीय चरित्र में इस पारलौकिक मनोवृत्ति ने अन्य किसी देश की अपेक्षा अधिक प्राधान्य प्राप्त किया।'

—हाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०४, १०५।

भारतीय धर्म और दर्शन एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं, अर्थात् एक ही वातु के दो पहलू हैं। यद्यपि इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि धर्म में विरवास और भावना मुख्य होती है, जबकि दर्शन में विचार और तर्क प्रमुख

होते हैं । भारतीय धर्म का दर्शन एवं नीति से कितना अनोखा सम्बन्ध है, इसे हम आचार की महत्ता पर विचार करते समय देखेंगे । धर्म के साथ अर्थ, काम, मोक्ष का सम्बन्ध भारतीय जीवन का उद्देश्य है, और इस कारण यह धर्म सन्तुलित रूप में आदर्शवादी है और यथार्थवादी भी । लौकिक है और पारलौकिक भी, आध्यात्मिक है और भौतिक भी । यह आचरण की वस्तु है । आचार उसका मूलाधार है । उसकी नींव गहरी है और उसके कुछ मौलिक तत्व हैं, जो उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं । एक पारचाय्य आलोचक ने इसी बात का संकेत इन वाक्यों में किया है :—“भारत का आध्यात्मिक इतिहास उसके अस्मत् मौलिक विचार से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और यह बात सोची भी नहीं जा सकती कि इस प्रकार की संस्कृति जो हजारों वर्षों से भारत में फूलती-फुटती रही है, इतनी गहरी जड़ों पर आधारित होती और स्वयं को इतनी दृढ़ता से बनाये रखती अगर इसमें महान् एवं चिरस्थायी मूल्य वाले तत्व निहित न होते ।”

भारतीय धर्म में मानवीय प्रतिभा के विकसित रूप का उपयोग दिखायी देता है, उसमें मानवजीवन की अनेक समस्याओं पर भलीभाँति विचार करके व्यवस्था दी गयी है । माक्स म्युल्लेर ने भारतीय धर्म और संस्कृति की उपलब्धियों का इन शब्दों में उल्लेख किया है :—

“If I were asked under what sky the human mind has fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India.

—What can India Teach Us, p. 6

आचार इस धर्म का मूल है और धर्म के ज्ञान के साथ उसका अनुष्ठान और व्यवहार ही उसके वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं । गौतम धर्मसूत्र के शब्दों में—

“धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविद्वान्प्रोति ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम्” । इस धर्म का शारवत सन्देश है :—

“धर्मं चरत माधर्मं सत्यम् वदत मानृतम् ।

दीर्घं परवत मा हर्षवं परं परयत मापरम् ॥” वसिष्ठ ध० सू०

‘ धर्म का आचरण करो, अधर्म ध्या नहीं । सत्य बोलो, झूठ मत बोलो । दूर तक देखो, संशुचित दृष्टि मत रजो, हीन वस्तु देखकर अपना विचार हीन मत बनाओ, श्रेष्ठ वस्तु को देखो और जीवन का लक्ष्य सदा ऊँचा से ऊँचा बनाये रजो ।’

आचार और नैतिक भावना

भारतीय संस्कृति का मूल आधार आचार है। आचार के आधार पर ही हिन्दू समाज का निर्माण हुआ था और जब तक व्यावहारिक जीवन में इस आधार को प्राधान्य मिला, तब तक समुन्नति तथा समृद्धि का समय बना रहा। धर्म का व्यावहारिक पहलू है आचार और इसी कारण हमें परम धर्म भी कहा गया है, धर्म की आधार शिला कहा गया है :

“आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति विश्वयः।

हीनाचारपरीतारामा प्रेत्य चेह च नश्यति ॥” यसिष्ठधर्मसूत्र ६।१
आचार से हीन व्यक्ति के लिए लोक में कोई सुख नहीं है और उसे दूसरे लोक में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। कोई व्यक्ति वेद और शास्त्रों के ज्ञान में भले ही पारंगत हो यदि आचार से भ्रष्ट है तो सम्पूर्ण धर्मज्ञान उसे कोई लाभ नहीं पहुँचाते और न आनन्द ही देते हैं जैसे अन्धे के हृदय में उसकी सुन्दर प्रियतमा भी कोई, सौन्दर्यानुभूति का सुख उत्पन्न नहीं करती।

“आचारहीनस्य तु द्राह्मणस्य वेदाः पङ्क्यासवखिलाः सयज्ञाः।

कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः” ॥ वही, ६।२

इस प्रकार धर्मशास्त्रों का आग्रह आचार के प्रति बराबर रहा है और वे आचार को सम्मान, दीर्घ जीवन और सुख का कारण मानते हैं।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।

आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्यलक्षणम् ॥

और आचार की इसी महिमा के कारण ही सदाचार को धर्म का साधन माना गया है, जैसे वेद और रश्मि को। “वेदः रश्मिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमाश्मानः।” सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग है उस ज्ञान को आचार में परिणत करना। इसी कारण भारत का दार्शनिक कोरे चिन्तन में समय नहीं गँवाता। वह अपने जीवन को अपने दर्शन के अनुरूप ढालता है और आदर्श प्रस्तुत करता है। दर्शन और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र का परस्पर अभ्योन्मयाश्रय सम्बन्ध रहा है और यह सम्बन्ध वैसा ही रहा है जैसा कि “विज्ञान और प्रयोग का, ज्ञान और योग का।” एक ओर धर्म का मूल आधार नीति है, और दूसरी ओर नीति दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है, इस प्रकार धर्म दर्शन और नीति एक दूसरे से अपृथक् हैं, वे एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे के पूरक भी हैं। इसी बात का उल्लेख जान केअर्हने ने “पुन इष्ट्रोडक्शन टू द फिलॉस्फी आफ रिलीजन’ पुस्तक में किया है :—

“Indian philosophers and thinkers have been declared that the philosophy and ethics both are interdependent. There can

be no intellectual growth without a morally elevated life. To be a good philosopher a man should be religious, moral and of good conduct."

भारतीय धर्म या दर्शन में केवल नैतिक भावनाओं का प्रतिपादन ही नहीं किया गया है, अपितु वास्तविक जीवन में उनकी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की गयी है और इय अभिव्यक्ति का मनोवैज्ञानिक आधार भी प्रतिष्ठापित किया गया है। इन्हीं नैतिक भावनाओं के सन्दर्भ में मेकेंजी जैसे आलोचनारमक इष्टि वाले लेखक ने भी यह स्वीकारा है कि इनमें ऐसे तत्व निहित हैं, जो स्वतः इतने मूल्य के हैं कि वे विश्व के विचार और संस्कृति को समृद्ध कर सकते हैं।

"We may claim for them that they contain elements which are of great value in themselves, and which may serve to enrich the thought and culture of the world."

—Hindu Ethics, p. 241.

वस्तुतः आचार वह कसीटी है जिस पर व्यक्ति की योग्यता का आकलन होता है। चरित्रहीन विद्वान् की विद्वत्ता फीकी होती है, और शीलहीना सुन्दरी का सौन्दर्य केवल निम्नकोटि कं विचारों को उल्लेखित करता है, शारमिक सन्तोष का बोध नहीं कराता। ऊँचे पद पर शासीन और परोपदेश में कुशल व्यक्ति का छद्मव्यापार एवं अनैतिक आचरण जब प्रकाश में आता है, तो दुनिया की आँलों में धूल शौकने की उसकी सारी चालों पर पानी फिर जाता है। आचार और ज्ञान का समन्वय तथा परस्पर समायोजन ही हमारी नैतिक भावना का पहला सूत्र है जिसने महात्तु दार्शनिकों एवं अलौकिक प्रतिभा और प्रभाव वाले पुरुषों को जन्म दिया है। भारतीय नीतिशास्त्री जब किसी नियम का विधान करता है, तब वह उसे मानव के यथार्थ जीवन के सन्दर्भ में परख लेता है और मानव की स्वाभाविक कमजोरियों को भी ध्यान में रखता है। हरेक अक्षर पर वह मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के आचरण में उत्कर्ष लाने की व्यवस्था करता है। वह जानता है कि गलती मनुष्य से होती है, मनुष्य पतनोग्रस्त होता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु इन प्रवृत्तियों से दूर होने में ही वह मानवव्यवस्था की सम्भावना देखता है और इसीलिये धर्म की व्यवस्था करता है, जिसके अभाव में मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रह जाता। मनु ने इसी का संकेत किया है :—

"न मांसमच्छने दोषो न मद्ये न च मैथुने।

मष्टुत्तिरेपा भूतानां निवृत्तिस्तु महाकला ॥"

यही नहीं भारतीय धर्म में न केवल मनुष्यों को अपितु देवताओं तक को अनैतिक आचरण की ओर उन्मुख दिखाया गया है और उनके लिए भी आचार की पवित्रता को सर्वोपरि बताया गया है। भारतीय आख्यानों में इस बात को सर्वत्र प्रमाणित किया गया है कि सारी बातें एक ओर हैं और मनुष्य का आचार एक ओर। इसी आचार के कारण निम्नकोटि का व्यक्ति भी ईश्वर के तत्त्व का दर्शन कर सकता है और उच्चवर्ण के व्यक्ति को शिक्षा दे सकता है। इसी आचार के अभाव में महर्षि की तपस्या भी व्यर्थ हो जाती है और वह सामान्य व्यक्ति की तरह पाप का भागी होता है।

शिव वर्ण-व्यवस्था की सम्प्रति मुक्तकण्ठ से निन्दा करना हमारा कर्तव्य है और जो निश्चय अच्छी नहीं है, वह भी मूल रूप में आचार के आधार पर ही थी। जिस समय उसने आचार का विवेक छोड़कर केवल पद और कुल को आधार बनाया तब से वह अपनी अच्छाइयों से वियुक्त हो गयी। जब पद के अनुसार सम्मान प्राप्त होने लगता है, आचरण और योग्यता के अनुसार नहीं, तब स्वाभाविक है कि उस पद पर पहुँचने के लिए न तो योग्यता की कोई इच्छा या प्रयत्न करेगा और न उस पद को प्राप्त करने पर अयोग्य या आचारहीन व्यक्ति योग्यता की चर्चा होने देगा, उबटे वह ऐसी व्यवस्था करेगा कि उसका पद सदैव सुरक्षित रहे। इसके लिए वह धर्म के नाम पर चारों ओर कटीले तारों की दीवार खड़ी करेगा। ऐसी ही व्यवस्था का रूप वर्णव्यवस्था ने ले लिया है।

धर्मशास्त्र की दृष्टि में आचार का इतना महत्व है कि आचारहीन विलासक का परिश्रम करने का आदेश दिया गया है :—

“त्यजेऽपितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लवकं भ्रूणहनं यश्चान्यात्रसायिभिः सह संवसेदग्रयावसायिन्यां वा।”

श्रीतमधर्मसूत्र ३, २, १, पृ० २०७

ऐसे व्यक्ति के सामाजिक अपमान का विधान भी इसी बात का संकेत करता है कि आचार से वृत्त व्यक्ति को समाज में सामाजिक जीवन स्वीकृत करने का अधिकार नहीं है। उससे भाषण या सम्बन्ध करने वाले व्यक्ति को भी दुराचार में प्रोत्साहन देने के लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है, किन्तु उसके प्रायश्चित्त कर लेने पर तथा अपना आचरण सुधार लेने पर पुनः समाज में प्रवेश करने का द्वार खोल दिया गया है।

पाप और प्रायश्चित्त की धारणा के पीछे भी आचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? समाज में जीने और दूसरों को जीने देने का मन्त्र ही इस लोक में कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। हमारे धर्मसूत्र में

व्यक्ति को पर्याप्त महत्त्व मिला है। किन्तु इस महाव की शक्ति है कि वह आचार या धर्म का पालन करे। यदि वह आचार का उल्लंघन करता है तो उसे जीने का अधिकार नहीं, उसे पाप से तभी मुक्ति हो सकती है जब वह प्रायश्चित्त करे, अर्थात् पाप गम्भीर हो तो जीवन का अन्त कर दे, क्योंकि ऐसा व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के लिए एक बुरा उदाहरण प्रस्तुत करेगा। हमारा धर्मसूत्र कहता है कि इस संपार में मनुष्य बुरे कर्मों से पाप से सन जाता है : 'अयं सखवयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते' ३, १, २। और तब मनुष्य के ये कर्म स्थायी फल उपनन करते हैं। पाप और प्रायश्चित्त का विचार धर्मसूत्र में नितान्त भौतिक या व्यावहारिक है। इनका सीधा सम्बन्ध शरीर की यातना से है, किन्तु पाप करने वाला साधन भी तो शरीर ही है। साथ ही साथ प्रायश्चित्त की मनोवैज्ञानिक दृष्टन्ति यह है कि जब और दान तो साक्षात् उत्तम विचार और परोपकार की प्रेरणा देते हैं। पाप का प्रकाशन और पश्चात्ताप भी हो जाता है। तप, उपवास और होम धर्म में आस्था उत्पन्न कर पुनः उत्तम आचरण की प्रेरणा देते हैं। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि धर्मसूत्रकार का प्रायश्चित्त का विधान करते समय साक्षात् प्रयोजन है लोक और परलोक की प्राप्ति। वह लोक की अपेक्षा परलोक की अधिक परवाह करता है और सभी धार्मिक कर्मों को करने का आदेश देता है, क्योंकि उनसे परलोक मिलने की आशा है। यह धर्मभीरुता और ईश्वर या परलोक का भय मनुष्य के आचरण को निरन्तर सही विज्ञा की ओर प्रेरित करता है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र

आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। यह अर्च्यु नाम के ऋषिजों के प्रमुख रूप का ग्रंथ है। आपस्तम्बीय ऋषिसूत्रों के समग्र संकलन में कुल तीस प्रश्न हैं। सप्ताहसर्वे प्रश्न में आपस्तम्बगृह्य आता है और उसके बाद धर्मसूत्र। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध 'चरणगृह' के अनुसार आपस्तम्बशाखा त्वाण्डिकीयशाखा की पौंच शाखाओं में एक थी। त्वाण्डिकीयशाखा तैत्तिरीयशाखा की एक उपशाखा थी। कालक्रम की दृष्टि से आपस्तम्बीयशाखा बौधायनशाखा के बाद की है, किन्तु यह सश्यायःऽद हिरण्यकेशीशाखा से पहले की है।

श्री० मात्स्यगुह्येटर के अनुसार आपस्तम्बशाखा एक 'सूत्रचरण' है। आपस्तम्बीयशाखा की रचनाओं से ही यह प्रकट हो जाता है कि आपस्तम्बीयशाखा एक ओर तो बौधायनशाखा से परवर्ती है, किन्तु हिरण्यकेशी-शाखा से पूर्ववर्ती है। बौधायन तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्रों के तुलनात्मक आययन द्वारा उपर्युक्त तथ्य की दृष्टि करने से पूर्व ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न

और है : क्या आपस्तम्बधर्मसूत्र और आपस्तम्बगृह्यसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन है । ब्यूडेर को इस विषय में कोई शक्यता नहीं है, किन्तु ओल्डेनबेर्ग दोनों को भिन्न मानते हैं । उनके अनुसार आपस्तम्बशाखा के ही बाद के समय के किसी आचार्य ने आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र की शैली की नकल पर आपस्तम्बधर्मसूत्र की रचना की है । जहाँ तक आपस्तम्ब के गृह्य और धर्मसूत्र का प्रश्न है, दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इन्हें एक ही व्यक्ति की रचना मानना उचित प्रतीत होता है । ध्यान देने योग्य है कि आपस्तम्बगृह्यसूत्र विस्तार की दृष्टि से अन्य गृह्यसूत्रों से छोटा और संक्षिप्त है । इसमें ऐसे अनेक विषयों को छोड़ दिया गया है जो सामान्यतः गृह्यसूत्र में होते हैं, उदाहरण के लिये विवाह के विभिन्न भेद, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, विवाह योग्य कन्या के गुण-दोष । यस्तुतः इन विषयों का विवेचन आपस्तम्बधर्मसूत्र में हुआ है । स्वाभाविक है कि धर्मसूत्र में इन विषयों का विवेचन कर देने के बाद पुनः अपने ही गृह्यसूत्र में उनका विवेचन रचयिता को पुनर्हक्ति मात्र प्रतीत हुआ हो और इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों एक ही आचार्य की रचनाएँ हैं । स्वयं आपस्तम्बधर्मसूत्र में गृह्यसूत्र के अनेक मन्त्रों का निर्देश किया गया है, जिससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि धर्मसूत्र से पहले गृह्यसूत्र विद्यमान है । इसी प्रकार गृह्यसूत्र में भी कतिपय स्थलों पर धर्मसूत्र के नियमों की ओर संकेत किया गया है । इन तथ्यों से भी यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि आपस्तम्बगृह्यसूत्र और आपस्तम्बधर्मसूत्र की रचना एक ही व्यक्ति ने की है ।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का सम्बन्ध दक्षिण भारत से है । इस शाखा का संस्थापक सम्भवतः आन्ध्रदेशीय था । 'चरणभ्यूह' में 'महार्णव' नाम की रचना से उद्धृत पद्यों के अनुसार आपस्तम्बशाखा नर्मदा के दक्षिण में प्रचलित थी—

“नर्मदादक्षिणे भागे आपस्तम्बयाधलायनी ।

राणायणी पिप्पला च यज्ञकन्याविभागिनः ॥

माध्यन्दिनी शङ्खायनी कौथुमी शौनकी तथा ।”

महार्णव में आपस्तम्बशाखा को स्पष्टतः आन्ध्रदेशीय बताया गया है—

“आन्ध्रप्रदिदक्षिणानेयीगोदासार आवधि ।

यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्या आपस्तम्बी प्रतिष्ठिता ॥”

स्वयं आपस्तम्ब ने धर्मसूत्र में श्राद्ध के प्रकरण में माह्युगी के हाथ में जल गिराने की प्रथा 'उत्तर के लोगों में' ('उदीच्याः') प्रचलित है, ऐसा कहकर

अपने दृष्टिगण भारतीय होने का संकेत कर दिया है। सबसे अधिक उबलैखनीय तथ्य यह है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र में तैत्तिरीय आरण्यक के जिन मन्त्रों का निर्देश है वे आन्ध्रप्रण्ड से ही गृहीत हैं। इस आधार पर ब्यूहेर आपस्तम्ब को निश्चित रूप से आन्ध्रदेशीय मानते हैं—

“It would therefore follow, from the adoption of an Andhra text by Apastamba, that he was born in that country, or at least, had resided there so long as to have become naturalised in it.”

उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि आपस्तम्ब का जन्म आन्ध्रदेश में हुआ था, अथवा उन्होंने वहाँ इतने दीर्घकाल तक निवास किया था कि वे वहाँ के हो गये थे।
से० बु० इ० भाग भूमिका, पृ० ३४

गौतमधर्मसूत्र तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र

गौतमधर्मसूत्र उपलब्ध धर्मसूत्रों में प्राचीनतम है। यद्यपि आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र में गौतम का नामतः उल्लेख नहीं किया है, तथापि गौतम के मत की ओर संकेत कई स्थानों पर किया है, उदाहरण के लिए गौतमधर्मसूत्र १. २. १ में कहा गया है—“प्रागुपतयनाःकामचारः कामवादः कामभक्षः” किन्तु आपस्तम्ब इसका विरोध करते हुए कहते हैं—“श्रुतिर्हि बलीयस्यानु-सानिकादाचारवः”। यद्यपि गौतम के नाम का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है तथापि वे उन्हीं के मत को ध्यान में रखकर अपने नियम का निर्णय करते हैं। इससे अतिरिक्त आपस्तम्बधर्मसूत्र में ऐसे कई सूत्र हैं जो गौतमधर्मसूत्र के सूत्रों से मिलते-जुलते हैं—

आपस्तम्ब०

काश्यां चैके बह्वगुपदिशन्ति

१. १. २. ४१

दष्टो धर्मव्यतिकरसाहसं च

पूर्वपात्र २. ६. १३. ७

वसतन्तीं च नोपरि गरुष्ट्व

१. ११. ३१. १५

चलित्नां वा सूर्मि परिष्वज्य

समान्यात् १. ९. २४. २

गौतम०

काश्यायमप्येके १. २. १९

दष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च

महताम् १. १. ३

नोपरि वसतन्तीं गरुष्ट्व

१. ९. ५२

सूर्मां वा शिष्यैश्चलन्तीम्

२. ५. ९

इसी प्रकार अनेक दूसरे सूत्रों में भी समानता देखी जा सकती है। प्रो० काणे के अनुसार जहाँ आपस्तम्ब ने ‘पुके’ कहकर दूसरे धार्चार्य के मत का निर्देश किया है वहाँ प्रायः गौतम के मत से ही समिप्राय प्रतीत होती है।

बौधायनधर्मसूत्र एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र

आपस्तम्बधर्मसूत्र बौधायनधर्मसूत्र के बाद की रचना है। यह तथा दोनों की तुलना से स्पष्ट है। प्रथमतः, आपस्तम्ब और बौधायन के अनेक सूत्रों में समानता है। आपस्तम्ब १. १०. २९. ८-१४ में आये हुए सूत्र बौधायनधर्मसूत्र में भी दिखायी पड़ते हैं। इसी प्रकार आप० १. १. २. ३०, १. १. ३. ६, १. २. ६. ८-९ बौधायनधर्मसूत्र प्रश्न १ अध्याय २ में भी आते हैं। जहाँ तक इन दोनों के दृष्टिकोण का प्रश्न है आपस्तम्ब बाद के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं और उनका विचार अधिक विकसित दिखायी पड़ता है। पुत्र के उत्तराधिकार के विषय में बौधायन ने जो विचार व्यक्त किए हैं आपस्तम्ब ने उनकी आलोचना की है। इसी प्रकार नियोग के विषय में भी आपस्तम्ब अपने पूर्ववर्ती बौधायन के विचारों से सहमत नहीं हैं। विवाह प्रकरण में बौधायन ने सभी प्रमुख भेदों का उल्लेख किया है, किन्तु आपस्तम्ब ने पैशाच विवाह को उल्लेख के योग्य नहीं समझा है। यही नहीं ज्येष्ठपुत्र के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में बौधायन ने जिन दो वैदिक अंशों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है, उनमें से एक की आलोचना आपस्तम्ब ने (२. ६. १४. ६-१३) की है—

इन तथ्यों के आलोक में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपस्तम्ब बौधायन से बाद के हैं। ब्यूहरे के शब्दों में—

“The three points which have been just discussed, viz. the identity of a number of Sutras in the works of the two authors, the fact that Apastamba advocates on some points more refined or puritan opinions, and that he labours to controvert doctrine contained in Baudhayana's Sutras, give a powerful support to the traditional statement that he is younger than that teacher.”

—वही, पृ० २२

ब्यूहरे का विचार यह है कि बौधायन और आपस्तम्ब में कई शताब्दियों का अन्तर होना चाहिए।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में उद्धृत एवं उल्लिखित साहित्य

आपस्तम्बधर्मसूत्र में पूर्ववर्ती व्यापक साहित्य के उल्लेख या उद्धरण मिलते हैं। यद्यपि ऋग्वेद और सामवेद से उद्धृत मन्त्रों की संख्या अत्यल्प है तथापि सभी वेदों के मन्त्र इस धर्मसूत्र में उद्धृत या निर्दिष्ट हैं। तीन प्राचीन वेदों का उल्लेख ‘प्रथी’ नाम से किया गया है और अथर्ववेद का ‘आथर्वग वेद’ नाम से उल्लेख है—‘आथर्वगस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति’ २. ११. २९.

१२. तैत्तिरीयब्राह्मण और आरण्यक के मन्त्रों को बहुशः उद्धृत किया गया है । जैसे २. २. ३. १६, २. २. ४. १-२ में । शुक्लयजुर्वेद से भी कतिपय अंश हैं । वाजसनेयिब्राह्मण से निम्नलिखित उद्धरण है १. ४. १२. ३—

“अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम् ब्रह्मयज्ञो ह वा पूष यस्वाध्यायस्तस्यैते वपट्कारा यस्तनयति यद्विद्योतेते यद्वरकूर्जति यद्वातो धायति । तस्मात् स्तनयति विद्योतमानोऽवरकूर्जति धाते वा धाययधीयीतैव वपट्काराणामच्छ्ववट्कारायेति ।” इसके आगे ही सूत्रों में यजुस, साम तथा वाजसनेयिब्राह्मण का उल्लेख है ।

वाजसनेयिब्राह्मण के उपर्युक्त उद्धरण के विषय में ब्यूलेर का मत है कि यह सम्भवतः शतपथब्राह्मण की कण्वशाखा का पाठ है, क्योंकि यह माध्यन्दिन पाठ में उपलब्ध नहीं है । सम्भवतः धर्मसूत्र का रचयिता माध्यन्दिन पाठ से परिचिन नहीं था ।

द्वी प्रकार उपनिषदों का भी उल्लेख इस सूत्र में मिलता है—“सर्वविद्यानामप्युपनिषदानुपपत्त्याऽनथ्ययत् तद्दहः” २. २. ५. १. अध्यात्मपटल की अधिकांश सामग्री उपनिषदों से गृहीत है । और वेद के छः अङ्गों के विषय में भी आपस्तम्ब को निश्चित रूप से ज्ञान है २. ४. ८. १०-११ “पठज्ञो वेदः ।” “छन्दःकलयो व्याकरणं उद्योतिपं निरुक्तं शीलाच्छन्दोविचित्रिरिति” । निरुक्त से आपस्तम्ब का परिचय सिद्ध करने के लिए महामहोपाध्याय काणे ने दोनों द्वारा दी गयी आचार्य शब्द की व्युत्पत्तियों की भी तुलना की है—

आपस्तम्ब १. १. १. १४ “यस्माद्धर्मानाचिनोति स धाचार्यः ।”

निरुक्त १. ४—“आचार्यः कस्मादाचारं ग्राहयति धाचिनोर्यानाचिनोति बुद्धिमिति वा ।”

आपस्तम्ब किस प्रकार अपने पूर्ववर्ती धर्मसूत्रकारों गौतम और बौधायन के मतों से परिचित हैं यह ऊपर लिखा जा चुका है । आपस्तम्ब के अपने क सूत्रों में समानता भी इसी तथ्य का द्योतक है कि वे इन दोनों प्रमुख सूत्रकारों से परिचित हैं, यद्यपि उन्होंने इनका नामतः उल्लेख नहीं किया है । आपस्तम्बधर्मसूत्र में निम्नलिखित नौ आचार्यों के नाम आये हैं—कण्व, कण्व, कुणिक, कुस, कौस, पुष्करसादि, वाष्पामिणि, श्वेतकेतु और शरीत । इनमें कौस, वाष्पामिणि और पुष्करसादि के नाम निरुक्त में भी मिलते हैं । श्वेतकेतु के उल्लेख के विषय में ब्यूलेर ने एक रोचक तर्क उपस्थित किया है । उनके अनुसार आपस्तम्बधर्मसूत्र में जिस प्रकार ‘अधराः’ के उदाहरण के रूप में श्वेतकेतु का उल्लेख किया गया है उससे प्रतीत होता है कि वे आपस्तम्ब से बहुत पहले के नहीं हैं । श्वेतकेतु और राजा जनक की क्या शतपथब्राह्मण में भी आयी है । यदि आपस्तम्ब के श्वेतकेतु को शतपथब्राह्मण

वाले श्वेतकेतु से अभिन्न माना जाय तो आपस्तम्ब शतपथब्राह्मण से एक या दो शताब्दी बाद रहे होंगे । प्रो० काने ने छान्दोग्योपनिषद् में दो श्वेतकेतु के उल्लेख की ओर ध्यान दिया है—श्वेतकेतु आरुणि और श्वेतकेतु आरुण्य और इस प्रकार आपस्तम्बद्वारा उल्लिखित श्वेतकेतु शतपथब्राह्मण के श्वेतकेतु नहीं हैं अपितु वे एक धर्मसूत्रकार प्रणीत होते हैं ।

सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्ग साहित्य के अतिरिक्त आपस्तम्ब का परिचय पुराणों और महाभारत से भी है । आपस्तम्बधर्मसूत्र में न केवल पुराणों का उल्लेख है, मर्युत पुराणों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं—जैसे १. ६. १९. १३.

अथ पुराणे श्लोकाद्युदाहरन्ति—

उपतामाहृतं भिचां पुरस्तादप्रवेदिताम् ।

भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥

न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च ।

न च हस्यं वहस्यसिर्व्यस्तामभ्यधिमन्यते ॥

२. ९. २३. ३-४

अथ पुराणे श्लोकाद्युदाहरन्ति—

अष्टासीतिसहस्राणि ये प्रजामीपिर ऋषयः ।

दक्षिणेनाऽर्धंगः पन्थानं ते रमशानानि भेक्षिरे ॥

अष्टासीतिसहस्राणि ये प्रजां नेपिर ऋषयः ।

उत्तरेणाऽर्धंगः पन्थानं तेऽभ्युतखं हि कल्पते ॥

पुराण के मत का उल्लेख इस सूत्र में द्रष्टव्य है—

‘यो द्विसार्धमभिक्रान्तं हन्ति मन्सुरेव मन्सुं स्पृशति न तस्मिन् श्रेय इति पुराणे ।’ १. १०. २९. ७. आप० २. ९. २४. ६ में भविष्यपुराण का नामतः उल्लेख है—

“दुमरसर्गो वीजार्था भवन्तीति भविष्यपुराणे ।”

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पुराण का उल्लेख आपस्तम्ब के अतिरिक्त किसी अन्य धर्मसूत्रकार ने नहीं किया है । आपस्तम्ब का परिचय महाभारत से भी प्रतीत होता है, जैसा कि म० स० काने ने बताया है, आप० २. ७. १७. ८ का निम्नलिखित पद्य अनुशासनपर्व के एक पद्य से मिलना-जुलता है—

“सम्भोजनी नाम पिशाचभिन्ना नैवा पितृन् गच्छति कोऽथ देवत् ।

इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टशाला ॥”

किन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं आपस्तम्ब का पूर्वमीमांसा और न्याय के सिद्धान्तों से सम्बद्ध उल्लेख । इन सूत्रों में ‘न्यायविद्’ या ‘न्यायवितसमयः’ प्रयोग द्रष्टव्य है—

‘अङ्गानां तु प्रधानैरस्यपदेशः इति न्यायविरसमयः’

२. ४. ८. १३.

‘अथापि निस्थानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः’

२. ६. १४. १३.

इस अंशों से मिलते-जुलते सूत्र जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्रों में भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

‘अर्थवादो वा, विधिशेषश्चात्तरमाश्रित्यानुवादः’

पृ० मी० सू० ६. ७. ३०.

इसी प्रकार इन दो उदाहरणों की समानता भी द्रष्टव्य है—

तरयां क्रयशब्दः संस्तुतिमात्रम् धर्माद्धि

ऋयस्य धर्ममात्रत्वम् पृ० मी० सू०

सम्बन्धः । आप० २. ६. १३. ११

६. १. १५

‘विद्यां प्रयत्नपथायः श्रूयते न कर्मयोगे

‘विद्यां’ प्रति विधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः

मन्त्राणाम्’ १. ४. १२. ९

स्यत्कर्माथैवात्प्रयोगस्य’ १३. ३. १९

‘श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्’

‘विरोधे स्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनु-

१. १. ४. ८

मानम्’

यत्र तु मीत्युपलब्धितः प्रवृत्तिर्न तत्र

‘यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साथ-

शास्त्रमिति

लक्षणविभक्तत्वात्’

इन समानताओं के आधार पर महामहोपाध्याय ने यह मत प्रस्तुत किया है कि आपस्तम्ब जैमिनि के मीमांसासूत्र से परिचित थे । संभव है कि वे जिस मीमांसासूत्र से परिचित थे वह उस समय तक वर्तमान रूप न प्राप्त कर सका हो ।

“The correspondence in language with the Purvamimamsa-sutra is so close that one is tempted to advance the view that Apastamba knew the extant Mīmāṃsā Sutra or an earlier version of it that contained almost the same expressions.”

द्विस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ४२

आपस्तम्बधर्मसूत्र के अध्यात्मपटल में आत्मा के स्वरूप पर जिस प्रकार विचार किया गया है उससे सामान्यतः यह धारणा भी बनती है कि आपस्तम्ब वेदान्त दर्शनपद्धति से भी परिचित थे । यद्यपि अध्यात्मपटल का मुख्य ज्योति उपनिषद् है, तथापि उनकी सम्बद्ध विचारसरणि के आधार पर ही वादरायण के ब्रह्मसूत्र जैसी दर्शनपद्धति से परिचय का अनुमान स्वाभाविक है । इस सम्बन्ध में स्पूहेंर के विचार द्रष्टव्य हैं ।

३ आ० भू०

आपस्तम्बधर्मसूत्र की भाषा और शैली

आपस्तम्बधर्मसूत्र की सबसे प्रधान विशेषता इसकी भाषा है। वस्तुतः इस दृष्टि से यह सभी धर्मसूत्रों से विलक्षण है। इस धर्मसूत्र के समयनिर्घाण में एक सबल प्रमाण इसकी भाषा भी है। भाषा की दृष्टि से ब्यूहेर ने इसकी असंगतियों को चार वर्गों में रखा है—

१. ऐसे प्राचीन वैदिक शब्दरूप जो दूसरी वैदिक रचनाओं में उपलब्ध हैं और सादृश्य के आधार पर निरूपण हैं।

२. ऐसे प्राचीन व्याकरण रूप जो पाणिनि के व्याकरण से शुद्ध हैं किन्तु अन्यत्र नहीं मिलते।

३. ऐसे शब्दरूप जो पाणिनि और वैदिकव्याकरण के नियमों के विरुद्ध हैं।

४. वाक्यसंरचना की असंगतियाँ।

जिन अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग इस धर्मसूत्र में किया गया है उनमें कुछ के उदाहरण हैं—अननियोग, श्रुपचोद, श्रुपवाज, ब्रह्महंसस्तुत, पर्यान्त, प्रगास्त, अनशयय, ब्रह्मउत्तय, श्राशिट्, छेवन, आचार्यदारे।

अपाणिनीय प्रयोग इस सूत्र में इतनी अधिक संख्या में मिलते हैं कि विद्वानों ने दो धारणाएँ स्वीकार की हैं। १. आपस्तम्ब पाणिनि से परिचित नहीं थे, उनके समकालीन थे अथवा पूर्ववर्ती थे। २. आपस्तम्बधर्मसूत्र के मौलिक पाठ में और भी अधिक असंगतियाँ रही होंगी। प्रो० काणे के शब्दों में—

“This makes it probable that in the original text there must have been many more Un-Panean forms than in the one preserved by Haradatta.”

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ३७

शैली की दृष्टि से आपस्तम्बधर्मसूत्र मुख्यतः गद्य में है, किन्तु इसमें प्रायः पद्यों का प्रयोग भी है। पद्यों की संख्या लगभग २० है, जिनमें ६ पद्य बौधायन धर्मसूत्र में भी उपलब्ध होते हैं। कुछ सूत्र वस्तुतः पद्यात्मक हैं। उद्धृत पद्यों के पहले ‘उदाहरन्ति’ ‘अथाप्युदाहरन्ति’ शब्दों का व्यवहार किया गया है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र का समय—

उपर्युक्त समालोचना के आधार पर हम आपस्तम्ब धर्मसूत्र के समय के विषय में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखकर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

१. आपस्तम्ब गौतम और बौधायन धर्मसूत्र के बाद का है, किन्तु हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र से पहले का है।

२. आपस्तम्बधर्मसूत्र में सभी वेदों और वेदों के वेदों के वेदों का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यह वेदों के बाद की रचना है।

३. श्वेतकेतु से बहुत बाद के समय की रचना नहीं है, अतः कान्दोयो-पनिषद् के समय से कुछ ही काल बाद की रचना है।

४. भाषा की दृष्टि से यह पाणिनि के व्याकरण के दक्षिण भारत में प्रचार होने से पहले की रचना है।

५. इसमें बौद्धधर्म का कोई उल्लेख नहीं है, अतः दक्षिण भारत के बौद्ध धर्म का परिचय होने से पूर्व की रचना है।

६. यह उस समय की रचना है जब जैमिनि ने अपने दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

७. आपस्तम्बधर्मसूत्र पतञ्जलि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) से पहले की रचना है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से तथा श्वेतकेतु के सम्बन्ध में उल्लेख पर ध्यान देते हुए व्यूह ने यह विचार प्रकट किया है कि आपस्तम्बधर्मसूत्र को तृतीय शताब्दी ई० पू० के बाद का नहीं मानना चाहिए। किसी भी स्थिति में इसके रचनाकाल की निचली सीमा १५०-२०० वर्ष और पहले रखनी-चाहिए।

“On linguistic grounds it seems to me Apastamba cannot be placed later than the third century B. C. and if his statement regarding svetaketu is taken into account, the lower limit for the composition of his sutras must be put further back by 150-200 years.”—वही, पृ० ४३.

भाषा: इन्हीं विषयों और तथ्यों पर ध्यान देते हुए महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने आपस्तम्बधर्मसूत्र के लिए ६००-३०० ई० पू० के बीच का समय मानना उचित ठहराया है।

“...We shall not be far wrong if we assign it to some period between 600-300 B. C.”

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ४५

आपस्तम्बधर्मसूत्र का वर्णयविषय

आपस्तम्बधर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं और प्रत्येक में ११ पटल हैं। दोनों प्रश्नों में क्रमशः ३२ और २५ कण्डिकाएँ हैं।

एक ही विषय विना व्यवधान के कई कण्डिकाओं में विवेचित है और कण्डिका के मध्य में भी नया विषय आरंभ हो जाता है। संक्षेप में इस धर्मसूत्र के वर्णयविषय इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रश्न कण्डिका १—धर्म के प्रमाण, चार वर्ण और उनकी श्रेष्ठता का क्रम, वर्ण धर्म, उपनयन की विधि और काल, व्रात्य के संस्कार । २—व्रात्य के संस्कार, ब्रह्मचारी के नियम, दण्ड, अजिन और मेखला, ब्रह्मचारी के धर्म ३-४—ब्रह्मचारी के नियम । ५—अभिवाद, पादोपसंग्रहण की विधि, ब्रह्मचारी के नियम । ६—ब्रह्मचारी के नियम । ७—ब्रह्मचारी के नियम, स्नातक के धर्म । ८—ब्रह्मचारी के नियम, अनध्याय के अवसर । ९-११—अनध्याय । १२—स्वाध्याय की विधि, पञ्चमहायज्ञ । १३—पञ्चमहायज्ञ । १४—नित्यकर्म अभिवादन योग्य व्यक्ति, अभिवादन की विधि । १५—आचमन की विधि । १६—आचमन की विधि, अमोक्ष्यपदार्थ, भोजन वियक नियम । १७—अमोक्ष्य अन्न और पदार्थ । १८—अमोक्ष्य और भोज्य अन्न का विचार । १९—भोज्य अन्न । २०—धर्म का प्रयोजन, लक्षण, न वेचने योग्य वस्तुएँ । २१—पतनीय तथा अष्टुधिकर कर्म । २२—अध्यारमपटल, आरमजान के उपाय, आरमजान की प्रशंसा, आरमस्वरूप । २३—आरमजान का फल, भूतदाहो दोष । २४—चन्द्रिय के वध का प्रायश्चित्त, ब्रह्मरथा का प्रायश्चित्त, सुरापान तथा गुरुपत्नीगमन का प्रायश्चित्त । २५—सुवर्ण की चोरी का प्रायश्चित्त । २६—गोवध का प्रायश्चित्त, अपतनीय प्रायश्चित्त । २७—अपतनीय-प्रायश्चित्त, २८—आपतनीय प्रायश्चित्त, भ्रूणहत्या का प्रायश्चित्त । २९—पतित के नियम, ३०-३३—स्नातक के नियम ।

द्वितीय प्रश्न—कण्डिका १-२, गृहस्थ के धर्म । ३—वैश्वदेवलि ४—वैश्वदेव बलि की विधि और गृहस्थ के धर्म । ५—गृहस्थ के धर्म ६-९—अतिथिसंस्कारविधि । १०—ब्राह्मण आदि वर्णों की विधि; दण्ड का नियम । ११—मार्ग देने योग्य व्यक्ति, दूसरे विवाह का नियम, सगोत्रविवाह का निषेध और विवाह के भेद । १२—अभिनिम्नुक्तादि प्रायश्चित्त । १३—स्त्री के प्रति कर्तव्य, दायभाग । १४—दायविभाग तथा चारह प्रकार के पुत्र । १५—उदकदान का नियम, अहविरस्य होम । १६—श्राद्धकल्प, १७—श्राद्ध-कल्प, उसका समय तथा श्राद्धयोग्य ब्राह्मण । १८—नित्यश्राद्ध का नियम । १९—श्राद्ध में पुष्ट्यर्थप्रयोग । २०—पुष्ट्यर्थप्रयोग । २१—आश्रम, संन्यासी और वानप्रस्थ के नियम । २२—वानप्रस्थ के नियम, श्रेष्ठ आश्रम । २३—गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता । २४—गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता । २५—राजा के कर्तव्य, २६—राजा के कर्तव्य, नियोग का नियम । २७—परस्त्रीगमन का प्रायश्चित्त । २८—दण्ड के विषय में विचार । २९—साही की योग्यता, धर्म का लक्षण । उपर्युक्त विषयसूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो प्रश्नों में प्रथम में ब्रह्मचारी और स्नातक से संबद्ध नियम दिये गये हैं और दूसरे में गृहस्थ,

संन्यासी और वानप्रस्थ के धर्मों का विवेचन किया गया है। कण्डिकाओं में विषय के अनुसार विभाजन नहीं है, और न कोई-विषय एकत्र समाप्त कर दिया गया है, अपितु एक ही विषय लगातार एकाधिक कण्डिकाओं में क्रमशः चलता रहता है और बीच-बीच में दूसरे विषय से संबंध नियम भी विवेचित हुए हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय और रचना विषयक वैशिष्ट्यों की समालोचना के बाद अब हम उसके सांस्कृतिक और सामाजिक पहलुओं पर विचार करेंगे।

व्याख्याकार हरदत्त—आपस्तम्ब धर्मसूत्र की केवल एक ही व्याख्या उपलब्ध है—हरदत्त कृत उग्गवलावृत्ति। ऐसा प्रतीत होता है कि हरदत्त से पहले इस सूत्र पर कोई भाष्य था। स्वयं हरदत्त ने एकाध स्थलों पर दूसरी व्याख्याओं का उल्लेख किया है। व्यूहरे ने इनका समय १४५०-१५०० ई० से पहले माना है। स० स० काणे ने इनका समय ११००-१३०० ई० के बीच माना है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में वर्णव्यवस्था—

प्राचीन भारतीय धर्म, संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था पर वर्णव्यवस्था इतनी अधिक छाया हुई है कि जीवन के मायः सभी विषयों पर वर्ण के आधार पर ही विचार किया गया है। मूलतः वर्णव्यवस्था की पृष्ठभूमि में मनुष्य का जातिकीर्वाणता का कर्म और नैतिक आचरण थे। अपने कर्म के आधार पर मनुष्य उच्च वर्ण में जन्म लेकर भी निम्न वर्ण में गिना जा सकता था। समाज का विभिन्न वर्गों में विभाजन प्रायः सभी देशों में किसी-न-किसी रूप में सदा विद्यमान रहा है। वर्ण या समुदाय स्वाभाविक रूप में जन्म लेते हैं, क्योंकि सभी मनुष्य एक जैसे उत्पन्न नहीं होते, सबमें एक-सी ज़मना नहीं होती और सबकी आरतें एक ही नहीं होतीं। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में मानव समाज भिन्न प्रकार की श्रेणियों से बना है और उनमें सबका अपना महात्त है। वे सभी एक सामान्य लक्ष्य की सिद्ध करने में लगे हुए हैं—

“Society is an organism of different grades, and human activities differ in kind and significance. But each of them is of value, so long as it serves the common end. Every type has its own nature which should be followed. No one can be at the same time a perfect saint, a perfect artist and a perfect philosopher. Every definite type is limited by boundaries which deprive it of other possibilities.”

(समाज विभिन्न श्रेणियों के अवयव से बना है और मानवीय क्रियाओं का भेद और महात्त भिन्न होता है, किन्तु उनमें प्रत्येक का उस स्थिति

तक महाश्व है जब तक वह एक सामान्य लक्ष्य को सिद्ध करता है। प्रत्येक विशिष्ट भेद का अपना निजी स्वरूप है, जिसका अनुसरण होना चाहिए। कोई भी एक व्यक्ति एक ही साथ एक महान् सन्त, एक महान् कलाकार और पहुँचा हुआ दार्शनिक नहीं हो सकता। प्रत्येक जाति या भेद की अपनी सीमाएँ हैं जो उसे दूसरी सम्भावनाओं से वियुक्त करती हैं।)

—हिन्दू न्यू आफ लाइफ, पृ० १२७

किन्तु समय के साथ परिवर्तन हुआ और वर्ण-व्यवस्था ने जो अन्यायपूर्ण रूप ग्रहण किया वह आज भी समाज की सबसे बड़ी समस्या के रूप में प्रत्यक्ष है। विद्वेषतः, समाज के एक वर्ग की स्थिति इतनी दयनीय दिखाई पड़ती है कि अनेक मानवों के लिये जन्म भी अभिशाप प्रतीत होता है। भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था की बुराइयों पर कोई पदों अब नहीं ढाला जा सकता।

धर्मसूत्रों के काल में वर्ण-व्यवस्था अपनी पूर्णावस्था पर पहुँच चुकी है। आपरत्न धर्मसूत्र में तो सामाज्यचारिक धर्म की व्याख्या की प्रतिज्ञा कर पहला विवेच्य विषय वर्ण ही है। चौथे ही सूत्र में चार वर्णों का निर्देश कर अगले सूत्र में उनके धर्मों में वर्ण के आधार पर भिन्नता सर्वत्र स्पष्ट की गई है। यज्ञोपवीत छोटे-छोटे कर्मों में वर्ण के आधार पर भिन्नता सर्वत्र स्पष्ट की गई है। यज्ञोपवीत का समय, अवस्था, मेखला, बल, दण्ड, भिन्नचरण की विधि सभी में वर्ण का विचार है।

जगमना वर्ण-विभाजन की कठोरता इस बात से भी स्पष्ट है कि यदि कोई वर्णसात्र से भी ब्राह्मण व्यक्ति का वध करता है, तो उसका भी प्रायश्चित्त बहो होता है, जो वेदज्ञ ब्राह्मण की इत्या का 'ब्राह्मणमात्रं च' १.२४.७। सभी वर्णों के लिए अपने धर्म का पालन ही परम कर्तव्य है। स्वधर्म का अनुष्ठान कर कोई भी मनुष्य परम अपरिमित स्वर्ग के सुख को प्राप्त कर सकता है 'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्।' इस धर्मसूत्र के अनुसार भी ब्राह्मण समाज का सबसे पूज्य और श्रेष्ठ अङ्ग है। उसके लिए मार्ग छोड़ देने का नियम है। किन्तु इसके साथ ही ब्राह्मण को भी अपने धर्म और कर्तव्य का पालन करने वाला होना चाहिये। यदि ब्राह्मण वेदाध्ययन से सम्पन्न नहीं है, तो उसके प्रति सम्मान नहीं प्रदर्शित करना चाहिये। हाँ, उसे बैठने का स्थान, जल तथा अन्न देना चाहिये।

उपनयन का विधान केवल तीन उच्चवर्ण के लिए किया गया है अर्थात् शूद्र और दुष्टकर्म करने वालों के लिए उपनयन का विधान नहीं है। आपरत्न धर्मसूत्र में तो शूद्र और पतित व्यक्ति को 'शमसान' कह कर उसे और

निम्नित्त दहराया गया है। वेद का अध्ययन और अग्नि का आधान भी शूद्र के लिये वर्जित है।

“अशूद्राणामदृष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याधेयं कलवम्भि च कर्मणि” प्रश्न १, कण्डिका १, सूत्र ६। शूद्र के लिए केवल सेवाकर्म ही विहित है और श्रेष्ठ वर्णों की सेवा करने से उसे उत्तरोत्तर अधिक पुण्यफल प्राप्त होता है। वर्णों की श्रेष्ठता के क्रम का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि दस वर्ष के ब्राह्मण बालक के समस्त सौ वर्ष की आयु का त्रिपय पिता के सामने पुत्र की तरह होता है। अपने से हीन वर्णों का व्यक्ति भी विद्या या अवस्था में बढ़ कर हो तो उसके प्रति आदर और समान व्यवहार करने का नियम है— ‘पूजा वर्णज्ज्यायसां कार्य, बृद्धतराणां च’ १.१३.२।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में शूद्र वर्णों की निम्नस्थिति पर अधिक नहीं कहा गया है, किन्तु इससे अधिक प्राचीन गौतमधर्मसूत्र के समय में ही शूद्र की स्थिति बहुत गिरी हुई है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार भी शूद्र और पतित रमशाज के समान होते हैं उनके समस्त वेद का अध्ययन निषिद्ध है—“रमशाजवच्छूद्र-पतितौ” १.९.९. यदि शूद्र उसी मकान में रहते हों तो वहाँ भी अध्ययन न करे यहाँ तक कि शूद्रा छी देल ले तो वेद का अध्ययन बन्द कर देने का नियम है। किन्तु इसके साथ ही कुछ सहिष्णुता भी दिखाई पड़ती है। शूद्र भी आर्यजन की देखरेख में रसोद्यों का कार्य कर सकता है। “आर्याधिष्ठिता वा शूद्रारसंस्कारः स्युः” २.३.४. दृष्टव्य २.३.९. और आपत्तिके समय शूद्र का अन्न भी भोज्य होता है। “तस्याऽपि धर्मोपनतस्य” १.१८.१४. इस प्रकार की सहिष्णुता अनेक आचार्यों के विचारों में अभिव्यक्त है। मनु ४.२.११ में ऐसा ही विचार दिखाई पड़ता है। जगद्विज्ञ और अपराध के लिए दण्ड के प्रसङ्ग में भी शूद्र के प्रति अत्यन्त कटोरता का नियम है। आपस्तम्बधर्मसूत्र के पहले ही वर्णों की स्थिति पूरी तरह निर्धारित हो चुकी थी अतः इस धर्मसूत्र में गौतम घ० सू० की तरह उनके विषय में व्यवहार के नियमों का स्पष्ट निर्देश करने की आवश्यकता नहीं समझी गई है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र में आश्रमव्यवस्था—

आश्रमव्यवस्था भारतीय धर्म की अपनी विशेषता है। धर्मशास्त्र के अनुसार मानव जीवन यौजनावृद्ध और निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। व्यक्ति के जीवन का मूल्यांकन उसके कर्मों से होता है भौतिक साधन सृष्टि मात्र से नहीं। जीवन की प्रत्येक अवस्था के कर्तव्य निर्धारित हैं। व्यक्ति अवस्थानुसार किसी वि.नि.ष्ट जीवन प्रवृत्ति से प्रेरित होता है। भारतीय धर्म की आश्रम

व्यवस्था व्यक्ति की प्रवृत्तियों और क्षमताओं के अनुसार जीवन के कर्मों के विभाजन और सन्तुलन की व्यवस्था है। आश्रमव्यवस्था के पीछे एक उदात्त भावना है, एक मनोवैज्ञानिक दृष्टभूमि है।

आश्रमव्यवस्था पर आपस्तम्बधर्मसूत्र में पर्याप्त जोर दिया गया है। आश्रमों की व्यवस्था संस्कारों की आधारभूमि पर की गई है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार जिस प्रकार उत्तम और अर्द्धी प्रकार जीते हुए खेत में पौधों और वनस्पतियों के बीज अनेक प्रकार के फल उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार गर्भाधान आदि संस्कारों से युक्त व्यक्ति भी फल का भागी होता है।

“पथौपधिचनस्पतीनां बीजस्य चैत्रकर्मविशेषे फलपरिवृद्धिरेवम्”-२.२.४.। संस्कारों में उपनयन संस्कार से ही ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ होता है। उपनीत के लिए वेद का अध्ययन परमावश्यक कर्त्तव्य है। उपनयन न करा कर वेद की उपेक्षा करने वाला 'ब्रह्महन्' कहलाता है और उसके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध वर्जित किया गया है। उनसे भी बड़ कर वे लोग होते हैं जिनके कुल परम्परा से यज्ञोपवीतु होने का ज्ञान नहीं है और जो 'श्मशान' कहे जाते हैं। किन्तु इन सभी प्रकार के उपनयन के अभाव से उपपन्न दोषों के लिए प्रायश्चित्त का भी विधान किया गया है, जिसके उपरान्त शुद्धि हो जाती है। उपनयन का मुख्य प्रयोजन विद्याग्रहण है। स्त्रियों के लिए उपनयन का नियम नहीं है। उपनयन संस्कार के लिए यह आवश्यक है कि उपनयन करने वाला वेदों और शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न हो और कुलपरम्परा निषिद्ध कर्मों से विरत रहने वाला एवं विहित कर्मों में मन लगाने वाला हो। उपनयन संस्कार के समय से ही बालक वेद के नियमों के अनुसार धार्मिक कृत्य करने का अधिकारी होता है। उपनयन ही वह सीमा है जहाँ से धार्मिक कृत्य करने का अधिकार आरम्भ होता है। (द्रष्टव्य, २.१५.२३-२४)।

ब्रह्मचर्यावस्था का मुख्य लक्ष्य अध्ययन है। अध्ययन एक तप है, इसके लिए वातावरण की अनुकूलता, मानसिक शान्ति और एकाम्रता, उचित स्थान और पवित्रता पर धर्मसूत्रों में विस्तृत विचार किया गया है। इसीलिए अनाध्याय का प्रकरण सूक्तम बातों के साथ प्रायः सभी धर्मसूत्रों में मिलता है। वस्तुतः, जब तक मन समाहित नहीं है, तब तक अध्ययन का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वेदाध्ययन के लिए आचरण के नियमों का पालन आवश्यक है, अन्यथा नरक की प्राप्ति होती है और मनुष्य की आयु क्षीण होती है। नियमों का उल्लंघन करने से ही आज कल ऋषि नहीं उत्पन्न होते हैं—

“तरमाद्ययोऽव्येषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्” प्ररन । कण्विका ५,४.

ब्रह्मचारी के लिए कामभावना सबसे बड़ी बाधा है। यह उसे अपने सुदृष्ट कर्त्तव्य से विरत करती है, अतः उसे कामभावना का पूर्णतः नियन्त्रण करना चाहिये। मनु, मांस, गन्ध, माला, अङ्गन और सभी सुखदायी वस्तुओं का परिस्वाग करे। यहाँ तक कि शरीर की अधिक स्वच्छता भी ब्रह्मचारी के लिए बर्जित है। प्रत्येक विधि से भोग प्रवृत्ति को रोक कर उसे विद्याध्ययन में लगाना ब्रह्मचारी की दैनिक तपस्या है। स्त्री सम्पर्क या स्त्री सम्पर्क की कामना उसके ब्रत से नितान्त विरोधी विचार हैं, इसीलिए अकारण किसी भी स्त्री के स्पर्श को वर्जित किया गया है। प्र० १. कं. ७ सू० १०.

ब्रह्मचर्य जीवन सभी प्रकार नैतिक गुणों के धर्मेन और अभ्यास का जीवन है। ब्रह्मचारी को लमाशील, कर्त्तव्यपालन में तत्पर तथा लजाशील होना चाहिए और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।। धैर्य, उरमाह, अक्रोध, अनसूया ब्रह्मचारी के आवश्यक चारित्रिक गुण हैं। ब्रह्मचारी के लिए अनेक सामान्य नियम हैं। उसे सभी प्रकार की ऐन्द्रिय सुख देनेवाली वस्तुओं का श्याग करना आवश्यक है। शारीरिक सौन्दर्य के नदर्शन की प्रवृत्ति का भी श्याग करना चाहिये। जल में केलि-क्रीडा अथवा सुखाभुक्ति करते हुए स्नान भी ब्रह्मचारी के लिये निषिद्ध है। ब्रह्मचारी के कर्म मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—गृह को प्रसन्न करने वाले कर्म, कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा वेद का परिश्रमपूर्वक अभ्यास (“गुरुस्तादनीयानि कर्मानि स्वशय्यसमध्ययन संवृत्तिरिति” १, ५, ९)। इन कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्म ब्रह्मचारी को नहीं करने चाहिए। इस प्रकार अध्ययन और गुरु की सेवा विचार्यों के जीवन का लक्ष्य माना गया है।

आचार्य के लिए भी उसका आचरण प्रधान होता है। अतएव धर्मसूत्र में आचार्य के लिये भी अनेक नियमों की व्यवस्था की गयी है। आचार्य के धर्म-अष्ट होने पर धर्मसूत्र में उसके श्याग का भी विधान है। ब्रह्मचर्याश्रम में ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण जीवन में आचार्य का सर्वाधिक महत्व है—“यस्माद्दर्शाना-चिन्तिति स आचार्यः” आचार्य धर्म का ज्ञान कराता है। आचार्य विद्या के माध्यम से बालक को पुनः उत्पन्न करता है। वह माता-पिता से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि जो जन्म उसके माध्यम से प्राप्त होता है वह स्वर्गसुख तथा निःश्रेयस् मोक्ष का हेतु होता है। माता-पिता केवल शरीर को ही उत्पन्न करते हैं, किन्तु आचार्य बालक की सर्वथा योग्य बनाता है। आचार्य का यह कर्त्तव्य है कि वह योग्य शिष्य का अध्यापन करे उसे अस्वीकार न करे १-कण्डिका १४ सूत्र २, ३।

शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि गुरु के प्रति आराध्य देव के समान भावना रखे, उनके समस्त ध्यर्थ की बातें न करे और उनकी बातों को ध्यान से सुने—
 “देव मिवाचार्यमुपासीताऽविकथयन्नविमना वाचं शुश्रूषमाणोऽस्य”

१-कं० ६, १३

किन्तु इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि शिष्य को विवेक से काम लेना चाहिये और यदि गुरु की आज्ञा का पालन करने से पतनीय कर्म का दोष होता हो तो उस आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिये—“आचार्याधीन-रस्यादयन्न पतनीयेभ्यः” १-२-१९। अध्ययन से प्रमाद करने वाले या अपराधी शिष्य को गुरु डराकर, धमकाकर, भोजन बन्द कर या ठंडे पानी से नहलाकर दण्ड दे सकता है। प्र० १ कं० ८ सू० ३०। दूसरी ओर, शिष्य भी धर्म का उल्लंघन करनेवाले गुरु को एकान्त में समझा सकता है—“प्रमादा-दाचार्यस्य बुद्धिपूर्वं वा नियमातिक्रमं रहसि बोधयेत्” प्र० १ कं० ४ सू० २५। धर्म के कार्यों में गुरु की सहायता और रक्षा करना शिष्य का कर्त्तव्य होता है (१. ४. २३) और ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी जो कुछ भी वस्तु प्राप्त करता है वह नियमतः गुरु का होता है। किसी कार्य के लिए जाते समय विद्यार्थी के लिए गुरु की प्रदक्षिणा का नियम है।

शिष्य के प्रति गुरु का कर्त्तव्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। गुरु शिष्य को पुत्रवत् माने, हृदय से उसकी उन्नति की कामना करे और ईमानदारी के साथ विद्या प्रदान करे यही आदर्श है—

“गुत्र भिवैनमनुकाङ्क्षन् सर्वधर्मैश्चनपच्छाद्यमानः सुयुक्तो विद्यां प्राहयेत्”

१. ८. २५

गुरु शिष्य का किसी प्रकार शोषण न करे और अध्ययन कार्य में अवरोध न आने दे। हाँ, संकट की स्थिति इसका अपवाद है। गुरु जब शिष्य को विद्या प्रदान करने में प्रमाद करता है तो वह गुरु नहीं रह जाता और शिष्य को चाहिये कि ऐसे गुरु का त्याग कर दे। धर्मसूत्र की दृष्टि में गुरु और शिष्य का आदर्श जीवन के प्रमुख लक्ष्य की सिद्धि की ओर उन्मुख है। यह केवल जीविका या औपचारिकता का सम्बन्ध नहीं है।

धर्मसूत्र में अभिवादन शिष्टाचार या निरस्य आचरण का महत्वपूर्ण अङ्ग है, अतः प्रत्येक अवसर पर अभिवादन की विधि का निर्देश किया गया है। गुरु के पादोपसंग्रहण का नियम सभी धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में आया है। अभिवादन, प्रत्यभिवादन में नाम के अन्तिम स्वर को प्लुत करने का नियम है, किन्तु यहाँ भी शूद्र के लिए भिन्न नियम दिया गया है। ध्यानाहं है कि अभिवादन और पादोपसंग्रहण भिन्न हैं। पादोपसंग्रहण गुरुओं के सम्बन्ध में

विहित है, गुरु का पादोपसंग्रहण अप्ययन आरम्भ करने से पूर्व करना चाहिये । अभिवादन इसके अतिरिक्त अन्य सभी अवसरों पर करना चाहिये ।

ब्रह्मचारी के धर्म का एक आवश्यक अंग सायं प्रातः समिधाधान और भिक्षाचरण है । प्र० १ कं० ३ सू० ४३ के अनुसार ब्रह्मचारी भिक्षाचरण के रूप में एक प्रकार का यज्ञ ही करता है—“मैत्रं हविषा संस्तुतं तत्राऽऽचार्यो देवतायै ।” किन्तु धर्मसूत्र में भिक्षा के कुछ निश्चित निमित्त विहित हैं— आचार्य को दक्षिणा देने के लिए, विवाह, यज्ञ, माता-पिता के भरणपोषण के लिए भिक्षा माँगी जा सकती है । जिस किसी याचक को भिक्षा देना उचित नहीं ठहराया गया है, प्रयुक्त याचक के गुणों पर विचार कर ही भिक्षा देनी चाहिये—

“तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम्” २. १०. २ केवल भौतिक सुख की लिप्सा से भिक्षा माँगना पाप है । किन्तु आचार्य को दक्षिणा देने के लिए शूद्र से भी धन लिया जा सकता है । १. ८. २१ । ब्रह्मचारी को भिक्षा देना गृहस्थ का परम कर्तव्य है । हमारे धर्मसूत्र के अनुसार, भिक्षा न देने पर ब्रह्मचारी पुण्य, प्रजा, पशु, कुल, विद्या सभी कुछ खीन लेता है (१ कं० ३ सू० २१) । इस सम्बन्ध में धर्मसूत्र ने रोषघ्नारक्षण का भी एक अंश उद्धृत किया है ।

गृहस्थाश्रम—गृहस्थाश्रम के महत्त्व का प्रतिपादन प्रायः सभी धर्मसूत्रों में किया गया है । आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार “तीन प्रकार के विद्याओं के ज्ञाता आचार्यों का मत है कि वेद ही परम प्रमाण हैं, इस कारण वेदों में त्रीहि, यव, यज्ञपशु, आश्व, दुग्ध, स्वप्न का उपयोग करते हुए, परती के साथ, मन्त्रों का उच्च या मन्द स्वर से पाठ कर जिन कर्मों के करने का विधान है उन्हें करना चाहिये और इस कारण उनके विपरीत आचरण का निर्देश करने वाले नियमों को वेदज्ञ प्रमाण नहीं मानते हैं ।

“त्रैवियद्विद्वानां तु वेदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते त्रीहियव-परवाग्रपपयः कपालपरतीसवन्धान्युचैर्नोचैः कार्यमिति नैर्विद्वद् आचारोऽ-प्रमाणमिति मन्यन्ते ।” (२ कं० २२. ९) ।

गृहस्थाश्रम के महत्त्व के विषय में आगे कहा गया है—

“अथाप्यस्य प्रजापतिमृतमान्नाय आह-प्रजामनु प्रजायसे तदुते मर्त्या-ऽमृतमिति ।”

इसके अतिरिक्त गृहस्थ की मृतान को अमृत बताकर वेद ने कहा है—
हे मरणधर्मा मनुष्यों, तुम अपनी सन्तान में पुनः उत्पन्न होते हो, अतः सन्तान

ही तुम्हारे लिये अमराव है ।" पिता ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है, दोनों में सारूप्य होता है यह भी सामान्यतः देखा जाता है । वस्तुतः पिता प्रजापति का रूप होता है । "पुनरपगैर्बीजार्था भवन्तीति भविष्यपुराणे ।" २. २४. ६.

गृहस्थाश्रम की प्रशंसा में प्रजापति के दूसरे वचन का भी उल्लेख किया गया है—

"त्रयी विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यश्मनुप्रदानम् । य एतानि कुर्वते तैरिहसह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यप्रशंससिद्धिः ।" जो तीनों वेदों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, मन्तानोरपत्ति, श्रद्धा, तप, वसु तथा दान—इन कर्मों को करता है वह मेरे साथ निवाम करता है । जो इनके विपरीत कर्म करता है वह धूल में मिल जाता है ।"

गृहस्थाश्रम में पति और पत्नी का समान महत्त्व है और पाणिप्रहण के उपरान्त दोनों को सभी कर्म साथ-साथ करने होते हैं । पत्नी पर दोनों को उपवास करना चाहिये । गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों में स्थालीयाक प्रमुख प्रतीत होता है इसके लिए अग्नि का उपयमाधान करना होता है । पति और पत्नी सभी कर्मों में सहयोगी होते हैं अतः उनमें किसी भी प्रकार के दायविभाग का नियम नहीं है । वे दोनों पुण्यों के फल में भी समान रूप से अधिकारी होते हैं और धन के उपार्जन में भी साथ होते हैं ।

अतिथिसंस्कार गृहस्थाश्रम का एक प्रधान कर्त्तव्य है । इसका उल्लेख गौरव के साथ सभी धर्म और गृहसूत्रों में है । आपस्तम्ब के अनुसार अतिथि वही है, जो अपने धर्म में निरत रहने वाले गृहस्थ के यहाँ केवल धर्म के प्रयोजन से जाता है, "स्वधर्मयुक्तं कुटुम्बिनमभ्यागच्छति धर्मपुरश्कारो नाऽन्यप्रयोजनः सोऽतिथिर्भवति ।" (२. ६. ५) । अतिथि की पूजा को शान्ति और स्वर्ग की प्राप्ति का साधन माना गया है । अतिथि संस्कार के नियम में यह निर्देश किया गया है कि अतिथि के आने पर उठकर उसकी अगवाजी करना चाहिए और अवस्था के अनुसार उसका आदर करना चाहिए और योग्य स्थान प्रदान करना चाहिए । अतिथि के पैरों को दो गूद धोवें । कुछ आचार्यों का मत है कि अतिथि के लिए मिट्टी के पात्र में जल लाना चाहिए ।

अतिथि को ठहरने के लिए स्थान, सोने के लिये शय्या, चटाई, तकिया, चादर, अञ्जन आदि आवश्यक वस्तुएँ देनी चाहिये । यदि परिवार के सभी सदस्यों के भोजन कर चुकने के बाद भी अतिथि आवे तो उसके भोजन का प्रबन्ध करना चाहिये । गृहस्थों के लिये अतिथि संस्कार निश्चय किया जाने वाला प्राज्ञापरय यज्ञ है—“स पूष प्राज्ञापरयः कुटुम्बिनो यज्ञो नित्यप्रततः ।” २.७.१ । अतिथियों के उदर की अग्नि आहूनीय अग्नि है, पवित्र गृह अग्नि

गार्हपत्य अग्नि है, जिस अग्नि पर भोजन पकाया जाता है वह दक्षिणाग्नि है। इसी प्रकार धर्मसूत्र में कहा गया है कि अतिथि को दिया गया दूध से युक्त अन्न अग्निष्टोम का फल उत्पन्न करता है, घृतमिश्रित भोजन उष्य का फल प्रदान करता है, मधु से युक्त भोजन अतिरात्र यज्ञ का फल देता है, मांस से युक्त भोजन द्वादशाह यज्ञ का फल देता है तथा अन्न और जल अनेक समस्तान एवं दीर्घजीवन प्रदान करते हैं। अतिथि चाहे म्रिय हो या अम्रिय उसका सत्कार स्वर्ग-फल प्रदान करता है। अतिथि मत्कार-रूपी प्राजापत्य यज्ञ में तीनों समय दिया गया अन्न तीन सवन होता है। अतिथि के पीछे जाना उदवसनीया इष्टि का प्रतीक है, मधुर भाषण ही यज्ञ की दक्षिणा है। अतिथि के मरधान करते समय उसके पीछे चलना ही विष्णुक्रम है, अतिथि को पहुँचा कर लौटना ही मानो इस यज्ञ का अन्तिम अवस्य स्नान है। जो व्यक्ति अतिथि को एक रात्रि अपने घर में ठहराता है वह पृथ्वी के सुखों को प्राप्त करता है, जो दूसरी रात्रि ठहराता है वह अन्तरिक्ष लोकों को जीतता है, तीसरी रात्रि ठहराने वाला स्वर्गीय लोकों को प्राप्त करता है, चौथी रात्रि ठहराने वाला असीम आनन्द का लोक जीत लेता है। अनेक रात्रियों तक अतिथि को ठहराने से असीम सुखों की प्राप्ति होती है। (प्र० २.कं.७ सू. ६)।

इसी प्रसङ्ग में कहा गया है कि भोजन न होने पर भी आसन, पादमचालन, गयन-आसन, स्वागत के वचन से अतिथि का सत्कार करना चाहिये—‘अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति।’ २.३.१४। अतिथि के रूप में यदि कोई शूद्र आये तो उसे कोई कार्य सौंप दिया जाता है और फिर उसे भोजन दिया जाता है। २.३.१९-२०.

ब्रह्मयज्ञ या वेद का स्वाध्याय गृहस्थाश्रम का एक दैनिक कर्म है। इसकी उपेक्षा कदापि अभीष्ट नहीं है। भोजन से पहले ही नियम स्वाध्याय का नियम है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में ब्राह्मण का उद्वरण देते हुये नियम स्वाध्याय को तप माना गया है। कुर्य, अतिकुर्य, चान्द्रायण आदि तपों का जो कुछ फल होता है वही फल स्वाध्याय का भी होता है। (प्र० १ कं० १२, सू० १)। इसी प्रसङ्ग में शतपथ ब्राह्मण का एक अंश भी उद्धृत किया गया है—

“अथापि वाजसनेयिनाहणम्.....” (प्र० पृष्ठ ९०)

वैश्वदेवकर्म भी गृहस्थाश्रम के धर्मों का एक अनिवार्य अङ्ग है। इसके अनिश्चित पितृकर्म या श्राद्धकर्म की महत्ता पर भी धर्मसूत्र में विस्तार से विचार किया गया है। बलिकर्म के बाद गृहस्थ को चाहिये कि सबसे पहले

अतिथियों को भोजन कराये, उसके बाद बालकों, बृद्धों, रोगियों, सम्बन्ध की स्त्रियों को तथा गर्भवती स्त्रियों को भोजन कराये ।

भोजन की शुद्धता धर्मसूत्र का एक प्रमुख विवेच्य विषय है । किसी भी प्रकार की अपवित्र वस्तु के सम्पर्क से भोजन अभोज्य हो जाता है । आपस्तम्बधर्मसूत्र में प्रथम प्रश्न की सोलहवीं, सत्रहवीं कण्डिका में भोजन की शुद्धता का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है । इस काल तक शूद्र द्वारा स्पृष्ट भोजन अभोज्य माना जाने लगा है । खट्टा, रातभर रखा हुआ, वाली भोजन, बाजार से खरीदा हुआ भोजन अभोज्य माना जाता है । चित्र निर्माण आदि कर्म कर जीविका निर्वाह करने वाले शिल्पियों का भोजन भी नहीं ग्रहण करना चाहिए (द्र० पृ० १३९) । इसी प्रकार दवा आदि देकर जीविका निर्वाह करने वाले तथा व्याज लेने वाले ध्यक्ति का अन्न भी अभोज्य होता है । प्रायश्चित्त न करने वाले ब्राह्मण का अन्न अभोज्य होता है । आपस्तम्ब के अनुसार गाय तथा बैल का मांस भक्ष्य हो सकता है 'धेन्वनहुहोर्भक्ष्यम्' १. कं० १७.३० । वाजसनेयक के मतानुसार बैल का मांस यज्ञ में अर्पित करने योग्य माना गया है १.१७.३१ ।

विवाह और नारी—दस धर्मसूत्र में विवाह के छः भेदों का उल्लेख किया गया है, जब कि सामान्यतः आठ भेद धर्मसूत्रों में वर्णित हैं । ये छः भेद हैं—ब्राह्म, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर और राक्षस । प्राजापत्य तथा पैशाच विवाह के विषय में हमारा धर्मसूत्र मौन है । इनमें तीन भेदों ब्राह्म, आर्ष और दैव को प्रशस्त माना गया है तथा गान्धर्व, आसुर और राक्षस विवाहों को निन्दित कहा गया है । इन सबमें ब्राह्म विवाह को सबसे उत्तम रबीकार किया गया है ।

धर्मसूत्रों में विवाह के जो भेद बताये गये हैं उनका निर्णायक आधार कन्या प्राप्ति का ढंग है । कन्या कैसे ग्रहण की जाती है इसी आधार पर इन भेदों में अन्तर है या श्रेष्ठता और निकृष्टता का विचार है । ब्राह्म विवाह में वर के कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा की उत्पत्ति के लिए तथा एक साथ धर्म के प्रयोजन के लिए कन्या प्रदान करे । आर्षविवाह में वर कन्या के पिता को दो सौ गाय तथा बैल प्रदान करे । दैव विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋषिज को प्रदान करे जो श्रौतयज्ञ करा रहा हो । यदि कन्या और वर पारस्परिक प्रेम से स्वयं विवाह कर लेते हैं तो यह गान्धर्व विवाह कहलाता है । यदि वर कन्या के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धन प्रदान कर विवाह करे, तो वह आसुर विवाह कहलाता है । कन्या

पच वाले को परास्त कर यदि वर कन्या का अपहरण करे तो वह राजस विवाह कहलाता है ।

विवाह की पवित्रता पर जिस कारण से अधिक विचार किया गया है वह स्पष्टतः यही है कि जैसा विवाह होता है, वैसा ही पुत्र होता है—“यथायुक्तो विवाहरतया युक्ता प्रजा भवति” २. १२. ४ । इसी सवन्ध में हमारे धर्मसूत्र में गोत्र का भी विचार किया गया है । इसके अनुसार अपने ही गोत्र के पुरुष के साथ पुत्री का विवाह नहीं करना चाहिए । “सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्” २. ११. १५ ऐसे पुरुष को भी कन्या देना निषिद्ध है जो मातृपच से द्वः पीढी के भीतर संबद्ध हो, अथवा पिता के पच से संबद्ध हो ।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय एकपरनीव की प्रवृत्ति को प्रमुखता प्राप्त हुई है । २. ११. १२ में स्पष्टतः कहा गया है—“धर्मजासम्पन्ने द्वारे नाऽन्यां कुर्वीत” । अर्थात् यदि परनी श्रौत, गृह्य, स्मार्त धर्मों में ध्रुवा रखनेवाली तथा पुत्र उत्पन्न करने में सक्षम हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए । किन्तु यदि परनी दोनों में से किसी एक कार्य के सम्पादन में असमर्थ हो तो अग्निहोत्र की अग्नि प्रज्वलित कर दूसरी परनी ग्रहण कर सकता है । इस प्रकार अग्निहोत्र की अग्नि के आधान के साथ परनी का मौलिक सवन्ध है । इस धर्मसूत्र की दृष्टि में भी परिवार में माता का महत्त्वपूर्ण स्थान है । समावर्तन के बाद लौटे हुए पुत्र द्वारा उपार्जित बस्तुएँ माता को ही समर्पित करनी होती हैं ।

(१. ८. १५) ।
अन्य धर्मसूत्रों के समान आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी नियोग की प्रथा का उल्लेख है । कन्या कुल को दी जाती है, इस कारण पति के अभाव में अथवा उसके सन्तानोपत्ति में सक्षम न होने पर उसी के गोत्र के पुरुष से विवाहिता स्त्री पुत्र उत्पन्न कर सकती है—

“सगोत्ररगनीयां न परेभ्यस्समाच्छीत” २. २७. २ ।

किन्तु आपस्तम्बधर्मसूत्र के समय तक नियोग की प्रथा का छोप हो चला था । इसका कारण इस सूत्र में यह दिया गया है कि नियोग के धार्मिक पहलू पर छोग अब ध्यान नहीं देते और ऐन्द्रिय सुखों से प्रेरित होकर व्यभिचारी हो जाते हैं । अतः इन्द्रियों की दुर्बलता से नियोग निषिद्ध कर दिया गया है । किन्तु इसके साथ नियोग में किये जाने वाले गोत्र के विचार की आलोचना करते हुए धर्मसूत्रकार ने उसे व्यर्थ बताया है, क्योंकि पति से निम्न सभी पुरुष समान हैं, चाहे वे पति के गोत्र के हों या न हों । आपस्तम्बधर्मसूत्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वैवाहिक पवित्रता सभी प्रकार से श्रेयस्कर है और उसका लोक-परलोक में अधिक फल मिलता है ।

संन्यास—गृहस्थाश्रम के बाद संन्यास एक महत्वपूर्ण आश्रम है। ग्रह-चर्याश्रम के नियमों का पालन करनेवाला व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण कर सकता है। वह अग्नि का, घर का और सभी प्रकार के सुखों का परि त्याग करे, अल्प-भाषण करे और इतनी ही भिचा मांगे जिससे जीविका-निर्वाह हो। संन्यासी दूसरों द्वारा फेंके गये वस्त्रों को ही धारण करे। कुछ धर्मज्ञों का मत है कि संन्यासी सभी वस्त्रों का परि त्याग कर नग्न रहे। स्पष्ट है कि आपस्तम्ब के समय नग्न रहने वाले मुनि लोग भी थे। संन्यासी के समक्ष केवल एक ही लक्ष्य है—आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना।

वानप्रस्थ्य—वानप्रस्थाश्रम में भी वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है जो ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करता हो। वानप्रस्थ केवल एक अग्नि प्रज्वलित करे, घर में न रहे, किसी प्रकार का सुख भोग न करे, किसी की शरण में न रहे और केवल दैनिक अध्यवसाय के समय बोले। मूल, फल, पत्तों और तिनका आदि का भोजन करते हुए जीविका निर्वाह करे, फिर स्वयं गिरे हुए फलों और पत्तों का भक्षण करे, तब कुछ दिन जल पीकर जीवन धारण करे, कुछ दिन केवल वायु का सेवन करे और फिर केवल आकाश का ही भक्षण करे। इनका उत्तरोत्तर अधिक फल होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार वानप्रस्थ के लिए ही अन्य आश्रमों के कर्मों का क्रमानुसार पालन करना चाहिये। वानप्रस्थ गांव से बाहर वन में घर बनाकर वहां पत्नी, पुत्र-पुत्रियों और अग्नि के साथ निवास करे अथवा अकेले ही निवास करे। वानप्रस्थ किसी भी प्रकार का दान न ग्रहण करे। कुछ आचार्यों के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि वह सभी घरेलू वस्तुओं के जोड़े बनवाये और उनमें से अपने उपयोग के लिए एक-एक ग्रहण कर वन को प्रस्थान करे। वन की वस्तुओं से ही होम कर्म करे। सभी मन्त्रों का तथा दैनिक स्वाध्याय का पाठ इस प्रकार करे कि वह दूसरों को न सुनाई पड़े। केवल अग्नि को सुरक्षित रखने के लिए घर बनाये और स्वयं छुले स्थान पर निवास करे।

राजा के कर्त्तव्य तथा अर्थव्यवस्था—

धर्मसूत्रों का अनिवार्य विषय राजधर्म आपस्तम्ब की दृष्टि से छूट नहीं सका है। राजा के कर्त्तव्यों का विवेचन यहां भी किया गया है। राजा का मुख्य कर्त्तव्य दण्ड देना है। राजा को चाहिए कि वह साक्षियों के आधार पर प्रश्न कर तथा शपथ दिलाकर अपराध पर विचार कर दण्ड दे—

“सुविचिंतं विचिरया देवप्रनेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यते।”

नैतिक नियमों की रक्षा तथा धर्म का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना राजा का धर्म है। नैतिकता की रक्षा के लिए उसे स्त्रियों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार को दण्ड देना चाहिए। आपस्तम्ब के अनुसार राजा ऐसे पुरुष को दण्ड दे जो युवती स्त्रियों पर दुर्भावपूर्ण दृष्टि डालता है २, १६, १९। व्यक्तिगत भ्रष्टाचार में प्रवृत्त होने वाले पुरुष की प्रजननेन्द्रिय को कटवा देने का दण्ड भी सूत्र में विहित है (पृ० ३६२)। व्यक्तिचारी द्वारा दूषित की गयी कन्या का भरणपोषण भी स्वयं राजा को करना होता है और प्रायश्चित्त के बाद इस प्रकार की कन्याएँ विवाहार्थ प्राण्य मानी गयी हैं।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के द्वितीय प्रश्न के दशम पटल में राजा के कर्तव्यों का कुछ अधिक स्पष्टता से निर्देश किया गया है। न्याय व्यवस्था उसका धर्म है उसे न्याय कर्त्ताओं को उनकी योग्यता, विद्या, कुल अवस्था, बुद्धि और आचरण का विचार कर ही नियुक्त करना चाहिए।

प्रजा की रक्षा के लिए राजा को नगर के बीच में मासाद बनवाना चाहिए। मासाद के आगे एक अवस्थ भवन हो और उसका नाम 'आमन्त्रण' हो। आवश्यक अतिथियों के लिए होना चाहिए। सम्मानवन में राजा घृत की व्यवस्था करता है। प्रजा की सुरक्षा राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। जिस राजा के राज्य में, ग्राम में या वन में चोरों का भय नहीं होता, वही कल्याणकारी राजा होता है—

“क्षेमकृदाज्ञा यस्य विपद्ये ग्रामेऽरण्ये वा शरकरं भयं न विपद्यते।”

२. २५. १५।

विशेषतः ब्राह्मण की और ब्राह्मण के धन की रक्षा राजा का परम कर्त्तव्य है। ब्राह्मण के धन की रक्षा करते समय शत्रु प्राप्त कर लेना यज्ञ करने के समान बताया गया है। प्रजा की रक्षा का कार्य योग्य कर्मचारियों को सौंपना चाहिए। रक्षाधिकारी नगर के चारों ओर एक एक योजन के क्षेत्र में तथा ग्राम के चारों ओर एक कोस के क्षेत्र में रक्षा कार्य करें। यदि इन क्षेत्रों में कोई चोरी होती है तो रक्षापुरुषों से धन चुकता कराया जाय।

राजा की आर्थिक व्यवस्था का आधार कर है, किन्तु कर ग्रहण में भी राजा को विवेक का आश्रय लेकर नियमों का पालन करना होता है। विद्वान्, भोजन्य ब्राह्मण, स्त्रियों, अल्पवयस्क बालकों, गुरुकुल में अध्ययन करनेवाले, दासबृत्तिवाले, गौरे, बहारे तथा रोगी से कोई कर नहीं लिया जाता। संन्यासी से भी किसी भी प्रकार का कर न लेने का विधान है।

उत्तराधिकार के नियम—पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन काल में ही पुत्रों में दाय का विभाजन करे, किन्तु नपुंसक, पागल और पातकी पुत्रों को किसी प्रकार का अंश न प्रदान करे। पुत्र न होने पर दाय का भाग सपिण्ड को प्राप्त होता था। इस प्रकार पुत्रहीन व्यक्ति की विधवा पत्नी संपत्ति की अधिकारिणी नहीं होती थी। ऐसा ही मत दौघायन का भी प्रतीत होता है।

किन्तु इस काल में पुत्री के लिए भी उत्तराधिकार का नियम है। पुत्र न होने पर पुत्री दाय की उत्तराधिकारिणी होती थी २,१४,४। दाय के अधिकारी सपिण्ड और आचार्य आदि सभी का अभाव होने पर संपत्ति राजा की हो जाती थी। कुछ आचार्यों के अनुसार सभी पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी होता था और उससे छोटे पुत्र अधीन रहते थे। आपस्तम्ब ने दाय विभाग के सम्बन्ध में कुछ देशों के इस नियम का भी उल्लेख किया है कि ज्येष्ठ पुत्र को कुछ विशेष अंश प्राप्त होता था। इसी प्रकार रय और काट्योपकरण पिता के अधिकार में ही रहते थे और स्त्री का भी अपना एक अंश होता था। किन्तु आपस्तम्ब को यह विचार मान्य नहीं है कि केवल ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी हो और इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता ३.१.९ में मनु द्वारा सभी पुत्रों में समान विभाजन के नियम का उल्लेख कर सभी पुत्रों में समान विभाजन करना ही उचित बतलाया है—

“सर्वे हि धर्मशुक्ला भागिनः” २. १४. १४।

दाय या संपत्ति के विभाग का भी मुख्य प्रयोजन यही है कि उसका उपयोग धर्मकर्म में किया जाय। सभी अपना अंश प्राप्त कर उसे धार्मिक कार्यों में लगाकर धर्म की वृद्धि करें और इस्तीलियु धर्मसूत्र में कहा गया है कि जो धन को अधर्म में नष्ट करता है वह पुत्र ज्येष्ठ होने पर भी दायविभाग का अधिकारी नहीं है।

आपस्तम्बधर्मसूत्र के काल में खेती को प्रचुर महत्त्व मिल चुका है। खेती के विषय में अनेक नियम दिये गये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि खेती की ओर राजा को भी विशेष ध्यान देना होता था। खेती के लिए दूसरे का खेत लेकर खेती न करने पर उसकी उपज का अनुमानित मूल्य खेत को देना होता था इस प्रकार भूमि पर स्वामित्व और कार्तकारी का रूप बहुत कुछ स्थिर हो गया था—

“वेत्रं परिगृह्येया नामावाफलाभावे यरसमुदस्स भावि सद्यपहार्यः।”

इसी प्रकार जमीन्दारी प्रथा का आरम्भिक रूप अपने अस्तित्व में आ चुका था—मजदूरों की पिटाई या चरवाहों को शारीरिक दण्ड देने के नियम इसी व्यवस्था के स्रोतक हैं ।

आपस्तम्ब का धार्मिक एवं नैतिक दृष्टिकोण—

आपस्तम्बधर्मसूत्र के आरम्भ में ही सामयाचारिक धर्मों को सुख्य प्रतिपाद्य विषय बताया गया है । सामयाचारिक धर्म का सम्बन्ध 'समय' से है और समय का अर्थ पुरुषकृत व्यवस्था है । हरदत्त ने अपनी व्याख्या में तीन प्रकार के समय का उल्लेख किया है—विधि, नियम, प्रतिषेध । सामयाचारिक का अर्थ "समयमूला आचारास्समयाचाराः तेषु भवाः सामयाचारिकाः ।" धर्म के ज्ञाताओं की सहमति से व्यवस्थापित दैनिक आचार को सामयाचारिक धर्म कहा गया है, किन्तु स्मरणीय है कि धर्म के ज्ञाताओं के समय को ही धर्म के लिए प्रामाणिक माना जाता है । इसीलिए इस सूत्र में कहा गया है—'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' (पृ० ३) ।

धर्म के सम्बन्ध में आपस्तम्ब का विचार अधिक आधुनिक और व्यावहारिक प्रतीत होता है । यद्यपि धर्म का मूल प्रमाण वेद को ही माना गया है, तथापि उसके साथ ही धर्मज्ञों की संविदा या सहमति द्वारा की गयी आचारव्यवस्था को भी सुख्य रूप से प्रमाण माना गया है । वेद का महत्त्व इसलिये है कि धर्मज्ञों के लिए भी वेद ही प्रमाण है ।

नैतिक विचारों में कर्म का सिद्धान्त भी धर्मसूत्र में अभिव्यक्त है । मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार ही जन्म, शरीर का आकार, रंग, शक्ति, प्रतिभा, ज्ञान, धन, धर्म के अनुष्ठान की क्षमता प्राप्त होती है और वह पहिण की तरह दोनों ढोकों में सुखपूर्वक चलता है ।

"ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जाति रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मोनुष्ठानमिति प्रतिपद्यते तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते ।" २.२.३

धर्मसूत्र आचार के सम्बन्ध में सदैव विवेक से काम लेने की सलाह देता है, क्योंकि महान् पुरुषों में भी कई दुर्बलताएँ होती हैं । पूर्वजों या ऋषियों के कर्मों में धर्म के उल्लंघन तथा साहसपूर्ण कर्म का उदाहरण देखने में आता है । किन्तु सामान्य मनुष्य को उनके उदाहरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए । उनका अनुकरण करने से मनुष्य पाप का भागी होता है, अतः सदैव धर्म के सम्बन्ध में स्वविवेक का आश्रय लेना आवश्यक है । "दृष्टो धर्मोद्यतिक्रमस्ताहसं च पूर्वेषाम्" । तेषां तेभ्योविलेपेण प्रत्यवायो न विद्यते । तदन्वीच्य प्रमुञ्चान स्तीन्द्रियवरः । २.१३. ७-९ ।

आपस्तम्ब का विचार है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों के साथ पतित नहीं होता, यद्यपि हारीत का मत इसके विपरीत है। इस प्रकार पतित ब्यक्ति का पुत्र भी यदि उससे दूर रहे तो आर्यों में रहने योग्य हो जाता है। हारीत ने अपने मत के समर्थन में स्त्री की उपमा दधिधानी से दी है। जिस प्रकार यज्ञ के दधियात्र में अशुद्ध दूध में जल और तक्र मिलाने पर उससे उरपन्न दधि यज्ञ के कार्य के लिए ठीक नहीं होता उसी प्रकार पतित पुरुष से उरपन्न पुत्र भी पतित होता है। इस प्रकार मनुष्य के अपने कर्म ही सामाजिक अवमानना या प्रतिष्ठा के कारण हैं। पतनीय कर्मों के अतिरिक्त अशुचिकर कर्म भी गिनाये गये हैं, जैसे उच्च वर्णों की स्त्रियों का शूद्र पुरुष के साथ सम्बन्ध और आर्यों का अपवात्र स्त्रियों के साथ यौनसम्पर्क।

इस सूत्र में आचार का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त है—
 ‘कृच्छ्रा धर्मसम्पत्तिरसामान्येन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते।’ २.३.१.१३।

आचरण का विचार उच्छिष्ट भोजन के प्रसंग में भी किया गया है। यदि पिता या बड़े भाई का भी आचरण धर्म के विपरीत हो तो उनका छोड़ा हुआ भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। १.४.११, १२। आचार से अट होने पर कठोर व्रत का विधान किया गया है। गुरु की हरया, गुरुपत्नीगमन, सुवर्ण की चोरी, सुरापान आदि के प्रायश्चित्त अत्यन्त कठिन और भयावह है। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने प्रचलित आचार की अपेक्षा श्रुति के नियम को अधिक प्रामाणिक माना है—

“श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारव्” १.४.८ - :-

नैतिकता के सम्बन्ध में आपस्तम्बधर्मसूत्र में अभिव्यक्त विचार गौतमधर्मसूत्र के विचारों से बहुत भिन्न नहीं है। निकट संबन्ध की या निकट संबन्ध जैसी स्त्रियों के साथ यौन संबन्ध पतन का कारण है, तो दूसरी ओर आपस्तम्ब ने अन्य आचार्यों का मत भी दिया है, जिसके अनुसार गुरुस्त्रियों के अतिरिक्त अन्य विवाहिता स्त्रियों से मैथुन पतन का कारण नहीं होता।

“नाशुक्तश्च गोपततीत्येके।” ५. २०-१०

श्लोच, हर्ष, रोष आदि को भूतदाहीय कहा गया है, ये प्राणियों का नाश करनेवाले दोष हैं—

‘क्रोधो हर्षो रोषो लोभो मोहो दग्धो द्रोहो सृष्टो धामयाशपरीवादावसृणा काममन्यु अनात्म्यमयोगस्तेषां योगमूलो निर्वातः।’ (५. १७५)

इसके विपरीत क्रोधहीनता, हर्ष का अभाव, रोष न करना, अलोभ, मोह का अभाव, दग्ध का न होना, द्रोह न करना, सययचन, भोजन में संयम,

पर दोष कथन से विमुक्त होना, अस्व्या का अभाव, स्वार्थहीन उदारता, दान आदि न लेना, सरलता, कोमलता, भावावेगों का शमन, इन्द्रियों को बश में करना, सभी प्राणियों के साथ प्रेम, आत्मा के चिन्तन में मन को समाहित करना, आर्थों के नियम के अनुसार आचरण करना, क्रूता का त्याग, सन्तोष—ये उत्तम गुण सभी आश्रमों के लिए हैं। इनके आचरण से विद्याराम की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार जान बूझकर यथ करने से उसका अधिक पाप होता है, उसी प्रकार जान बूझकर उत्तम कर्म करने पर उसका अधिक पुण्य होता है। यथ के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप दान देना भी पर्याप्त माना गया है। त्रिविध की इरया में एक सहस्र, वैश्य की इरया पर सौ, शूद्र की इरया पर दस गावों का दान देने से प्रायश्चित्त हो जाता है। ये विचार मानवतावादी दृष्टिकोण के कितने विरोधी हैं। हिंसक की हिंसा धर्मसूत्र में निन्दित नहीं है। इस प्रकार की हिंसा से कोई पाप नहीं होता, क्योंकि उसमें क्रोध ही क्रोध का स्पर्श करता है।

इस धर्मसूत्र में यौनविषयक नैतिकता के नियमों में कुछ और अधिक कठोरता दिखायी पड़ती है किन्तु इन नियमों पर भी वर्णव्यवस्थावादी है। यदि तीन उच्च वर्णों में से किसी वर्ण का पुरुष शूद्र स्त्री से मैथुन करे तो उसका देश से निष्कासन होना चाहिए। शूद्र वर्ण का पुरुष उच्च वर्णों की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध करे तो वह स्युदुष्ट का भागी होता है—'धध्वरशूद्र आर्यायाम् २-२७९ ब्राह्मण के लिए पर स्त्री गमन का तीन वर्ष का प्रायश्चित्त कर्म निर्दिष्ट है और जितनी बार अपराध किया जाता है उतनी बार प्रायश्चित्त करना होता है। यदि शूद्र तीन उच्च वर्ण के व्यक्ति के प्रति अपराध कहता है तो उसकी जीम कटवा लेनी चाहिए।

“वाचि पथि शय्यायामासन इति समीभवतो दण्डताऽनम् १” २-२७-१५

यदि शूद्र किसी पुरुष का वध करे या चोरी करे, अथवा मृमि पर बलपूर्वक कब्जा करे तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण भी विहित है। किन्तु इन्हीं अपराधों के लिए ब्राह्मण को जीवन भर आँसू पर पट्टी बँधाकर रहना पड़ता था “चक्षुनिरोधश्चेतेषु ब्राह्मणस्य” २.२७.१७.

आपस्तम्बधर्मसूत्र में धर्म के उद्देश्य की स्पष्ट सीमांसा की गयी है। धर्म का आचरण केवल सांसारिक उद्देश्य से ही नहीं करना चाहिए। यश, लाभ और सम्मान की प्राप्ति ही धर्म का प्रमुख लक्ष्य नहीं है। “नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्माश्चोते १” १.२०.१ जब धर्म का आचरण लौकिक उद्देश्य से किया

जाता है तब वह स्वर्थ हो जाता है। लौकिक फल धर्माचरण का गौणफल है, जैसे फल के लिए आम का पेड़ लगाने पर छाया और सुगन्धि भी प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर लौकिक फल भी गौण रूप से प्राप्त होता है—“तद्यथाऽऽग्ने फलार्थे निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूपद्यते, एवं धर्मं चर्यमाणसर्वा अनूपद्यन्ते।”

यदि धर्म का कोई लौकिक फल भी नहीं होता तो भी कोई हानि नहीं होती है। स्वयं धर्म के लिए भी धर्म का आचरण करना चाहिए। धर्मसूत्र ने इस बात की चेतावनी दी है कि धर्म का आह्वार करने वालों से सतकं और सावधान रहना चाहिए। धर्म और अधर्म को पहचानने के लिए विवेक की आवश्यकता है। धर्म का स्वरूप जानने के लिये वेद का ही आश्रय लेना चाहिए। वस्तुतः धर्म वही आचरण है, जिसे आर्य लोग उत्तम कहकर प्रशंसित करते हैं और जिसकी वे निन्दा करते हैं वह अधर्म है।

“यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं सर्वहन्ते सोऽधर्मः।” १.२०.७
किन्तु धर्म उस आचार को माना गया है जिसे सभी रथानों पर विनय-शील, बृद्ध, जितेन्द्रिय, लोभहीन, दम्भहीन आर्यों द्वारा एकमत से स्वीकार किया गया हो।

× × × × ×

आपस्तम्बधर्मसूत्र के प्रथम प्रश्न के आठवें पटल में आत्मा के स्वरूप पर विचार किया गया है। इस पटल का नाम अध्यात्मपटल है : और इसमें अभिनयक विचार उपनिषद् ही प्रभावित है। योग पर विशेष-बल दिया गया है।

चित्त के समाधान का हेतु योग है। चित्त का समाधान करने पर इन्द्रियों का निश्चार या बाहर की ओर विशेष समाप्त होता जाता है। आत्मा का ज्ञान सबसे बड़ा लाभ है—

“आत्मलाभाच्च परं विद्यते।” आत्मा सभी प्राणियों में मित्य अर्थात् अनन्तर शाश्वत रूप में विद्यमान है, अमर और ध्रुव है, विकार रहित, ज्ञानस्वरूप, अप्रहीन, शब्द और रसगुण से परे है। आत्मा ही सम्पूर्ण विश्व है, परम लक्ष्य है। विद्वान् बही है जो सभी प्राणियों को अपने में देखता है। जो आत्मा का दर्शन सभी वस्तुओं में करता है वह ब्राह्मण स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित और देदीप्यमान होता है।

“आत्मन परमन् सर्वभूतानि न मुखेचिन्तयन्कविः। आत्मानं चैव सर्वत्र यः परमस वै ब्रह्म नाकृष्टे विराजति”। १०८. २३. १.

आमारश्च के विषय में कहा गया है कि वह ज्ञानवाच है, विसतन्तु से भी सूक्ष्म है, जो सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर स्थित है। पृथ्वी से अधिक भारी है, निरय है, सम्पूर्ण विश्व को अपने में समाविष्ट कर स्थित है। वह इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले संसार के ज्ञान से भिन्न है, जो ज्ञान इन्द्रिय-वियोगों से अभिन्न है। वह अपने परम प्रकृष्ट लोक में स्थित होता है, वह सम्पूर्ण संसार को विविध रूपों में विभक्त करता है। उसी परमात्मा से ही शरीर उत्पन्न होते हैं, अतः वह सृष्टि का मूल कारण है, निरय है, विकार रहित है।

निपुणोऽनीयान् विसोर्पाया यस्सर्वमावृत्त्य तिष्ठति । वर्षीयाश्च पृथिव्या ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति । स इन्द्रियैर्जयतोऽस्य ज्ञानादन्योऽनन्यस्य ज्ञेयापरमेष्ठी विराजः । तस्मात्कथायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं वारवतिकः स निरयः ।

१. ८. २३.२ (पृ० १७२)

किन्तु आचार ही सभी प्रकार की सिद्धि का मूल है। मानसिक विकारों को वश में किये बिना धर्म का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और न ही दार्शनिक चिन्तन का कोई उपयोग रह जाता है। चित्तवृत्ति के निरोध रूपी योग से ही मनुष्य के दोषों का विनाश होता है और प्राणियों को जलाने वाले दोषों का विनाश हो जाने पर पण्डित या ब्रह्मवेत्ता कल्याण प्राप्त करता है—

दोषाणां तु निघर्तितो योगमूल इह जीविते ।

निर्हृत्य भूतदाहीयान् चेमं गच्छति पण्डितः ॥ (पृ० १७३)

आधुनिक युग की संव्रत और दिग्भ्रमित मानवता के लिष्ट धर्मसूत्र का सन्देश अब भी सुमतिदायी सविता का आलोक देकर सर्मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दे रहा है और इसके नैतिक मूल्यों के बोध में ही हमारी जातीय संस्कृति के भावी भरितरव की आशा है ।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम प्रश्न	पादोपसङ्ग्रहण के नियम	५८
प्रथम पटल	समावर्तन के उपरान्त नियम	५९
सामयाचारिक धर्म	गुरु के प्रति यात्राकालीन शिष्टाचार	६१
सामयाचारिक धर्म के प्रमाण वर्ण	तृतीय पटल	
वर्णों के कर्तव्य	अनध्याय के अवसर एवं अवधि	६८
उपनयन	सृष्टुनिमित्तक अनध्याय	७४
उपनयन में आचार्य	भोजननिमित्तक अनध्याय	७८
आचार्य की व्युत्पत्ति और महत्ता	अध्ययनकालीन सामान्य नियम	८२
उपनयन के काल	दैनिक अध्ययन की विधि	८४
उपनयन के अभाव में पतन	प्राकृतिक निमित्तों से अनध्याय	८५
अनुपेत का प्रायश्चित्त	चतुर्थ पटल	
गृहस्थाश्रम के धर्म	स्वाध्याय का महत्त्व	८९
ब्रह्मचारी का आचार्य कुल में निवास	महायज्ञ	९५
आचार्य कुल में निवास की अवधि	'ओम्' के प्रयोग का नियम	९९
ब्रह्मचर्य की विधि एवं ब्रह्मचारी के नियम	शुश्रूषा का नियम	१०१
ब्रह्मचारी की मेखला, झण्ड और वस्त्र और सृगच्छर्म	गृहस्थाश्रम के कर्म	१०३
भिषाचरण की विधि	गुरुजनों का अभिवादन	१०५
उत्क्षिप्त भोजन	पञ्चम पटल	
समिदाधान की विधि	आचमन का नियम	११०
द्वितीय पटल	अभोज्य अन्न	१२२
तप का अर्थ	अपेय वस्तुएँ	१२९
वेद के अध्ययन का फल	मांस भक्षण में भक्ष्याभक्ष्य	१३०
ब्रह्मचारी के धर्म-अभिवादन, गुरु की सेवा	षष्ठ पटल	
गुरु के प्रति शिष्टाचार के नियम	वस्तुओं के प्रहण में वर्णों का विचार	१३५
	समावर्तन के बाद भोजन-प्रहण का नियम	१३७
	अप्राण भोजन	१३८

सप्तम पटल

धर्म के आचरण का प्रयोजन	१४८
धर्म और अधर्म का भेद	१५०
न वेचने योग्य वस्तुएँ	१५२
विनियम का नियम	१५३
पत्नीय कर्म	१५४
अशुचिकर कर्म	१५६

अष्टम पटल

योग का उपदेश	१५८
आत्मज्ञान की महत्ता	१६२
आत्मा का स्वरूप	१६५
नास के निमित्तभूत दोष	१७५
उत्तम आचरण के नियम	१७७

नवम पटल

वध करने पर दान का नियम	१७९
अभिशास्त का प्रायश्चित्त	१८१
गुरु की हत्या का प्रायश्चित्त	१८४
गुरुतरपगमन का प्रायश्चित्त	१८५
स्तेन का प्रायश्चित्त	१८६
पशुवध का प्रायश्चित्त	१८९
अवकीर्णी का प्रायश्चित्त	१९२

दशम पटल

स्तेन की परिभाषा	१९८
माता की शुश्रूषा का नियम	२००
गुरुतरपगमन का प्रायश्चित्त	२०१
पतित का पुत्र	२०६

एकादश पटल

ब्रह्मचर्य की अवधि	२०९
रनातक के व्रत	२१०
अध्यापक के नियम	२२०
गुरु के प्रति शिष्य का कर्त्तव्य	२२१

द्वितीय प्रश्न

प्रथम पटल

गृहस्थाश्रम के व्रत	२२५
पत्नीगमन के नियम	२३०
वर्णधर्म और स्वर्गफल	२३३

द्वितीय पटल

वैश्वदेव कर्म	२३६
होमकर्म के नियम	२३८
वैश्वदेव बलि के मन्त्र	२४०
भोजन करने के विषय में नियम	२४४
वर्ण के अनुसार अभिवादन के नियम	२४६
यज्ञ धारण करने का नियम	२४७
आचार्य की योग्यता और उनके कर्त्तव्य	२४८

तृतीय पटल

गुरु के प्रति शिष्य के कर्त्तव्य	२५०
शिष्य के वर्ण के विषय में विचार	२५४
श्रोत्रिय की परिभाषा	२५५
अतिथि-सत्कार का नियम	२५६
असमावृत्त अतिथि के प्रति कर्त्तव्य	२५७
अतिथि का महत्त्व	२५९

चतुर्थ पटल

अनेक दिन रहनेवाला अतिथि	२६४
मनुष्य के अधिकारी	२६५
वेदाङ्ग	२६६
भोजन और दक्षिणा के नियम	२६९

पञ्चम पटल

भिक्षा के निमित्त	२७१
वर्णों के धर्म एवं कर्त्तव्य	२७२
न्याय एवं राजा का कर्त्तव्य	२७४
दण्ड-विधान	२७५
दूसरों के लिए मार्गत्याग	२७६

दूसरा विवाह करने का नियम	२७७	नवम पटल	
विवाह में गोत्र का विचार	२७९	चार आश्रम	३३६
विवाह के प्रकार	२८२	परिव्राजक	३३७
ब्राह्मण और अग्नि के प्रति		संन्यासी के नियम	३३८
सामान्य नियम	२८४	आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति	३४१
दैनिक आचार-नियम	२८५	वानप्रस्थ के नियम	३४२
प्राणायाम के नियम	२८६	ऊर्ध्वरेता प्रहचारी की प्रशंसा	३४८
		गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता	३४९
षष्ठ पटल		दशम पटल	
विवाह योग्य कन्या	२८९	राजा के कर्त्तव्य	३५५
पुत्र के विषय में विचार	२९०	छूत की व्यवस्था	३५७
पुत्रों में दायविभाजन	२९५	उत्तम राजा	३५८
उत्तराधिकार का प्रश्न	३०३	सेवकों की योग्यता	३५९
ज्येष्ठ पुत्र का विशेष भाग	३०४	करग्रहण के नियम	३६०
पति और पत्नी में विभाजन का		व्यभिचार का दण्ड	३६२
अभाव	३०५	नियोग का नियम	३६३
मृत्यु के उपरान्त आशौच	३०७	शूद्र के लिए व्यभिचार निमित्तक	
हवन के विषय में नियम	३११	दण्ड	३६५
		ब्राह्मणको व्यभिचार के लिए दण्ड	३६६
सप्तम पटल		दण्ड से मुक्ति	३६८
श्राद्धकालीन भोजन	३१४	एकादश पटल	
श्राद्ध की तिथि का फल	३१५	कृषिकर्म न करने का दण्ड	३६९
श्राद्ध-भोजन की वस्तुओं का फल	३१७	चरवाहे के लिए दण्ड विधान	३६९
श्राद्ध-भोजन के लिए ब्राह्मणों की		चोरी का दण्ड	३७१
योग्यता	३२०	दुष्कर्म के उत्सुक को दण्ड	३७२
श्राद्धकालीन होम	३२२	दण्ड के निर्णायक तथ्य	३७३
		साक्षी का विचार	३७४
अष्टम पटल		धर्म के आचरण का महत्त्व	३७५
श्राद्धभोजन की वस्तुएँ और	३२५	धर्म के विषय में प्रमाण	३७५
आचरण	३२५	सूत्र में आए हुए नामों एवं विषयों	३७५
श्रेयस् प्राप्ति के निमित्त आचरण	३२६	की अनुक्रमणिका	३७७
श्राद्ध के समय भोजन का नियम	३३१		
श्राद्धभोजन में ब्राह्मणों की संख्या	३३३		

श्रीमदापस्तम्बमहर्षिप्रणीतं

आपस्तम्ब-धर्मसूत्रम्

सानुवाद-उज्ज्वला'वृत्तिसहितम्



प्रथमः प्रश्नः

अथातस्सामयाचारिकान् धमन् व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता ।

धर्मव्यप्रश्नयोरेषा क्रियते वृत्तिरुज्ज्वला ॥ १ ॥

अथशब्द आनन्तर्ये । अतश्शब्दो देतो । उक्तानि श्रौतानि गार्होणि च कर्माणि । तानि च वक्ष्यमाणान्धर्मानपेक्षन्ते । कथम् ? आचान्तेन कर्म कर्तव्यं, श्रुचिना कर्तव्यमिति वचनादाचमनशौचादीनपेक्षन्ते ।

‘सन्ध्याहीनोऽश्रुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु’ ।

इति वचनात् सन्ध्यावन्दनम् । एवं ‘अश्रुचिकरनिर्वेषः’,^१ ‘द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्’ इति वचनात् ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तानि च । एवमन्येष्वपि यथासम्भवमपेक्षा द्रष्टव्या । अतस्तदनन्तरं सामयाचारिकान् धमन् व्याख्यास्यामः । पौरुषेयी व्यवस्था समयः । स च विधिः—विधिनियमः प्रतिषेधश्चेति । तत्र प्रवृत्तिप्रयोजनो विधिः—^२सन्ध्योश्च वहिर्ग्रामादासनं याग्यतश्चेत्यादिः ।

१. मातामहमहाशैलं महस्तरवितामहम् । कारणं जगतां वन्दे कण्ठाद्गुरि वारणम् ।
इत्यधिकः पाठः क० पु० ।

२. दक्षस्मृ० अ० २. श्लो. २९. ‘यदस्यत् कुर्वते कर्म न तस्य फलभाक्कर्मजेत्’
इति तस्योत्तरार्थम् ।

३. गौ० घ० २१. ४. “अशुचेर्द्विजाती”ति. घ० पु० ४. आप० घ० १. ३०. ८.

निवृत्तिप्रयोजनावितरौ । 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जोते'ति नियमविधिः । क्षुद्रुप-
घातार्थं भोजने प्रवृत्तिः । शक्यं च 'यत्किञ्चिद्दिङ्मुखेनापि भुञ्जानेन क्षुद्रु-
पहन्तुम् । तत्र नियमः कियते-प्राङ्मुख एव भुञ्जोत, न दक्षिणादिमुख इति ।
'परिसङ्ख्या तु नियमस्यैव क्रियानपि भेदः । एवं द्रव्याजने रागात्प्रवृत्तं प्रति
नियमः कियते- 'याजनाध्यापनप्रतिग्रहेरेव ब्राह्मणो द्रव्यमार्जयेत्, न कृषि-
वाणिज्यादिने'ति । 'ब्राह्मणस्य गोरिति पदोपस्पर्शनं बर्जये'दित्यादिः प्रतिषेधः ।
समयमूला आचारास्समाचाराः तेषु भवाः सामयाचारिकाः । एवम्भूतोऽत्र
धर्मानिति । "कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुपूर्वाख्य आत्मगुणोधर्मः । तद्धेतु-
भूतकर्मव्याख्यान्मेव तद्द्रव्याख्यानम् । तत्र विधिषु तावद्विषयानुष्ठानाद्धर्म इति
नास्ति विप्रतिपत्तिः । नियमेष्वपि 'नियमानुष्ठानाद्धर्मः, प्रतिषेधेष्वपि 'नव-
र्थानुष्ठानाद्धर्म इति केचित् । अतएव धर्मानित्यविशेषेणाह ।

अन्ये तु -विधिष्वेव धर्मः, इतरयोस्तु विपरोतानुष्ठानाद्धर्मः केवलम्, न
तु विषयानुष्ठानात् कश्चिद्धर्मः । न ह्यप्रतिगृह्यन्नपियन्वा सुरां धार्मिक इति
लोके प्रसिद्धः । सूत्रे तु धर्मग्रहणमधर्मस्याप्युपलक्षणमिति स्थितिः-इति ॥१॥

अनुवाद्—अव (श्रौत तथा गृह्यकर्मो का विवेचन करने के बाद) हम
सामयाचारिक धर्मों की व्याख्या करेंगे ।

टिप्पणी—सामयाचारिक, पुरुषकृत व्यवस्था को समय कहते हैं । 'वौरुषेयी व्य-
वस्था'। समय तीन प्रकार का होता है : विधि, नियम, प्रतिषेधा सामयाचारिक की व्यु-
त्पत्ति है : 'समयमूला आचारास्समाचारा तेषु भवाः, सामयाचारिकाः समय-पौरुषेयी

१. आप० घ० १. ३१. १. २ यत्किञ्चनदिङ्मुखेन इति क० पु० ।

३. प्रतिषेधः परिसंख्येत्यनर्थान्तरम् । परिसंख्या वर्जनबुद्धिः । तद्विषयज्ञो विधिः
परिसंख्याविधिः । स परिसंख्यापदेनाऽप्यभिधोयते इति मीमांसकानां मतम् । अत एव
विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाश्चिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति गीयते ॥
इत्येव वार्तिककारैरुक्तम् । अन्यकारुत्त्वयं परिसंख्यं नियमविधावेषान्तर्भावयति ॥

४. आप० घ० १. ३१. ६.

५. इदं च तार्किकदिमतमनुसृत्य प्रभाकरमतञ्च । भाट्टमते तत्कर्मणामेव यागदान-
शोभारिरूपाणां चोदनालङ्घनानां धर्मवार्त्ताङ्गीकारात् । उक्तं हि भट्टपादेः—

भेयो हि पुरुषमीतिरसा द्रव्यगुणकर्मभिः ।

चोदनालङ्घनेस्साध्या तस्मात्सेष्वेव धर्मता ॥ इति श्लो. वा १२. १९१.

६. पक्षेऽप्राप्तौष्य पूरणकरणादित्यर्थः ।

७. तच्चक्षियेष्यक्रियाप्रगमावपरिपालनारिति यावत् ।

व्यवस्था पर आधारित आचारों को समयाचार कहते हैं, समयानुसारिक धर्म इन आचारों से उदभूत होता है। धर्म इस प्रकार के कर्म को कहते हैं जो अपूर्व के माध्यम से स्वर्ग और मोक्ष का कारण बनता है : 'कर्मजन्योऽमृत्युदयनिःशेषसहेतुर-पूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः'। इस प्रकार समयानुसारिक का अर्थ हुआ धर्मश्रुतियों की सहायता से व्यवस्थापित दैनिक आचार। ॥१॥

किं भोः समयोऽपि प्रमाणम्, ? यदि म्यादिदमपि प्रमाणं भवितुमर्हति-
'चैत्यं वन्देत् स्वर्गकामः। प्रगे मुञ्जीत। केशशुल्लुङ्घयेत्। तिष्ठन् मुञ्जीत। न
स्नाया'दिति। तत्राह—

धर्मज्ञसमयः प्रमाणम् ॥ २ ॥

न हि ज्ञानमः समयमात्रं प्रमाणमिति। किं तर्हि ? धर्मज्ञा ये मन्वाद्यस्तेषां
समयः प्रमाणं धर्माधर्मयोः ॥ २ ॥

अनुवाद— धर्म के ज्ञाताओं (मनु आदि) के समय ही इन आचारों के
लक्षण प्रमाण है।

टिप्पणी— केवल समयमात्र को प्रमाण नहीं कहा गया है अपितु धर्मज्ञों के समय
को, मनु आदि की व्यवस्था को ही धर्म और अधर्म के विषय में प्रमाण माना गया
है ॥ २ ॥

कथं पुनरिदं मन्वाद्यो धर्मज्ञा न बुद्धाद्य इति ? यद्युच्यते—
बुद्धादीनामतीन्द्रियैर्दर्थं ज्ञानं न सम्भवतीति, तन्मन्वादिष्वपि समानम्। अथ
तेषां धर्मज्ञानातिशयादतीन्द्रियेऽपि ज्ञानं सम्भवतीति, तत् बुद्धादिष्वपि
समानम्। यथाऽऽहुः—

सुगतो यदि धर्मज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।

तानुभौ यदि धर्मज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥ इति।

चक्षुषो वा विशेषः, तमाह—

वेदाश्च ॥ ३ ॥

चोऽवधारणे। वेदा एव मूलप्रमाणं धर्माधर्मयोः। न च नित्यनिर्दोषेषु
वेदेषूक्तोपालम्भसम्भवः। स्वतःप्रमाणस्य हि शब्दस्य न चक्रेदोषनिवन्धनम-

१. यदि प्रमाणमिदमपि प्रमाणं इति क० पु० २. अवगम्यते इति स्व० पु०

३. अष्टसहस्री० पृ० ५. श्लोकोऽयं कौमालि इति अष्टसहस्रीटिप्पण्यम्।

४. नित्येषु निर्दोषेषु, इति स्व० पु०। अपीच्छेषेषु इति ष० पु०

५. सीमांशकमते तावत् वैदिकानां वाक्यानां नित्यत्वानुपगमात् तत्र कर्तव्या
पुरोधसभ्रम्यभावात् स्वत एव प्रामाण्यमङ्गीकृतम्। तदभिप्रेत्याह—स्वतः प्रमाणस्येति।

प्रामाण्यम् । तदिहास्मदादीनां धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्, धर्मज्ञानां तु वेदाः प्रमाणम् । मनुरप्याह—

‘वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विद्वाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

गौतमोऽपि—‘वेदो धर्ममूलं, तद्विदां च स्मृतिशीले ।’ इति । यद्यप्यप्रत्यक्षो वेदो मूलभूतोऽस्मदादिभिर्नोपलभ्यते । तथापि ‘मन्वाद्य उपलब्धवन्तः इत्यनुमीयते । वक्ष्यति—‘तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते’ इति ॥ ३ ॥

अनुवाद्— वेद ही प्रमाण है ।

टिप्पणी— पूर्वोक्त सूत्र में उल्लिखित धर्मज्ञों के लिए भी वेद ही प्रमाण है । हमारे लिए धर्मज्ञसमय प्रमाण है और धर्मज्ञों के लिए वेद प्रमाण है । इस प्रकार वेद ही धर्म और अधर्म के विषय में मूलप्रमाण है । वेद को मनु और गौतम ने भी धर्म का मूल माना है । मनुस्मृति २.६; गौतमधर्मसूत्र १. १. २. ॥ ३ ॥

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणाद्याश्चत्वारो वर्णसंज्ञिकाः । ते च सामयाचारिकैर्धर्मैश्चक्रियन्ते ‘चतुर्णामेवोपदेशेऽपि पुनश्चतुर्ग्रहणं ‘यथाकथञ्चित् चतुर्वन्तर्भूतानामपि ग्रहणार्थम् । ततश्च ‘ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य’ इति वीधायनादिभिरुक्तानामनुलोमादीनामप्यत्र ग्रहणं मतम् । तथा च गौतमः प्रतिलोमानामेव धर्मोऽन्धिकारमाह—‘प्रतिलोमास्तु धर्महीना’ इति ॥ ४ ॥

अनुवाद्— वर्ण चार हैं: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

टिप्पणी—ये चारों ही वर्ण सामयाचारिक धर्मों के अधिकारी हैं । चार रंख्या से इन चारों के अन्तर्गत अन्तर्भूत वर्णों का भी ग्रहण होगा । गौतमने प्रतिलोम वर्णों को धर्महीन माना है ॥ ४ ॥

तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतश्चेत्यान् ॥ ५ ॥

जन्मत इति वचनात् सदृत्तादपि शूद्राहैश्यद्रुचोऽपि श्रेयान् । एवं वैश्यान् क्षत्रियः क्षत्रियात् ब्राह्मणः ॥ ५ ॥

अनुवाद्—इनमें से पूर्ववर्ती वर्ण अपने बाद वाले वर्ण से जन्मतः श्रेष्ठ होता है ॥ ५ ॥

१. मनु० स्मृ० २.६. २. गौ० ध० १. १; २.

२. ‘मन्वादिभिरुपलभ्यते इत्यनुमीयते’ इति ख० पु० । ४ आप० ध० १.१२.१०.

५. ‘वर्णानामुपदेशेऽपि पुनश्चतुर्ग्रहणं यथाकथञ्चित्चतुर्वन्तर्भूतानामपी’ति ख० पु०

६. यथाक्रमं इति क० पु० ७. बौ० ध० १. ७. १. ८. गौ० ध० ४० ४५

अशुद्धाणामदुष्टकर्मणामुपायनं वेदाध्ययनमग्न्याघेयं

फलवन्ति च कर्माणि ॥ ६ ॥

शुद्धवर्जितानां त्रयाणां वर्णानामदुष्टकर्मणामुपायनादयो धर्माः । उपायनमुप-
नयनम् । नात्र त्रैवर्णिकानामुपनयनादि विधीयते, प्राप्तत्वात् । नापि शुद्धाणां प्रति-
पिष्यते, । प्राप्त्यभावात् तथा हि—उपनयनं तावद्गृह्ये “गर्भाष्टमेपु ब्राह्मणमुप-
नयीते”त्यादिना त्रैवर्णिकानामेव विहितम् । इहापि तथैव विधास्यते । अध्यय-
नमपि “उपेतस्थाचार्यकुले ब्रह्मचारिवास’ इत्यारभ्य विधानात् अनुपनीतस्य
शुद्धस्याप्राप्तमेव । किं च “इमंशानवच्छूद्रपतिता’विति “अध्ययननिषेधो वस्यते
”यस्य समीपे नाध्येयं स कथं स्वयमध्येतुमर्हति ।

अग्न्याघेयमपि “वसन्ता ब्राह्मण’ इत्यादि त्रैवर्णिकानामेव विहितम् ।
फलवन्ति चाग्निहोत्रादीनि कर्माणि” ‘स त्रयाणां वर्णाना’ मित्युक्त्वात् त्रैव-
र्णिकानामेव नियतानि । विद्याग्न्यभावाच्च शूद्राणामप्रसक्तानि । उक्तो विद्या-
ग्न्यभावः । तस्माद्दुष्टकर्मप्रतिषेधार्थं सूत्रम् । यथा शास्त्रान्तरं— “द्विजाति-
कर्मभ्यो हानिः पतन’मिति । अप्रतिषेधे तु दुष्टकर्मणामव्यधिकारोभवत्येव ।
‘फलवन्ति च कर्माणी’त्यभिधानात्, क्रियते इति कर्मेति निर्वचनात् । “प्रागुप-
नयनान् कामचारवाद्भक्षः’ इति गीतस्मरणं ब्रह्महत्यादिमहापातकव्यतिरिक्त-
विषयमित्यनुपेतमपि दुष्टकर्मसम्भवाद् अदुष्टकर्मणा”मित्युक्तम् । शूद्र-
तिषेधस्तु प्राप्तानुवादः ॥ ६ ॥

अनुवाद्—शूद्रवर्णं को छोड़कर तथा दुष्टकर्म करनेवालों को छोड़कर शेष के लिये
उपनयन, वेद का अध्ययन, अग्नि का आधान विहित किया गया है, तथा उनके कर्म
इस लोक तथा परलोक में पुण्यफल देने वाले होते हैं ।

टिप्पणी— शूद्र वर्ण को छोड़कर शेष तीन वर्णों में भी दुष्टकर्म न करने वाले
के लिये ही उपनयन आदि धर्म विवक्षित हैं । ग्रहयज्ञ में उपनयन का विधान तीन
वर्णों के लिये तो किया ही गया है वहाँ भी वही विधान किया गया है । आगे
आपस्तम्ब घ.सू. में शूद्र और पतित को स्मथानवत् समझा गया है । जिस व्यक्ति के

१. आप० शू० ८. २. २. आप० घ० १. २. ११. ३. आप० घ० १. ९. ६

४. अध्ययनप्रतिषेधकरणे वदयंत इति ख० पु०

५. यस्य यस्य, स स. इति द्विरुक्तिः क० पु० ६. तै० ब्रा. १. १. २.

७. आप० परि० १. २. ८. गौ० घ० २१. ४.

९. गौ० घ० २. १. १०. उपनयनमुक्तं इति क० पु०

समीप वेदाध्ययन नहीं किया जा सकता, वह व्यक्ति स्वयं कैसे वेदाध्ययन का अधिकारी हो सकता है ? अन्यायेय भी तीन वर्णों के लिए विहित है । पतन का कारण द्विजातिकर्म से हानि है : 'द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' ॥ ६ ॥

यथा ब्राह्मणादीनामुपनयनादयो धर्माः प्रधानभूताः तादृशं शूद्रस्य कर्मोऽऽह-
शूश्रूषा शूद्रस्येतेरेषां वर्णानाम् ॥ ७ ॥

इतरेषां ब्राह्मणादीनां वर्णानां या शूश्रूषा सा शूद्रस्य परमो धर्मः ॥ ७ ॥

अनुवाद—शूद्र वर्ण के लिए ब्राह्मणादि अन्य तीन वर्णों की सेवा ही धर्म है ॥७॥
'तत्र विशेषमाह—

पूर्वास्मिन् पूर्वास्मिन् वर्णे निश्च्रेयसं भूयः ॥ ८ ॥

सर्वप्रकारं कृताया अपि वैश्यशूश्रूषायाः मात्रयापि कृता क्षत्रियशूश्रूषा
बहुतरं फलं साधयति । एवं क्षत्रियशूश्रूषाया ब्राह्मणशूश्रूषा ॥ ८ ॥

अनुवाद—क्रमशः पूर्ववर्ती वर्ण की सेवा से उत्तरोत्तर अधिक फल मिलता है। अर्थात्
वैश्य की सेवा से क्षत्रिय की सेवा और उत्तरी अपेक्षा ब्राह्मण की सेवा अधिक पुण्य
उत्पन्न करती है ॥ ८ ॥

उपायनं वेदाध्ययनमित्यादि यदुक्तं अस्मिन् क्रमे उपनयने विशेषमाह—

उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितस्तसंस्कारः ॥ ९ ॥

विद्या अर्थः प्रयोजनं यस्य स विद्यार्थः । तस्यायं श्रुतिविहितस्तसंस्कारः उप
नयनं नाम । 'विद्यार्थस्येति वचनात् मूकादेर्न भवति । तथा च शङ्खल्लिखितौ
'नोन्मत्तमूकान् संखुर्यात्' इति । 'लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् स्त्रिया अपि न भवति
यद्यपि तस्याः 'अग्ने गृहपते' इत्यादिकया विगया अर्थः । 'श्रुतित' इति
वचनं तद्विन्निमे श्रौतातिक्रमप्रायश्चित्तप्राल्थर्थम् ॥ ९ ॥

अनुवाद—उपनयन विद्या ग्रहण करने के प्रयोजनवाले का वेद के नियम के अनुसार
किया जाने वाला संस्कार है ।

टिप्पणी—विद्यार्थः, विद्या अर्थः प्रयोजनम् यस्य सः, कहने से मूंगे आदि के
लिए उपनय संस्कार नहीं होता । यही बात शङ्खल्लिखित० में भी कही गयी है । विद्यार्थ
में पुल्लिङ्ग होने से स्त्रियों के लिए संस्कार नहीं है ॥ ९ ॥

अनेकवेदाध्यायिनां वेदव्रतवदुपनयनमपि प्रतिवेदं भेदेन कर्तव्यमिति प्राप्ते
उच्यते—

१. तत्र विशेषः, इति क० पु०

२. इदानीमुपलभ्यमानमुद्विगतशङ्खल्लिखितस्युतिपुस्तकेषु श्लोकोऽयं नोपलभ्यते ।

३. विद्यार्थस्येति च पुल्लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् इत्यर्थः ।

४. तै. सं० १. ५. ६.

सर्वेभ्यो वै वेदेभ्यस्सावित्र्यनुच्यत इति हि ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

“त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूढुहत् ।

तद्विन्त्युचोऽस्यास्ताविड्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥” इति ३मनुः ।

तदश्चोपनयने यस्ताविड्या अनुबचनं तन्मुखेन सर्वे वेदा अनूक्ता भवन्तीत्यगृह्यमाणविशेषत्वादेकमेघोपनयनं सर्वार्थमिति । अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवति ३ब्राह्मणमेव वा पठितम् । आर्थवणस्य वेदस्य पृथगुपनयनं कर्तव्यम् । तथा च तत्रैव श्रुतम्—“ नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरस्सोऽधीयीते”ति ॥१०॥

अनुवाद—ब्राह्मण में कहा गया है कि गायत्री मन्त्र का (उपनयन में) अध्ययन सभी वेदों के अध्ययन के प्रयोजन से किया जाता है ।

टिप्पणी—इस सूत्र के द्वारा इस शंका का समाधान किया गया है कि क्या भिन्न-भिन्न वेद का अध्ययन करने के लिये पृथक्-पृथक् उपनयन होना चाहिए ? बार-बार उपनयन अनवश्यक है । एक ही बार गायत्री मन्त्र ग्रहण करना सभी वेदों का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त है ॥ १० ॥

विद्वानेवोपनेताऽभिगम्यत इति विधातुमविदुषो निन्दामाह—

तमसो वा एष तमः प्रविराति यमविद्वानुपनयते

यश्चाऽविद्वानिति हि ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

यथा ऋद्धिन् तमसस्तकाशात्तम एव प्रविष्टो न किञ्चिज्जानाति एवमेवैषः यं माणवकमविद्वानुपनयते, तथा यश्चाविद्वान् । उपनीयते इत्यपेक्ष्यते । यश्च स्वयमविद्वान् सन्नुपनीयते सोऽपि तमस एव तमः प्रविराति । अस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमपि भवतीति ॥ ११ ॥

अनुवाद—जिसका उपनयन ऐसा व्यक्ति करता है जिसने वेदों का अध्ययन नहीं किया है वह इस प्रकार से उपनीत व्यक्ति मानो अन्यकार से निकलकर अन्यकार में ही प्रवेश करता है और उपनयन करने वाला वेदशाखानमिश्र व्यक्ति भी अन्यकार से निकलकर अन्यकार में प्रवेश करता है । यह ब्राह्मण की उक्ति है ॥ ११ ॥

कीदृशशब्दुपनेताऽभिगम्यः ? तमाह—

तस्मिन्नभिजननिद्यासमुदेतं समाहितं

संस्कर्तारमीप्सेत् ॥ १२ ॥

अविच्छिन्न “वेदवेदिसम्बन्धे कुले जन्म अभिजनः । पड्भिरङ्गैस्सहैव

१. मनु स्म. २. ७७. २. मनुबचनम् इति. ख० पु०

३. प्रमाणं भवति, ब्राह्मणमिति हि वाचा पठितम्, इत्यशुद्धः पाठः ख० पु०

४. गोप० ब्र० १. २९. ५. वेदविस्मयन्वे इति. क० पु०

यथावदर्थज्ञानपर्यन्तमधीतो वेदो विद्या । सर्वासम्भवे वेद एव वा । तस्मिन्नुपनयने कर्तव्ये ताभ्यां अभिजनविद्याभ्यां समुदेतं सम्पन्नम्, समाहितं विहितप्रतिपिष्टेष्ववहितमनसम्, संस्कर्तारमाचार्यमीप्सेत् । इच्छया करणं लक्ष्यते । आप्तुयाद्भिगच्छेदिति ॥ १२ ॥

अनुवाद—उपनयन संस्कारको कराने वाला आचार्य ऐसे व्यक्तिको बनाना चाहिए जिसका मन वेदविद्याध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा वाले कुल में हुआ हो, जो छः श्रंगों में सहित सभी वेदों के यथावत् अर्थज्ञान से युक्त हो, समाहित (निषिद्ध कर्मों से विरत तथा विहित कर्मों में मन लगाने वाला) हो ॥ १२ ॥

तस्मिंश्चैव विद्याकर्माऽऽन्तमविप्रतिपन्ने धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

तस्मिन्नेव चोपनेतरि विद्याकर्म विद्याग्रहणं कर्तव्यम् । आन्तमासमाप्तेः, अविप्रतिपन्ने धर्मेभ्यः यद्यसावाचार्यो धर्मेभ्यो न प्रच्युतो भवति । प्रच्युते तु तस्मिन्नसम्पर्काहं अन्यतोऽपि विद्याकर्म भवत्येव ।

*येषां आचार्यकरणविधिप्रयुक्तमध्ययनं तेपामेतन्नोपपद्यते कथम् ? उपनो-याध्यापनेनाचार्यकं भावयेदिति । सङ्कटुपनीतस्य माणवकस्य न पुनरुपनयनसंस्कारः सम्भवति । तं कथमन्योऽध्यापयेत् ? एतेन मध्ये आचार्यमरणे माणवकस्य तदध्ययनं नाचार्यान्तरात् सम्भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

अनुवाद—यदि वह उपनयन कराने वाला आचार्य धर्म के मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता तो उसी से समातिपर्यन्त विद्या ग्रहण करनी चाहिए ।

टिप्पणी—उपनयन करने वाले आचार्य के धर्मभ्रष्ट हो जाने पर दूसरे गुरु से भी विद्या ग्रहण की जा सकती है । आचार्य वही है जो उपनयन कराकर विद्या पक्का है । जब बालक एक आचार्य से उपनयन कराने के बाद दूसरे के समीप अध्ययन के लिए जाता है तो क्या उसका पुनः उपनयन होना चाहिए ? नहीं, तो फिर दूसरा आचार्य रूप में अध्यापन कैसे कर सकता है ? इससे यही समझना चाहिए कि एक आचार्य के शिष्यत्व में आरम्भ किया गया अध्ययन दूसरे आचार्य से विद्या ग्रहण कर पूर्ण न किया जाय । यह विचार हरदत्त ने व्यक्त किया है ॥ १३ ॥

* एतच्छिद्धान्तर्गतो भागः प्रक्षिप्त इति Mysore पुस्तके । परन्तु क. ग. पुस्तकयोः उपलभ्यते पाठः । एतच्च गुरुमतानुसारेण । गुरुवो हि “अष्टवयःब्राह्मणमुपनयीथ, तन्मयापयीत” इति विधिनाऽऽचार्यैर्वसिष्ठ्यर्थमध्यापनं विदधताऽध्ययनमपि प्रमुञ्चते, अतोऽध्यापनान्यथापुनरप्यैव सिष्यदध्ययनं न स्वविधिना ‘स्वाध्यायोऽप्येतस्य’ इत्यनेन विधीयते इति नृवते । अतस्तन्मतलक्षणमिदम् ।

^१आचार्यशब्दं निराह—

यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः ॥ १४ ॥

यस्मात्पुरुपादयं माणवकः धर्मानाचिनोति आत्मतः प्रचिनोति शिक्षते स आचार्यः ^२“अप्यक्षरसाम्यान्निर्भूयादिति चकारमात्रेणेहं निर्वचनम्। अनेन प्रकारेण माणवकमाचार्यः शौचाचारांश्च शिक्षयेदित्युक्तं भवति ॥१४॥ अनुवाद—आचार्य वह है जिससे (उपनीत बालक) धर्म का चयन करता है, धर्म का ज्ञान करता है ॥ १४ ॥

तस्मै न द्रुक्षरकदाचन ॥ १५ ॥

तस्मै एवंभूताचार्याय कदाचन कदाचिदपि न द्रुष्टोन् तद्विषयमपकारं न क्षुर्यात् ॥ १५ ॥

अनुवाद—उस आचार्य से कभी द्रोह न करे । उसका अपकार न करे ॥ १५ ॥

कस्मादित्यत आह—

स हि विद्यातस्तं जनयति ॥ १६ ॥

स ह्याचार्यः तं माणवकं विद्यातो जनयति, यथा पिता मातुतः ।

^३अत्रास्य माता सावित्री पिता त्याचार्य उच्यते ॥ इति शास्त्रान्तरम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—वह आचार्य उस बालक को विद्या से उत्पन्न करता है (जिस प्रकार पिता ने माता से उत्पन्न किया है) ॥ १६ ॥

तच्छ्रेष्ठ जन्म ॥ १७ ॥

तद्विद्यातो जन्म श्रेष्ठं प्रशस्ततमम्^४ अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वात् ॥ १७ ॥

अनुवाद—विद्या से होने वाला यह जन्म श्रेष्ठ होता है ।

टिप्पणी—यह जन्म इस कारण श्रेष्ठ होता है कि वह अभ्युदय स्वर्गंशुल तथा निःश्रेयस् मोक्ष का हेतु होता है ॥ १७ ॥

मातापितृभ्यामाचार्यः श्रेष्ठ इत्याह—

शरीरमेव मातापितरौ जनयतः ॥ १८ ॥

मातापितरौ शरीरमात्रमेव काष्ठशुद्ध्यादिसमं जनयतः । आचार्यस्तु सर्व-
पुरुषार्थक्षमरूपं जनयति ^५ “आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणा” मिति गौतमः ॥१८॥

१. आचार्यशब्दनिर्वचनमाह, इति क० ग० पु० २. निरु० २. १. १.

१. मतु० स्मृ० २. १७०.

४. गौ० ध० २.५०

अनुवाद्—माता और पिता तो शरीरमात्र ही उत्पन्न करते हैं ।

टिप्पणी—साधारण पदार्थों जैसे शरीर मात्र को उत्पन्न करने वाले माता-पिता की अपेक्षा आचार्य का कार्य अधिक महान् है, क्योंकि आचार्य सभी पुत्रधार्यों की प्राप्ति के लिए समर्थ बनाकर उत्पन्न करता है । अतएव गौतम धर्मसूत्र में आचार्य को श्रेष्ठ माना गया है ॥ १८ ॥

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यं, गर्भाष्टमेपु

ब्राह्मणं, गर्भैकादशेषु राजन्यं, गर्भद्वादशेषु वैश्यम् ॥ १९ ॥

^१वसन्ते ब्राह्मणमित्यादि गृह्ये गतम् ॥ १९ ॥

अनुवाद्—वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण बालक को उपनयन करना चाहिए, ग्रीष्ममें क्षत्रिय का तथा शरद् ऋतु में वैश्य का । ब्राह्मण बालक का उपनयन गर्भ के आठवें वर्ष में, राजन्य का गर्भ के ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य का गर्भ के बारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए ॥ १९ ॥

अथ काम्यानि ॥ २० ॥

कामनिमित्तान्युपनयनानि वक्ष्यन्ते ॥ २० ॥

अनुवाद्—अब किसी विशेष अभिलाषा के उद्देश्य से उपनयन के वर्ष का निर्देश किया जाता है ॥ २० ॥

^२सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामम् ॥ २१ ॥ अष्टम आयुष्कामम् ॥ २२ ॥

नवमे तेजस्कामम् ॥ २३ ॥ दशमेऽन्नाद्यकामम् ॥ २४ ॥

एकादश इन्द्रियकामम् ॥ २५ ॥ द्वादशे पशुकामम् ॥ २६ ॥

‘ब्रह्मवर्चसकाम’ मित्यादीनि षट् सूत्राणि स्पष्टार्थानि । सर्वत्रोपनयितेत्यपेक्ष्यते ॥ २१-२६ ॥

अनुवाद्—ब्रह्मवर्चस अर्थात् विद्या में उत्कर्ष प्राप्त करने की अभिलाषा वाले का सातवें वर्ष में, दीर्घजीवन की इच्छा वाले का आठवें वर्ष में, तेज या पौरुष शक्ति की इच्छा वाले व्यक्ति का नवें वर्ष में, अन्न की कामना वाले का दसवें वर्ष में, इन्द्रियशक्ति चाहने वाले का ग्यारहवें वर्ष में और पशुसम्पत्ति के अभिलाषी का उसके बारहवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए ॥ २१-२६ ॥

^३‘आचार्यार्थीधीनस्या’ दित्यादीनि यानि ब्रह्मचारिणो ब्रतानि वक्ष्यन्ते तेष्वसमर्थानां कुमारानां वर्णक्रमेणानुकल्पमाह—

१. आप० गृ० ११. २. २. इतः प्रभृति सूत्रषट्कमेकसूत्रतया जिलितं क. पु स्तके ।

३. आप० घ० १. २. ११.

आपोऽशाद्ब्राह्मणस्यानालयय आद्वाविशात्क्षत्रियस्याऽऽचतुर्विंशद्वैश्य-
स्य यथा व्रतेषु समर्थः स्याद्यानि वक्ष्यामः ॥ २७ ॥

आकारोऽभिषिधौ । अत्ययोऽतिक्रमः । स एवाऽऽत्ययः तद्भावोऽनात्ययः ।
यादृच्छिको दीर्घः, आहो वा प्रश्लेषः । प्रकरणदुपनयनकालस्येति गम्यते ।
यथा व्रतेषु समर्थः स्यात् तदीतावान् कालः प्रतीक्ष्यः । पूर्वमेव तु सामर्थ्ये
सत्यष्टमवर्षावतिक्रमे वक्ष्यमाणं द्वायश्चित्तमेव भवति । एवं षोडशादिभ्य
उर्ध्वं कियन्तश्चित्कालमसमर्थानां पञ्चात्सामर्थ्ये सति प्रायश्चित्तं भवत्येव ॥२७॥

अनुवाद्—यदि ब्राह्मण का उपनयन उसके सोलहवें वर्ष पूरा होने से पूर्व, क्षत्रिय
का बाइसवें वर्ष पूरा होने से पूर्व और वैश्य का चौबीसवें वर्ष पूरा होनेसे पूर्व उपनयन
संस्कार हो जाय, तो धर्म का उल्लंघन नहीं होता । उपनयन संस्कार ऐसेी अवस्था में
हो जब वह आगे उल्लिखित व्रतों को करने में समर्थ हो ।

टिप्पणी—इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि जैसे ही बालक वेद का अध्ययन आरम्भ
करने योग्य अवस्था प्राप्त करे उसका उपनयन होना चाहिए । जब उपनयन संस्कार
किसी ऐसे समय पर न हो जब होना चाहिये अर्थात् जब वह वेदाध्ययन करने के लिए
समर्थ रहा हो, तो आगे के सुत्रों में उल्लिखित प्रायश्चित्त कर्म करना चाहिए ।
ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष की, राजन्य के लिए बाइस तथा वैश्य के लिए चौबीस
वर्ष की अवस्था यशोपवीत की अन्तिम अवधि बतायी गई है, इस समय तक उप-
नयन अवश्य होना चाहिए । उसके बाद प्रायश्चित्त का विधान है ॥ २७ ॥

तदानीं प्रायश्चित्तमाह—

अतिक्रान्ते साविज्या. ऋतुं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं वरेत् ॥ २८ ॥

यस्य यः साविज्याः काल उक्तः तदतिक्रमे त्रैविद्यकं त्र्यवयवा विद्या ताम-
धीयते चे ते त्रैविद्याः, तेपमिदं त्रैविद्यकम् । 'भौत्रचरणार्दुबुम् । 'चरणाद्धर्मा-
भ्नाययोरि'रिति बुब् । एवमूतं ब्रह्मचर्यम्, अप्रिपरिचर्यामध्ययनं गुरुश्रुयामिति
परिहाय, सकलं ब्रह्मचारिधर्मं चरेत् । कियन्तं कालम् ? ऋतुं, कालध्वनो'
रिति द्वितीया । ऋतुमिति घचनादत्वारम्भे प्रायश्चित्तारम्भमिच्छन्ति ॥ २८ ॥

अनुवाद्—यदि सावित्रीप्रश्न आयात् उपनयन का काल व्रत गया है तो एक
ऋतु तक अर्थात् दो मास तीन वेदों का अध्ययन करने वालों की तरह ब्रह्मचर्य
का व्रत धारण करे ।

टिप्पणी—इस समय में ब्रह्मचर्य आदि के उन सभी नियमों के पालन का
निर्देश किया गया है जो तीनों वेदों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए विहित

है किन्तु इस व्रत के काल में वह तीन वेदों के अथ्येता ब्रह्मचारी के समान अग्निर्कर्म, अध्ययन और गुरुशुश्रूषा न करे ॥ २८ ॥

अशोपनयनम् ॥ २९ ॥

एवं चरितव्रत उपनेतव्यः ॥ २९ ॥

अनुवाद्—इस प्रकार प्रायश्चित्त व्रत कर लेने पर उसका उपनयन संस्कार किया जाय ॥ २९ ॥

ततस्संवत्सरमुदकोपस्पर्शनम् ॥ ३० ॥

ततः उपनयनादारभ्य संवत्सरमुदकोपस्पर्शनं स्नानं कर्तव्यम् । शक्तस्य त्रिपवणं स्नानम् ^१अशक्तस्य यथाशक्ति ॥ ३० ॥

अनुवाद्—उपनयन के बाद एक वर्ष तक प्रतिदिन स्नान करे ।

टिप्पणी—यदि सम्भव हो तो प्रतिदिन तीन बार स्नान करे—हरदत्त ॥ ३० ॥

अथाऽध्याप्यः ॥ ३१ ॥

एवं चरितव्रतः पञ्चाद्दध्याप्यः ॥ ३१ ॥

अनुवाद्—इस प्रकार व्रत कर लेने वाले को वेद का अध्यापन करे ॥३१॥

अथ यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ स्यातां ते ब्रह्महंसस्तुताः ॥ ३२ ॥

यस्य माणवकस्य पिता पितामहश्चानुपेतौ स्यातां स्वयं च, ते तथाविधास्त माणवका ब्रह्महंसस्तुताः ब्रह्महण इत्येव कीर्तिताः ब्रह्मवादिभिः । अतस्मिन् तच्छब्दयोगस्तद्धर्मप्राप्त्यर्थः । एवं च ^२‘इमशानवच्छूद्रपतिता’वित्यव्ययनिर्णयप्रकरणे वक्ष्यते । ततश्च ब्रह्म यथा ब्रह्महंसमीपे नाध्येयमेवमेवामपीति ॥३२॥

अनुवाद्—जिसके पिता और पितामह का उपनयन संस्कार नहीं हुआ है, तथा स्वयं का भी उपनयन नहीं हुआ है उसे तथा उसके पिता, पितामह को ब्रह्महण कहा गया है ।

टिप्पणी—ब्रह्मन् का अर्थ यहाँ वेद से है और उपनयन संस्कार न कराकर वेदाध्ययन की उपेक्षा करने वाला वेद की इत्या करता है और इस प्रकार वह ब्रह्महण है और इस प्रकार का व्यक्ति पतित होता है । पतित शूद्र को इमशान के समान माना गया है ॥ ३२ ॥

तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

तेषामेतेषामभ्यागमनमभिमुल्येन गमनम्, मातापितृपुत्रद्वाराशरीरक्षणाार्थमपि वर्जयेत् । यद्यपि भिक्षा सर्वतः प्रतिप्राप्तेति वक्ष्यते भोजनमुगतमपि

वर्जयेत् 'अपि दुष्कृतकारिण' इति सत्यपि वचने । विवाहं च वर्जयेत् यद्यपि
 २ 'खीरत्नं दुष्कुलादीपौ'ति मानवस्मरणम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—एसे ब्रह्महण लोगों के साथ मिलने-जुलने, मोहन करने तथा विवाह
 संबन्ध करने का वर्जन करे ।

टिप्पणी—यद्यपि मित्रा के विषय में कहा गया है कि मित्रा कहीं से भी ली
 जा सकती है और विवाह के विषय में भी कहा गया है कि खीरान दुष्कुल से भी
 प्राप्त है, तथापि यह सूत्र इन सबका वेदाध्ययन न करने वाले ब्रह्महण्ट् के सम्बन्ध में
 निर्दिष्ट करता है ॥ ३३ ॥

तैषामिच्छतां प्रायश्चित्तम् ॥ ३४ ॥

इच्छतामिति वचनात्त बलात्कारेण प्रायश्चित्तं कारयितव्यम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद—यदि वे चाहें तो यह प्रायश्चित्त करें (बलपूर्वक उनसे प्रायश्चित्त न
 कराया जाय) ॥ ३४ ॥

यथा प्रथमेऽतिक्रम ऋतुरेवं संवत्सरः ॥ ३५ ॥

यथा प्रथमेऽतिक्रमे ब्रह्मचर्यस्य ऋतुः कालः एवमन्यस्मिन्नतिक्रमे संवत्सरः
 कालः ॥ ३५ ॥

अनुवाद—वेदाध्ययन की उपेक्षा के लिए पहले एक ऋतु अर्थात् दो मास का बैशा
 प्रायश्चित्त बताया गया है वैसा ही प्रायश्चित्त एक वर्ष करे ॥ ३५ ॥

अथोपनयनम् ॥ ३६ ॥ तत उदकोपस्पशंनम् ॥ ३७ ॥
 गते ॥ ३६-३७ ॥

अनुवाद—उसके बाद उनका उपनयन हो और वे स्नान करें ॥ ३६-३७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने प्रथमा कण्डिका ।

—:०—

प्रतिपूरुषं संख्याय संवत्सरात् यावन्तोऽनुपेताः स्युः ॥ १ ॥

यदि पितृवानुपेतः ततस्संबत्सरमेकम् । अथ पितामहोऽपि, ततो द्वौ । अथ
 स्वयमपि यथाकालमनुपेतः, ततः संबत्सरानिति ॥ १ ॥

अनुवाद—बितने पूर्वज अनुपेत हों उनमें प्रत्येक के लिए एक एक वर्ष
 जोड़कर (तथा अपने लिए भी एक वर्ष जोड़कर) उतने वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत
 का प्रायश्चित्त करे ॥ १ ॥

१. आप० घ० १.१९.१३

२. मनु० स्मृ० २. २३८.

३. खण्डिका इति. क. पुस्तके । खण्डः इति ख. पुस्तके । एवमेव प्रतिखण्डसमाप्ति

अथोदकोपस्यशने मन्त्राः—

सप्तभिः पावमानीभिर्दर्यन्ति यच्च दूरक' इत्येताभिर्यजुष्वित्रेण
सामपवित्रेणाऽऽङ्गिरसेनेति ॥ २ ॥

पवमानः सोमो देवता यासां ताः 'पावमान्यः। यजुष्यवित्रेण 'आपो
असमान्मातरः शुन्धन्विव' त्यनेन, सामपवित्रेण 'कया नश्चित्र आसुवदि'
त्यादिगीतेन वामदेव्येन साम्ना, आङ्गिरसेन 'हंसःशुचिपदि'त्यनेन एतैरङ्गि-
लिना शिरस्यपोऽवसिञ्चेत् ॥ २ ॥

अनुवाद्—यह प्रतिदिन यजुष्वित्रिण के 'यदन्ति यच्च दूरक' आदि सात पवमान
मन्त्रों द्वारा, सामपवित्र के 'कया नश्चित्र आसुवत्' आदि वामदेव के साम से तथा
अङ्गिरस के तैत्तिरीयसंहितान्तर्गत 'हंसःशुचिपद्मसुन्तरिक्षसद्भोता आदि ४. २. १. ४
से अङ्गलि से जल लेकर सिर पर सिञ्चन करे ॥ २ ॥

अपि वा व्याहृतिभिरेव ॥ ३ ॥

पूर्वैः सह व्याहृतीनां विकल्पः ॥ ३ ॥

अनुवाद्—अथवा पूर्वोक्त मन्त्रों के साथ व्याहृतियों का भी प्रयोग करते हुए
सिञ्चन करे ॥ ३ ॥

गतम् ॥ ४ ॥

अथाऽध्याप्यः ॥ ४ ॥

१. यदन्ति यच्च दूरके भयं विन्दति मामिह । पवमान वित्तच्छदि ॥ १ ॥
पवमानसोऽअद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः । यः पोता स पुनातु नः ॥ २ ॥
यत्ते पवित्रमर्चिष्यन्ते विततमन्तरा । ब्रह्म तेन पुनीहि नः ॥ ३ ॥
यत्ते पवित्रमर्चिष्यन्ते तेन पुर्नाहि नः । ब्रह्म सधैः पुनीहि नः ॥ ४ ॥
उभाम्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः ॥ ५ ॥
त्रिभिष्टुवं देव सवितर्वषिष्ठैः सोम घामभिः । अग्ने दधैः पुनीहि नः ॥ ६ ॥
पुनन्तु मां देवबनाः पुनन्तु वसवी धिया । विदवे देवाः पुनीतन मा जात-
वेदः पुनीहि मा ॥७॥ (ऋ० सं० ७. २. १७ १८.) इति सप्त पावमान्य ॥

२. आपो अस्यात् मातरश्शुन्धन्तु शृतेन नो हृतपुवः पुनन्तु विश्वनरमत्तद्वहन्तु
रिप्रम्' (तै. स. १. २. १) इति यजुष्वित्रम् । 'कया नश्चित्र आसुवद्वती सदादृघसत्वा ।
कया शचिष्ठया वृता' इत्यस्यामुचि गीयमानं वामदेव्याख्यं साम सामपवित्रम् ॥

३. 'हृषसश्शुचिपद्मसुन्तरिक्षसद्भोता वेदिपदतिथिर्दुरोणसत् । नृपदरसदतसदृयो-
मसदन्वा गोष्वा श्रवणा अद्रिष्वा ऋतं बृहत्' (तै. सं. ४. २. १. ४.) इत्याङ्गिरस ॥

तत्र 'यस्य पिता पितामह' इत्युपक्रमे 'यस्ये' त्येकवचनमन्तेऽप्यध्याय्य इति । मध्ये तु 'ब्रह्महस्तुताः' तेषामभ्यागमनं, 'तेषामिच्छता'मिति बहुवचनम् । तत्रोपक्रमोपसंहारानुसारेण माणवकस्यैव प्रायश्चित्तमुपनयनमभ्यापनं च । बहुवचनं तु तथाविधमाणवकबहुत्वापेक्षमित्युच्यते ॥ ४ ॥

अनुवाद—इस प्रायश्चित के बाद ऐसे व्यक्ति का अभ्यापन किया जाता है ॥४॥

अथ यस्य प्रपितामहादि नानुस्मर्यत उपनयनं ते श्म-

शानसंस्तुताः ॥ ५ ॥

प्रपितामहादि प्रपितामहादारभ्य प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं च यथाकालमिति । ते तथाविधा माणवकाः श्मशानसंस्तुताः । एतेन 'श्मशाने सर्वतः शम्याप्रासा' दित्यध्ययननिषेध एषामपि सन्निधौ भवति ॥ ५ ॥

अनुवाद—किन्तु जिनके प्रपितामह आदि का (अर्थात् प्रपितामह, पितामह, पिता और स्वयं का) उपनयन होने का स्मरण नहीं है । वे श्मशान कहे जाते हैं । ५ ॥

टिप्पणी—अर्थात् वे पतित होते हैं और जिस प्रकार श्मशान के समीप वेदाध्ययन नहीं किया जाता उसी प्रकार ऐसे पतित लोगों के समीप वेद का उच्चारण नहीं किया जाता, उनके द्वारा वेद का अध्ययन तो दूर रहा ॥ ५ ॥

तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपनयनं तत उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः ॥ ६ ॥

गत्म् । पावमान्यादिभिरित्यनेनैव प्रतिपूरुषं सङ्ख्याय संवत्सरानित्ये-
तदपि द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—उनके साथ मिलने-जुलने, भोजन और विवाह का वर्जन करना चाहिए । यदि वे प्रायश्चित्त करना चाहें तो बारह वर्ष तक तीन वेदों के अध्येता ब्राह्मचारी के व्रत का (अग्निकर्म, अध्ययन और गुरुशुभ्रषा को छोड़कर) पालन करें, उसके बाद उनका उपनयन हो और तदुपरान्त वे पवमान आदि मन्त्रों से (जिनका उल्लेख इस कण्डिका के दूसरे मन्त्र में किया गया है) स्नान करें ॥ ६ ॥

अथ गृहमेधोपदेशनम् ॥ ७ ॥

गृहमेधो गृहशास्त्रं गृहस्थधर्मो वा ॥ ७ ॥

अनुवाद्—तत्र उसे गृहस्य के नियमों का उपदेश दिया जाय ॥ ७ ॥

नाध्यापनम् ॥ ८ ॥

नाध्यापनं कृत्स्नय वेदस्य । किं तु गृह्यमन्त्राणामेवेति ॥ ८ ॥

अनुवाद्—उसे सम्पूर्ण वेद की शिक्षा न दी जाय ।

टिप्पणी—अपितु केवल गृह्य कर्म प्रयुक्त मन्त्रों का ही अध्यापन हो ॥ ८ ॥

ततो यो निवर्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे ॥९॥

ततः एवं कृतप्रायश्चित्तान् गृह्ण्यभूताद्यो निवर्तते उत्पद्यते तस्योपनयन-
संस्कारः कर्तव्यः । कथम् ? यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुं त्रैविचकं ब्रह्मचर्यं
चारयित्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनुवाद्—गृह्यमन्त्रों का अध्ययन समाप्त कर लेने पर उसका उसी प्रकार उप-
नयन संस्कार किया जाय जिस प्रकार प्रथम अतिक्रम के सम्बन्ध में किया था ।

टिप्पणी—प्रथम वेदाध्ययन के अतिक्रम में जिस प्रकार एक ऋतु अर्थात् दो
मास के ब्रह्मचर्यव्रत के प्रायश्चित्त का विधान किया गया था, वही प्रायश्चित्त यहाँ भी
बिहित है ॥ ९ ॥

तत ऊर्ध्वं प्रकृतिवत् ॥ १० ॥

ततः यो निवर्तते तस्य प्रकृतिवत् यथा प्राप्तमुपनयनं कर्तव्यमिति । यस्य
तु प्रपितामहस्य पितुरारभ्य नानुस्मर्यत उपनयनं तत्र प्रायश्चित्तं नोक्तम्, घर्मज्ञै-
रुहितव्यम् ॥ १० ॥

अनुवाद्—उसके बाद सभी कर्म वैसे ही किये जाते हैं वैसे सामान्य उपनयन
के संदर्भ में होता है ।

टिप्पणी—हरदत्त ने यह संकेत किया है कि बिनके प्रतितामह से भी पूर्ववर्ती
पुरुषों के उपनयन का स्मरण नहीं है उसके विषय में घर्मज्ञ व्यक्तियों को व्यवस्था
देनी चाहिए ॥ १० ॥

एवं ततः पूर्वेष्वपि निरूपितमुपनयनम्, अध्याऽध्ययनविधिः—

उपेतस्याऽऽचार्यकुले ब्रह्मचारिवासः ॥ ११ ॥

एवं यथाविध्युपेतस्य ब्रह्मचारिणस्सत आचार्यकुले वासो भवति । ब्रह्म
वेदस्वदर्थं व्रतं चरतीति ब्रह्मचारी । अध्ययनाङ्गानि व्रतानि चरता आचार्यकुले
वस्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ ११ ॥

अनुवाद्—उपनीतबालक ब्रह्मचारी होकर आचार्य के कुल में निवास करे ।

टिप्पणी—ब्रह्मचारी भी व्युत्पत्ति हरदत्त की व्याख्या में द्रष्टव्य है । 'ब्रह्म वेदस्त-
दर्थं व्रतं चरतीति ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

सत्र कालः—

‘अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि । १२ ॥

चतुर्णां वेदानामध्ययनकाल एव । प्रतिवेदं द्वादश ॥ १२ ॥

अनुवाद्—अइतालिस वर्ष तक गुरुकुल में निवास करे ।

टिप्पणी—यह समय चार वेदों के अध्ययन के लिए है, प्रत्येक वेद के अध्ययन के अर्ध घण्टे वर्ष का काल बताया गया है ॥ १२ ॥

पाठनम् ॥ १३ ॥

स एव कालः पाठनं वा प्रत्येतव्यः । पाठेनोत्तं पाठनम् । पररूपं कृतन्तयत् । पट्त्रिंशद्वर्षाणि । प्रतिवेदं नव ॥ १३ ॥

अनु०—अथवा एक अर्थाई कम समय होता है अर्थात् छतीस वर्ष निवास करे । टिप्पणी—इस प्रकार प्रत्येक वेद के लिए नौ वर्ष का समय विवक्षित है ॥ १३ ॥

अध्वेन ॥ १४ ॥

ऊनमिति ३समस्तमध्यपेक्षते । चतुर्विंशतिर्वर्षाणि । प्रतिवेदं षट् ॥ १४ ॥
अनुवाद्—अथवा उसके आधे समय तक अर्थात् चौबीस वर्ष तक निवास करे । टि०—२स प्रकार प्रत्येक वेद के लिए छः वर्ष का समय भी विवक्षित है ॥ १४ ॥

त्रिभिर्वा ॥ १५ ॥

पादैरूनमिति प्रकरणाद् गम्यते । द्वादशवर्षाणि । प्रतिवेदं त्रीणि ॥ १५ ॥
अनुवाद्—अथवा तीन चौथाई कम समय तक निवास करे । अर्थात् केवल बारह वर्ष तक निवास करे, प्रत्येक वेद का तीस वर्ष का समय करे ॥ १५ ॥

द्वादशावराध्यम् ॥ १६ ॥

अवराध्यशशोऽवरात्रेत्येतस्मिन्नर्थे वर्तते । द्वादशवर्षाणि अवरमात्रा यथा भवति तथा ब्रह्मचारिणा गुरुकुले वस्तव्यम् । पूर्वैर्णव सिद्धे यां ब्रह्मचार्यतिमेधायितया चतुरोऽपि वेदानितोऽल्पयसा कालेन गृह्णाति तेनाप्येतादन्तं कालं गुरुकुले वस्तव्यम् । *विद्यया स्नातीत्येतस्मिन्नपि पक्षे नातिव्यरितेन स्नातव्यमित्येवमर्थमिदमारभ्यते । एतेन एकस्य वेदस्य त्रीणि वर्षाणि ब्रह्मचर्यमवश्यं भावोत्पद्योत्सिद्धम् ।

१. गोनयत्राज्ञानेऽथर्ववेदीः द्वितीयप्रयागे पञ्चमब्राह्मणस्य विधिर्दृश्यते—तस्मात् प्रसूतं प्रोधाचादाचत्वारिंशद्वर्षं सचतुर्णां वेदैषु व्यूहा द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यं द्वादशवर्षोऽप्यवराधमिति स्थायंश्चरैष्यथादास्त्यपरम्’ (गो० ब्रा० पू० २. ५.) इति ॥

२. ‘शकृन्वादिः’ इति घ० पु० ।

३. उपसमस्तमिति ख० पु० प्रातसमासनवीत्यर्थः सर्वत्राप्यपेक्षते इति. घ. पु.

४. व्याप० घ. १. ३०. १ ५. भाषीत्ययमर्थस्तद्ध. इति ख. पु०

२ आ० घ०

मनुरप्याह—

^१पट्टत्रिंशद्वाब्दिकं चर्यं गुरो औविद्यकं व्रतम् ।

तदधिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ इति ॥

त्रयाणां वेदानां पट्टत्रिंशत्, एकैकस्य द्वादश । तदधिकं त्रयाणामामष्टा-
दश; एकैकस्य पट् । पादिकं वा त्रयाणां नव; एकैकस्य त्रीणि । ग्रहणान्तिक-
मेव वेति एकैकस्य त्रिभ्य ऊर्ध्वमनियम; न प्रागित्यर्थो द्रष्टव्यः ॥ १६ ॥

अनु०—बारह वर्ष तक अवधि की आचार्यकुल में निवास करने की न्यूनतम
अवधि है ।

टिप्पणी—व्याख्याकार के अनुसार बारह वर्ष निवास करे । जो ब्रह्मचारी उत्सके
पहले ही सारो वेदों का अध्ययन पूरा कर ले वह भी बारह वर्ष तक निवास करे ॥ १६ ॥

न ब्रह्मचारिणो विद्यार्थस्य परोपवासोऽस्ति ॥ १७ ॥

ब्रह्मचारिविद्यार्थशब्दयोरर्थ उक्तः । यो ब्रह्मचारी विद्यार्थो भवति न
तेन दिवसमात्रमपि परस्य समीपे वस्तव्यम् । आचार्यस्य समीप एव वस्तव्य-
मित्युक्तं भवति । विद्यार्थोवेति वचनात् नैष्ठिकस्य कदाचिदन्यत्र ^२वासेऽपि
न दोषः । यद्वा भोजननिवृत्तिरेवोपवासः । परलोकार्थ उपवासः परोपवासः स
विद्यार्थस्य न भवति । नैष्ठिकस्य तु ^३दोषः । अत्र पक्षे ^४‘आहिताग्निर्नई-
वान्नि’ति विद्यार्थब्रह्मचारिविषयम् ॥ १७ ॥

अनुवाद—विद्याग्रहण करने की अभिलाषा वाला ब्रह्मचारी दूसरे के समीप निवास
न करे ।

टिप्पणी—ऐसे ब्रह्मचारी को आचार्य के समीप ही निवास करना चाहिए । एक
दिन के लिए भी किसी दूसरे के समीप निवास न करे । विद्यार्थ नैष्ठिक ब्रह्मचारी
का कभी दूसरे के समीप निवास करने में दोष नहीं है । इस प्रकार यह नियम नैष्ठिक
ब्रह्मचारी के संबन्ध में लागू नहीं होता । हरदत्त ने परोपवास की एक अन्य व्याख्या
भी की है । पर अर्थात् परलोक के लिए उपवास अर्थात् भोजननिवृत्ति, परलोकार्थ
उपवास विद्यार्थों के लिए विहित नहीं है ॥ १७ ॥

अथ ब्रह्मचर्यविधिः ॥ १८ ॥

ब्रह्म वेदस्तदर्थं यद्ब्रतं चरितव्यं तद् ब्रह्मचर्यं तदधिक्रियते ॥ १८ ॥
अनुवाद—अब ब्रह्मचर्य की विधि बतायी जाती है ॥ १८ ॥

आचार्याधीनस्स्यादन्यत्र पतनोयेभ्यः ॥ १९ ॥

“आचार्याधीनो भवे” त्युपनयनान्ते यत् संशासनं तत्सिद्धवाचार्याधीनता

१. मनु० स्मृ० ३. १

२. वासो न दोषः इति क० पु०

३. न दोषः इति ल० पु०

४. आप० घ. २. ९. १३.

तानूद्भूयते 'अन्यत्र पतनीयेभ्य' इति विशेषं वक्ष्यामीति ।^१ पतनीय इति करणे कृत्यत्वयः ।^२ अमुमरातिं ब्राह्मणमित्थं व्यापादयेत्याचार्येण चोदितोऽप्येवमादि न कुर्यादिति ॥ १९ ॥

अनुवाद—उन कार्यों के आदेश को छोड़कर बिनसे पतन होता है, गुरु के सभी आदेशों का पालन करे ।

टिप्पणी—यदि आचार्य किसी की इत्था करने के लिये अथवा अन्य पाप कर्मों की आज्ञा दे तो ब्राह्मचारी उन कार्यों के लिए गुरु की आज्ञा का पालन न करे किन्तु ऐसे कर्मों के अतिरिक्त निरन्तर गुरु के अव्योन रहे । पतनेहेतुक आज्ञाओं के अतिरिक्त सभी आज्ञाओं का पालन करे ॥ १९ ॥

हितकारी गुरोरप्रतिलोमयन् वाचा ॥ २० ॥
आचार्येण प्रयुक्तोऽप्यप्रयुक्तोऽपि तस्मै हितमेव कुर्यान्, वाचा श्रान्तिलो-
म्यमकुर्वन् ॥ २० ॥

अनु०—गुरु का निरन्तर भला करे और वाणी से उनका विरोध न करे ॥ २० ॥
अघासनशायी ॥ २१ ॥

शयनं शयः । 'कृत्वत्युटो बहुल' मिति बहुलवचनान् घब् । अघः
आसनशायो यस्य सः अघासनशायो । गुरुसन्निधावथ आसीत् अघशशयी-
तेत्युक्तं भवति । अघशशयस्य सवर्णदीर्घदृष्टान्दसः; अपपाठो वा । तृणेषु
प्रस्तरेषु चासनशयने शिष्टाचारसिद्धे ॥ २१ ॥

अनुवाद—गुरु के निकट उनसे नीची शय्या पर ही सोवे ॥ २१ ॥

नानुदेश्यं भुञ्जीत ॥ २२ ॥

अनुदेश्यं श्राद्धार्थं देवतार्थं वा उद्दिष्टं न भुञ्जीत ॥ २२ ॥

अनुवाद—श्राद्ध में या देवता के लिए अर्पित भोजन को न ग्रहण करे ॥ २२ ॥

तथा क्षारलवणमधुमांसानि ॥ २३ ॥

न भुञ्जीतेत्येव । "क्षारादीनि गृह्ये गतानि ॥ २३ ॥

अनुवाद—चटपटा पदार्थ, नमकीन वस्तु, मधु और मांस का भक्षण न करे ॥ २३ ॥

अदिवास्वापी ॥ २४ ॥

न दिवा शय्यान् ॥ २४ ॥

अनुवाद—दिन में शयन न करे ॥ २४ ॥

१. करणे प्रत्ययः इति क० पु०

२. आत्मदराति इति ख० पु०

३. प्रादिङ्गल्यं इति ख० पु०

४. पा० सू० ३. २. ११३

५. क्षारपदार्थः आप० घ० २. १५. ११. सूत्रे व्याख्यास्यते ।

अगन्धसेवो ॥ २५ ॥

चन्दनादीनि गन्धद्रव्याणि न सेवेत ॥ २५ ॥

अनुवाद्—गुगन्धित द्रव्यो का सेवन न करे ॥ २५ ॥

मैथुनं न चरेत् ॥ २६ ॥

उपचारिक्रिया केली स्पशो^१ भूषणवाससाम् ।

एकशय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गने तथा ॥

इत्यादेस्सर्वस्योपलक्षणं मैथुनग्रहणम् ॥ २६ ॥

अनुवाद्—सभी प्रकार के मैथुन सुखों का वर्जन करे ॥ २६ ॥

उत्सन्नश्लाघः ॥ २७ ॥

श्लाघा शोभा सा उत्सन्ना यस्य स उत्सन्नश्लाघः ॥ एवंभूतो भवेत् ।

^२भ्रक्षणदिना मुख्यादिकम् उज्ज्वलं न कुर्यात् इति ॥ २७ ॥

अनुवाद्—(गुगन्धित लेषों द्वारा) अपनी सुन्दरता धड़ाने की इच्छा न करे ॥ २७ ॥

अङ्गानि न प्रक्षालयेत् ॥ २८ ॥

^३धिना शिरसा सुखार्थमुष्णोदकादिना शरीरं न प्रक्षालयेत् ॥ २८ ॥

अनुवाद्—अपने सुख के लिए (उष्ण आदि जल से) अङ्गों को न धोवे ॥ २८ ॥

प्रक्षालयेत् त्वशुचिलिप्तानि^४ गुरोरसन्दर्शो ॥ २९ ॥

यानि तु मूत्रपुरीषाद्यशुचिलिप्तान्यङ्गानि तानि कामं^५ मृदाद्भिः प्रक्षालयेत् यावद्गन्धो लेपश्चापैति । तदपि गुरोरसन्दर्शो^६ यत्र स्थितं गुरुर्नपश्यति तत्र । आचार्यप्रकरणे गुरुग्रहणात् पित्रादीनामपि ग्रहणम् ॥ २९ ॥

अनुवाद्—किन्तु यदि शरीर के अंग अपवित्र वस्तुओं (पुत्र पुरीष आदि) से लिप्त हो तो (मिट्टी या जल से) किसी ऐसे स्थान में धोवे जहाँ गुरु उसे न देख सके ॥ २९ ॥

^७नाम्नु श्लाघमानः स्नायाद्यदि स्नायाद्दण्डवत् प्लवेत् ॥ ३० ॥

स्नाने प्राप्ते न श्लाघमानः स्नायात् । किं तु दण्डवत् प्लवेदित्युक्तम् । स्नानीयैर्मलापकर्षणं श्लाघाः क्रीडा वा जले । अपर आह—“अङ्गानि न प्रक्षा”

१. भूषणवाससी, इति. क० पु० २. मृदालकादिना इति क० पु०

३. स्नानसमये आमलकादिभिर्न धालयेत् । इति क० पु०

४. गुरोरसन्दर्शने इति क० पु० ५. मृदादिभिः इति ल० पु०

६. यत्र गुरुर्न पश्यति तत्र । इति ल० पु० ‘यत्र लिप्तं गुरुः’ इति ग० पु०

७. नाम्नु इति श्लाघमानस्नायादित्येतावदेव ल० पु० सूत्रम् । “अमार्द्रिरस्नायमानो न स्नायात् तेन तौ इत्यधामकरुषे” (गो० ब्रा० पू० १.२.) इति गोपथब्राह्मणम् ।

अगन्धसेवी ॥ २५ ॥

चन्दनादीनि गन्धद्रव्याणि न सेवेत ॥ २५ ॥

अनुवाद्—मुगन्धित द्रव्यो का सेवन न करे ॥ २५ ॥

मैथुनं न चरेत् ॥ २६ ॥

उपचारिक्रिया कैली मर्शो^३ भूषणवाससाम् ।

एकदाय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गने तथा ॥

इत्यादेस्सर्वस्योपलक्ष्यं मैथुनग्रहणम् ॥ २६ ॥

अनुवाद्—सभी प्रकार के मैथुन सुखों का वर्जन करे ॥ २६ ॥

उत्सन्नश्लाघः ॥ २७ ॥

श्लाघा शोभा सा उत्सन्ना यस्य स उत्सन्नश्लाघः ॥ एवंभूतो भवेत् ।

^३ब्रक्षणादिना मुखदिकम् उज्ज्वलं न कुर्यात् इति ॥ २७ ॥

अनुवाद्—(मुखगन्धित लेपो द्वारा) अपनी सुन्दरता बढ़ाने की इच्छा न करे ॥ २७ ॥

अङ्गानि न प्रक्षालयौत ॥ २८ ॥

^४विना शिरसा मुखार्थमुष्णोदकादिना शरीरं न प्रक्षालयेत् ॥ २८ ॥

अनुवाद्—अपने मुख के लिए (उष्ण आदि बह से) अङ्गों को न धोवे ॥ २८ ॥

प्रक्षालयौत त्वशुचिलिप्तानि^५ गुरोरसन्दर्शे ॥ २९ ॥

यानि तु मूत्रपुरीषाद्यशुचिलिप्तान्यङ्गानि तानि कामं^६ मृदाङ्गिः प्रक्षालयेत् यावद्गन्धो लेपश्चापैति । तदपि गुरोरसन्दर्शे^७ यत्र स्थितं गुरुर्नपश्यति तत्र । आचार्यप्रकरणे गुरुग्रहणात् पित्रादीनामपि ग्रहणम् ॥ २९ ॥

अनुवाद्—किन्तु यदि शरीर के अंग अपवित्र बस्तुओं (पुत्र-पुरीष आदि) से लिप्त हो तो (मिट्टी या जल से) किसी ऐसे स्थान में धोवे जहाँ गुरु उल्लेख न देख सकें ॥ २९ ॥

^५नापु श्लाघमानः स्नायाद्यदि स्नायाद्दण्डवत् प्लवेत् ॥ ३० ॥

स्नाने प्राप्ते न श्लाघमानः स्नायात् । किं तु दण्डवत् प्लवेदित्युक्तम् । स्नानोपैर्मलापकर्षणं श्लाघायाः क्रीडा या जले । अपर आह—‘अङ्गानि न प्रक्षो-

१. भूषणधातसी. इति. क० पु० २. मृत्कल्कादिना इति क० पु०

३. स्नानसमये आमलकादिभिर्न क्षापयेत् । इति क० पु०

४. गुरोरसन्दर्शने इति क० पु० ५. मृदाङ्गिः इति ख० पु०

६. यत्र गुरुर्न पर्यति तत्र । इति ख० पु० ‘यत्र स्थितं गुरुः’ इति ग० पु०

७. नापु इजाघमानरनायादित्येतावदेव ख० पु० सूत्रम् । ‘अपान्द्रिस्वस्वामानो न स्नायात् तेन तां श्लाघामवकथ्ये’ (गो० ब्रा० पू० १.२.) इति गोपयनाश्रयम् ।

लयीते' (सू० २८) त्यासमाद्यवर्तनान्त्वित्यस्नानस्य प्रतिषेधः । 'प्रक्षालयीत त्वशु-
चिलिप्तानो' (सू० २९) ति नैमित्तिकस्य विधिः । 'नाप्सु श्लाघमानः स्नाया'
(सू० ३०)दिति तत्रैव श्लाघाप्रतिषेध इति ॥ ३० ॥

अनुवाद्—बल में शरीर की शोभा बढ़ाने के ऊपर ध्यान देना हुआ (स्नानीय
लोगों) आदि से सफाई करते हुए या क्रीडा करते हुए) स्नान न करे । स्नान करे भी
तो केवल ढण्डे की तरह तैरे ॥ ३० ॥

जटिलः ॥ ३१ ॥

सर्वानिव केशान् जटां कृत्वा विभृयान् ॥ ३१ ॥

अनुवाद्—सभी केशों को जटा बँधकर धारण करे ॥ ३१ ॥

शिक्षाजटो वा वापयेदितरान् ॥ ३२ ॥

अथवा शिक्षामेव जटां कृत्वा इतरान् केशान् वापयेत् नापितेन ॥ ३२ ॥

अनुवाद्—अथवा शिखा को ही जटा बना कर धारण करे, शेष केशों को मुँहा
झाले ॥ ३२ ॥

मौञ्जो मेखला त्रिवृद्ब्राह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम् ॥ ३३ ॥

मुञ्जानां विकारो मौञ्जी । त्रिवृत् त्रिगुणा । एवम्भूता ब्राह्मणस्य मेखला
भवति । सा च शक्तिविषये शक्तौ सत्यां दक्षिणावृत्तानां प्रदक्षिणावृत्तानां कर्त-
व्या । तद्विचार्यै गुणभूतानामपि मुञ्जानामेवैतद्विदोषणम् ॥ ३३ ॥

अनुवाद्—ब्राह्मण की मेखला मुँज की होती है और तीन गुण वाली होती है यदि
संभव हो तो वे गुण दाहिनी ओर को बटे गए हों ॥ ३३ ॥

ज्या राजन्यस्य ॥ ३४ ॥

स्पष्टम् ॥ ३४ ॥

अनुवाद्—राजन्य बालक के लिए घनुष की ढोरी मेखला होती है ॥ ३४ ॥

मौञ्जी वाऽयोमिश्रा ॥ ३५ ॥

अथवा अयोमिश्रा क्वचिन्तु कालायसेन यद्वा मौञ्जी मेखला भवति राज-
न्यस्य ॥ ३५ ॥

अनु०—अथवा अयस् के लण्ड से मुक मुँज की मेखला भी हो सकती है ॥ ३५ ॥

भावीमूत्र वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

अधिरूपीयुः कन्वलप्रकृतिः कन्वलप्रकृतिः तत्सम्बन्धिनो ऊर्णा आत्रो तत्कृतं सूत्रं आर्षो-
सूत्रम् । सा मेखला वैश्यस्य भवति ॥ ३६ ॥

अनुवाद्—वैश्य बालक की मेखला ऊन का धागा होती है ॥ ३६ ॥

सैरी तामली वेत्येके ॥३७॥

सैरी सीरा बाह्योक्तरज्जुः । तामलो मूलोदसंज्ञको वृक्षः तस्य त्वचा प्रथिता तामली ॥ ३७ ॥

अनुवाद—अथवा बैली को जुएँ से बोड़ने वाली रस्सी (बोता) वैश्य को मेखटा हो सकती है अथवा तमाल की छाल से बटी गई रस्सी मेखला के रूप में प्रयोग की जा सकती है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है ॥ ३७ ॥

पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैयग्रोधस्कन्धजोऽवा^३ डग्रो

राजन्यस्य वादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य वाक्षो

दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति ॥३८॥

पालाशो दण्ड इत्यादि गृह्ये गतम् ॥ ३८ ॥

अनुवाद—ब्राह्मण का दण्ड पलाश का हो, क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध वृक्ष को नंचे की ओर निकलने वाली शाखा का हो तथा वैश्य ब्रह्मचारी का दण्ड बदर या वडुम्बर का हो । कुछ आचार्य बिना वर्ण के निर्देश के ब्रह्मचारी का दण्ड यहीच वृक्ष का विहित करते हैं ॥ ३८ ॥

वासः ॥३९॥

वस्यते कौपीनमाच्छाद्यते येन तद्वासः । तद्वस्यते ॥ ३९ ॥

अनुवाद—बल (कौपीन) धारण करे ॥ ३९ ॥

शाणीक्षीमाजिनानि ॥४०॥

शणस्य विकारः शाणी पटी । क्षुमा अत्सी तस्या विकारः क्षीमम् । स्वैतपट्टाल्यवासोविशेष इत्यन्ये । अजिनं यस्य कत्यचिन्मेध्यस्य पशोः । त्रिण्येतानि वर्णानुपूर्व्येण वासांसि ॥ ४० ॥

अनुवाद—वर्णों के क्रम के अनुसार कौपीन बल्ल सन का, अतलो का अथवा किसी पवित्र पशु का चर्म हो ॥ ४० ॥

कापायं चैके वल्लमुपदिशन्ति ॥४१॥

एके आचार्या यत्रं त्वधोधार्यमुपदिशन्ति । यत्रं कार्पासम् । तत्र कापायं कपायेण रक्तम् । ब्राह्मणस्येत्यर्थोऽत्रम्यते । इतरयोर्वक्ष्यमाणान्व्यान् ॥ ४१ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथममत्रने द्वितित्वा कण्डिका ॥ २ ॥

अनु०—कुछ आचार्य ब्राह्मण का अधो बल्ल कापाय रंग का विहित करते हैं ॥४१॥

—:—

१. तमालादण तमालसंज्ञो वृक्षः तस्य० इति ष० पु०

२. अत्राक्षुमः इति क० पु० ३. आप० ए० ११. १५०

माञ्जिण्डं राजन्यस्य ॥१॥

माञ्जिण्डया रक्तं माञ्जिण्डम् ॥ १ ॥

अनुवाद्—अत्रिय ब्रह्मचारी का बल मञ्जिठ से रंगा हुआ होवे ॥ १ ॥

हारिद्रं वैश्यस्य ॥ २ ॥

हरिद्रया रक्तं हारिद्रम् ॥ २ ॥

अनुवाद्—वैश्य का बल हल्दी से रंगा हुआ हो ॥ २ ॥

हारिणमैण्यं वा कृष्णं ब्राह्मणस्य ॥ ३ ॥

एतान्पुत्ररीचाणि । 'वस्ताजिन' मिति वक्ष्यमाणत्वात् इहाप्यलिनमिति गम्यते । 'अजिनमुत्तरमुत्तरये' त्युपनयने यदजिनमुक्तं धार्यं तद्वारिणं ब्राह्मणस्य; हरिणो मृगस्तस्य विकारः हारिणम् । ऐण्यं वा कृष्णम् । एणी मृगी तस्या विकार ऐण्यम् । 'एण्या डब्' द्विविधा एण्यः कृष्णाश्च गौराश्च । अतो विशेष्यते-कृष्णमैण्यमिति ॥ ३ ॥

अनुवाद्—ब्राह्मण द्वारा धारण किये जाने वाला चर्म हरिण का हो अथवा काले रंग की मृगी का चर्म हो ॥ ३ ॥

अस्मिन् पक्षे विशेषमाह—

कृष्णं चेदनुपस्तीर्णासनशायी स्यात् ॥ ४ ॥

कृष्णं चेद्विभूयात् न हारिणं ततस्त्वस्मिन्पुपस्तीर्णे नासौत, न च शयोत । अयं तावदर्धः । शब्दनिर्वाह^३ स्वधासनशायीत्यत्र कृतः ॥ ४ ॥

अनुवाद्—यदि काले रंग का चर्म धारण करे तो उसे बैठने या सोने के लिए भूमि पर न बिछावे ॥ ४ ॥

रौरवं राजन्यस्य ॥ ५ ॥

रुरुधिन्दुमान्मृगः ॥ ५ ॥

अनुवाद्—अत्रिय द्वारा धारण किये जाने वाला चर्म रुरुमृग (धन्वेबाले मृग) का हो ॥ ५ ॥

वस्ताजिनं वैश्यस्य ॥ ६ ॥

यतश्छागः ॥ ६ ॥

अनुवाद्—वैश्य का ऊपर पहनने वाला चर्म शकरे का होवे ॥ ६ ॥

आधिकं सार्वर्णिकम् ॥ ७ ॥

अधिकर्णायुः । स एवाऽऽधिकः । तस्य चर्माऽऽधिकं, तत्सर्वेषामेव वर्णानाम् । अस्य हारिणादिभिर्दिकल्पः ॥ ७ ॥

अ०—अथवा सभी वर्णों के लिए मेड़ का चर्म हो ॥ ७ ॥
कम्बलश्च ॥८॥

अयमप्याविक एव । प्राघरणमेव सर्वेषाम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—भोड़ने का बख भी सबके लिए मेड़ के ऊन का बना हो ॥ ८ ॥

‘कापायं चैके वखमुपदिशन्ती’ त्यारभ्य वासांस्यजिनानि च विहितानि ।
तत्र कामवशेन विशेषमाह—

ब्रह्म वृद्धिमिच्छन्तजिनान्येव वसीत, क्षत्रवृद्धिमिच्छन्

वस्त्राण्येव, उभयवृद्धिमिच्छन्नुभयमिति हि

‘ब्र’ह्मणम् ॥९॥

ब्रह्मवृद्धिः ब्राह्मणवृद्धिः क्षत्रियवृद्धिः ॥ ९ ॥

अनुवाद—ब्रह्मशक्ति की वृद्धि चाहने वाला केवल अजिन ही धारण करे । क्षत्रिय की शक्ति की वृद्धि चाहने वाला वल्लो को ही धारण करे । दोनों की वृद्धि चाहने वाला चर्म तथा वल्ल दोनों को धारण करे । ऐसा ब्राह्मण का बचन है ॥९॥

अथ स्वपक्षमाह—

:अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेत् ॥१०॥

उत्तरयुत्तरीयम् । तदीजिनमेव धारयेत् ॥ १० ॥

अनुवाद—किन्तु उत्तरीय के रूप में केवल चर्म ही धारण करे ॥ १० ॥

‘अनृततदर्शी ॥११॥

नृत्तं न पश्येत् ॥ ११ ॥

अनुवाद—चृत्य न देखे ॥ ११ ॥

सभाः समाजांश्चाऽगन्ता ॥१२॥

धूतादिस्थानं सभा । उत्सवादिषु समवायः समाजः । तासमासमा-
जांश्च अगन्ता ताच्छील्येन न गच्छेत् । यदृच्छया गमने न दोषः ॥ १२ ॥

अनुवाद—चूतादि की सभा में या उत्सव आदि की मीढ़-माड़ में न
जावे ॥ १२ ॥

१. अत्र गोपचब्राह्मणस्य प्रथमपाठकस्य द्वितीया कण्डिका द्रष्टव्या ।

२. इमे नियमा गोपथब्राह्मणे विहिताः “नोपस्थियाथो रथान्न गायत्री न नतंनो न स-
रणो न निष्ठोवेत् यदुपरिस्थापी भवत्यमीक्षणं निवासा बायन्ते, यद्गायत्री भवत्यमीक्षणं
भ्रातृन्दानं घावन्ते, यन्ततंनो भवत्यमीक्षणं प्रतान्निर्हन्ते, यत्सरणो भवत्यमीक्षणः
प्रभास्त्रीविशन्ते, यन्निष्ठोबहि मध्य एव वदात्यनो निष्ठोबहि” इति । गो० ब्रा० १. २. ७

अजनवादीशीलः ॥ १३ ॥

जनवादः परिवादः लोकवाक्ता वा, तच्छीलो न स्यात् ॥ १३ ॥
अनुवाद—परिवाद या लोकवाक्ता की आदत न डाले ॥ १३ ॥

रहशीलः ॥ १४ ॥

सति सम्भवे रहःशीलः स्यान् ॥ १४ ॥

अनुवाद—गर्भोर तथा एकान्तशील रहे ॥ १४ ॥

गुरोरुदाचारेष्वकर्ता स्वैरिक्कर्माणि ॥ १५ ॥

चेपु प्रदेशेषु गुरुरुदाचरति पौनःपुन्येन चरति तेषु स्वैरिक्कर्माणि मैत्रप्रसा-
धनादीनि न कुर्यात् ॥ १५ ॥

अनुवाद—बिन स्थानों पर गुरु प्रायः आते-जाते हों वहां अपने सुल का कोई
कार्य न करे ॥ १५ ॥

स्त्रीमर्यादिवदर्थसम्भाषी ॥ १६ ॥

स्त्रीभिस्सहं यावत्प्रयोजनं तावदेव सम्भाषेत । न प्रसक्तनुप्रसक्तमति-
चिरम् 'यलथान्द्रियप्राप्तो विद्वांसमपि कर्षती'ति । अतिवालाभिः रतिवृद्धाभिश्च
न दोषः ॥ १६ ॥

अनुवाद—स्त्रियों से उतना ही बातचीत करे जितना प्रयोजन हो ।

टिप्पणी—हरदत्त की ध्याख्या के अनुसार अत्यन्त अल्पायु तथा अत्यन्त वृद्धा के
साथ वार्तालाप में दोष नहीं है ॥ १६ ॥

मृदुः ॥ १७ ॥

क्षमावाच्य ॥ १७ ॥

अनुवाद—क्षमाशील हो ॥ १७ ॥

शान्तः ॥ १८ ॥

इन्द्रियाणामसद्विषये प्रवृत्त्यभावः शमः तद्वान् शान्तः ॥ १८ ॥

अनुवाद—इन्द्रियों को अनुचित विषयों से नियन्त्रित रखे ॥ १८ ॥

दान्तः ॥ १९ ॥

विहितेषु कर्मवाला निर्दमः । तद्वान् दान्तः ॥ १९ ॥

अनुवाद—अपने कर्तव्यकाल में उत्तर रहे ॥ १९ ॥

ह्योमान् ॥ २० ॥

हीलंजा तद्वान् ॥ २० ॥

अनुवाद—लज्जाशील हो ॥ २० ॥

१. यावत्प्रयोजनमेव. २. मनु. सूत्र. २. २१५.

दृढधृतिः ॥ २१ ॥

लब्धे नष्टे मृते वा घृतावेवावस्थितः स्यात् न हृष्येत् न वाविषीदेत् ॥ २१ ॥
अनुवाद—धैर्यं या आत्मसंयम से युक्त हो ॥ २१ ॥

अग्लौस्तुः ॥ २२ ॥

ब्रह्माहसम्पन्नः १ 'ग्लौजिस्थश्च ग्लुः' । अत्रानुरवारः छान्दसोपपाठो वा ॥
अनुवाद—उत्साहसम्पन्न हो ॥ २२ ॥

अक्रोधनः ॥ २३ ॥

न कर्मैचिदपि कुर्येत् ॥ २३ ॥

अनुवाद—किसी पर भी क्रोध न करे ॥ २३ ॥

अनसूयुः ॥ २४ ॥

पराम्भुदयानुसन्तापः असूया । तच्छ्रीलो न स्यात् ॥ २४ ॥

अनुवाद—दूसरे के अभ्युदय पर बलने वाला न होवे ॥ २४ ॥

सर्वं लाभमाहरन् गुरवे सायं प्रातरमत्रेण भिक्षाचर्यं चरेद्भि-
क्षमाणोऽप्यत्रापपात्रेभ्योऽभिशास्ताच्च ॥ २५ ॥

अपपात्राः प्रतिश्लोमजा रजकादयः । अपगतानि हि तेषां पात्राणि पाका-
द्यर्थानि चतुर्भिर्वर्णैस्सह । अभिशस्तान् वक्ष्यति 'अथ पतनीयानी' त्यादिना ।
तानुभयान् वर्जयित्वा अन्यत्र भिक्षेते । तत्र भिक्षमाणस्सर्वं लाभं यच्च यावच्च
लब्धं गोहिरण्यादि तत्सर्वं ममायया गुरवे आहरेत् । एवमहरहः कुर्वन् सायं
प्रातरमत्रेण न हस्तादिना भिक्षाचर्यं भिक्षाचरणं चरेत् कुर्यात् । 'सायं प्रात'
रिति वचनान्न सायं गृहीतेन प्रातराशः, नापि प्रातर्गृहीतेन सायमाशः ॥ २५ ॥

अनुवाद—सभी प्रात वस्तुओं को गुरु के पास लावे, भिक्षापात्र लेकरप्रातः और
सायं भिक्षादन करे, आयों के सम्बन्ध के लिए अयोग्य निम्नवर्ण के पुरुषों और
अभिशातों को छोड़कर कहीं से भिक्षा ग्रहण कर सकता है ॥ २५ ॥

अथ भिक्षाप्रत्याख्यानं निन्दितुं ब्राह्मणमाकुर्यते—

ओणां प्रत्याचक्षानां समाहितो ब्रह्मचारोऽपि दत्तं हुतं प्रजां
पशून् ब्रह्मवचंसमन्नाद्यं वृद्धे । तस्माद्ब्रह्मवै ब्रह्मचारिसङ्घं चरन्तं
न प्रत्याचक्षीतापि हैह्वेवंविध एवंप्रतः स्यादिति हि ब्राह्मणम् ॥ २६ ॥

१. पा. सू. २. २. १३९. २. अमाययेति. नारिक क. पु. सर्वमादाय इति ग. पु.

२. ते देवा अनुवन् ब्राह्मणो वा अयं ब्रह्मचर्यं चरिष्यति ब्रह्मसमै भिक्षा इति गृह-
पतिव्रते ब्रह्मचारी गृहपत्या इति किमस्या वृद्धीताददना इति, दृष्टान्तमुक्तवद्रविणमवद-

व्याख्यातः समाहितः । समाहितो ब्रह्मचारी याभिः स्त्रीभिः भिक्षमाणः प्रत्याख्यायते तासां प्रत्याचक्षणानां स्त्रीणामिष्टं यागैरर्जितं धर्मं, वृद्धके आच्छिन्नन्ति. यस्मादेवं तस्मान् ब्रह्मचारिसङ्घं चरन्तं न प्रत्याचक्षीत । उ ह वा इति निपाता वाक्यालङ्कारार्थाः । अपिशब्दी कदाचिदित्येतमर्थं द्योतयतः । एषु सङ्घीभूतेषु ब्रह्मचारिषु कदाचिदेवंविधः समाहित एवंव्रतः 'अथ ब्रह्मचर्याविधि' रित्यारभ्य यान्युक्तानि तद्वान् ब्रह्मचारी स्यात् ।^१ सम्भावने लिङ् । सम्भवेत् । तस्मान् प्रत्याचक्षीतेत्येवं ब्राह्मणं भवतीति ॥ २६ ॥

अनुवाद-एक ब्राह्मण में, कहा गया है: समाहित ब्रह्मचारी भिक्षा न देने वाली स्त्रियों से दान, हवन से उत्पन्न पुण्य को, उनकी प्रथा, पशुओं, उनके कुलों की विद्या को, अन्न को छीन लेता है । अतएव ब्रह्मचारियों के समूह को भिक्षा दिये बिना वापस न करे, क्योंकि उनमें उस प्रकार का व्रत पालन करने वाला ब्रह्मचारी भी हो सकता है ॥ २६ ॥

नानुमानेन भैक्षमुच्छिष्टं दृष्टश्रुताभ्यां तु ॥ २७ ॥

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । न तल्लिङ्गाभासेनोच्छिष्टं मन्तव्यम् । किं तु दृष्टश्रुताभ्यामेव । दृष्टमात्मनः प्रत्यक्षम् । श्रुतमात्रोपदेशः । ताभ्यामेव तदुच्छिष्टमवगन्तव्यम् । अयमंशः प्रातानुवादोऽपूर्वमंशं विधातुम् । यथा^२ 'नानुवप' करोति, अपि वोपांधनुवपट्कुर्यात्' इति ॥ २७ ॥

अनुवाद-भिक्षा को देखकर ही उसे अनुमान से उच्छिष्ट नहीं समझ लेना चाहिए अर्थात् देख कर अत व्यक्ति के उपदेश से ही उसे उच्छिष्ट समझना चाहिए ॥ २७ ॥

^१भवत्पूर्व्या ब्राह्मणो भिक्षेत ॥ २८ ॥

ब्राह्मणो ब्रह्मचारी भवत्पूर्व्या याचा भिक्षेत भिक्षां याचेत- 'भवति भिक्षां देही'ति ॥ २८ ॥

अनु०-ब्राह्मणब्रह्मचारी भिक्षा मांगते समय 'भवति' का प्रयोग पहले करे ॥२८॥

भवन्मध्याया राजन्यः ॥ २९ ॥

भिक्षां भवति देही'ति राजन्यो भिक्षेत् ॥ २९ ॥

न्यायित्ति, तस्मात् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां ग्रहिणोमामेयुरिष्टापूर्तेसुकृतद्रविणमवदन्मया दिति' इति गोपथब्राह्मणम् (गो० ब्रा० १. २. ६.)

१. सम्भावनायां लिङ्, इति. ख० पु०

२. वाय. भौ. १३. १४. ६. १०. सोमयागे पान्तीवतग्रहे मातस्याप्यनुवपट्कारनिषेधस्य उपांधनुवपट्कारविधानार्थं नानुवपट्करोतीत्यनुवादः ।

३. इतः सूत्रप्रथमैकिकृत ग० पुस्तके ।

अनुवाद—क्षत्रिय मध्य में 'भवति' शब्द का प्रयोग करे ॥ २९ ॥

भवदन्त्यया वैश्यः ॥ ३० ॥

‘भिक्षां देहो भवती’ति ॥ ३० ॥

अनुवाद—वैश्य अन्त में ‘भवति’ संबोधन का प्रयोग करे ॥ ३० ॥

सर्वं लाभमाहरन् गुरुव, इत्युक्तम् । अथाऽऽहृतं किं कर्तव्यमित्यत आह—
तत्समाहृत्योपनिधायऽचार्याय प्रब्रूयात् ३१ ॥

तत् अर्थं समाहृत्य समीपे निधायऽचार्याय प्रब्रूयात्—इदमित्यमाहृतमिति ३१
अनुवाद—भिक्षा लाकर गुरु के समीप रखकर उनसे निवेदन करे ॥ ३१ ॥

तेन प्रदिष्टं भुञ्जीत ॥ ३२ ॥

तेन ह्याचार्येण प्रदिष्टं सौम्य त्वमेव भुङ्क्ष्वेत्युक्तं भुञ्जीत ॥ ३२ ॥

अनुवाद— उनके द्वारा आदेश पाने पर भोजन करे ॥ ३२ ॥

विप्रवासे गुरोराचार्यकुलाय ॥ ३३ ॥

यदि गुरुर्विप्रोपितोऽसन्निहितः स्यात् तत् आचार्यशुलायाऽऽचार्याय यद्युलं
भार्यापुत्रादि तस्मै ब्रूयात् । तेन प्रदिष्टं भुञ्जीत ॥ ३३ ॥

अनुवाद—यदि गुरु कहीं बाहर गये हों तो उनके बुरु के सदस्य (पत्नी या पुत्र)
को प्राप्त भिक्षा अर्पित करे ॥ ३३ ॥

तैर्विप्रवासेऽन्येभ्योऽपि श्रोत्रियेभ्यः ॥ ३४ ॥

तैस्त्वकुल्यैस्सह गुरोः विप्रवासे अन्येभ्योऽपि “श्रोत्रियेभ्यः प्रब्रूयात् ।
तैः प्रदिष्टं भुञ्जीतेति विपरिणामेनान्वयः । गौतमोऽप्याह “असन्निधौ तद्भा-
र्यापुत्रसन्नक्षचारिभ्यः” इति ॥ ३४ ॥

अनुवाद—यदि गुरु अपने परिवार के सदस्योंके साथ अन्यत्र गये हों तो दूसरे
श्रोत्रियों को अर्पित करे ॥ ३४ ॥

नाऽऽत्मप्रयोजनश्चरेत् ॥ ३५ ॥

आत्मा प्रयोजनं प्रयोजकः दस्य स आत्मप्रयोजनः । एवंभूतो भिक्षां
न चरेत् आत्मार्यं न चरोदित्यर्थः । अस्य प्रयोजनं यदा श्रोत्रिया अपि
न लभ्यन्ते तदा^३ ‘प्रोपितो भिक्षादन्नी कृत्वा भुञ्जीते’ति वक्ष्यामाणमप्रोपितेऽपि
यथा स्यादिति ॥ ३५ ॥

अनुवाद—केवल अपने लिए भिक्षाचरण न करे ।

१. श्रोत्रियदार्थः आप. घ. २. ४. ६. सूत्रेद्रष्टव्यः । २. गौ० प० २. ४०.

३. आप० ५० १. ३. ४२

टिप्पणी—व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है कि यदि श्रोत्रिय भी उपरब्ध न हो तो अग्नि में भिक्षा का अंश अर्पित करके भोजन करे ॥३५॥

भुक्त्वा स्वयममत्रं प्रक्षालयीत् ॥ ३६ ॥

अमत्रं भोजनपात्रम्, भुक्त्विति सन्निधानात् । तत्स्वयमंत्रं प्रक्षालयति प्रक्षालयेत् । भिक्षापात्रस्य त्वन्यत्र प्रक्षालने न दोषः । उभयोरपि पात्रयोर्भ्रंशणमित्यन्ये ॥ ३६ ॥

अनुषाद्—भोजन करने के बाद दस्य ही भोजनपात्र को साफ करे ॥३६॥

न चोच्छिष्टं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

यावच्छुक्नोति भोक्तुं तावदेव भोजनपात्रे कृत्वा भुञ्जीत् ॥ ३७ ॥

अः—उच्छिष्ट न छोड़े । बितना भोजन कर सके उतना ही ग्रहण करे ॥३७॥

अशक्तौ भूमौ निखनेत् ॥ ३८ ॥

भोजने प्रयत्नो यदि तावद्वोक्तुं न शक्युयात् तदा तद्वन्नं भूमौ निखनेत् ॥ ३८ ॥

अनुषाद्—यदि अपने भोजनपात्र में लिये गये सम्पूर्ण भोजन को न खा सके तो बचे हुए अंश को भूमि में गाड़ दे ॥३८॥

अप्सु वा प्रवेशयेत् ॥ ३९ ॥

अप्सु प्रक्षिपेत् ॥ ३९ ॥

अनुषाद्—अथवा उसे बल में फेंक दे ॥३९॥

अर्याय वा पर्यवदध्यात् ॥ ४० ॥

आर्यैर्द्विषणिकः तस्मै अनुपनीताय पर्यवदध्यात् सर्वमेकस्मिन्पात्रेऽव्यधाय तत्समीपे भूमौ स्थापयेत् ॥ ४० ॥

अनुषाद्—अथवा उसे एक एक पात्र में रखकर तीन बर्णों के कित्ती व्यक्ति के पास, कितका उपनयन न हुआ हो, रख दे ॥४०॥

अन्तर्विने वा शूद्राय ॥ ४१ ॥

अन्तर्धानसन्तर्धिः सऽप्यर्पाति । श्रोत्राद्विवाद्रितिः । अन्तर्धी दासः । अन्तर्हितं हि तस्य शूद्रत्वम्, आशौचेषु स्वानितुल्यत्वात् । प्रकरणादाचार्य-स्येति गम्यते । आचार्यद्रासाय वा शूद्राय पर्यवदध्यात् ॥ ४१ ॥

अनुषाद्—अथवा आचार्य के दास शूद्र के समीप रख दे ॥४१॥

प्रोषितो भैक्ष्यादनौ कृत्वा भुञ्जीत् ॥ ४२ ॥

यदि शिष्य आचार्यार्थमात्मार्थं वा प्रोपितः स्यात् तदा भैक्षान् किञ्चिद्वा-
दायान्तौ कृत्वा प्रक्षिप्य शेषं भुञ्जीत श्रोत्रियाणां सद्भावे असद्भावे च । 'अन्ये-
भ्योऽपि श्रोत्रियेभ्यः' इत्येतन्न भवति । यदि स्यात्तत्रैवायं ब्रूयात् 'तद्भावे-
ऽन्तौ कृत्वा भुञ्जीतेऽस्मि । यद्यपि तत्राचार्यस्य प्रवासः प्रकृतः तथापि न्याय-
साम्याच्छिष्यस्यापि विप्रवासे भविष्यति ॥ ४२ ॥

अनुवाद—यदि शिष्य अपने कार्य से या गुरु के कार्य से यात्रा पर हो तो भिक्षा
में प्रातः अन्न का अंश अग्नि हवन करके भोजन करे ।

टिप्पणी—यह नियम उस समय भी लागू होता है जब श्रोत्रिय मो न मिले ।
अग्नि ब्राह्मण वर्ण का देवता है अतः वह गुरु का स्थान ग्रहण करता है ॥४२॥

अथ ब्रह्मचारिणो यज्ञं विधातुं हविरादीनि सम्पादयति—

भैक्षं हविषा संस्तुतं तत्राऽऽचार्यो देवतार्थे ॥ ४३ ॥

भैक्षं हविष्येन संस्तुतं कीर्तितम् । तत्र तमिन् हविषि आचार्यो देवतार्थं
देवताकार्ये तत्प्रीत्यर्थत्वात्तस्य ॥ ४३ ॥

अनुवाद—भिक्षा को यज्ञीय अन्न कहा गया है और उसके लिए गुरु
देयता है ॥४३॥

आहवनीयार्थे च ॥ ४४ ॥

तस्य जाठराग्नौ ह्यमानत्वात् ॥ ४४ ॥

अनुवाद—आचार्य आहवनीय अग्नि का स्थान ग्रहण करता है । (मानो उसकी
जाठराग्नि में हवन ही किया जाता है) ॥४४॥

तं भोजयित्वा ॥ ४५ ॥

इति प्रथमप्रश्ने तृतीया कण्डिका ।

अनुवाद—उसे भिक्षा का एक अंश खिलाकर ॥४५॥

—१०—

यदुच्छिष्टं प्राश्नाति ॥ १ ॥

अनुवादेषु सर्वत्र विधिः कल्प्यते । तं भोजयेत् । भोजयित्वा तस्योच्छिष्टं
प्राश्नोयात् प्राश्नाति । अकारोऽपाठश्छन्दसो वा, 'शादि'ति सुयप्रति-
पेधात् ॥ ४५ ॥ १ ॥

अनुवाद—(गुरु को रिकाने के बाद) जो उच्छिष्ट बचे उसका भोजन करे ॥१॥

हविश्छिष्टमेव तत् ॥ २ ॥

इडाभक्षणादिरथानीयमित्यर्थः ॥ २ ॥

१. इत्येतत्तत्र न भवति. इति ख० पु०

श्रुतिर्हि वलीयस्यानुमानिकादाचारात् ॥ ८ ॥

अनुमानाय प्रभवतोत्यानुमानिकः । आचाराद्धि श्रुतिः स्मृतिर्वाऽनुमीयते । तस्मादानुमानिकादाचारात्प्रत्यक्षश्रुतिर्वलीयसी । तद्विरोधे तु नानुमानुं शक्यते, 'अनुमानमवाधितम्' इति न्यायात् । एवं च ब्रुवता ब्रह्मचरिणः क्षारलवणदिप्रतिषेधः प्रत्यक्षब्राह्मणमूल इति दर्शितं भवति । यद्यपि क्षारादिप्रतिषेधश्रुतेरुच्छिद्यतिरिक्तो विषयः सम्भवति तथापि सङ्कोचोऽपि तस्या अविशेषप्रवृत्ताया अनुमानिकादाचारादयुक्तः ॥ ८ ॥

अ०—श्रुति का नियम प्रचलित आचार को अपेक्षा अधिक प्रामाणिक शोता है, जिस आचार से श्रुति के किसी अंश का अनुमान किया गया है ।

टिप्पणी—अनुमानिक का अर्थ है, अनुमानाय प्रभवति इति अनुमानिकः । श्रुति या स्मृति के किसी अंश के अतिरिक्त का अनुमान आचार से हो किया जाता है । किसी ऐसे भुति या स्मृति का अनुमान नहीं किया जा सकता जो आचार के विपरीत है क्योंकि उस स्थिति में अनुमान प्रत्यक्ष का ही विरोधी हो जायगा । आपस्तम्ब का प्रयोजन यही है कि क्षारलवण आदि के प्रतिषेध का नियम ब्राह्मण ग्रन्थ में है ॥८॥

ननु परस्परविरुद्धा अपि श्रुतय उपलभ्यन्ते? 'गृह्यति, न गृह्यतीति । तत्किमाचारात् सङ्कोचिका श्रुतिर्नानुमीयते? अत आह—

दृश्यते चापि प्रवृत्तिकारणम् ॥ ९ ॥

स्यादेव यद्दृश्यमाचारोऽगृह्यमाणकारणः स्यात् । गृह्यते तु तत्र कारणम् ॥९॥ अनुवाद—इस नियम के विषय में, इस प्रकार को प्रवृत्ति कारण दिखाई पड़ती है ।

टिप्पणी—यद्यपि जिस नियम के अन्तर्गत क्षारलवणमधुमांस का वर्जन किया गया है वह उन्हीं का निर्देश करता है जो उच्छिद्य नहीं हैं, तथापि आचार के आधार पर यह कहना गलत होगा। कि इस नियम को उच्छिद्य के क्षारलवणादि के विषय में नहीं समझना चाहिए । इस प्रकार के श्रुति का अनुमान आचार के विपरीत होगा । उपर्युक्त कथन भी तभी ठीक होता जब निषेध करने का कोई कारण नहीं होता । किन्तु निषेध के लिए कारण है और वह है प्रवृत्ति ॥९॥

१. अनुमानयुधित इति न्यायात्, इति. क० पु०
- २ अतिरात्रे पौडशिनं गृह्यति इति भूतिम्यामेकस्मिन्नेवातिरात्रसंस्थाके ज्वं िडोमे पौडशिसंशस्य ग्रहणस्य ग्रहणाग्रहणयोः परस्परविरुद्धयोर्विधानात् तयोरेपि भुक्तयोः परस्परविरोधादिति भावः । उल्लेखलाघार उपसंज्ञेचनवान् पात्रविधेयो मरुः । तदिरुद्धनिमित्तो मरुविरोपपन्नोऽङ्गी । तस्य सोमरसेन पूर्णं ग्रहणम् ।

किं तत् ?

प्रीतिद्वयुपलभ्यते ॥ १० ॥

क्षारादिभोजने भुज्जानस्य प्रीतिर्भवति । ततश्च यत्र प्रीत्युपलब्धिः प्रयुक्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति । तदनुवर्तमाना नरकाय राध्यतीति न्यायाच्च संकोचिका श्रुतिरनुमीयते इति ॥ १० ॥

अनुवाद—क्यांकि उपर्युक्त निषिद्ध वस्तुओं के भोजन से सुख का अनुभव होता है ।

टिप्पणी—इस सूत्र में पिछले सूत्र में उल्लिखित निषेध का कारण प्रदर्शित किया गया है । और जिस आचार से सुख या प्रीति का प्रयोजन सिद्ध होता है उसे प्रामाणिकता प्रदान करने वालों कोई श्रुति नहीं है ॥१०॥

पितृज्येष्ठस्य च भ्रातृश्छिद्यं भोक्तव्यम् ॥ ११ ॥

‘स्पष्टम् ॥ १ ॥

अनुवाद—पिता और बड़े भाई द्वारा छोड़े गये उच्छिद्य भोजन को ग्रहण किया जा सकता है ॥११॥

धर्मविप्रतिपत्तावभोज्यम् ॥ १२ ॥

यदि तयोर्धर्मोद्विप्रतिपत्तिरपरायो भवति ततो न भोज्यम् । यद्वा भुज्जानस्य ब्रह्मचारिणो धर्मो विप्रतिरोधो भवति मधुमांसादिभिश्चान्तेन ततो न भोज्यमिति ॥ १२ ॥

अनुवाद—यदि उनका आचरण धर्म के विपरीत हो तो उनका उच्छिद्य भोजन अमोज्य होता है ॥१२॥

टिप्पणी—रसकी ऐसी भी व्याख्या हो सकती है कि यदि उस उच्छिद्य भोजन से धर्म की हानि होती हो तो उसे न खाए ॥१२॥

सायं प्रातरदृक्कुम्भमाहरेत् ॥ १३ ॥

आचार्यस्य न्नानपानार्थम् ॥ १३ ॥

अनुवाद—सायंकाल और प्रातःकाल अपने गुरु के लिये पड़े में काल हे आदि ॥१३॥

(२) सदाऽरण्यादेधानाहृत्याऽघो निदध्यात् ॥ १४ ॥

सदा प्रसहस्मरण्यात् न पित्रादिगृहात् एषात् काष्ठानि अचार्यगृहे पाकाद्यर्थमाहरेत् अहृत्य चाऽघो निदध्यात् अघोनिधानमाचार्यगृहादिषु वात्ये

१. लघोऽर्थ. इति० ग० ५०.

२. "वसमात् ब्रह्मचार्यहरहसमिध आहृत्य सायं प्रातरग्नि परिचरेत्, नोपशुंरसाद-
देत् अथः प्रतिघमयेत्" (गी. १. २. ३.) इति गोपयब्रह्मणम् ॥ १५

३ आ० ध०

पतनशङ्कया । अपर आह—आत्मनस्समिदाधानार्थं^१ मेधोहरणमिति । उक्तं गृह्ये—^२‘एवमन्यरिमन्त्रपि सदाऽऽरण्यादेधानाहृत्य । इति । तदनुवादेनाधोनिधानं विधीयते दृष्टार्थमदृष्टादृष्टार्थं वेति ॥ १४ ॥

अनुवाद—प्रतिदिन वन से ईंधन लाकर आचार्य के घर में नीचे रखे ।

टिप्पणी—नीचे रखने का कारण यह हो सकता है कि कहीं आचार्य के यहाँ छोटे बच्चों के ऊपर न गिर जाय । कुछ आचार्यों का मत है कि शिष्य द्वारा लाया गया ईंधन गुरु अपने काम में न लावे, अपितु शिष्य के दैनिक अग्निफल के लिए ही उसका प्रयोग हो । गृह्यसूत्र में दैनिक अग्निफल का विधान किया गया है ॥ १४ ॥

नास्तमिते समिद्धारो गच्छेत् ॥ १५ ॥

अस्तमित आदित्ये समिध आहर्तुं न गच्छेत्; चोरव्याघ्रादिसम्भवान् ।
‘समिद्धार इति’^३ ‘अणु कर्मणि चे’ ति तुसर्थेऽणुप्रत्ययः ॥ १५ ॥

अनुवाद—सूर्य के अस्त हो जाने पर समिध लाने के लिए न जावे ॥ १५ ॥

अग्निमिध्वा परिसमूह्य समिध आदध्यात्सायंप्रातर्पथोपदेशम् ॥ १६ ॥

परिसमूहनं परितो मार्जन्म् । विप्रकीर्णस्थाने रेवोकरणमित्यन्वये ।
यथोपदेशं यथा गृह्य उक्तं तथा समिध आदध्यात् । गृह्ये विहितमपि समिदाधानं विधीयते सर्वाचरणार्थम् । सायं प्रातरित्यादिकाम् विशेषान् वक्ष्यामीति च ॥ १६ ॥

अनुवाद—अग्नि बलाकर, उसके चारो ओर की भूमि साफ करके, गृह्यसूत्र में उक्त विधि से सायं-प्रातः समिधों का आधान करे ॥ १६ ॥

सायमेवाऽग्निपूजेत्येके ॥ १७ ॥

एके आचार्यास्सायमेवाग्निपूजा कार्या, न प्रातरिति मन्यन्ते ॥ १७ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्यों का मत है कि अग्नि की पूजा केवल सायंकाल करनी चाहिए ॥ १७ ॥

समिद्धमर्गिन पाणिना परिसमूहेन्न समूह्न्या ॥ १८ ॥

सामिदाधाने समिद्धमर्गिन पाणिनैव परिसमूहेत्, न समूह्न्या । समूह्नो सम्मार्जनी दर्भनिर्मिता वेदाकृतिः, आचारात् ॥ १८ ॥

अनुवाद—अग्नि की बलाकार, बलती अग्नि के चारों ओर भूमि शय से साफ करे, समूहनी (दर्भ की मार्जनी) से न साफ करे ॥ १८ ॥

प्राक्तनु यायाकामी १९ ॥

१. इष्माहरणं इति क० ख० पु०

२. पा० सू० ३. ३. १२.

२. आप० पु० ११. २२.

४. राष्ट्रीकरणमित्यन्वे इति ख० पु०

टिप्पणी—यद्यपि पहले यह नियम कहा जा चुका है कि दिन में न सोवे । इस सूत्र से यह विविक्षित है कि रात्रि को भी जब तक गुरु बगो हुए ही तब तक न सोवे ॥ २२ ॥

अथाऽहरहराचार्यं गोपायेद्धर्मार्थयुक्तैः कर्मभिः ॥ २३ ॥

अथ स्वप्नस्य प्रकृतत्वात् स्वप्नान्तरं ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेत्यर्थः । अहरहः नित्यमाचार्यं गोपायेत् रक्षेत् । किं दण्डादि गृहीत्वा ? नेत्याह—धर्मार्थयुक्तैः कर्मभिः । धर्मयुक्तानि कर्मणि समित्कृत्यपुण्यहरणादीनि, अर्थयुक्तानि 'शुभघासाहरणादीनि ॥ २३ ॥

जगने के बाद प्रतिदिन धर्मार्थ कर्मों से गुरु की रखा करे अर्थात् सहायता करे । टिप्पणी—धर्मार्थ कर्म से तात्पर्य है समित्कृत्यपुण्यहरणादि ॥ २३ ॥

(२) स गुप्त्वा संविशत् ब्रूया 'द्धर्मगोपायमाजुगुपमह, मिति ॥२४॥

सः ब्राह्मचारी धर्मार्थयुक्तैः कर्मभिर्यावदुत्थानात् यावदस्य संवेशनात् एवमाचार्यं गुप्त्वा संविशन् शयनं भजन् 'धर्मगोपायमाजुगुपमह' मिति मन्त्रं ब्रूयात् । धर्मं गोपायतीति धर्मगोपायः आचार्यः तमहमाजुगुपमाभिमुख्येन रक्षितवानस्मि, इदानीं तु संविशामीति मन्त्रार्थः ।

अपर आह—हे धर्म मां गोपाय रक्ष यस्मादहं आजुगुपमहमाचार्यमेतावन्तं कालमिति ॥ २४ ॥

अनुवाद—इस प्रकार गुरु की सहायता करने के बाद शयन करने के लिए जाते समय धर्मगोपायमाजुगुपमहम्, मन्त्र कहे ।

टिप्पणी—धर्मगोपाय-धर्म की रक्षा करने वाला, गुरु । इतकी दूसरी व्याख्या इस प्रकार की जाती है, हे धर्म, मेरी रक्षा करो, मैंने गुरु की रक्षा की है ॥२४॥

प्रमादादाचार्यस्य बुद्धिपूर्वं वा नियमातिक्रमं रहसि बोधयेत् ॥२५॥

प्रमादोऽनवधानम् । प्रमादात् बुद्धिपूर्वं य अचार्यस्य वा नियमातिक्रमत् रहसि बोधयेत् । इत्थमयं नियमः पूज्यपादं रतिक्रम्यते इति ॥ २५ ॥

अनुवाद—यदि गुरु बानबूझ कर अथवा प्रमाद से नियम का उल्लंघन करे तो उसके विषय में एकान्त में ध्यान दिलावे ॥ २५ ॥

अनिवृत्तौ स्वयं कर्मणियाारभेत ॥ २६ ॥

१. एथसां हरणादीनि इति घ० पु०

२. "स यदहरराचार्यं कुलेऽनुष्ठते सोऽनुष्ठाय ब्रूयात्-धर्मगुप्तो मा गोपायेति धर्मो हेनं गुप्तो गोपायेति" इति गोपयब्राह्मणम् (शो. ब्रा १. २. ४.)

३. न्याय्यादुत्थानान्याभ्याश्च संवेगनात्, इति क० ल० पु० अःयायात्...दन्या-व्याध... इति. इ० पु०

४. यावदुपास एषार्यं मन्यः ।

यदि बोधितोऽप्याचार्यस्ततो न निवर्तते, ततः स्वयमेव तस्य कर्तव्यानि ब्रह्मयज्ञादीनि कर्माण्यारभते कुर्यात् ॥ २६ ॥

अनुवाद—यदि गुरु नियम के अतिरुमण से घ्यान दिलाये जाने पर भी विरत नहीं होता, तो ब्रह्मचारी स्वयं ही उन कर्मों को करे जो गुरु के कर्तव्य होते हैं ॥२६॥ निवर्तयेद्वा ॥ २७

प्रसह्य वा स्वयं निवर्तयेत् । पित्रादिभिर्वा निवर्तयेत् ॥ २७ ॥

अनुवाद—अथवा निवर्तन करे ।

टिप्पणी—इसका यह भी अर्थ ल्याया गया है कि वह अपने गुरु को बला बाय ॥ २७ ॥

अथ यः पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी तमाहुर्न स्वपितीति ॥ २८ ॥

यः पूर्वमाचार्यादुत्तिष्ठति प्रतियुध्यते । जघन्यशब्दः पञ्चादर्थे । जघन्यश्च संशिति, तं ब्रह्मचारिणं न स्वपितीति धर्मज्ञा आहुः । प्रयोजनमुपनयने 'मा सुपुण्या' इति संशासनस्यायमर्थः' न स्वापस्यात्यन्ताभाव इति । अथशब्दश्च चाक्योपक्रमे ॥ २८ ॥

अनुवाद—जो आचार्य से पहले उठता है और आचार्य के सोने के बाद सोता है उस ब्रह्मचारी के विषय में वर्मश कहते हैं कि वह सोता नहीं है ॥ २८ ॥

स य एवं प्राणहितात्मा ब्रह्मचार्यत्रैवास्य सर्वाणि कर्माणि फलवन्त्य-वासानि भवन्ति यान्यपि गृहमेधे ॥ २९ ॥

'आचार्याधीनः स्या' दित्यारभ्य यस्य नियमा उक्ताः, स ब्रह्मचारी, एव-मुक्तेन प्रकारेण, प्राणिहितात्मा प्रकर्षेण निहित आचार्यकुले स्थापित आत्मा येन स तथोक्तः । प्रकर्षञ्च 'आत्मनस्तत्रैव, शरीरन्यासः । वक्ष्यति 'आचार्यकुले शरीरन्यासः' इति । अस्यैवंविधस्य ब्रह्मचारिणः अत्रैव ब्रह्मचर्याश्रमे सर्वाणि फलवन्ति ज्योतिष्टोमादौनि कर्माण्यवाप्तानि भवन्ति । तस्फलावाप्तिरेव तदवाप्तिः । यान्यपि कर्माणि गृहमेधे गृह्यशास्त्रे विवाहाद्यष्टकान्तानि, तान्य-वाप्तानि भवन्ति । तदेवं नैष्ठिकब्रह्मचारिविषयमिदं सूत्रम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—जो ब्रह्मचारी इस प्रकार से अपने मन को आचार्य के कुल में ही लगाता है, वह (ब्रह्मचर्याश्रम में ही) उन सभी पुण्यफलवाले कर्मों को कर लेता है जो गृहस्थश्रम में किये जाते हैं । ॥ २९ ॥

इत्यापस्तम्बीये धर्मसूत्रे चतुर्थी कण्डिका ॥ ४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रद्विती^१ हरदत्तविरचितायासुब्बलायां प्रथमप्रश्न प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

१. आन्तात्तत्रैव शरीरन्यासः इति स० पु० अन्ततस्तत्रैव, इति, व० पु०

२. आप० व० २. २१. ६. ३. हरदत्तमिश्रविरचितायां इति क० पु०

अथ द्वितीयः पटलः ।

—०:—

नियमेषु तपशब्दः ॥ १ ॥

‘आचार्याधीनः स्या’ दित्यादयो ये नियमाः अस्मिन्ब्रह्मचारिप्रकरणे निर्दिष्टाः तपशब्दस्तेषु द्रष्टव्यः, न कृच्छ्रादिषु ॥ १ ॥

अनुवाद—इस प्रकरण में ‘तप’ शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी के नियमों के लिए किया गया है ॥ १ ॥

तदतिक्रमे विद्याकर्म निःस्रवति ब्रह्म सहापत्यादेतस्मात् ॥ २ ॥

तेषां नियमानामतिक्रमे विद्याकर्म विद्याग्रहणं ब्रह्म निःस्रवति गृहीतं वेदं निस्सारयति । कुतः, ? एतस्मात् नियमातिक्रमेणाध्येतुः पुरुषात् । न केवलमेतस्मात् । किं तर्हि ? सहापत्यात् । अपत्येन सह धर्तव इति सहापत्यः “वोपसर्जनस्ये” ति सभावाभावे रूपम् । अपत्यादपि ब्रह्म निःसारयति । यद्यप्यपत्यं नियमातिक्रमकारि न भवति, तथापि पितृदोषादेव ततो ऽपि ब्रह्म निस्सारयति । नियमातिक्रमेण विद्याग्रहणं कुर्वतः पुरुषात् सहापत्यात् गृहीतं ब्रह्म निस्सरति, ब्रह्मयज्ञादिपुण्यमानमप्यकिञ्चित्करं भवतीत्यर्थो विवक्षितः । स्रवतेश्च सकर्मकस्य प्रयोगो भाष्ये दृष्टः ‘स्रवत्युदकं कुण्डिकेति ।

अपर आह—^२ तदतिक्रमे नियमातिक्रमे विद्याग्रहणं न कर्तव्यम् । कुतः ? यतो निस्स्रवति ब्रह्म निस्सरतीत्यर्थः’ शेषं समानमिति । विद्याकर्म निस्स्रवति ब्रह्म च निस्स्रवतीत्यन्ये । अन्ये च—कुर्वत इत्याध्याहार्यम् । तदतिक्रमेण विद्याकर्म कुर्वतो ब्रह्म निस्स्रवतीति ॥ २ ॥

अनुवाद—इन नियमों का उल्लंघन करने पर विद्याध्ययन उससे और उसके पुत्रों से भी पूर्वप्राप्त वेद का ज्ञान दूर कर देता है ।

टिप्पणी—वास्तव्य यह है कि जो ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन करके वेद का अध्ययन करता है उसके द्वारा ब्रह्मयज्ञ में तथा अन्य धर्मकृत्यों में उच्चारित वेदमन्त्रों का कोई पुण्यफल नहीं होता । नियम का उल्लंघन होने पर विद्याध्ययन करना चाहिए या नहीं, इस विषय में भिन्न मत हैं ॥ २ ॥

न केवलमकिञ्चित्करं नियमातिक्रमेण विद्याग्रहणम्, प्रत्युताऽनर्थकारी-

त्याह—

१. पा. सं. ६. १. ८२ ब्रह्मयोग्यवस्य सशुश्रूषयादिफल्येन इति एतामः ।
२. तदतिक्रमे विद्याकर्म निस्स्रवतीति नियमातिक्रमेण विद्याग्रहणं न कर्तव्यम्, कुतः ? यतो निस्स्रवति ब्रह्म निस्सारपतीत्यर्थः, इति क. ०. ५०.

कर्तृपत्यमनायुष्यं च ॥ ३ ॥

कर्तृशब्देन श्वभ्राभिधायिना नरको लक्ष्यते । पतत्यनेनेति पत्यम् । एवंभूतं विद्याग्रहणं नरकपातहेतुर्भवति । अनायुष्यं च अनायुष्करं च ॥ ३ ॥ अनुधाद—इसके अतिरिक्त वह नरक प्राप्त करता है और उसकी आयु कम होती है ॥ ३ ॥

तस्माद्दण्डयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात् ॥ ४ ॥

अत एवावरेषु अर्वाचिनेषु कलियुगवर्तिषु ऋषयो न जायन्ते मन्त्रदृशो न भवन्ति । नियमातिक्रमस्येदानीमवर्जनीयत्वात् ॥ ४ ॥

अनुधाद—ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंघन करने के कारण आषकल कलियुग में ऋषि उत्पन्न नहीं होते ।

टि०—‘अवरपु’ का अर्थ है ‘आषकल के लोगों में’ कलियुग के लोगों में ॥ ४ ॥ कथं तर्हीयतना अतिक्रामन्तोऽपि नियमानल्पेनैव शक्तेन चतुरो वेदान् गृह्णन्ति ? युगान्तरे सम्यगनुष्ठितस्य नियमकर्मणः फलशेषेणेत्याह—

श्रुतर्षयस्तु भवन्ति केचित्कर्मफलशेषेण पुनस्सम्भवे ॥ ५ ॥

पुनस्सम्भवः पुनर्जन्म ॥ ५ ॥

अनु०—किन्तु पूर्वजन्म के पुण्यफल के शेष होने से कुछ लोग पुनर्जन्म लेने पर अपने वेद के ज्ञान द्वारा ऋषियों के समान होते हैं ।

टि०—यह इस प्रश्न का उत्तर है कि इस जन्म में भी कुछ लोग बड़ी सरलता से वेदों का अध्ययन कैसे कर लेते हैं ? उन लोगों के वेदाध्ययन की क्षमता का कारण पूर्वजन्म के ब्रह्मचर्यावस्था के नियमों के पाठन से उत्पन्न पुण्यफल ही है । पुनस्सम्भव का अर्थ है नये जन्म में ॥ ५ ॥

अत्रोदाहरणम्—

यथा श्वेतकेतुः ॥ ६ ॥

श्वेतकेतुर्भल्पेनैव कालेन चतुरो वेदाङ्गमाह । तथा च छान्दोग्यम्—
“श्वेतकेतुर्दुरिगेय आस । तं ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽनूनूच्य ब्रह्मयन्धुरिव भवतीति । स ह द्वादशवर्षं लपेत्य चतुर्विंशतिवर्षस्त्वर्वां वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाये”
ति ॥ ६ ॥

अनु०—उदाहरण के लिए श्वेतकेतु ।

टि०—श्वेतकेतु ने बहुत अल्प अवस्था में चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया ।
छान्दोग्योपनिषद् में उनका उल्लेख है । ६. १. १ ॥ ६ ॥

एवं नियमातिक्रमे, दोषमुक्त्वा तदनुष्ठाने सिद्धिमाह—

यत्किञ्च समाहितोऽब्रह्म प्याचार्यादुपयुङ्क्ते ब्रह्मवदेव तस्मिन् फलं
भवाति ॥ ७ ॥

अब्रह्मापि अब्रह्मापि । पररूपम्, 'कतन्तवत् । अपेर्वाऽकारलोपः,
पिहितपिनद्धादिवत् । वेदव्यतिरिक्तमपि यत्किञ्चित् विपमन्नादि समाहितो
नियमवान् भूत्वा आचार्यादुपयुङ्क्ते गृह्णाति तस्मिन् वेदव्यतिरिक्ते ब्रह्मवदेव
फलं भवति ॥ ७ ॥

अनु०—नियमों का पालन करते हुए ब्रह्मचारी वेद के अतिरिक्त जो कुछ भी
गुरु शिक्षा ग्रहण करता है उसका फल उसी प्रकार होता है जिस प्रकार वेद के
अध्ययन का फल होता है ॥ ७ ॥

निप्रहानुप्रहशक्तिरप्यस्य भवतीत्याह—

अथो यत्किञ्च मनसा वाचा चक्षुषा वा सङ्कल्पयन् ध्यायत्याहाऽभि-
विषश्यति वा तथैव तद्भवतीत्युपदिशन्ति ॥ ८ ॥

अथो अपि च यत्किञ्च निप्रहात्मकं अनुप्रहात्मकं वा सङ्कल्पयन् चिकीर्षन्म-
नसा निर्दयेन शिवेन वा ध्यायति—इत्थमिदमस्याऽस्त्विति, तथैव तद्भवति । तथा
यत्किञ्च सङ्कल्पयन्वाचा 'क्रूरया मधुरया वा आह—इत्थमिदमस्यास्त्विति' तथैव
तद्भवति । एवं यत्किञ्च सङ्कल्पयन् चक्षुषा घोरया वा मैत्रेण वा अभियिष्यति
तथैव तद्भवतीत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः ॥ ८ ॥

अनु०—'संस्वरूप करके जो कुछ भी वह मन से सोचता है, शब्दों में अभिग्यक
करता है, चक्षु से देखता है वह भी वैसे ही हो जाता है, ऐसा धर्मज्ञ लोग कहते हैं ।

टि०—इन्द्रज की व्याख्या में संकेत किया गया है कि चाहे घ्रातव मन से
अथवा क्रूर मन से चिन्तन किया जाय, क्रूर वाणों से अथवा मधुर वाणों से कदा
जाय, घोर नेत्रों से देखा जाय अथवा मित्रतापूर्ण नेत्रों से देखा जाय, सभी समान
होता ही है ॥ ८ ॥

अवश्यं धर्मयुक्तेनाध्येतव्यमित्युक्तम् । इदानीं ते धर्मा लक्षणतन्निविधा
इत्याह—

गुरुप्रसादनीयानि कर्माणि स्वस्त्ययनमध्ययनसंयुक्तिरिति ॥ ९ ॥

१. कर्कन्धुवत्, इति. ५० पु० २. घोरया इति. ५० पु०

३. अयं 'इति' इति उच्यते अस्यादौ पठितः ५० पुस्तकः ;

चैरनुष्ठितैः गुरुः प्रसीदति तानि गुरुप्रसादनीयानि पादप्रक्षालनादीनि कर्माणि । स्वस्तीत्यविनाशि नाम । तत्राप्रिसाधनं स्वस्त्यनम् । तच्च त्रिविधं दृष्टार्थमदृष्टार्थमुभयार्थं चेति । दृष्टार्थं बाहुनदीतरणादिनिषेधः । अदृष्टार्थं क्षारोदि-
निषेधः । उभयार्थं भिक्षाचरणादि । अध्ययनसम्युत्तिरधीतस्य वेदस्याऽऽभ्यासः ॥ ९ ॥

अनु०—(ब्रह्मचारी विद्यार्थी के कर्तव्य धर्म हैं) गुरु को प्रसन्न करने वाले कर्म, कल्याण की प्राप्ति के कर्म तथा वेद का परिश्रमपूर्वक अभ्यास ।

टि०—स्वस्ति का अर्थ है कल्याण करने वाले निषम का पालन यथा नदी आदि को तैरकर पार करने का वर्जन । स्वस्ति तीन प्रकार का कहा गया है : दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ, उभयार्थ । नदीसंतरण का निषेध दृष्टार्थ का उदाहरण है । क्षारलवगादि भक्षण का वर्जन अदृष्टार्थ का तथा भिक्षाचरण उभयार्थ स्वस्ति का उदाहरण है । इस सूत्र में विद्यार्थी के धर्मों को तीन वर्गों में बाँटा गया है ॥ ९ ॥

अतोऽन्यानि निवर्तन्ते ब्रह्मचारिणः कर्माणि ॥ १० ॥

एतेभ्यः अन्यानि कर्माणि निवर्तन्ते ब्रह्मचारिणो, न कर्तव्यानीत्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०—इसके अतिरिक्त दूसरे कार्य ब्रह्मचारी को नहीं करने चाहिए ॥ १० ॥

स्वाध्यायधृग्धर्मरुचिस्तपस्व्यजुर्मुद्गुस्सिद्धचति ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

स्वाध्यायधृक् अधीतस्य' वेदस्य धारयिता अविस्मर्ता । धर्मं रुचिर्यस्य स धर्मरुचिः । तपस्वी नियमेषु तपदशब्दः तद्वान् । ऋजुः अमायावी । मृदुः । क्षमावान् । एवंभूतो ब्रह्मचारी सिद्ध्यति सिद्धिं प्राप्नोति । उक्ता सिद्धिः^१ 'अधो यत्किञ्च मनसे' ति । तत्रोक्तानां पुनर्वचनमादरार्थम् । तदनुष्ठाने फलभूमा, अतिक्रमे च दोषमूमेति तात्पर्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—स्वाध्याय को धारण करने वाला, धर्म अर्थात् नियम के पालन में रुचि रखने वाला, तपस्वी (अर्थात् ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करने वाला), सरल तथा धर्मावान् ब्रह्मचारी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

सदा महान्तमपररात्रमुत्थाय गुरोस्तिष्ठन्प्रातरभिवादनमभिवादयोक्ता-

ऽसावहं भो, इति ॥ १२ ॥

सदा प्रतिदिनं महान्तमपररात्रं रात्रेः पश्चिमे याम उत्तिष्ठेत् । उत्थाय च समीपे तिष्ठन् गुरोः प्रातरभिवादनमभिवादयोक्त—'असावहं भो' इति जुञ्चन् । असावित्यत्राऽऽत्मनो नामनिर्देशः, यथा—'अभिवाद्ये यज्ञशर्मोहं भो' इति ॥ १२ ॥

अनु०—प्रतिदिन रात्रि के अन्तिम याम में उठे और गुरु के निकट जाकर अपना नाम लेते हुए अभिवादन करे ॥ १२ ॥

समानग्रामे च वसतामन्येषामपि वृद्धतराणां प्राक्प्रातराशात् ॥ १३ ॥

अन्येषामन्याचार्यव्यतिरिक्तानाम् प्राक्प्रातराशात् प्रातर्भोजनात्प्राक् प्रात-
रभिवादनमभिवादयीत, ते चेत् समानग्रामे वसन्ति ॥ १३ ॥

अनु०—और उसी ग्राम में रहने वाले दूसरे वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणों को भी
प्रातराश के पूर्व प्रणाम करे ॥ १३ ॥

प्रोष्य च समागमे ॥ १४ ॥

यदा स्वयं प्रोष्य समागतो भवति, आचार्योदयो वा तदाऽप्यभिवा-
दयीत । इदं नैमित्तिकम् । पूर्वं नित्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—यात्रा पर गया हो तो लौटने पर इन व्यक्तियों से मिलने पर
प्रणाम करे ।

टिप्पणी—यह अभिवादन केवल अवसर के अनुसार किया जाता है किन्तु इसके
पूर्व सूत्र १२, १३ की अभिवादनविधि निहय करनी होती है ॥ १४ ॥

अथ काम्यम्—

स्वर्गमायुश्चेप्सन् ॥ १५ ॥

अभिवादयीतेत्येव ॥ १५ ॥

अनु०—स्वर्ग तथा दीर्घजीवन की अभिलाषा से इन व्यक्तियों का अन्य समयों पर
भी अभिवादन करे ॥ १५ ॥

अभिवादनप्रकारं वर्णानुपूर्व्येणाऽऽह—

दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसायं ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरस्समं राजन्यो

मध्यसमं वैश्यो नीचैश्चपुदः प्राञ्जलि ॥ १६ ॥

ब्राह्मणोऽभिवादयमानः आत्मनो दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्याभिवाद-
यीत । उरस्समं राजन्यः । दक्षिणं प्रसार्याभिवादयीतेत्यत्रानुवर्तते । एवमुत्तरयो-
रपि । मध्यसममुदरसमम् । ऊरुसममित्यन्ये । नीचैः पादसमं शूद्रोऽभिवा-
दयीत । प्राञ्जलि यथा भवति तथा अभिवादयति । अञ्जलि शृङ्गस्यार्थः ।
प्राञ्जलिरिति युक्तः पाठः ॥ १६ ॥

अनु०—ब्राह्मण दाहिना बाहु को कान के बराबर फैलाकर अभिवादन करे । शत्रिय
वक्ष के समानान्तर फैलाकर अभिवादन करे । वैश्य उदर या ऊरु के समानान्तर बाहु
फैलाकर अभिवादन करे । शूद्र नीचे (पैरों के समानान्तर) हाथ करके अञ्जलि बौध्दकर
अभिवादन करे ॥ १६ ॥

१. नीचैश्चपुदः ... ॥ १६ ॥ प्राञ्जलि ॥ १७ ॥ इति पाठ. क० प० पु०

प्लावनं च नाम्नोऽभिवादानप्रत्यभिवादाने च पूर्वेषां वर्णनाम् ॥१७॥
अभिवादानस्य यत्प्रत्यभिवादानं तत्राभिवादयितुर्नाम्नः प्लावनं कर्तव्यम्
प्लुतः कर्तव्य इत्यर्थः । पूर्वेषां वर्णानां शूद्रवर्जितानामभिवादयमानानाम् ।
'प्रत्यभिवादोऽशूद्र' इति पाणिनीयस्मृतिः । तत्र 'वाक्यस्य टे' रित्यनुवृत्तेः प्रत्य-
भिवादावाक्यस्यान्ते नामप्रयोगः तस्य टेः प्लुतः । 'आयुष्मान् भव सौम्याश् इति
प्रयोजक्यः । स्तृत्यन्तरशान्नाम्नश्च पश्चादकारः । तथा च मनुः—

'आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने ।

अकारश्चास्य नान्नोऽन्ते वाच्यःपूर्वाक्षरः प्लुतः ॥" इति ।

'आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३ अ' इति प्रयोगः । शम्भुर्विष्णुः पिताक-
पाग्निश्चरुपाणिरित्यादीनां नाम्नां सम्बुद्धौ गुणे कृते 'एवोऽप्रवृहत्सादूरादूते
पूर्वस्यार्धस्यदुत्तरस्येदुतो' इत्ययं विधिर्भवति । अन्ते अकारः । "तयोर्वाचचि
संहितायाम्' इति यकारवर्धकारौ च भवतः—शम्भा ३ व, विष्णा ३ व, पिनाकपाणा
३ य, चक्रपाणा ३ य इति । अत्र सूत्रे 'प्रत्यभिवादाने चे'ति चकारार्थार्थं न पश्यामः ।

अपर आह—'अभिवादाने प्रत्यभिवादाने च प्लावनं'मिति । अस्मिन्नपि पक्षे
द्वन्द्वेनाभिहितत्वाच्चशब्दोऽनर्थक एव । अभिवादाने च शास्त्रान्तरे न क्वापि
प्लुतो विहितः । तस्मादनर्थक एव चकारः । अनर्थकाश्च निपाता बहुलं प्रयु-
ज्यन्ते ॥ १७ ॥

अनु०—शूद्र को छोड़कर पूर्ववर्ती वर्णों के अभिवादान, प्रत्यभिवादान में नाम के
अन्तिम स्वर को प्लुत करके उच्चारण करना चाहिए ।

टि०—प्रत्यभिवादान के वाक्य के अन्त के स्वर को प्लुत हो । 'आयुष्मान् भव
सौम्या ३' । मनुस्मृति में भी इसका निर्देश किया गया है । उकारान्त, इकारान्त नामों
के सम्बोधन में गुण किया जाता है 'तयोर्वाचचि संहितायाम्' से यकार, वकार होता
है । शम्भा ३ व, विष्णा ३ व, पिनाकपाणा ३ य, जैसा रूप बनता है ।

इस सूत्र में 'अ' के प्रयोग को हटाकर ने निरर्थक बताया है । दूसरे सूत्रों में
अभिवादान के वाक्य में प्लुत का विधान नहीं किया गया है ॥ १७ ॥

उदिते त्वादित्य आचार्येण समेत्योपसंग्रहणम् ॥ १८ ॥

उदिते त्वादित्ये आचार्येण अध्ययनार्थं समेत्य चक्ष्यमाणेन विधिनीपसंग्रहणं
कुर्यात् ॥ १८ ॥

१. पा. सू. ट. २. ८३. शूद्रभिर्जपये प्रत्यभिवादेयद्वाक्यं "आयुष्मान् भव सौम्य"
इत्यादिरूपं तस्य टेः प्लुतत्त्वात्, स चोदाचः इति सूत्रार्थः ।

२. पा० सू० ङ० २. ८२. ३. मनु० स्मृ० २. १२५.

४. पा० सू० ट. २. १०८. इदुतोर्वाचवकारौ स्तोऽचि संहितायाम् इति सूत्रार्थः ।

अनु०—सूर्य उगले पर गुरु के निकट अर्घ्यनार्थ आकर पादोपसंग्रहण करे ॥ १८ ॥
सदैवाऽभिवादनम् ॥ १९ ॥

अन्यदा सर्वदा पूर्वोक्तप्रकारेणाभिवादनमेव । अयमनुवाद उत्तरविवक्षया ॥ १९ ॥

अनु०—इसके अतिरिक्त अन्य सभी अवसरों पर पूर्वोक्त विधि से ही अभिवादन करे ॥ १९ ॥

उपसंग्राह्य आचार्य इत्येके ॥ २० ॥

अभिवादनप्रसङ्गे सदैव उपसंग्राह्य आचार्य इत्येके मन्यन्ते ॥ २० ॥

अनु०—धर्मशौ का मत है कि सभी अवसरों पर गुरु का पादोपसंग्रहण करे, अभिवादनमात्र नहीं ॥ २० ॥

ननु किमिदमुपसंग्रहणम् ? तदाह—

दक्षिणेन पाणिना दक्षिणं पादमधस्तादभ्यधिभूश्य सकृष्टिकमुपसंगृह्णीयात् ॥ २१ ॥

आत्मनो दक्षिणेन पाणिना आचार्यस्य दक्षिणं पादं अधस्तादभ्यधिभूश्य, अधिशब्द उपरिभावे, अधस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाभिभूश्य । सकृष्टिकं सगुल्फम् । साङ्गुष्टमित्यन्ये । उपसंगृहीयात् । इदमुपसंग्रहणम् । एतद्व्याप्तम् ॥ २१ ॥

अनु०—गुरु के दाहिने पैर को दाहिने हाथ से नीचे और ऊपर की ओर दबाकर उसे एड़ी के साथ पकड़े ।

टि०—सकृष्टिकम् का अर्थ कुछ लोग अँगूठे सहित भी करते हैं । इसे ही उपसंग्रहण कहते हैं ॥ २१ ॥

उभाभ्यामेवोभावभिषोडयत उपसंग्राह्यावित्येके ॥ २२ ॥

उभाभ्यां पाणिभ्यां उभावेवाऽऽचार्यस्य पादौ अभिषोडयतो माणवकस्य उपसंग्राह्यावित्येके मन्यन्ते । अभिषोडयत इति “कृत्यानां कर्त्तरि” इति कर्त्तरि षष्ठी । अत्र मनुः—

२^१व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः स्मष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ इति ॥ २२ ॥

अनु०—कुछ धर्मशौ का मत है कि दोनों हाथों से गुरु के दोनों बरजों को (दाहिने हाथ से दाहिने पैर को, बाएँ हाथ से बाएँ पैर को) दबावे ॥ २२ ॥

सर्वाङ्गिणं सुयुक्तोऽध्ययनादनन्तरोऽध्याये ॥ २३ ॥

'सर्वं च तद्दहश्च सर्वाहम् । १' 'राजाहस्सखिभ्यष्टु च ।' 'अहोऽह एतेभ्य' इत्यहोदेशः । ३' अहोदन्ता'दिति गत्वम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । 'सर्वाहं सदा सुयुक्तः सुसमाहितः अनन्यचित्तः । अध्ययनादनन्तरः नान्तरयतीत्यनन्तरः । अध्ययनाद्यथा आत्मानं नान्तरयति यथा अध्ययनात्न विच्छिद्येत तथा स्यात् । अध्याये स्वाध्यायकाले । अध्याय इत्यनुवादः । ४' 'मनसा चानध्याय' इति विशेषविधानात् । 'अध्याये' दिति प्रायेण पठन्ति । सत्र तकारोऽपपाठइ-छान्दसो वा ॥ २३ ॥

अनु०-पूरे दिन मन को समाहित रखे (अन्यत्र ध्यान न रखे) अध्याय के समय ध्यान कहीं अन्यत्र न रखे, अध्ययन पर ही पूर्ण ध्यान रखे ॥२३ ॥

तथा गुरुकर्मसु ॥ २४ ॥

गुरुकर्मसु च तथा स्यात् सुयुक्तोऽनन्तरश्च स्यात् ॥ २४ ॥

अनु०-इसी प्रकार गुरु के कार्यों को करते समय भी अन्यत्र ध्यान न रखे ॥२४ ॥

मनसा चाऽनध्याये ॥ २५ ॥

अनध्यायकाले मनसा च अध्यायादनन्तरः स्यात् । सन्देहस्थानानि मनस निरूपयेत् । अध्ययनविषयमेव चिन्तां कुर्यात् ॥ २५ ॥

अनु०-अनध्याय के समय अध्ययन विषयों की ही मन से चिन्ता करे । (स्पष्ट न हुए स्थलों को समझने का प्रयत्न करे ।) ॥ २५ ॥

आहूताध्यायी च स्यात् ॥ २६ ॥

आचार्येणाहूतस्सन्नधीयीत' नाध्यापने स्वयं प्रवर्तयेत् ॥ २६ ॥

॥ इत्यापस्तम्बीये धर्मसूत्रे पञ्चमी काण्डिका ॥

अनु०-गुरु के बुलाने पर ही अध्ययन के लिए जावे, स्वयं अध्यापन के लिए गुरु से न करे ॥ २६ ॥

—:०:—

सदा निशायां गुरुं संवेशयेत्तस्य पादौ प्रक्षाल्य संवाह्य ॥ १ ॥

सदा प्रत्यहं निशायां अतिक्रान्ते प्रदोषे गुरुं संवेशयेत् । कथम् ? तस्य गुरोः पादौ प्रक्षाल्य संवाह्य च । संवाहनं मर्दनम् ॥ १ ॥

१. पा० सू० ५. ४. ११. राबन्शुदान्तादन्शुदान्तात् सखिशुदान्ताच्च तत्पुरुषात् टच् स्यात् इति सूत्रार्थः ॥

२. सर्वै-कदेश-संलयात्, पुण्यशब्देभ्यः परत्याहन्शब्दस्याह इत्यादेशस्य्यात्-समासान्ते परे इति सूत्रार्थः ।

३. १. ४. ७. अदन्पूर्वपर्याद्रेफात् परत्याह्नादेशस्य नस्य णस्य्यात् इति सूत्रार्थः ।
४. आप० घ० १. ५. २६.

अनु०—प्रतिदिन रात्रि को गुरु के चरणों को धोकर तथा उनके शरीर का मर्दन करके उन्हें सुलावे ॥ १ ॥

अनुज्ञातः संविशेत् ॥ २ ॥

^१गुरुणाऽनुज्ञातस्तु स्वयं संविशेत् शयीत ॥ २ ॥

अनु०—उनकी आज्ञा प्राप्त करके स्वयं सोवे ॥ २ ॥

न चैनमभिप्रसारयीत ॥ ३ ॥

एनमाचार्यं प्रति पादौ न प्रसारयेत् ॥ ३ ॥

अनु०—अपने पैर गुरु की ओर न पसारें ॥ ३ ॥

न खट्वायां सतोऽभिप्रसारणमस्तीत्येके ॥ ४ ॥

यदा तु गुरुः खट्वायां शेते तदा तं प्रति पादयोः प्रसारणं न दोषायत्येके
मन्यन्ते^१ स्वपक्षस्तु तत्रापि दोष इति ॥ ४ ॥

अनु०—कुछ घर्मशो का मत है कि यदि गुरु खाट पर सोये हों तो उनकी ओर पैर पसारने में दोष नहीं है ॥ ४ ॥

न चाऽस्य सकाशे संविद्यो भाषेत ॥ ५ ॥

अस्याऽऽचार्यस्य सकाशे स्वयं संविष्टः शयानो न भाषेत। कायविदनादातु-
त्थायैव भाषेत ॥ ५ ॥

अनु०—आचार्य के समीप स्वयं सुलपूर्वक बैठकर (या लेटकर) उनसे बात न करे ॥ ५ ॥

अभिभाषितस्त्वासीनः प्रतिब्रूयात् ॥ ६ ॥

आचार्येणा^२भिभाषितस्त्वासीनः प्रतिब्रूयात्। एतदाचार्यं आसीने शया-
ने वा ॥ ६ ॥

अनु०— यदि गुरु स्वयं लेटे हों तो) गुरु के कुछ कहने पर बैठा हुआ ही
उत्तर दे ॥ ६ ॥

अनूत्थाय तिष्ठन्तम् ॥ ७ ॥

यदा त्वाचार्यं तिष्ठन् प्रतिब्रूयात्। उत्तरे द्वे सूत्रेष्वर्थे ॥ ७ ॥

अनु०—यदि गुरु खड़े होकर कुछ कह रहे हों तो ब्रह्मचारी भी खड़ा होकर
उत्तर दे ॥ ७ ॥

गच्छन्तमनुगच्छेत् ॥ ८ ॥ घावन्तमनुघायेत् ॥ ९ ॥

न सोपानद्वेषितशिरा भवहितपाणिर्वासीदेत् ॥ १० ॥

उत्तरत्रोपानत्प्रतिषेधा 'श्रु सोपान' दित्यनुवाद्: 'अध्वापन्नस्त्वित्' ति प्रतिप्र-
सोत्तुम् । आचार्यं न सोपानत्क आसीदेत् । नापि वेष्टितशिराः । अचहितपाणिः
दात्रादिहस्तः एवंभूतोऽपि नासीदेत् ॥ ८-१० ॥

अनु०—यदि गुरु चल रहे हों तो उनके पीछे चले; दौड़ रहे हों तो उनके
पीछे दौड़े । गुरु के समीप बूते पहले हुए, सिर को वेष्टित करके अथवा हाथ में
कोई बीजार (दात्र) लेकर न जावे ॥ ८-१० ॥

अध्वापन्नस्तु कर्मयुक्तो वाऽऽसीदेत् ॥ ११ ॥

अध्वानं प्राप्तोऽध्वापन्नः कर्मणि दात्रादिसाध्ये प्रवृत्तः कर्मयुक्तः एवं-
भूतस्तु सोपानत्कोऽप्यासीदेत् ॥ ११ ॥

अनु०—किन्तु यात्रा के समय अथवा (दात्रादि द्वारा नाथ्य) कार्य में लगे होने
पर (बूते पहनकर, सिर वेष्टित करके, हाथ में कोई उपकरण लेकर गुरु के समीप)
जा सकता है ॥ ११ ॥

न चेदुपसीदेत् ॥ १२ ॥

'न चेदाचार्यस्समीपे, उपसीदेत् उपविशेत् । यदि तूपविशेद्दध्यापन्नः
कर्मयुक्तो वा तदोपानत्प्रवृत्तीनि विहायोपविशेत् ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु गुरु के अत्यन्त निकट न बैठे ॥ १२ ॥

देवमिवाचार्यं मुनासीत्ताऽविकथयन्नविमना वाचं शुश्रूषमाणोऽप्य ॥ १३ ॥
यो यं देवं भजते स तद्भावनया तमिवाऽऽचार्यमुपासीत । अविकथयन्
'व्यर्थां कथामकुर्वन् । अविमनाः अविश्रमनाः । अस्याऽऽचार्यस्य वाचं
शुश्रूषमाणः ॥ १३ ॥

अनु०—गुरु के समीप अपने आराध्य देव के प्रति भावना बैसी श्रद्धा के साथ
जावे, उनके समस्त व्यर्थ बात न करे और ध्यान से तत्पर होकर उनके बचन सुने ॥ १३ ॥

अनुपस्थकृतः ॥ १४ ॥

'उपरथकरणं प्रसिद्धम् । तत्कृत्वा नोपासीत ॥ १४ ॥

अनु०—गुरु के समीप एक टाँग के ऊपर दूसरी टाँग चढ़ाकर न बैठे ॥ १४ ॥

अनुवाति'वाते वीतः ॥ १५ ॥

१. न चेदाचार्यसमीपे उपसीदेत् उपविशेत् इति ख० पु०

२. व्यर्थां कथा विक्रपा सामकुर्वन् इति० पु०

३. आकुञ्चितस्य सव्यजानुन उपरि दक्षिणं पादं प्रक्षिप्योपवेशनमुपस्यकरणम् ।

४. 'वाते' इति नास्ति ख० पु०

वाते अनुवाति सति वातः विपर्ययेणैतः उपासीत । प्रतिवातं तु वक्ष्यन्म-
णेन प्रतिपिथ्यते । मनुएत्याह—

“प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सहे’ति ॥ १५ ॥

अनु०—यदि वायु सिध्य की ओर से गुरु की ओर बह रही हो तो दिशा
बदल दे ॥ १५ ॥

अप्रतिपृष्टवः पाणिना ॥ १६ ॥

पाणिना प्रतिपृष्टो न स्यात् पाणितलं भूमौ कृत्वा पाण्यवलम्ब्यनो नऽऽ-
सीत ॥ १६ ॥

अनु०—हाथ की पृथिवी पर टिकाने बिना बैठे ॥ १६ ॥

अनपाश्रितोऽन्यत्र ॥ १७ ॥

अन्यत्र कुड्याद्यपाश्रितो न स्यात् । कुड्याद्यपाश्रितो नासीत ॥ १७ ॥

अनु०—बैठते समय किसी वस्तु का (दीवाल आदि का) सहारा न लेवे ॥ १७ ॥

यज्ञोपवीती द्विवस्त्रः ॥ १८ ॥

यद्वा द्विवस्त्रस्तदा घाससाऽन्यतरेण यज्ञोपवीती स्यात् । “अपि वा सूत्रमेवो-
पवीतार्थः” इत्येव कल्पस्तदा न भवति ॥ १८ ॥

अनु०—यदि ब्रह्मचारी विद्यार्थी दो वस्त्र धारण करता हो तो उत्तरीय को यज्ञो-
पवीत की तरह लपेटकर बैठे ॥ १८ ॥

अघोनिर्वीतस्त्वेकवस्त्रः ॥ १९ ॥

यद्वा त्वेकवस्त्रो भवति तदा अघोनिर्वीतः स्यात् । न तस्य दीर्घस्यात्येकदेशे-
नोत्तरीयं कुर्यात् ॥ १९ ॥

अनु०—किन्तु यदि एक ही वस्त्र धारण करता हो तो उत्तरीय अशेषवस्त्र के रूप में
(बिना ओढ़े हुए, केवल उत्तरीय के नीचे के भागों में लपेट कर) धारण करे ॥ १९ ॥

अभिमुखोऽनभिमुखम् ॥ २० ॥

स्वयमाचार्यभिमुखः आत्मानं प्रत्यनभिमुखमाचार्यमुपासीत । स्वयमा-
चार्यमपश्यन् आचार्यस्य पुरत आर्जवेनाऽऽसीत ॥ २० ॥

अनु०—आचार्य के अगली ओर न देखने पर भी स्वयं उनका ओर ही हुए
करके बैठे ॥ २० ॥

अनासन्नोऽनतिदूरे च ॥ २१ ॥

अत्यासन्नो न स्यादतिदूरे 'च न स्यात् ॥ २१ ॥

अनु०- गुरु से न हो बहुत निकट बैठे और न बहुत दूर पर बैठे ॥ २१ ॥

यावदासीनो बाहृभ्यां प्राप्नुयात् ॥ २२ ॥

यावत्प्रस्तराले आसीन आचार्यं बाहृभ्यां प्राप्तुं शक्नुयात् तावत्यासीत् ॥ २२ ॥

अनु०-जितनी दूरी पर बैठने से आचार्य का दोनो बाहुओं से स्पर्श कर सके उतनी दूरी पर बैठे ॥ २२ ॥

अप्रतिवातम् ॥ २३ ॥

आचार्यस्य प्रतिवाते नाऽऽसीत् ॥ २३ ॥

अनु०-जिधर से आचार्य की ओर बायु बह रही हो उधर न बैठे ।

टि०-अंग्रेजा अनुवाद में 'वूह्लेर ने अर्थ किया है ऐसे स्थान पर न बैठे जहाँ से बायु गुरु की ओर से उसकी ओर आ रही हो ॥ २३ ॥

एकाध्यायी दक्षिणं बाहुं प्रत्युपसीदेत् ॥ २४ ॥

यदा एक एवाऽर्धात्ते सदा आचार्यस्य दक्षिणं बाहुं प्रति दक्षिणो पार्श्वे उपसीदेत् उपविशेत् ॥ २४ ॥

अनु०-यदि एक ही शिष्य अल्पजन करने वाला हो तो वह गुरु की दाहिनी ओर बैठे ॥ २४ ॥

यथावकाशं बहवः ॥ २५ ॥

बहवस्तु शिष्या यथावकाशमुपसीदियुः ॥ २५ ॥

अनु०-यदि अनेक शिष्य हों तो वे मुविधानुसार जिधर स्थान हो वहाँ बैठें ॥ २५ ॥

तिष्ठति च नाऽऽसीताज्ञासनयोगविहिते ॥ २६ ॥

आसनयोग आसनकल्पना । आसनयोगेन विहितस्सम्भावित आसनयोगविहितः । आसनयोगेनाऽऽसम्भाविते आचार्ये तिष्ठति सति स्वयं नाऽऽसीत् ॥ २६ ॥

अनु०-जहाँ आसन देकर गुरु का सम्मानित न किया गया हो वहाँ स्वयं न बैठे ॥ २६ ॥

आसीने च न संविशेत् ॥ २७ ॥

'अशनयोगविहिते' इति पूर्वानुसारेण गम्यते । शयनयोगेनासम्भावित आचार्ये आसीने स्वयं न संविशेत् न शयीत् ॥ २७ ॥

अनु०—यदि गुरु (संने के लिए शय्या न पाकर) बैठे हो, तो स्वयं न सोवे ॥२७॥
चेष्टति च विकीर्षस्तच्छक्तिविषये ॥ २८ ॥

व्यत्ययेन परस्मैपदम् । आचार्ये चेष्टति सति स्वयमपि शक्तिर्कोर्षत म्यात् ।
किमविशेषण? शक्तिविषये । यथाचार्येण क्रियमाणमात्मनश्शक्तिकेचिपयो भवति ।
'विकीर्ष' भ्रित्ति सन्प्रयोगादिच्छामेव प्रदर्शयेत् नाच्छिद्य कुर्यात् । प्रदर्शित्वात्
स्विच्छायामाचार्यश्चेदनुजानीयात्, ह्युत्तान् । अशक्तिविषये तु नेच्छापि प्रदर्शयि-
तइया । विकीर्षेदिति युक्तः पाठः ॥ २८ ॥

अनु०—यदि गुरु कोई कार्य करने का प्रयत्न कर रहे हो तो उनको कर करने
की शक्ति होने पर रक्ष्य करने की इच्छा करे ॥ २८ ॥

न चास्य सकाशेऽन्वक्षयानिन उपसङ्गुल्लीयात् ॥ २९ ॥

आचार्यव्यतिरिक्त्वा गुरवोऽन्वक्षयानिन इति स्मार्तो ब्यवहारः । आचार्यः
श्रेष्ठो गुरुणात् । तमपेक्ष्यान्यक्थानं पदमेवामिति कृत्वा । आचार्यस्य सश्रिची
अन्वक्षयानिनं नोपसङ्गुल्लीयात् ॥ २९ ॥

अनु०—यदि आचार्य निकट ही हो अन्य गुरुओं (माता, पिता आदि) का, वो
आचार्य से अदूर है, चरण-स्पर्श न करे
टि०—'गुरु' के अन्तर्गत माता-पिता आदि भेद निकट सम्बन्धी बन भी आते हैं,
वे सभी आचार्य से अदूर माने जाते हैं ॥ २९ ॥

गोत्रेण वा कीर्तयेत् ॥ ३० ॥

न चै नमन्वक्षयानिनं गोत्रेण अभिलनकुलादिना वा कीर्तयेत् न न्युवीत
भार्गवोऽयं महाशुटप्रसूत इति ॥ ३० ॥

अनु०—अन्य गुरुजन का आचार्य के समीप गोत्र का उल्लेख करके प्रशंसा
न करे ॥ ३० ॥

न चैतं प्रत्युत्तिष्ठेदनुत्तिष्ठद्वा'पि चेतस्य गुरुः स्यात् ॥ ३१ ॥

प्रत्युत्थानमध्यस्य न चैतद्व्यमाचार्यत्वं सकाशे । यद्वा पुनरत्ताद्याचार्यधर्मगते
त्वासित्वा गमनायोत्तिष्ठति तदाऽन्युत्थानमपि न कर्तव्यम् । यदन्वयो नस्य
आचार्यस्य मातुल्यादिः गुरुः स्यात् । 'आचार्यप्राचार्यत्सन्निभत्' इति यदस्यति
तेनैव न्यायेन मातुल्यादिव्यपि प्रसङ्गे इदमुक्तम् ॥ ३१ ॥

अनु०—आचार्य के समीप होने पर अन्तर गुरुओं के आगमन पर उदङ्ग भगवानी

१. अत्रि चेत्यादिवृत्तान्तर. न. घ. पु. ० ।

२. मानवकस्य इति क. पु. ३. भार. प. १. ८. १९. एषो वदरतीति न. पु. ०

४. मपुत्रादिप्रसङ्गे इति क. पु. ०

न करे और न उनके जाने पर पीछे जावे, भले ही वह अन्य गुरु आचार्य का भी गुरु क्यों न हो।

टि०-आचार्य के भी गुरु का उदाहरण, आचार्य का मामा आदि ॥ ३१ ॥

देशास्वातनाच्च संसर्पेत् ॥ ३२ ॥

किं तु देशादासनाच्च संसर्पेत्स्य सम्मानार्थम् ॥ ३२ ॥

अनु०-किन्तु (उस अन्य गुरु के लिए सम्मानप्रदर्शनार्थ) अपने स्थान और आसन से उठे ॥ ३२ ॥

नाम्ना तन्तेवासिनं गुरुमप्यात्मन इत्येके ॥ ३३ ॥

तस्याचार्यस्थान्तेवासिनं नाम्नैव कीर्तयेत् 'यज्ञधर्मन्नि' ति । अल्पव्यसावात्मनो गुरुर्भवति इत्येवमेके मन्यन्ते । स्वपक्षे गुरोर्नामप्रहणं न कर्तव्यमिति ॥ ३३ ॥

अनु०-आचार्य के अन्तेवासी को नाम से पुकारे । कुछ लोगों का मत है कि आचार्य का अन्तेवासी अपना गर भी हो तो भी नाम से पुकारे ॥ ३३ ॥

यस्मिंस्त्वनाचार्यसम्बन्धादौरवं वृत्तिस्तस्मिन्सम्बन्धस्थानीये-

प्याचार्यस्य ॥ ३४ ॥

यस्मिंस्तु पुरुषे शिष्याचार्यभावमन्तरेणापि विद्याचारित्र्यादिना लौकिकानां गौरवं तस्मिन्सम्बन्धस्थानीये ऽप्याचार्ये वा वृत्तिस्ता कर्तव्या । अन्वस्थानीयोऽप्यन्वक्स्थान्येव ॥ ३४ ॥

अनु०-किन्तु जिस ध्यकिक का आचार्य-शिष्य सम्बन्ध कौं छोड़कर किसी अन्य कारण से सम्माननीय स्थान हो तो उसके प्रति उसी प्रकार का आदर का व्यवहार करे जैसा आचार्य के प्रति विहित है, भले ही वह आचार्य से अवर हो ॥ ३४ ॥

भुक्त्वा चास्य सकाशे नानूत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेत् ॥ ३५ ॥

आचार्यत्व भुञ्जानस्याऽभुञ्जानस्य वा सकाशे भुक्त्वा अनूत्थाय छान्दसो दोषः । उत्थानमकृत्वा उच्छिष्टं न प्रयच्छेत् 'आर्याय वा पर्यवदव्या' विति-यद्विहितम् ॥ ३५ ॥

अनु०-गुरु के निकट भोजन करके बिना उठे ही उच्छिष्ट को न दे । (अर्थात् 'आर्याय वा पर्यवदव्यात्' रिपय से किसी को उच्छिष्ट देते समय उठ कर दे ॥ ३५ ॥

आचामेद्वा ॥ ३६ ॥

आचमनमप्यनुत्थाय न कुर्यात् ॥ २६ ॥

अनु०-आचमन भी बिना ठठे हुए न करे ॥ २६ ॥

किं करवाणीत्यामन्व्य ॥ २७ ॥

आचम्य किं करवाणीति गुरुमामन्व्य ॥ २७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने पशुी कण्टिका ॥

अनु०-आचमन करने के बाद गुरु से कार्य के विषय में पूछे ॥ २७ ॥

—:—

उत्तिष्ठेत्तूष्णीं वा ॥ १ ॥

उत्तिष्ठेत् तूष्णीं वा । विकल्पः । आमन्त्रयेति लिङ्गान् 'उध्यायाप्याचम-
नाचार्यसकाल एवाऽऽचामेत् ॥ १ ॥

अनु०-अथवा चुस्वान ठठे ॥ १ ॥

नापपर्यावर्तेत गुरोः प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयात् ॥ २ ॥

उत्थाय कार्यवत्तया गन्तुमिच्छन् गुरोरप्य अपसम्बन्धं न पर्यावर्तेत । किन्तु
प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयात् ॥ २ ॥

अनु०-(ठठकर कार्य के लिए जाते समय) अरना चार्वा हाथ गुरु की ओर
करके ठसके चारो न घूने । उसकी ओर अरना दाहिना हाथ करके ही प्रदक्षिणा करे
और तब रूपने कार्य पर बावरे ॥ २ ॥

न प्रेक्षेत नग्नां स्त्रियम् ॥ ३ ॥

यां प्रेक्षमाणस्य मनसो विकारो भवति तां नग्नां स्त्रियं नैक्षेत् ॥ ३ ॥

अनु०-नम स्त्री की ओर न देखे ॥ ३ ॥

^३ओषधिवनस्पतीनामाच्छिद्य नोपजिघ्रेत् ॥ ४ ॥

ओषधयः पश्यपाकान्ताः । वनस्पतयो ये पुष्यैर्विना फलन्ति । योऽद्भुता
षामप्युपलभ्यन्ते । तेषां पत्रपुष्पाण्याच्छिद्य नोपजिघ्रेत् । 'आच्छिद्ये' तिचरना
^३शादच्छिद्यमानो न द्रोपः ॥ ४ ॥

अनु०-वृक्षने के लिए किसी वृक्ष या वनस्पति की पत्ती या फूल न तोड़े ॥ ४ ॥

१. उतथायाऽचाचमनं न कुर्यात्, आचार्यमसौ एवाचातेत् । इति. ए० पु०

२. "अथैतत् ब्रह्मचारिणः पुंसो गन्धो य ओषधिवनस्पतीनां तानां पुंस्यं गन्धं
पच्छिद्य नोपजिघ्रेत् नेन तं पुंसं गन्धमब्रह्मण्ये" इति होरपदासनम् । (गी० भा०
१. २. २.)

१. शादच्छिद्ये गन्धग्रहणे न द्रोपः इति ए० पु०

उपानहौ छत्रं यानमिति वर्जयेत् ॥ ५ ॥

यानं शकटादि । इतिशब्द एवंप्रकाराणामुपलक्षणार्थः । तत्र गौतमः—'वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवारवज्जाञ्जनाञ्चञ्जनयानोपानच्छुक्रकामक्रोधलोभमोहवाद्वाद्दानसनादन्तघावनहर्षवृत्तगीतपरिवादभयानीति ॥ ५ ॥

अनु०—जूठा, छाता, रथ आदि के प्रयोग का वर्जन करे ।

टिप्पणी—पीतमचर्मसूत्र में मधु, मांस, गन्ध, माल्य, दिनमें सोना, अञ्जन, अमंजन, यान, जूठा, छत्र वस्तुएँ, काम, क्रोध, लोभ मोह, वाद, वादन त्दान, दौतीन, हर्ष, वृत्त, गीत, परिवाद, भय का वर्जन करने का नियम बताया गया है ॥ ५ ॥

न स्मयेत ॥ ६ ॥

स्मितं न कुर्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—स्मित न करे ॥ ६ ॥

यदि स्मयेताऽपिगृह्य स्मयेतेति हि ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

यदि हर्षान्तिरेकं धारयितुं न शक्यते अपिगृह्य हस्तेन मुखं पिधाय स्मयेत इति ब्राह्मणं 'न स्मयेते'द्वयारभ्य ॥ ७ ॥

अनु०—यदि (हर्षान्तिरेक से स्मित करे तो हाथ मुँह को ढककर देता ब्राह्मण का वचन है ॥ ७ ॥

^३नोपजिघ्रेत् क्षिय मूलेन ॥ ८ ॥

गता भ्रमुलिस्तां वा स्त्रियं बालामपि मुखेन नोपजिघ्रेत् । 'मुखेने' ति वचनाद्यादृच्छिके गन्धाद्यामे न दोषः ॥ ८ ॥

अनु०—किसी स्त्री को मुख से न सूँघे ।

टिप्पणी—इसका ता पर्य यह है कि जानबूझ कर न सूँघे अनचाहे उसकी गन्ध सूँघ लो जाय उसमें दोष नहीं । स्त्री से यहाँ सुगन्धित द्रव्यों का लेप करने वाली स्त्री से तात्पर्य है । व्याख्याकार ने छोटी कन्या के भी सुगन्धित द्रव्यों के लेप से युक्त होने पर जानबूझ कर सुगन्धित को सूँघने का निषेध किया है ॥ ८ ॥

न हृदयेन प्रार्थयेत् ॥ ९ ॥

१. गो० ध० २. १. ३.

२ पञ्च इ वा एते ब्रह्मचारिण्यन्नयो धीयन्ते द्वौ पृथग्यत्त्वयोर्मुखे हृदये उपस्य एव पञ्चमः । स यदक्षिणे पाणिना स्त्रियं न स्पृशति तेनाहर्दर्याङ्गिनां लोकमवदन्वे, यत्स्थेन तेन प्रवाचिनाम् यन्मुखेन, तेनानिमस्कन्दिनां, यद्दृष्टयेन तेन शृण्णां, यदुपस्थेन तेन गृह्मेचिनां, तेभ्येत् क्षिय पगहृत्त्यनग्निरेव शिष्यते ॥ इति गो० ब्रा० १. २. ४

१. अत्रुलिताङ्गो इति. ख० पु०

अनु०-विद्यार्थी जिन-जिन का अपने आचार्य द्वारा पादोपसंग्रहण किया जाना देखे उन-उन गुरुओं का उक्त अवरथा में रहते समय तक उपसंग्रहण करे ।

टि०-इस विषय में प्रश्न है कि क्या यह प्रश्नचारी उनके धारण का उपसंग्रहण सहा करे ? कुछ धर्मज्ञ केवल उक्तों अवरथा में पादोपसंग्रहण मानते हैं किन्तु अन्य लोग उक्त समय के बाद प्रत्येक अवसर पर उनके पादोपसंग्रहण का विधान करते हैं ॥१३॥

गुरुसमवाये भिक्षायामुत्पन्नायां यमनुवद्धस्तदधीनाभिक्षा ॥ १४ ॥

यदा द्वितीयं तृतीयं वा वेदमर्षीयानस्य माणवकस्य गुरुसमवायो भवति गुरुवः समवेता भवन्ति, तदा भिक्षायामुत्पन्नायां यं गुरुभिक्षादीनीमनुबद्धो माणवकः यतोऽधीते तदधीना भिक्षा, यच्च यावच्च लब्धं तत्तन्ने निवेदनीयम् । तदुक्तञ्च विनियोगः ॥ १४ ॥

अनु०-यदि किसी विद्यार्थी के कई आचार्य हों तो उसके द्वारा प्राप्त भिक्षा उसके समस्त प्रस्तुत की जायगी जिसके अमीन यह उस समय अध्ययन कर रहा हो ।

टि०-किसी शिष्य के अनेक आचार्य उस स्थिति में होंगे जब शिष्य ने कई वेदों का अध्ययन किया हो, क्योंकि सामान्यतः एक आचार्य एक ही वेद का अध्यापन करता है ॥ १४ ॥

समावृत्तो मात्रे दद्यात् ॥ १५ ॥

कृतसमावर्तनो विद्याहात्प्रागर्जितं मात्रे दद्यात् ॥ १५ ॥

अनु०-जब विद्यार्थी समावर्तन के बाद घर लौटे हो (विवाह के पूर्व) अर्जित बलुद्ध माता को प्रदान करे ॥ १५ ॥

माता सतारं गमयेत् ॥ १६ ॥

माता पतिं प्रापयेत् ॥ १६ ॥

अनु०-माता उस बलु को अपने पति को देवे ॥ १६ ॥

भर्ता गुरुम् ॥ १७ ॥

प्रापयेत् । माणवकस्य गुरुम्, माणवकर्जितं द्रव्यं तन्नामि युक्तम् ॥ १७ ॥

अनु०-पति उस अर्जित बलु को उस शिष्य के गुरु को प्रदान करे ॥ १७ ॥

धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत् ॥ १८ ॥

धर्मकृत्यानि विवाहादीनि । तेषु वोपयोजयेत् । गुरोरभावे भर्ता, तदभावे माता, सर्वेषामभावे समावृत्तस्वयमेव वा ॥ १८ ॥

अनु-अथवा उस अजित धन का उपयोग (विवाहादि) धर्मकार्यो में करे ॥ १८ ॥

कृत्वा विद्यां यावतीं शक्नुयात् वेददक्षिणामाहरेद्धर्मतो

याथाशक्ति ॥ १९ ॥

यावतीं विद्यां कर्तुं शक्नुयात् वेदं वेदां वेदान्वा तावतीं कृत्वा अधीत्य गुरुं
दक्षिणामाहरेत् दद्यात् । यथाशक्ति धर्मत उपलब्ध्यां न्यायाजिताम् ॥ १९ ॥

अनु-अजितनी विद्याओ का अध्ययन कर सकता हो उतनी विद्या-शाखाओ का
अध्ययन करके असनी शक्ति के अनुसार तथा धर्मानुबद्ध विधि से अजित करके गुरु
को दक्षिणा दे ।

दितुं-यावतीं विद्यां से एकवेद, दो वेदो या होन वेदों के अध्ययन से
तात्पर्य है ॥ १९ ॥

धर्मत इत्यम्पापघातः—

विपमगते त्वाचार्यं उपगतः शूद्रतो वाऽऽहरेत् ॥ २० ॥

यदा त्वाचार्यो विपमगतः आपद्रुतः तदा उपगतः शूद्रतो वाऽपि प्रतिगृह्य
दक्षिणामाहरेत् । वैश्याच्छूद्रायां जात उपगतः, उपक्रमो वा द्विजातिः ॥ २० ॥

अनु-किन्तु यदि आचार्य विपत्ति की अवस्था में हो तो उपगत या शूद्र से भी धन
लेकर दक्षिणा दे सकता है ।

दितुं-वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री का पुत्र उपग्र कहलाता है । अथवा उपक्रमो
द्विजाति । मयंग्रह कर्ण करने वाला द्विजाति ॥ २० ॥

संवदा शूद्रत उपगतो वाऽऽचार्यार्यस्याहरणं धर्म्यमित्येके ॥ २१ ॥

सर्वदा आपद्रयानापदि च, आचार्यार्ययो देयोऽर्थः तस्य, उपगतः शूद्रतो
वाऽऽहरणं धर्म्यं धर्मादानेवमित्येके मन्यन्ते । 'धाभ्यः'मिति पाठे त्वार्यं
प्यन् ॥ २१ ॥

अनु-किन्तु कुछ लोगो का मत है कि आचार्य की दक्षिणा के लिए शूद्र और
उपग्र से भी धन लेना धर्मसंमत है ॥ २१ ॥

दत्त्वा च नाऽनुकथयेत् ॥ २२ ॥

आचार्यार्य एवामाहृत्य दत्त्वा न कीर्तयेत्, -एतन्मया दत्तमिति ॥ २२ ॥

अनु-आचार्य के लिए इस प्रकार धन देकर उत्तका बलान न करे ॥ २२ ॥

कृत्वा च नाऽनुस्मरेत् ॥ २३ ॥

गुरवे प्राणसंशयादी महान्तमप्युपकारं कृत्वा नाऽनुस्मरेत् नाऽशुचिन्तयेत्—
अहो मयैतत्कृतमिति ॥ २३ ॥

अनु- (गुरु के संकट में) उपकार करके उसे स्मरण नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

आत्मप्रशंसां परगर्हामिति च वर्जयेत् ॥ २४ ॥
इतिक्रणादेवंप्रकाराणामात्मनिन्दादीनामपि प्रतिषेधः ॥ २४ ॥
अनु० आत्मप्रशंसा तथा परनिन्दा आदि न करे ॥ २४ ॥

प्रैपित' स्तदैव प्रतिपद्येत ॥ २५ ॥

इदं कुर्वित्याचार्येण प्रेषितस्तदैव प्रतिपद्येत कुर्यात् क्रियमाणमपि कर्म विहाय, यद्यपि तदाचार्यस्य भवति ॥ २५ ॥

अनु० (किसी कार्य को करने के बीच में) गुरु के किसी अन्य कार्य के लिये आदेश देने पर तत्काल करे । (पहले से किये जाते हुए कार्य को छोड़ दे, भले ही वह कार्य आचार्य का ही हो) ॥ २५ ॥

धास्तुह्वाऽनागमाद्वृत्तिरपन्त्र ॥ २६ ॥

तस्मिंश्च 'विद्याऋर्मान्त' मित्यस्यापवादः । यद्यधिगन्तुमिष्टा विद्या शास्तुः शाशितुराचार्यस्य सन्त्यङ्नाऽऽगच्छति तदा तस्यानागमात् अन्यत्र पुरु-
पात्तरे वृत्तिर्भवत्येव यस्य सन्त्यगागच्छति । 'येपमाचार्योविधिप्रयुक्तमध्ययनं तेपामेतन्नोपपद्यत' इत्यवोचाम ॥ २६ ॥

अनु० यदि जिस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा हो उसका अप्याप्त करने में गुरु असमर्थ हो तो वह दूरसे गुरु के समोप जात्रे और अध्ययन करे ॥ २६ ॥

अन्यत्रोपसङ्ग्रहणादुच्छ्रियाशान्चाऽऽचार्यवदात्रा-

यंदारे वृत्तिः ॥ २७ ॥

अन्यत्रेत्युभयोश्शेषः । आचार्यवदाचार्यंदारे वृत्तिः कर्तव्या । किमविशेषण ? अन्यत्रोपसङ्ग्रहणादुच्छ्रियाशान्चा, पादोपसङ्ग्रहणमुच्छ्रियाशानं च इत्येतदुभयं वर्जयित्वा । अत्र मनुः-

‘गुरुवद्गुरुपत्नीषु युवतीर्नाभिवादयेत् ।’ इति ।

गौतमस्तु, ‘‘तत्रार्यापुत्रेषु चैवं नोच्छ्रियाशान्तानापनप्रसाधनपादप्रक्षालनो-
न्मदनोपसङ्ग्रहणानि’ इति । ‘दार’ इत्येक्यचनं छान्दस्म् ॥ २७ ॥

अनु० आचार्य को पत्नी के प्रति भी आचार्य के प्रति किये जाने वाले सम्मान-

१. तदेव इति ख० पु० २. तदाचार्याय इति ख० पु०

३. देवामित्याद्ययोच्चागेत्तन्तः पाठो नास्ति ख. पुस्तके

४. मनु. स्मृ० २. २१२. गुरुपत्नीषु युवतिर्नाभिवाचोह पादयोः । इति मुद्रितमनु
स्मृतिपाठः ।

५. गौ० घ० २. ३१ ३२

पूर्ण व्यवहार की तरह व्यवहार करे, किन्तु आचार्य पत्नी के चरण का उपसंग्रह न करे और उच्छिष्ट का भोजन न करे।

टि०—मनु और गौतम के भी विचार इसी प्रकार के हैं ॥ २७ ॥

तथा समादिष्टेऽध्यापयति ॥ २८ ॥

य आचार्येण समादिष्टो नियुक्तोऽध्यापयति तस्मिन्नाचार्यदार्यवद्वृत्तिः ।
'अध्यापयतो'ति यत्तस्मानन्निर्देशा' द्यावदध्यापनमेवायमतिदेशः ॥ २८ ॥

अनु०—इसी प्रकार का व्यवहार उस अध्यापक के प्रति भी करे जो गुरु के आदेश से उसे (कुछ समय के लिए) पढ़ावे ॥ २८ ॥

वृद्धतरे च सत्रह्यचारिणि ॥ २९ ॥

अध्यापयतीति नाऽनुवर्तते । तरनिर्देशात् ज्ञानवयोभ्यामुभाभ्यां वृद्धो गृह्यते ।
सत्रह्यचारो सहाध्यायी, समाने ब्रह्मणि व्रतं चरतीति । तस्मिन्नाचार्यदार्यव-
द्वृत्तिः ।

'आचार्यात्पाद्मादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया ।

पादं सत्रह्यचारिभ्यः पादः कालेन पच्यते ॥'

इत्यध्ययने उपयोगसम्भवात् ॥ २९ ॥

अनु०—इसी प्रकार का व्यवहार उस सहाध्यायी के प्रति भी करना चाहिए जो विद्या और ब्रह्मचर्यव्रत में अपने से थोड़ा हो ।

टि०—भेद ब्रह्मचारी इस कारण भी आदरणीय होता है कि शिष्य बहुत-सा ज्ञान पहले से अध्ययन करने वाले शिष्यों से प्राप्त करता है । जैसा कि यहाँ व्याख्या में उद्धृत श्लोक में कहा गया है विद्यार्थी अपने ज्ञान का चौथाई भाग गुरु से, चौथाई अपने से भेद सहाध्यायियों से, चौथाई अपनी बुद्धि से और शेष समय से ग्रहण करता है ॥ २९ ॥

उच्छिष्टाशनवर्जमाचार्यवदाचार्यपुत्रे वृत्तिः ॥ ३० ॥

'उच्छिष्टाशनवर्ज'मिति वचनादुपसङ्गमङ्गं भवति । एतच्च ज्ञानवयोभ्या-
मुभाभ्यां वृद्धे । तदर्थं वृद्धतर इत्यनुवर्तते । गौतमीयस्तुपसङ्गग्रहणप्रतिषेधो वृद्ध-
तरादन्यविषयः ॥ ३० ॥

अनु०—(अपने से विद्या या आशु में श्रेष्ठ) गुरु के पुत्र के प्रति भी उसी प्रकार का व्यवहार करे जैसा गुरु के प्रति विहित है, किन्तु उसके उच्छिष्ट का भोजन न करे ॥ ३० ॥

समावृत्तस्याप्येतदेव सामयाचारिकमेतैषु ॥ ३१ ॥

कृतसमावर्तनस्याप्येतदेवानन्तरोक्तम् । एतेष्व्याचार्याद्विदुः पुत्रान्तेषु सामयाचारिकं समयाचारप्राप्तं धृतमन्त्रात् । समादिष्टे त्वय्यापयीतेति (२९) विशेष उक्तः ॥ ३१ ॥

॥ इत्यापस्तम्बीयधर्मसूत्रधृत्ताबुज्वलायां सप्तमी कण्डिका ॥

अनु०—समावर्तन के बाद (घर लौटने पर भी) इन आचार्यादिक के प्रति सामयाचारिक आचरण (जीवन पर्यन्त) करे ॥ ३१ ॥

—:०:—

यथा ब्रह्मचारिणो वृत्तम् ॥ १ ॥

समाधृतस्येति ^१ वर्तते । समाधृतस्य ^२ ब्रह्मचारिणोऽकृतविवाहस्य यथा धृतं वर्तनम् तथा वक्ष्यामः ॥ १ ॥

अनु०—समावर्तन के बाद (विवाह से पूर्व) ब्रह्मचारी की तरह ही आचरण करे ॥ १ ॥

माल्यालिसमुख उपलिप्तकेशश्मश्रुकोऽभ्यक्तो वेष्टिसुपवेष्टितो काञ्चु-
क्युपानही पाटुकी ॥ २ ॥

माली मालाधान् । आलितमुखध्वन्न्नादिना । मुखग्रहणमुपलक्षणम् । ^१मुखमध्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेदित्याश्वलायनवचनात् । सुगन्धिभिरामलकादिभिर्द्व्यैरुपलिप्तानि संस्कृतानि केशश्मश्रुणी यस्य सः उपलिप्तकेशश्मश्रुः । अक्तः अञ्जनेनाऽदृशोः । अभ्यक्तः तैलेन । वेष्टितो वेष्टितशिरः । कटिप्रदेशो द्वितीयेन वाससा वेष्टितो यस्य सः उपवेष्टितो कञ्चुकञ्चोपानञ्च कञ्चुकोपानहम् ^२ द्वन्द्वानुपहान्तादित्यच् सामासान्तः । तदस्यास्तीति कञ्चुकोपानही । द्वन्द्वोपतामग्नोत्प्राणिगथादिनिप्रत्ययः । प्रसिद्धे पाठे कञ्चुकमेव काञ्चुकं तद्वान् काञ्चुकी । उपा-
नद्वानुपानही । त्रीइयादिसादिनिः । पाटुके दारुमये पादरक्षणे तद्वान् पाटुकी ॥ २ ॥

अनु०—बह माला पहन सकता है, ध्वन्नादि से मुख का लेप कर सकता है, केश और दाढ़ी-मूछी में तेल लगा सकता है (आली में) अञ्जन लगा सकता है, पगड़ी, कटि के ऊपर बाँधने वाला दुपट्टा कञ्चुक (लम्बा कुर्ता) जूते और खड़ाक पहन सकता है ॥ २ ॥

उदाचारेषु चास्यैतानि न कुर्यात्कारयेद्वा ॥ ३ ॥

अस्याऽऽचार्यादेः पुत्रान्तस्य उदाचारेषु दृष्टिगोचरेषु देशेषु एतानि माल्या-
दीनि न कुर्यात्कारयेद्वा ॥ ३ ॥

१. अनुवर्तत इति ख० पु०

२. आसव० गृ० ३. ८. १०

४. पा० सू० ५. ४. १०६. चवर्गान्तात् वदान्ताच्च द्वन्द्वद्वचं स्यात् समाहारे इति धनाथः ।

२. कृतविवाहस्य इति क० पु०

अनु०—आचार्य आदि के सामने ये सब कार्य न करे और न कराये ॥३॥

स्वैरिक्कर्मसु च ॥ ४ ॥

एतानि न कुर्यात् कारयेद्वा ॥ ४ ॥

अनु०—अपने सुल के लिये कार्य करते समय माहयधारण आदि न करे और न दूसरे व्यक्ति द्वारा कराये ॥ ४ ॥
तत्रोदाहरणम्—

यथा दन्तप्रसालनोत्सादनावलेखनानीति ॥ ५ ॥

दन्तप्रक्षालनं दन्तधावनम् । उत्सादनमुद्धर्तनम् । अवलेखनं कङ्कताशिला
केशानांविभागेनाऽव्यथापतनम् । इतिशब्दः प्रदर्शनार्थः । तेन स्नानभोजनमूत्रो-
धारदिष्वपि प्रतिषेधः ॥ ५ ॥

अनु०—यथा दंतों की सफाई, केशों को साफ करना तथा उनमें कंधी आदि भी न करे ॥ ५ ॥

तददव्याणां च न कथयेदात्मसंयोगेनाऽऽचार्यः ॥ ६ ॥

तस्य शिष्यस्य गृहस्थभूतस्य यानि द्रव्याण्युपरथापितानि तेषां मध्ये एकैनापि
द्रव्येण यथाऽऽत्मा संयुज्यते तथा न कथयेत् । आचार्यः शिष्यगृह' मेल्य
अहो दर्शनीयं भोजनपात्रमित्यादि^२ लिप्सा यथा गम्यते तथा न
कथयेदिति ॥ ६ ॥

अनु०—(गृहस्थ) शिष्य की बस्तुओं में से किसी के प्रति लिप्सा प्रदर्शित करते हुए आचार्य उल्लेख न करे ।

टि०—आचार्य जब भी अपने गृहस्थभूत शिष्य के घर आवे तो उसके घर की बस्तुओं को देखकर किसी की भी इस प्रकार प्रशंसा न करे बिलसे उसका उस बस्तु को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट हो ॥ ६ ॥

स्नातस्तु काले यथाविध्यभिहृतमाहूतोऽभ्येतो वा

न प्रतिसंहरेदित्येके ॥ ७ ॥

१'वेदमधीत्य स्नास्य' नित्यनेन विधिना स्नातः तस्मिन्काले यथाविध्यभि-
हृतमावद्धं स्यादि आचर्येणाहूतः स्यमेव वा तत्समीपमभ्येतो न प्रतिसंहरेत्
न विमुञ्चेदित्येके मन्यन्ते । स्वपक्षस्तु तदापि मुञ्चेदिति । 'काले यथाविध्यभि-
हृत' मिति वचनादपरेदुर्युरास्य प्रतिसंहरेत्येव ॥ ७ ॥

अनु०—किन्तु कुछ धर्मज्ञों का मत है कि (वेदों का अध्ययन करने के बाद) स्नान कर लेने वाला शिष्य गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर अपना स्वयं गुरु से मिलने के लिये जाने पर विधि के अनुसार धारण की गई माला आदि को न निकाले ।

टि०—यह मत आपसम्भव को मान्य नहीं है । उपर्युक्त तीसरे सूत्र के विपरीत है, व्याख्याकार हरदत्त ने भी स्पष्ट किया किया है : “स्वयशस्तु तदापि मुञ्चेदिति” ॥७॥

उच्चैस्तरां नाऽऽसीत् ॥ ८ ॥

स्वार्थे तरप् । आचार्यासनाद्बुधासने नाऽऽसीत् ॥ ८ ॥

अनु०—अपने गुरु के आसन से अधिक ऊँचे आसन पर न बैठे ॥ ८ ॥

तथा ब्रह्मपादे ॥ ९ ॥

नीचेऽप्यसने ब्रह्मपादे नाऽऽसीत् ॥ ९ ॥

अनु०—किसी ऐसे आसन पर भी न बैठे जिसमें गुरु के आसन की अपेक्षा अधिक पाये हों ॥ ९ ॥

सर्वतः प्रतिष्ठते ॥ १० ॥

आसने आसीत् । आचार्य पीठादातुपर्वस्य स्वयं वेत्रासनादावासीत् । तद्विद्भूमौ सर्वतः प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

अनु०—(आचार्य को पीढ़े आदि पर बैठाकर) स्वयं ऐसे आसन पर बैठे जो सभी और से पृथ्वी पर लगा हो (यथा चढाई) ।

टि०—इस सूत्र के अर्थ करने में भ्रान्ति भी दिखाई पड़ती है, कुछ लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि ‘सर्वतः प्रतिष्ठिते न आसीत्’ और इसका संबन्ध ऊपर के सूत्र ८ के साथ ही जोड़कर अर्थ करते हैं । किन्तु हरदत्त ने व्याख्या में स्पष्ट किया है कि ऐसे ही आसन पर बैठे “आसने आसीत्” । आचार्य को पीठादि पर बैठाकर स्वयं वेत्रासनादि पर बैठे । ब्रूलेर ने इस सूत्र की हरदत्त की व्याख्या को विपरीत अर्थ में लेकर उल्टा अनुवाद कर दिया है ॥ १० ॥

शय्यासने चाऽऽचरिते नाविद्येत् ॥ ११ ॥

आचार्येणाचरित उपसुक्ते शय्यासने नाऽऽविद्येत् । शयने न शयीत आसने नासीत् । पित्रादिष्वपि गुरुषु समानमिदम् । तथा च मनुर्विधेयिणाह—शय्यासने चाधुष्यति श्रेयसा न समाचरेत् १’ इति ॥ ११ ॥

अनु०—बिस्त आसन पर गुरु बैठते हों उस पर न बैठे तथा जिस शय्या पर बैठे हों उस पर न सोये ॥ ११ ॥

१. मनु० २. ११९ ‘शय्यासनेऽप्याचरिते’ इति मेघातिसम्मतः पाठः । शय्या चासनं चेति इन्द्रैकवक्त्रावः ।

गतं समाधृतस्य वैशेषिकम् । अथ ब्रह्मचर्याविधेरेव शेषः—

यानमुक्तोऽध्वन्यन्वारोहेत् ॥ १२ ॥

यानं शकटाद्रि । आरोहेत्युक्तो गुरुणा पश्चाद्दारोहेत् । अध्वनि मागं 'छत्रं यानमिति वर्जये'दिति पूर्वोक्तस्य प्रतिषेधस्यापवादः । यानं च गुर्वां रुड-
मन्यद्वा ॥ १२ ॥

अनु०—यात्रा में किसी यान वर गुरु के चढ़ने के बाद ही चढ़े ॥ १२ ॥

सभानिकपकटस्वस्तराश्च ॥ १३ ॥

उक्तोऽध्वन्यन्वारोहेदित्येव । 'सभास्समाजाश्चे'त्यस्यापवादार्थं सभाग्रहणम्
निकयो नाम कृषीष्वलानामुपकरणं, कृष्टं क्षेत्रं येन समीक्रियते, यत्र कस्मि-
न्धिज्ञासृष्टे' केनचिद्वाकृत्यते । तत्र गुरुणा आकृत्यमाणोऽपि तेनोक्तस्सन्नारोहेत्
न त्वनौचित्यभयान्नारोहेदिति । कटो वीरणनिर्मिता शय्या । तत्र गुरुणोक्तस्सन्
सहाऽऽसीत । उत्सवाद्रोपेप आचारः । स्वस्तरो नाम पलालशय्या^३ नवस्व-
स्तरे संयिशन्ती' ति दर्शनात् । तत्रापि गुरुणोक्तस्सन् सहासनादि कुर्यात् ॥ १३ ॥

(गुरु के साथ) चटाईपर भी बैठे, ओर पुआळ की शय्या पर भी बैठे ।

टि०—निकप जोते हुए खेत को बराबर करने का उपकरण जिसे पाटा या हैगा
कहते हैं । यदि गुरु स्वयं उसे खींच रहे हो और शिष्य को उस पर बैडने का आदेश
दे तो शिष्य उस पर बैठे । इसी प्रकार गुरु के आदेश से उनके साथ एक ही चटाई
पर या पुआळ की शय्या पर बैठ-सो सकता है ॥ १३ ॥

नानभिभाषितो गुरुमभिभाषेत प्रियादयत् ॥ १४ ॥

गुरुणाऽनभिभाषितो गुरुं प्रति न किञ्चित् ब्रूयात् प्रियादन्यत् । प्रियं तु
ब्रूयान् यथा ते पुत्रोजात इति ॥ १४ ॥

अनु०—गुरु जब तक स्वयं कुछ अभिभाषण न करे तब तक गुरु से कुछ न कहे
किन्तु कोई प्रिय समाचार हो तो उनके अभिभाषण किए बिना उनसे कहे ॥ १४ ॥

व्युपतोदव्युपजापव्यभिहासोदामन्त्रणनामधेयग्रह-

प्रवणानीति गुरोर्वजयेत् ॥ १५ ॥

व्युपतोदः अह्वलयादिषट्कं यदाभिमुख्यार्थं क्रियते । व्युपजापः श्रोत्रयो
सुंहुर्मुहुर्जल्पनम् । यकारदछान्दसोऽपपठो वा । व्यभिहासः अभिमुख्येन हस-
नम् । उदामन्त्रणमुच्चैस्सन्बोधनम् ; यथा बधिंरं प्रति । नामधेयग्रहणं दर्शन्यां
पितृविहितस्य नाम्नाम्रणम् । न पूज्यनाम्नो भगवदादेः । प्रेषणमाज्ञापनम् ।

* केनचिदाकृत्यमाणे छेत्र समं भवति. इति. व० पु०

२. भाष ०प० १९-९

३. अह्वलयादिना सषट्कनम् इति व० पु०

एतानि गुरुविषये न कर्तव्यानि । इतिकरणादेवंप्रकाराणामन्येषामपि प्रतिषेधः ।
यथाऽऽह मनुः—

१ नोदाहरेत्तस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषित-
चेष्टितम् ॥ इति ॥ १५ ॥

अनुः—गुरु को अंगुलि से छूने, उनके कानों में धीमे स्वर में कुछ कहने, उनके
मुँह की ओर मुँह करके हसने, ऊँचे स्वर से उन्हें संबोधित करने, उनका नाम लेने,
उनको कीई आदेश देने आदि कर्मों का वर्जन करे अर्थात् ऐसा न करे ॥ १५ ॥

अपद्यर्थं जापयेत् ॥ १६ ॥

आपदि व्युपतोदादिभिरत्यर्थमभिप्रेतं ज्ञापयेत् । असति पुरुषान्त्वे
२ वचनेनापि बोधयेत्, न साक्षात्प्रपयेत्, यथा-शूलतोदो मे भवति,
स चाऽग्निना शाम्यति, न चात्र कश्चित्सन्निहितः, किं करोमि मन्त्रभाग्य
इति ॥ १६ ॥

अनुः—आपत्ति की अवस्था में इतने से किसी भी प्रकार से उन्हें मूखित करे
(साधन आदेश न देवे) ॥ १६ ॥
उत्तरे सूत्रे समावृत्तविषये—

सहवसनसार्थं प्रातरनाहूतो गुरुं दर्शनार्थो गच्छेत् ॥ १७ ॥

सह एकस्मिन् ग्रामे वसन् सायं प्रातरनाहूतोऽपि गुरुं दर्शनार्थो नान्यप्रयो-
जनो गच्छेत् ॥ १७ ॥

अनुः—यदि उसी ग्राम में निवास करवा हो (जिसमें गुरु निवास करते ही)
तो प्रातः काठ और सायं बिना बुलाये ही उनसे मिलने के लिये आवे ॥ १७ ॥

विप्रोष्य च तदहरेत्र पश्येत् ॥ १८ ॥

यद्वा प्रामान्तरं गतः प्रत्यागच्छति तद्वा तदहरेत्राऽऽचार्यं पश्येत् ॥ १८ ॥
अनुः—यात्रा से लौटने पर जिस दिन लौटकर आवे उसी दिन गुरु का
दर्शन करे ॥ १८ ॥

आचार्यं प्राचार्यं सन्निपाते प्राचार्यायोपसंगृह्योपसंज्ञि-

धृदौदाचार्यम् ॥ १९ ॥

आचार्यस्याऽऽचार्यः प्राचार्यः प्रपितामहवत् । यद्वा आचार्याय प्राचर्याय
च कार्यवशात् सन्निपातो मेलनं भवति, तद्वा प्राचार्याय द्वितीयार्थे वक्तुर्थी ।
प्राचार्यं पूर्वमुपसंगृह्य पश्चात्प्राचार्यमुपसङ्गृहीतुमिच्छेत् । न केवलं मनसा

गतं समावृत्तस्य वैशेषिकम् । अथ ब्रह्मचर्याविधेरथ शेषः—

यानमुक्तोऽध्वन्यन्वारोहेत् ॥ १२ ॥

यानं शकटादि । आरोहेत्युक्तो गुरुणा पश्चाद्दारोहेत् । अध्वनि मांने
'छत्रं यानमिति यज्ञेये'दिति पूर्वोक्तस्य प्रतिपद्यथापवादाः । यानं च गुर्वां हृद-
मन्यद्वा ॥ १२ ॥

अनु०—यात्रा में किसी यान पर गुरु के चढ़ने के बाद ही चढ़े ॥ १२ ॥

सभानिकपकटस्वस्तराश्च ॥ १३ ॥

उक्तोऽध्वन्यन्वारोहेदित्येव । 'सभासमाजाश्चे' त्यस्यापवादाद्यं सभाग्रहणम्
निक्रपो नाम कृपीयलानामुपकरणं, कृष्टं क्षेत्रं येन समीक्रियते; यद्य कस्मि-
न्धिदाहृष्टे' केनचिदाकृष्यते । तत्र गुरुणा आकृष्यमाणेऽपि तेनोक्तस्त्वारोहेत्
न त्वर्नोचित्यभयान्नारोहेदिति । कटो वीरणनिर्मिता शय्या । तत्र गुरुणोक्तस्त्वं
सहाऽसीत । उत्सवाद्येषु आचारः । स्वस्तरो नाम पलाशशय्या^१ नयस्व-
स्तरं संविशन्ती' ति दर्शयति । तत्रापि गुरुणोक्तस्त्वं सहासनादि कुर्यात् ॥ १३ ॥

(गुरु के आदेश से सभा में भी बैठे, और पुआक की शय्या पर भी बैठे ।

टि०—निक्रप जोते हुए खेत को बराबर करने का उपकरण जिसे पाटा या हेंगा
कहते हैं । यदि गुरु स्वयं उसे खींच रहे हो और शिष्य को उस पर बैठने का आदेश
दे तो शिष्य उस पर बैठे । इसी प्रकार गुरु के आदेश से उनके साथ एक ही चट्याई
पर या, पुआक की शय्या पर बैठ-सो सकता है ॥ १३ ॥

नात्तभिमापितो गुरुमभिभाषेत प्रियाद्व्यत् ॥ १४ ॥

गुरुणाऽनभिभाषितो गुरुं प्रति न किञ्चित् ब्रूयात् प्रियाद्व्यत् । प्रियं तु
ब्रूयान् यथा ते पुत्रोजात इति ॥ १४ ॥

अनु०—गुरु जब तक स्वयं कुछ अभिभाषण न करे तब तक गुरु से कुछ न कहे
किन्तु कोई प्रिय समाचार हो तो उनके अभिभाषण किए बिना उनके कहे ॥ १४ ॥

व्युपतोदव्युपजापव्यभिहासोदामन्त्रणनामधेयग्रहः—

प्रेषणानीति गुरोर्वर्जयेत् ॥ १५ ॥

व्युपतोदः'अह्वलयादिवटनं यदाभिमुल्यार्थं क्रियते । व्युपजापः श्रोत्रयो
सुष्ठुसुष्ठुजल्पनम् । चकारश्छन्दसोऽपठो वा । व्यभिहासः अभिमुल्येन हस-
नम् । उदामन्त्रणमुच्चैस्सम्बोधनम् ; यथा बधिरं प्रति । नामधेयग्रहणं दशम्यां
पितृविहितस्य नाम्नोमणम् । न पूज्यनाम्नो भगवदादेः । प्रेषणमाज्ञापनम् ।

१. केनचिदाकृष्यमाणे क्षेत्र समं भवति. इति. घ० पु०

२. भाष ०५० ११-९

३. अह्वलयादिना सघटनम् इति घ० पु०

एतानि गुरुविषये न कर्तव्यानि । इतिकरुणादेवंप्रकाराणामन्येषामपि प्रतिषेधः ।

यथाऽऽह मनुः—

‘ नोदाहरेत्तस्य नाम परोक्षमपि केवलम् । न चैवास्यानुकुर्यात् गतिभाषित-
चेष्टितम् ॥ इति ॥ १५ ॥

अनु०—गुरु को अंगुलि से छूने, उनके कानों में धीमे स्वर में कुछ कहने, उनके मुख की ओर मुख करके हसने, ऊँचे स्वर से उन्हें संबोधित करने, उनका नाम लेने, उनको कोई आदेश देने आदि कर्मों का वर्जन करे अपांत् ऐसा न करे ॥ १५ ॥

आपद्यर्थं ज्ञापयेत् ॥ १६ ॥

आपदि व्युपतोदादिभिरप्यर्थमभिप्रेतं ज्ञापयेत् । असति पुरुषान्तरे
वचनेनापि बोधयेत्, न साक्षात्पेयेत्, यथा-शूलतीक्ष्णो मे भवति,
स चाऽग्निना शाम्यति, न वात्र कश्चित्सन्निहितः, किं करोमि मन्दभाग्य
इति ॥ १६ ॥

अनु०—आपति की अवस्था में इनमें से किसी भी प्रकार से उन्हे सूचित करे
(साक्षात् आदेश न देवे) ॥ १६ ॥

उत्तरे सूत्रे समावृत्तविषये—

सहवसन्सायं प्रातरनाहूतो गुरुं दर्शनार्थो गच्छेत् ॥ १७ ॥

सह एकस्मिन् ग्रामे वसन् सायं प्रातरनाहूतोऽपि गुरुं दर्शनार्थो नान्यप्रयो-
जनो गच्छेत् ॥ १७ ॥

अनु०—यदि उसी ग्राम में निवास करता हो (जिसमें गुरु निवास करते हो)
तो प्रातः काठ और सायं बिना बुलाये ही उनसे मिलने के लिये जावे ॥ १७ ॥

विप्रोष्य च तदहरेव पश्येत् ॥ १८ ॥

यदा ग्रामान्तरं गतः प्रत्यागच्छति तदा तदहरेवाऽऽचार्यं पश्येत् ॥ १८ ॥

अनु०—यात्रा से लौटने पर जिस दिन लौटकर आवे उसी दिनगुरु का
दर्शन करे ॥ १८ ॥

आचार्यप्राचार्यसन्निपाते प्राचार्ययोपसंगृह्योपसस्त्रि-

पृक्षेदाचार्यम् ॥ १९ ॥

आचार्यस्याऽऽचार्यः प्राचार्यः प्रपितामहवत् । यदा आचार्यस्य प्राचार्यस्य
च कार्ययशान् सन्निपातो मेष्टनं भवति, तदा प्राचार्यस्य द्वितीयार्थं चतुर्थी ।
प्राचार्यं पूर्वमुपसंगृह्य पश्चात्प्राचार्यमुपसङ्गृहीतुमिच्छेत् । न केवलं मनसा

किन्तु यथाऽऽचार्यो जानाति मामयमुपसंखिप्रवृक्षतीति तथा चेष्टेत । अन्यथा अष्टार्थमुपदिष्टं स्यात् ॥ १९ ॥

अनु०—यदि आचार्य और आचार्य के भी आचार्य दोनों एक साथ मिल जाएँ तो पहले प्राचार्य के चरणों का उपसंग्रहण करे फिर आचार्य के चरण का उपसंग्रहण करने की चेष्टा करे ॥ १९ ॥

प्रतिषेधेदितरः ॥ २० ॥

इतर आचार्याः प्रतिषेधेत् 'यत्स मा मोंपसङ्गहीरिति ॥ २० ॥

अनु०—आचार्य उसे ऐसा करने से मना करे ॥ २० ॥

तुष्यते पूजा चाऽस्य सकाशे ॥ २१ ॥

अस्य प्राचार्यस्य सकाशे सन्निधौ आचार्यस्य पूजा लुप्यते न कार्यो । न केवलमुपसङ्गहणमेव । उत्तरसूत्रं समावृत्तविषयम् ॥ २१ ॥

अनु०—प्राचार्य के समीप आचार्य के लिए अन्य प्रकार की पूजा भी नहीं की जाती ॥ २१ ॥

मुहूर्त्वाऽऽचार्यकुलं दर्शनार्थो गच्छेद्यथाशक्यमधिहस्त्यमा-

दायाऽपि दन्तप्रक्षालनानीति ॥ २२ ॥

मुहूर्त्वेत्यनुस्वारदीर्घो छान्दसो । वीप्सालोपरचात्र द्रष्टव्यः । मुहुर्मुहुरिति विष-
क्षितम् । ग्रामान्तरे वसन्नपि मुहुर्मुहुराचार्यकुलं दर्शनार्थमागच्छेत् । यथाशक्ति
गोरसावृषादि अधिहस्त्यं हस्ते भयमादाय स्वयमेव गृहीत्वैत्यर्थः । अपिशब्दो-
भावे विधि शोतयति—गोरसाद्यभावे दन्तकाष्ठान्यपीति । इतिशब्द अन्ते वा-
सिधर्माणां समाप्तिशोतनार्थः ॥ २२ ॥

अनु०—(दसरे ग्राम में रहने पर भी) आचार्य का दर्शन करने के लिए
आचार्य के यहाँ बार-बार जावे और अपनी शान्ति के अनुसार दन्तके लिए कुछ न
कुछ वस्तु अपने हाथ से ले आवे, भले ही वह दातोन जैसी छोटी वस्तु क्यों न हो ।

टि०—रस सूत्र में इति' शब्द का प्रयोग अन्तेवासी के धर्म का विवेचन समाप्त
होने की सूचना देता है ॥ २२ ॥

'मातरं पितरमाचार्यमनींश्च गृहाणि च रिक्तपाणिर्नो-
पगच्छेद्वाजानं चेन्न श्रुतमिति ॥ २३ ॥

तस्मिन्गुरोर्धृत्तिः ॥ २४ ॥

तस्मिन्नन्तेवासिनि गुरोर्धृत्तिः । वृत्तेः प्रकारो वक्ष्यते ॥ २३-२४ ॥

अनु०—माता, पिता, आचार्य, अग्नि के समीप तथा घर में खाली हाथ न जावे अथवा यदि राजा को पहले से न जाने दो तो उसके समीप भी खाली हाथ न जावे ॥ २३ ॥

अनु०—अब शिष्य के प्रति गुरु के व्यवहार का विवेचन किया जायगा ॥ २४ ॥

पुत्रमिवैनमनुकाङ्क्षन् सर्वधर्मोऽनपच्छादयमानः सुयुक्तो विद्यां ग्राहयेत् ॥ २५ ॥

एतं शिष्यं पुत्रमिव अस्याऽभ्युदयः स्यादिति अनुकाङ्क्षन् सर्वेषु धर्मेषु किञ्चिदप्यनपच्छादयमानः अग्रहन् सुयुक्तः सुष्ठुप्रघटितः तत्परो भूत्वा विद्यां ग्राहयेत् ॥ ५ ॥

अनु०—शिष्य को पुत्र की तरह मानना हुआ (उसको उन्नति की कामना करत हुआ), ध्यान देकर सभी धर्मों में कुछ भी गुप्त न रखते हुए विद्या प्रदान करे ॥ २५ ॥

न चैनमध्ययनविघ्नेनाऽऽप्तमार्थेषूपरुन्ध्यादनापरसु ॥ २६ ॥

न चैनं शिष्यमध्ययनविघ्नेनाऽऽत्मप्रयोजनेष्वनपत्सूपरुन्ध्यात् १ उपरोधः अश्वत्तन्त्रीकरणम् १ 'अनापत्स्व' विवचनादाप्रद्यध्ययनविघातेनाऽभ्युपरोधे न दोषः ॥ ५६ ॥

अनु०—आपति के समय को छोड़कर अन्य समय में शिष्य के अध्ययन में विघ्न पहुँचाकर उसे अपने किसी कार्य में न लगावे ॥ २६ ॥

अन्तेवास्यनन्तेवासी भवति विनिहितात्मा गुरावैनपुणमापद्यमानः ॥ २७ ॥
'आपद्यमान' इत्यन्तर्भावितपर्यर्थः । योऽन्तेवासी विनिहितात्मा द्वयोर-चार्ययोः २ विविधं निहितात्मा गुरावैनपुणमापादयति—नाऽनेनाऽयं प्रदेशः सम्यगुक्त इति, सोऽन्तेवासी न भवति । स त्याज्य इत्यर्थः ४

अपर आह—योऽन्तेवासी वाङ्मनःकर्मभिरनैपुणमापद्यमानो गुरौ विद्वशं नहितात्मा भवति अरुह्यं न शुश्रूषते सोऽन्तेवासी न भवतीति ॥ २७ ॥

अनु०—जो अन्तेवासी दो गुरुओं से विद्या प्राप्त करते हुए (प्रथम) गुरु की विद्या की अहरता का उल्लेख करके निर्देश करता है वह अन्तेवासी नहीं रह जाता

टि०—हरत ने अपनी बाल्या में दूसरी बाल्या का भी निर्देश किया है

१. अम्यासादिषु इति ङ० पु०

२. उपरोध स्वतन्त्रीकरणम्, इति ङ० पु० ३. विधिवत् इति. ख० पु० ।

४. "अत्र मनुः-धर्मार्थो यत्र न स्यातां शुश्रूषा चापि तद्विद्या । तत्र विद्या न वतत्या शुभ वीजि धीपरं इति-"इत्यधिकः पाठो दृश्यते ख० पुस्तके ।

बिसके अनुसार जो शिष्य बचन, विचार, कार्य से गुरु के विपरीत आचरण करता है, उनकी शुद्ध्या नहीं करता, वह अन्तेवासी नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

आचार्योऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः ॥ २८ ॥

आचार्योऽप्यनाचार्यो भवतीति; त्याज्य इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? श्रुतात्परिहरमाणः तेन तेन व्यजेन विद्याप्रादानमकुर्वन् ॥ २८ ॥

अनु०—आचार्य भी बच : बहाने बनाकर) विद्या प्रदान करने से प्रमाद करता है तब वह आचार्य नहीं रह जाता और त्याज्य हीना है ॥ २८ ॥

अपराधेषु चैनं सततमुपालभेत ॥ २९ ॥

अपराधेषु कृतेष्वेनं शिष्यं सततमुपालभेत—इदमयुक्तं त्वया कृतमिति ॥ २९ ॥
अनु०—शिष्य के अपराध करने पर गुरु सदा ही उसे पटककर सकता है ॥ २९ ॥

अभिनाम उपवास उदकोपम्पर्शनमदर्शनमिति दण्डा

यथामात्रमानिवृत्तेः ॥ ३० ॥

अभिनासो भयोत्पादनम् । उपवासो भोजनलोपः । उदकोपस्पर्शनं शीतो-
दकेन स्नापनम् । अदर्शनं यथाऽऽस्ननं न पश्यति तथा करणम् । गृहप्रवेशनिषेधः
सर्वत्र ण्यन्तात् प्रत्ययः । इत्येते दण्डाः शिष्यस्य यथामात्रं यावत्पराराधमात्रा
तदन्तूरुं व्यस्ताः समस्ताश्च । आनिवृत्तेः यावद्दसौ न ततोऽपराधान्निवर्तते
तावदेते दण्डाः ॥ ३० ॥

अनु०—हराना, भोजन न देना ठंडे बाल से नरहाना, अपने समीप न आने
देना आदि शिष्य के लिए (उसके अपराध के अनुसार) दण्ड होते हैं और जब
तक वह अपराध करना न छोड़े दे तब तक ये दण्ड दिये जाते हैं ॥ ३० ॥

निवृत्तं चरितब्रह्मचर्यं मन्येभ्यो धर्मम्योऽनन्तरो भवेत्यतिसृजेत् ॥ ३१ ॥

एवं चरितब्रह्मचर्यं निवृत्तं गुरुकुलात् कृतसमावर्तनमित्यर्थः । एवंभूतम-
न्येभ्यो धर्मेभ्यो यमसावाश्रमं प्रतिपिस्तते तत्र तेभ्योऽनन्तरो भव यथा त्वम-
न्तरितो न भवसि तथा भवेत्युत्पवाऽविसृजेत् । तं तमाश्रमं प्रसिपत्सु-
स्तृजेत् ॥ ३१ ॥

इत्यापस्तम्बसूत्रदृष्टान्तानुज्ज्वलायामष्टमी कण्डिका ॥

इत चापस्तम्बपरमसूत्रवृत्तौ इरदक्षविरचितायामुज्ज्वलायां
प्रथमप्रश्ने द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

अनु०—ब्रह्मचर्य का मत पूरा करने पर, समावर्तन के बाद शिष्य को इन बचनों
के साथ विदा करे 'भव दूतरे कर्तव्यो मे रत होमो ॥ ३१ ।

द्विती पटलः समाप्त

अथ तृतीयः पटलः

एवमधेतुरध्यापयितुश्च घर्मा उक्ताः अथ देशकालकृता अध्ययनघर्मा लुच्यन्ते—
श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य मासं प्रदोषं नाधीऽयीत ॥ १ ॥
मेवादित्ये सवितरि यो यो दर्शोः प्रवर्तते ।

चान्द्रमास्तत्तद्दत्ताश्चैत्रादृथा द्वादश स्तनाः ।

तेषु या या पौर्णमासी सा सा चैत्र्यादिका स्मृता ।

कादाचित्केन योगेन नक्षत्ररसेति निर्णयः ।

तदेवं सिंहस्थे सवितरि याऽमावास्या तदन्ते चान्द्रससे मासे या मध्यब-
र्तिनी पौर्णमासी सा श्रावणी श्रवणयोगस्तु भवतु वा मा वा । तस्यां श्रावण्यां
पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य गृह्योक्तेन विधिनोपाकर्म कृत्वा स्वाध्यायमधीयीत ।
अधीयान्त्र मासमेकं प्रदोषे प्रथमे रात्रिभागे नाधीयीत गृह्णाध्ययनं धारणा-
ध्ययनं च न कुर्यात् । प्रदोषग्रहणाद्वात्रावय्यूध्वं न दोषः ॥ १ ॥

अनु०—भात्रण की पूर्णिमा को वेदाध्ययन का उपाकर्म करके एक मास तक
प्रदोष काल में अध्ययन न करे

टि०—उपाकर्म प्रतिवर्ष वेद का अध्ययन आरम्भ करने का कर्म है । सूत्र में केवल
प्रदोष में अर्थात् रात्रि के प्रथम माग में अध्ययन का निषेध किया गया है । अतएव
प्रदोष के बाद रात्रि में अध्ययन काने में कोई दोष नहीं है ॥ १ ॥

तैष्यां पौर्णमास्या रोहिण्यां वा विरमेत् ॥ २ ॥

तित्यः पुत्र्यः तेन युक्ता पौर्णमासी तैषी श्रावणोवत् । तस्यां विरमेत् ।
उत्सर्जनं कुर्यात् । तस्यापि प्रयोगो गृह्य एवोक्तः । रोहिण्यां वा, २ तैपमासि
विध्यात्पूर्वा या रोहिणी तस्यां वा विरमेत् । अतयोःपक्षयोः पञ्च मासान-
धीयीत ॥ २ ॥

अनु०—पौषमास की पौर्णमासी को अथवा उसके पूर्व भी रोहिणी नक्षत्र में
अध्ययन न करे ।

टि०—रस प्रकार पौष महीने अध्ययन का विधान किया गया है ॥ २ ॥

अर्धपञ्चमांश्चतुरो मासानित्येके ॥ ३ ॥

अर्धः पञ्चमो येषां ते अर्धपञ्चमाः । अर्धाधिचांश्चतुरो मासान् अधीयीते-
त्येपेक्ष्यत् इत्येके मन्यन्ते । अभिमन्ये प्रोत्प्रपाशुपाकरणं शास्त्रान्तरदर्शनात् ।

१. आपस्तम्बगृह्यसूत्रान्तरगतोपाकर्मोत्सर्जनपटलव्याख्यानेऽनाकुलायाभित्यर्थः ।

(आप० ग० सू० पृ० १५५) एतद्वचनब्रह्मदेव इदत्वनोपलक्ष्योत्सर्जनाद्व्याः पटलः
आपस्तम्बगृह्यान्वर्गौ ब्रह्मदेवात् इत्यवगम्यते इति न्यूनप्याम गृह्याटपण्याम् ।

२. 'तित्ये मासे भवा यारोहिणी' इति ङ, पु० । १. अत्र मनुः ४. १५. द्रष्टव्यः ।

उत्सर्जनस्य वा प्रतिकर्षः । उत्सर्जने च कृते श्रावण्याः प्राक् शुक्लपक्षेषु धारणा-
ध्ययनं वेदस्य कृष्णपक्षेषु व्याकरणाद्यङ्गाध्ययनम् । पुनः श्रावण्यामुपाकृत्यागृहो-
त्तभागस्य महणाध्ययनमिति । प्रपञ्चितमतद् गृह्ये ॥ ३ ॥

अनु०—बुद्ध धर्मज्ञों के अनुसार साढ़े चार महीने अध्ययन करे ।

टि०—जो लोग साढ़े चार मास अध्ययन की अवधि मानते हैं उनके अनुसार
उपाकर्म भाद्रपद पूर्णिमा को होना चाहिए । उत्सर्जन के बाद तक यह क्रम जारी
रखे । प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष में वेदांगों का व्याकरण आदि का अध्ययन करे ।
श्रावण की पूर्णिमा को उपाकर्म करके पहले न पढ़े गये वेद के अंश का
अध्ययन करे ॥ ३ ॥

निगमेऽवध्ययनं वर्जयेत् ॥ ४ ॥

निगमाश्चत्वरः । प्राप्तित्तिगमनासमार्गो वा; नियमेन गम्यते तेष्विति । सेतु
सर्वप्रकारमध्ययनं वर्जयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—चौरादों पर किसी भी प्रकार का अध्ययन न करे ॥ ४ ॥

आनडुहेन वा शकृत्पिण्डेनोपलिप्तेऽधीयीत ॥ ५ ॥

अनडुत्सम्बन्धिना वा शकृत्पिण्डेनोपलिप्य निगमेऽध्यधीयीत ॥ ५ ॥

अनु०—(रात्रिसय पर भी, चौरादों पर भी) गोबर से लिपे हुए स्थान पर
अध्ययन करे ॥ ५ ॥

श्मशाने सर्वतः शम्याप्रासात् ॥ ६ ॥

श्मशाने चाध्ययनं वर्जयेत् । सर्वतः सवासु दिक्षु । शम्या क्षिप्ता यावति
देशे पतति ततोऽर्वांगिति पञ्चमीनिर्देशाद्गम्यते ॥ ६ ॥

अनु०—श्मशान में तथा उसके चारों ओर शम्या (हुए की कीली) फैकने
पर बितनी दूरी तक वह जाती है उतना दूरी के भीतर अध्ययन न करे ॥ ६ ॥

श्रामेणाऽध्यवसिते क्षेत्रेण वा नाऽनध्यायः ॥ ७ ॥

यदा श्मशानं प्राप्ततया क्षेत्रतया वा अध्यवसितं स्वीकृतं भवति तदा
अध्येतव्यमेव ॥ ७ ॥

अनु०—यदि श्मशान के स्थान पर प्राप्त बना हो अथवा श्मशान को बौतकर
खेत बना दिया गया हो तो वहाँ अध्ययन कर सकता है ॥ ७ ॥

जायमाने तु तस्मिन्नेव देशे नाऽधीयीत ॥ ८ ॥

यदा तु तदध्यवसितमपि श्मशानं ज्ञायते-अयं स प्रदेश इति, तदा ताव-
त्येव प्रदेशे नऽधीयीत । न शम्याप्रासात् ॥ ८ ॥

अनु०—किसी जगह उस प्रदेश के श्मशान होने का ज्ञान हो तो वहाँ अध्ययन
न करे ॥ ८ ॥

'इमशान्वच्छूद्रपतिता ॥ ९ ॥

शूद्रापतितसकाशेऽपि शम्भ्याप्रासान्नाऽध्येयम् ॥ ९ ॥

अनु०—शूद्र वर्ण के तथा पतित ब्यक्ति भी इमशान के समान इते हैं (उनके समीप वेद का अध्ययन उसी प्रकार नहीं करना चाहिए जैसे इमशान में नहीं करना चाहिए ।) ॥ ९ ॥

समानागार इत्येके ॥ १० ॥

एके मन्यन्ते समानागारे शूद्रपतिता वज्र्यो, न शम्भ्याप्रासादिति ॥ १० ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि यदि शूद्र या पतित उसी मन्त्र में हों तो अध्ययन न करे ॥ १० ॥

शूद्राया तु प्रेक्षणप्रतिप्रेक्षणयोरेवाऽनध्यायः ॥ ११ ॥

शूद्रार्थां तु यदा परस्परं प्रेक्षणं भवति तदैवाऽनध्यायः । न समानागारे, नापिशम्भ्याप्रासादिति ॥ ११ ॥

अनु०—यदि शूद्रा स्त्री को देख रहा हो और शूद्रा स्त्री उसे देख रही हो तो अध्ययन न करे ॥ ११ ॥

तथाऽन्यस्यां स्त्रियां वर्णव्यतिक्रान्ताया मैथुने ॥ १२ ॥

शूद्राव्यतिरिक्ताऽपि या स्त्री मैथुने वर्णव्यतिक्रान्ता नीचगामिनी तस्या-
मपि प्रेक्षणप्रतिप्रेक्षणयोरनध्यायः ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार जब विद्यार्थी तथा अपने से नीच वर्ण के पुरुष के साथ यौन-
सम्बन्ध वाली स्त्री एक दूसरे को देखें तब विद्यार्थी अध्ययन न करे ॥ १२ ॥

ब्रह्माध्येष्यमाणो मलवद्वाससेच्छन् सम्भाषितुं ब्राह्मणेन सम्भाव्य तथा

सम्भाषेत । सम्भाव्य तु ब्राह्मणेनैव सम्भाष्याऽधीयीत ।

एवं तस्याः प्रजानिःश्रेयसम् ॥ १३ ॥

यो वेदमध्येष्यामाणो मलवद्वाससा राजस्वल्या सह सम्भाषितुमिच्छति
स पूर्वं ब्राह्मणेन सम्भाव्य षञ्चात्तया सम्भाषेत् । सम्भाव्य च पुनरपि
ब्राह्मणेनैव सम्भाष्याऽधीयीत । किमेवं सति भवति ? एवं तस्या मलवद्वा-
सस आगामिनी या प्रजा तस्या निःश्रेयसमभ्युदयो भवति । प्रजाहृपं वा नि-
श्रेयसं तस्या भवति । 'प्रजानिःश्रेय'मितिवचनान् विद्यवादिभिः सह सम्भा-
षणेनैतत्कर्तव्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन करने का व्रत लेने वाला विद्यार्थी यदि किसी राजस्वला
से बोलना चाहे तो उससे पहले किसी ब्राह्मण से भाषण करे फिर उस राजस्वला से

भाषण करे और ठुडुपरान्त ब्राह्मण से संभाषण करने के बाद ही अप्ययन करे । इस प्रकार उस रत्नस्वला स्त्री के सन्तान का अम्युदय होगा ।

टि०—इस सूत्र से यह व्यञ्जित होता है कि विषवा रत्नस्वला से संभाषण में ऐसा नियम नहीं होगा, क्योंकि उसके विषय में प्रबानिःशेयस का प्रयोजन नहीं होता ॥१३॥
 १ अन्तदशवम् ॥ १४ ॥

अन्तदशवो यत्र गामे तत्र नाध्येयम् । एतेना 'न्तश्चाण्डाल'मिति व्याख्या-
 तम् ॥ १४ ॥

अनु०—बिस नांव में शव पड़ा हो वहां अप्ययन न करे ॥ १४ ॥

अन्तश्चाण्डालम् ॥ १५ ॥

चण्डाल एव चाण्डालः । उभयत्र प्रथमा सप्तम्यर्थे । अव्ययीभावो वा विभक्तयर्थे द्रष्टव्यः ॥ १५ ॥

अनु०—बिस गांव में चण्डाल रहता हो वहां अप्ययन न करे ॥ १५ ॥

२ अभिनिस्तूतानां तु सीम्यनध्यायः ॥ १६ ॥

यदा शयाः सीमि अभिनिस्तूता भवन्ति तदा तत्राऽनध्यायः ॥ १६ ॥

अनु०—बब शव गांव की सीमा में ले जाया जा रहा हो तो अप्ययन न करे ॥ १६ ॥

सन्दर्शने चाऽरण्ये ॥ १७ ॥

अरण्ये च यावति प्रदेशे शयश्चण्डालो वा सन्दृश्यते तावत्यन-
 ध्यायः ॥ १७ ॥

अनु०—बन में भी बब तक शव या चण्डाल दिखाई पड़े रहा हो तब तक अप्ययन न करे ॥ १७ ॥

तदहरागतेषु च ग्रामं बाक्षेषु ॥ १८ ॥

बाक्षाः उपनिषदादयः परियन्थिनः तेषु च ग्राममागतेषु तदहरनध्यायः,
 तस्मिन्नुहनि नाऽध्येतव्यम् ॥ १८ ॥

अनु०—यदि (उम, निषाद आदि) बहिष्कृत जाति के लोग गांव में आ गये हों तो उस दिन अप्ययन न करे ॥ १८ ॥

अपि सत्सु ॥ १९ ॥

ये विद्याचरित्रादिभिर्महान्तः सन्तः तेष्वपि ग्राममागतेषु तदहरन-
 ध्यायः ॥ १९ ॥

अनु०—महान् पुष्ट्य मी गात्र नो आहं तो उस दिन अध्ययन न करे ॥ १९ ॥

सन्धावनुस्तनिते रात्रिम् ॥ २० ॥

सन्धिः सन्ध्या तस्मिन् सन्धौ । अनुस्तनिते भेषगलिते सति रात्रिं सर्वा रात्रिं नाऽधोयीत । वर्षतांविद्म् । अन्यस्मिन्नाधिकं वक्ष्यति ॥ २० ॥

अनु०—यदि सन्ध्या को भेषों की गर्जन होवे तो उस रात्रि में अध्ययन न करे ॥ २० ॥

स्वप्नपर्यान्तं विद्यति ॥ २१ ॥

अन्त्यो दीर्घं उपान्त्यो द्वयः । विपर्यासश्छान्दसोऽपपाठो वा । सन्धौ विद्यति सत्यां स्वप्नपर्यन्तां रात्रिमनध्यायः न सर्वांम् । स्वप्नपर्यन्ता रात्रिः प्रह-
रावशिष्टा ॥ २१ ॥

अनु०—यदि विद्यत् चमके तो सोने के समय तक अनध्याय रले ।

टि०—सारी रात अनध्याय नहीं होगा, अपितु सोकर उठने के बाद एक प्रहर अध्ययन किया जाय ॥ २१ ॥

एवं सायं सन्ध्यायानुक्तं, प्रातःसन्ध्यायामाह—

उपब्युपं यावता वा कृष्णा रोहिणीमिति शम्याप्रासाद्विजानीयादंत-
स्मिन्काले विद्योतमाने सप्रदोषमहरनक्षयायः ॥ २२ ॥

उपब्युपं उपस्समीपे तत्र विद्योतमाने विद्युति सत्यामपरेद्युस्सप्रदोषमहरन ध्यायः । प्रदोषादूर्ध्वं रात्रायध्ययतम् । यावता वा कालेन शम्याप्रासादवर्गब-
स्थितां गां कृष्णामिति वा रोहिणीमिति वा विजानीयात् । एतस्मिन्काले उपब्युपं विद्योतमान इत्यन्वयः रोहिणीं गौरवर्णां । इतिशब्दप्रयोगे द्विताया प्रथुन्यते
तत्राऽन्वयप्रकारश्चिन्त्यः ॥ २२ ॥

अनु०—यदि उषाकाल के समीप विद्युत की चमक दिखाई पड़े अथवा उस समय पर विद्युत दिखाई पड़े जब एक शम्या के फेरने भर की दूरी पर स्थित गौ के काली या लाल होने का ज्ञान न होता हो, तो वह उस दिन को तथा सन्ध्या को अध्ययन न करे ॥ २२ ॥

दहेऽपररात्रे स्तनयित्तुना ॥ २३ ॥

रात्रेऽस्तनीयो भागः सर्वोऽपररात्रः । तस्य त्रेधा विभक्तस्याद्योऽशौ महारा-
त्रः । अन्त्यो दहः । तस्मिन् दहेऽपररात्रे स्तनयित्तुना निमित्तेन सप्रदोषमहरन-
ध्यायः ॥ २३ ॥

अनु०—यदि रात्रि के तीसरे भाग के उचरार्द्ध में भेषगर्जन हो तो उसके बाद दिन भर या सन्ध्या को अध्ययन न करे ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वमर्घं रात्रादित्येके ॥ २४ ॥

अर्धरात्रादूर्ध्वमनन्तरोक्तौ विधिदित्येके मन्यन्ते । स्वपक्षस्तु दृढ एवेति ॥ २४ ॥

अनु०—कुछ घर्मशो का मत है कि यह नियम उस समय होता है जब रात्रि का पूर्वार्द्ध बीत जाने के बाद गर्जन हो ।

टि०—आपस्तम्ब को सूत्र २३ का नियम ही मान्य है ॥ २४ ॥

गवां चाऽवरोधे ॥ २५ ॥

दस्युप्रभृतिभिरयरुद्धासु गोषु तावन्तं कालमनभ्यायः अवरोधो प्रामात्रिर्गं मनिरोधः ॥ २५ ॥

अनु०—जब गौएँ अवरोध कर दी गईं हो तब अभ्ययन न करे ।

टि०—भ्याल्याकार इत्यक्ष के अनुसार जब गौएँ चोरी आदि द्वारा गौब से निकलने से रोक दी गईं हो ॥ २५ ॥

वध्यानां च यावता हन्यन्ते ॥ २६ ॥

वधार्हाणां चोरादोनामवरोधे यावता कालेन हन्यन्ते तावन्तं कालमनध्यायः ॥ २६ ॥

अनु०—वध के योग्य (चोर आदि) का जब वध क्रिया जा रहा हो तब उतने समय तक अनध्याय होता है जितने समय में उनका वध हो ॥ २६ ॥

पृष्ठाऽऽः पशूनां नाऽधीयीत ॥ २७ ॥

हस्त्यधार्दीनां पशूनां पृष्ठाऽऽः तत्राऽऽसीनस्सन्नाऽधीयीत ॥ २७ ॥

अनु०—, हाथी, अरब) आदि पशुओं के पीठ पर बैठकर (अध्यायन न करे) ॥२७॥

अहोरात्रावमावास्यासु ॥ २८ ॥

अमावास्यासु द्वावहोरात्रौ नाऽधीयीत । तासु च पूर्वेषु चतुर्दशीषु च । तथा च मनुः—'अमावास्याचतुर्दश्योः पूर्णिमास्यष्टकासु च ।' इति ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बसूत्रपृष्ठावृज्ज्वलायां नवमी कण्डिका ॥

अनु०—अमावास्या को दो दिन और दो रात्रि अभ्ययन न करे ॥ २८ ॥

नवमी कण्डिका समाप्त

—:०:—

चातुर्मासीषु च ॥ १ ॥

चतुर्षु मासेषु भवाश्चातुर्मास्यः संज्ञेया विसृणां पूर्णिमासीनां यासु चातुर्मास्यानि क्रियन्ते । काः पुनस्ताः? फाल्गुन्याषाढीकार्तिक्यः । चातुर्मास्यो यज्ञः । 'तत्र भव' इति वर्तमाने 'संज्ञायामणि' त्यणप्रत्ययः । तासु चातुर्मासीषु

पूर्वबद्धावहोरात्रावतध्यायः । गौतमस्तु स्वशब्देनाह 'कार्तिकी फाल्गुन्यापाढी पौर्णमासी' इति ।^२ पौर्णमास्यन्तरप्रतिपत्तु च शास्त्रान्तरवशादनध्यायः । यथा होशनाः—'पूर्वणीतिहासवर्जितानां विधानामनध्याय' इति । 'प्रतिपत्तु न चिन्तये' इति च । एवं चतुर्दशीमात्रस्य वर्जने शास्त्रान्तरं^३ मूले मृग्यम् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

^४ पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके ।' इति ॥ १ ॥

अनु०—किन मासो मे चतुर्मास्य यज्ञ क्रिये जाते हे उनको पौर्णमासी विधियो को अध्ययन न करे ।

टि०—ये पौर्णमासी त्रैयियो फाल्गुन, आषाढ और कार्तिक की इती है । गौतमधर्मसूत्र में इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है 'कार्तिकी फाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी' । पौर्णमासी के बाद प्रतिपद को भी अनध्याय होता है ॥ १ ॥

वैरमणे गुरुत्रयाक्य औपाकरण इति ग्रहः ॥ २ ॥

विरमणमुत्सर्जनं तदेव वैरमणम् । तस्मिन् वैरमणे । प्रथमान्तपाठे स्ति म्यर्थे प्रथमा । गुरुषु श्वशुरादिषु । संस्थितेष्विति प्रकरणाद्भ्यते । अष्टकवाऽऽश्वस्यं स्वाधिकः प्यन् । आदौ प्राप्ता शृद्धिर्मध्ये कृता । उपाकरणमेवौपाकरणम् । एतेषु निमित्तेषु ग्रहा अध्ययनरहिताः तत्र गुरुषु मरणदिनमारभ्य ग्रहाः । इतरेषु पूर्वदुष्टपुरेद्दुष्टुन्वस्मिन्न दिने नाधोयते । अत्र गौतमः—'तिलोऽष्टकास्त्रिात्र-मन्त्यामेकेऽमितो वार्षिक' मिति । उपाकरणादूर्ध्वं प्रागुत्सर्जनात् यदध्ययनं तद्वार्षिकम् । तदभितस्तस्यादावन्ते च यत्कर्म क्रियते तत्रापि त्रिरात्रमित्यर्थः । औशनसे च व्यक्तमुक्तम् 'उपाकर्मणि चोत्सर्गे ग्रहमनध्याय' इति । मानवे च व्यक्तम् 'उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं श्रपणं स्तुतम् ।' इति ॥ २ ॥

अनु०—उत्सर्ग अर्थात् वेदाध्ययन के विराम के समय, (श्वशुर आदि) गुरु की मृत्यु पर, अष्टका भाद के अक्षर पर, तथा उपाकर्म के समय तीन दिन का अनध्याय होता है ।

१. गौ० ध० १६. ३२. २. पौर्णमास्यन्तरे प्रतिपत्तु च इति. ल० पु०

२. मृशम् इति. नास्ति क० पुरतके । मृग्यमिति नास्ति ल० पुस्तके

४. या० स्मृ० १. १४६. ऋतुसन्धिषु सुक्वा च भादं प्रतिगृह्य च इत्यधिकः पाठः ल० पुस्तके ।

५. गौ० १६. : ८-४०

६ नेदं बचनमिदानीमुपलभ्यमानायां पद्यात्मिकायामौशनसस्मृतौ दृश्यते ।

७. मनु० ४. ११९.

टि०—गुरु की मृत्यु पर मरने के दिन से तीन दिन का अनध्याय होता है। अन्य निमित्त में वेदोत्सर्ग, अष्टकाश्राद्ध तथा उपाकर्म में एक दिन पूर्व तथा एक दिन बाद अनध्याय होता है ॥ २ ॥

तथा सम्बन्धेषु ज्ञातिषु ॥ ३ ॥

ये सन्निकृष्टा ज्ञातयः भ्रातृत्तुप्रपितृव्यादयः । तेष्वपि मृतेषु तथा इहम्-
नध्यायः । ब्रह्मचारिणो विधिरयम् । आशीचवतां तु यावदाशीचमनध्यायः शा-
न्तारसिद्धः—

'उभयत्र दशाऽहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते । दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्या-
यश्च निषर्तते ॥' इति ॥

उभयत्र जनने मरणे च ॥ ३ ॥

अनु०—निकट सम्बन्धियों (भाई, भतीजा, चाचा आदि) की मृत्यु पर तीन दिन का अनध्याय होता है

टि०—यह नियम ब्रह्मचारी के लिए है, अन्यथा निकट सम्बन्धियों की मृत्यु पर दस दिन तक आशीच रहता है ॥ ३ ॥

मातरि पितर्याचार्यं इति द्वादशाहाः ॥ ४ ॥

मात्रादिषु मृतेषु द्वादशाहमनध्यायः । अयं विधिर्गृहस्थानमपि । केचिदा-
शीचमपि तावन्तं कालमिच्छन्ति । नेति वयम्, अनध्यायप्रकरणात् ॥ ४ ॥

अनु०—माता, पिता तथा आचार्य को मृत्यु पर बारह दिन का अनध्याय होता है ।

टि०—गृहस्थों के लिए भी इतना समय समझना चाहिए । कुछ धर्मशास्त्रकार इनकी मृत्यु में बारह दिन का आशीच मानते हैं ॥ ४ ॥

तेषु चोदकोपस्पर्शनं तावन्तं कालम् ॥ ५ ॥

मात्रादिष्वधिकं तावन्तं कालमहरहस्नानपि कार्यम्, न केवलमन-
ध्यायः ॥ ५ ॥

अनु०—इनकी मृत्यु पर उतने ही दिन तक प्रतिदिन स्नान भी करे ॥ ५ ॥

अनुभाविनां च परिवापनम् ॥ ६ ॥

अनु पश्चात् भूता जाता अनुभाविनः मृतापेक्षयाऽधरवयसः । तेषां
परिवापनमपि भवति केशानाम् ।^१ 'कृत्यच इति प्राप्तस्य गत्वस्य'^२ 'जे

१. मनु० ५. ३.

२. 'शिल्बामनु प्रवपन्त शूच्यै' इति वचनम् ? तस्य बलीयस्त्वादित्याह इति. ख० पू०

३. पा० सू० ट. ४. २२. उपसर्गस्थानिमित्ततः (रेफकाराम्यां) परस्याऽच उत्तर-
स्य कृतप्रत्ययगतस्य नकारस्य णावं स्थादिति सूत्रार्थः ॥

'विभाषे' ति विकल्पः । अन्ये तु शावं दुःखमनुभवतां सर्वेषां परिवापनमिच्छन्ति ।

अपर आह—अनुभाषिन उदकार्हाः । तेषां मरणे परिवापनमिति ॥ ६ ॥
अनु०—मृत व्यक्तिकी अपेक्षा कम आयु वाले निकट सम्बन्धी अपने केशों का भी मुण्डन कराये ।

टि०—अनुभाषिन से हरदत्त ने मृत की अपेक्षा कम आयु के 'मृतापेक्षयाऽव-रवयसः' अथवा उसके बाद उत्पन्न 'पश्चात् भूता' अर्थ किया है और यह भी संकेत कर दिया है कि कुछ लोग 'अनुभाषिन' का अर्थ 'उदकार्हा' जड़ोंजलि देने योग्य किया है और उनके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—उदकार्हा सम्बन्धी की मृत्यु पर केशों का क्षौर होता है । 'अनुभाषिणां' से यह भी अर्थ लिया गया है कि दुःख का अनुभव करने वाले सभी व्यक्तिकेशों का परिवापन कराये ॥ ६ ॥

न समावृत्ता वपेरन्नग्नय विहारदित्येके ॥ ७ ॥

विहारो यागदीक्षा । ततोऽप्यत्र न समावृत्ता वपेरन्नित्येके मन्यन्ते । स्वसंते तु वपेरन्नेवेति ॥ ७ ॥

अन०—कुछ धर्मशास्त्रों का मत है कि समावृत्त व्यक्ति भौत यज्ञ की दीक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य अवसर पर परिवापन न कराये ॥ ७ ॥

तत्र वपनस्याऽमङ्गल्यं गुणविधिना परिहारं च वर्कब्राह्मणमुदाहरति—
अथापि ब्राह्मणम्—रिक्तो वा एषोऽनपिहितो यन्मुण्डस्त-

स्यैतदपिधानं यच्छिखेति ॥ ८ ॥

रिक्तः अन्तःशून्यो घटादिः । सोऽनपिहितः पिधानराहितो यादृशः तादृश एषः वन्मुण्डो नाम । तस्य रिक्तस्यापिधानमेतद् यच्छिखा नाम । अनेनचैतद-शितं निषेधशास्त्रं सह शिखया वपनप्रतिषेधपरमिति ॥ ८ ॥

अन०—ब्राह्मण ग्रन्थ में भी कहा गया है— जिसके केश का संपूर्ण मुण्डन हो गया है वह एकरिक्त तथा बिना पिहल के (घट) जैसा होता है, शिखा उसके पिधान की तरह होती है ।

टि०—इसमें यह प्रदर्शित किया गया है कि भौतयज्ञ की दीक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य अवसर पर शिखासहित वपन नहीं होना चाहिए ॥ ८ ॥

कथं तर्हि सत्रेषु शिखाया वपनम् ?^१ वचनसामर्थ्यादित्याह—

सत्रेषु तु वचनाद्वपनं शिखायाः ॥ ९ ॥

स्पष्टम् ॥ ९ ॥

१. पा० सू० ८. ४. ३. उपसर्गार्थान्निवातपरस्य, निषन्ताद्धिहितो यः कृतप्रत्ययः तद्वतस्य नकारस्य गल्वं विकल्पेन स्यात् इति सूत्रार्थः । २. ५६. पृष्ठे ५. टिप्पणी दृष्टव्या

सूत्री में तो शिखा का भी बरन होता है क्योंकि वेद में इसका निर्देश किया गया है ॥ ९ ॥

आचार्ये त्रीनहोरात्रानित्येके ॥ १० ॥

आचार्य संस्थिते त्रीनहोरात्रानध्ययनं वर्जयेदित्येके मन्यन्ते । स्वपक्षस्तु द्वादशाहः पूर्वमुक्तः ॥ १० ॥

अनु०—कुछ घर्मशास्त्रों के अनुसार आचार्य को मृत्यु पर केवल तीन दिन का अनध्याय होता है ।

टि०—किन्तु आस्तात्र का अपना मत है कि चारह दिन का अनध्याय होना चाहिए बैसा कि ऊपर सूत्र ४ में स्पष्ट कहा गया है ॥ १० ॥

श्रोत्रियसंस्थायां मपरिसंवत्सरायामेकाम् ॥ ११ ॥

श्रोत्रियं वक्ष्यति । तस्य संस्थायामपरिपूर्णसंवत्सरायां श्रुतायामेकां रात्रिमेकहोरात्रमध्ययनं वर्जयेत् । अत्र संस्थाश्रवणद्रुवादिष्वपि सैथ निमित्तमनध्यायस्य ॥ ११ ॥

अनु०—भोत्रिय (विद्वान् वेदज्ञ ब्राह्मण) मृत्यु का समाचार उसकी मृत्यु के एक वर्ष के भीतर सुनने पर एक दिन और एक रात का अनध्याय होता है ।

टि०—व्याख्या में इन्द्रज ने किसी गुरु की मृत्यु का समाचार एक वर्ष के भीतर सुनने पर भी इतना ही अनध्याय माना है ॥ ११ ॥

सब्रह्मचारिणोत्येके ॥ १२ ॥

एके तु सब्रह्मचारिणो मरण एवऽनन्तरोक्तमनध्यायमिच्छन्ति, न तु श्रोत्रियसामान्यमरणे ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ घर्मशास्त्रकार भोत्रिय के सहाध्यायी होने पर ही उसकी मृत्यु का समाचार एक वर्ष के भीतर सुनकर एक दिन और एक रात्रि के अनध्याय का नियम मानते हैं ॥ १२ ॥

श्रोत्रियाम्यागमेऽधिजिगांसमानोऽधीयानो वा

ऽनुज्ञाप्याधियोत ॥ १३ ॥

श्रोत्रियेऽभ्यागते अध्येतुकामोऽधीयानश्च तमनुज्ञाप्याधीयोत ॥ १३ ॥

अनु०—यदि भोत्रिय आया हो तो उस समय पढ़ाने की इच्छा हो या बलुतः अध्ययन कर रहा हो तो उसकी अनुमति लेकर अध्ययन करे ॥ १३ ॥

अध्यापयेद्वा ॥ १४ ॥

अध्यापयितुकामोऽध्यापयन्वेति प्रकरणाद्भ्रम्यते । सोऽपि तमनुज्ञाप्याध्यापयेदिति ॥ १४ ॥

अनु०—इती प्रकार भोनिय के आगमन के समय अध्यापन का विचार हो । अथवा अध्यापन कर रहा हो तो उसकी अनुमति लेकर अध्यापन करे ॥ १४ ॥

गुरुसन्निधौ "चाधीहि भो" इत्युक्त्वाऽधीयीत ॥ १५ ॥

धारणाध्ययनं पारायणाध्ययनं वा कुर्वन् गुरौ सन्निहिते सति 'अधोहि-भो' इत्युक्त्वाधीयीत ॥ १५ ॥

अनु०—गुरु निकट हों तो 'अधीहिभो' ऐसा कहकर अध्ययन करे ।

टि०—'अधीहि भो' इस वाक्य को कहनेवाला कौन-होगा गुरु या शिष्य यह चिन्तनीय है । ॥ १५ ॥

अध्यापयेद्वा ॥ १६ ॥

अध्यापयन्नपि तत्सन्निधावेवमेवोक्त्वाऽध्यापयेत् ॥ १६ ॥

अथवा अध्यापनकरे ॥ १६ ॥

उभयत उपसंग्रहणमधिजांसमानस्याधीरस्य च ॥ १७ ॥

उभयत अध्ययनरथाऽऽदावन्ते च उपसंग्रहणं कर्तव्यं यथाक्रमं मध्येतु कामस्याऽऽदावधीत्यान्ते ॥ १७ ॥

अनु०—अध्ययन करने की इच्छा करते समय तथा पाठ समाप्त करने के बाद दोनों ही अवसरों पर गुरु के चरणों का उपसंग्रहण करे ॥ १७ ॥

अधीयानेषु वा यत्राऽन्यो व्यवैयादेत्तमेव

शब्दमुत्सृज्याऽधीयीत ॥ १८ ॥

यदुवचनसन्त्रमं । अधीयानेषु च यत्राऽन्यो व्यवैयादन्तरा गच्छेत्, तत्रा 'एधीहि' भो इत्येतमेव शब्दमुत्सृज्य उकार्याऽधीयीत । प्रत्येकमुपदेशादेकवचनम् । अधीयीरन ॥ १८ ॥

अनु०—जब शिष्य अध्ययन कर रहे हो तब यदि कोई अन्य व्यक्ति आ जाता है तो वे ही शब्द ('अधि अधीहि भो') कहने के बाद अध्ययन आरम्भ करे ॥ १८ ॥

इवगर्दभनादास्सलावृक्केकसूकोलूकशब्दास्सर्वे नादित्तशब्दा

रोदनगीतसामशब्दाश्च ॥ १९ ॥

१. अप्येतुकामस्येत्यादि ङ० पुरतक एवास्ति । मनो० र. ७३ इलाको द्रष्टव्यः ।

शुनां गर्दभानां च बहूनां नादः । बहुवचननिर्देशात् सलाहूकी
शृङ्गाताववान्तरभेदः । क्रोष्टीत्यन्ये । लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्सुसोऽपि ग्रहणम् ।
“इन्द्रो यतीन् सालाष्टकेभ्य” इत्यादौ दर्शनात् । सर्वत्रादिस्वरो दीर्घः । स
एषायं विकृतः प्रयुक्तः । एकसूक्तः एकचरः सुगालः । उल्लूको दिवाभोतः ।
एतेषां च शब्दाः । वादितानि यादित्राणि वीणावेणुमुदङ्गादीनि । तेषां च सर्वे
शब्दाः । रोदनशब्दादयश्च । एते श्रूयमाणा अनध्यायस्य हेतवः ॥ १९ ॥

अनु०—अनेक कुत्तों का भौकना कई गदहों का रँकना, मेढिया का बोलना,
एकसूक्त (सुगान) और उल्लू के शब्द सुनना वादन यन्त्रों का शब्द रोने, गीत
तथा सामगान का शब्द—ये सभी अन्ध्याय के निमित्त होते हैं ॥ १९ ॥

शाखान्तरे च साम्नामनध्यायः ॥ २० ॥

वेदान्तरसकाशे साम्नामनध्ययनम् । गीतिषु सामाख्या, तद्योगाद्देवचन
इत्यन्ये ॥ २० ॥

अनु०—जब अन्य वेद का समीप में उच्चारण किया जा रहा हो तब सामगान
का अध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥

सर्वेषु च शब्दकर्मसु यत्र संसृज्येरन् ॥ २१ ॥

आक्रोश परिवादादिषु सर्वेषु शब्दकर्मसु अन्ध्यायः । यत्राध्ययनशब्देन ते
संसृज्येरन् ॥ २१ ॥

अनु०—सभी प्रकार के शब्दों के सुनाई पढ़ने पर, यदि वे शब्द अध्ययन के
शब्द में मिलकर विघ्न उत्पन्न करते हों, तो अध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

छर्दयित्वा वपनान्तम् ॥ २२ ॥

छर्दनं वमनम् । तच्छ्रुत्वा स्वप्नान्तं यावन्नाऽधीयीत ॥ २२ ॥

अनु०—वमन करने के बाद फिर सोकर उठने तक अध्ययन न करे ॥ २२ ॥

सर्पिर्वा प्राश्य ॥ २३ ॥

अथ वा सर्पिः प्राश्याऽधीयीत ॥ २३ ॥

अनु०—अथवा (वमन के बाद) घृत खाकर अध्ययन करे ॥ २३ ॥

पूतिगन्धः ॥ २४ ॥

दुर्गन्ध उपलभ्यमानोऽनध्यायहेतुः ॥ २४ ॥

अनु०—दुर्गन्ध भी अन्ध्याय का हेतु होता है ॥ २४ ॥

१. तै० सं० १. २. ७. २ या० स्मृतौ १. १४८-१५१. श्लोका द्रष्टव्याः ।

२. साम नाऽध्येयम् । इति. शं० पु० ४. परिहासादिषु० इति. क० पु०

शुक्लवाऽऽरमसंयुक्तम् ॥ २५ ॥

यत्पक्वं कालपाकेनाऽन्तं जातं तच्छुक्लम् । तत्रावदात्मसंयुक्तं स्वोदरभ्यम-
जीर्णं, यावत्तदनुगुणं उद्गारस्तावदनुगुणध्यायहेतुः ॥ २५ ॥

अनु०—जब तक पेट में अजीर्ण के कारण अम्ल बना हुआ भोजन हो (खट्टी
हकारें आती हो) तब तक अध्ययन न करे ॥ २५ ॥

प्रदोषे च भुक्त्वा नाऽधीयीत ॥ २६ ॥

तेनाऽर्घात्यैव मुञ्जीत ॥ २६ ॥

अनु०—सायंकाल भोजन करके अध्ययन न करे ।

टि०—इस कारण सायंकाल अध्ययन के बाद ही भोजन करे ॥ २६ ॥

प्रोदकयोश्च पाण्योः ॥ २७ ॥

मुक्त्वेत्येव । मुक्त्वा यावत्प्रोदकौ पाणी आद्रीं 'तावन्नाऽधीयीत । केचित्तु
मुक्त्वेति नानुवर्तयन्ति ॥ २७ ॥

अनु०—(भोजन करने के बाद) जब तक हाथ गीला हो तब तक अध्ययन न करे ।
टि०—कुज लोग इस सूत्र का अर्थ करते समय 'मुक्त्वा' 'भोजन करके' इतना
सम्बन्ध नहीं जोड़ते ॥ २७ ॥

प्रेतसंक्लृप्तं चान्नं भुक्त्वा सप्रदोषमहरनध्यायः ॥ २८ ॥

यो मृतोऽसपिण्डीकृतस्य प्रेतः । तदुद्देशेन दत्तमन्नं भुक्त्वा सप्रदोषमहर्ना-
ऽधीयीत । प्रदोषादूर्ध्वं न दोषः । अत्र मनुः—

'थावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च त्तिष्ठति ।

विप्रस्य विदुषो देहे तावद्गन्धं न कीर्तयेत् ॥' इति ॥ २८ ॥

अनु०—मृत व्यक्ति को उद्दिष्ट कर दिखे गये (श्राद्ध के) भोजन को ग्रहण
करने के बाद एक दिन तथा सायंकाल अध्ययन न करे ।

टि०—प्रदोष के बाद अध्ययन करने में कोई दोष नहीं ॥ २८ ॥

आ च विपाकात् ॥ २९ ॥

यदि तावता कालेन तदन्नं पक्वं जीर्णं न भवति, तत आविपाकात् तस्य
नाऽर्घीयीत ॥ २९ ॥

अनु०—अथवा जब तक वह अन्न पच नहीं जाता तब तक अध्ययन न करे ॥ २९ ॥

अश्राद्धेन तु पर्यवदध्यात् ॥ ३० ॥

जीर्णे अजीर्णे च तस्मिन् अश्राद्धेनाऽग्नेन पर्यवदध्यात् तस्योपर्यंश्राद्धमन्नं

भुञ्जीतेत्युक्तं भवति । केचित् अत्र 'अश्राद्धेने' ति वचनात् पूर्वत्रापि प्रेतात्र-
मिति श्राद्धमात्रं विवक्षितं मन्यन्ते ॥ ३० ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे तद्दशसुवल्गुलायां च दशमी कण्डिका ॥

अनु०— भ द के अवसर पर स्वाय हुए अन्न के बाद ऐसा अन्न अक्सय खावे
बो श्राद्ध के लिए न कल्पित हो ॥ ३० ॥

दशमी कण्डिका समाप्त

— ०:—

काण्डोपाकरणे चाऽऽमातृकस्य ॥ १ ॥

काण्डोपाकरणं काण्डव्रतादेशनम् । तस्मिन्नहनि अमातृकस्यान्नं भुक्त्वा
सप्रदोपमहरनध्यायः । अपर आह—भुक्त्वेति नाऽनुवर्तते । यथाचोत्तरत्र भुक्त्वा
ग्रहणम् । काण्डोपाकरणे अमातृकस्य भागवकस्या सप्रदोपमहरनध्यायः । एते-
नोत्तरं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

अनु०—वैद के नये काण्ड का अध्ययन आरम्भ करने पर मातृहीन व्यक्ति द्वारा
दिया गया प्राशन करके एक दिन तथा सन्ध्या को अनध्याय रखे ॥ १ ॥

काण्डसमापने चाऽपितृकस्य ॥ २ ॥

काण्डसमापनं व्रतविसर्गः ॥ २ ॥

अनु०—काण्ड समाप्त करने के दिन यदि पितृहीन व्यक्ति का अन्न ग्रहण करे
तो एक दिन तथा सन्ध्या को अनध्याय रखे ॥ २ ॥

मनुष्यप्रकृतीनां च देवानां यज्ञे भुक्त्वेत्येके । ३ ॥
ये मनुष्या भूत्वा प्रकृष्टेन तपसा देवास्सम्पन्नास्ते मनुष्यप्रकृतयो 'नन्दि-
कुचेरादयः' । तेषां यज्ञः तत्प्रीत्यर्थे ब्राह्मणभोजनम्, तत्रभुक्त्वा सप्रदोपमहरन-
ध्याय इत्येके मन्यन्ते । मनुष्यमुखेन देवेष्विष्यमानेष्वित्यन्ये ॥ ३ ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्री का मत है कि जो देवता पहले मनुष्य थे और
(तपस्या के कारण) देवता हो गये हो उनके लिए क्रिये गए यह नै अन्न ग्रहण
करने के बाद भी उतने ही समय तक (एक दिन तथा सन्ध्या को)
अनध्याय रखे ।

टि०—ऐसे देवों में हरदत्त ने नन्दिकुचेर का उदाहरण दिया ॥ १ ॥

पयुं पितैस्तण्डुलैराममांसेन च नाऽनध्यायः ॥ ४ ॥

'प्रेतसंक्लृप्तं चाऽन्न' (१०.२८) मित्यस्यापवादः पयुं पिता रात्र्यन्तरिताः
हृपः प्रतिगृहीताः, तेषु तण्डुलेष्वथ पक्त्वा सुष्यमानेषु नानध्यायः । तथा
आममांसेन तद्दर्भक्षितेनापि नानध्यायः पयुं पितेनेत्येके । 'पयुं पितै' रिति वच
नात्तद्दर्भक्षितैः सप्रदोपमहरनध्यायः ॥ ४ ॥

१. 'नन्दिश्वरशकुमारादयः' इति पाठान्तरम् ।

अनु०—यदि एक दिन पहले (रात्रि से पूर्व) मात चावल या कच्चा मांस पनाकर खात्रे तो अनव्याय नहीं होता (भले ही ये खाद्य पदार्थ मृत व्यक्ति के लिए भाद के ही उद्दिष्ट करके दिया गया हो) ।

टि०—यह सूत्र दशमी कण्डिका के २८वें सूत्र का अपवाद है ॥ ४ ॥

तथौषधिवनस्पतिमूलफलैः ॥ ५ ॥

औषधिग्रहणेन वीरुधोऽपि गृह्यन्ते । वनस्पतिग्रहणेन वृक्षमात्रम् । तेषां मूलैः सूरणकन्दविभिः फलैश्चाऽन्नादिभिः पक्कैरपकेश्च तदहर्भक्षितैरपि नाऽनध्यायः ॥ ५ ॥

अनु०—यदि (भ्राद से सम्बद्ध) लताओं और वृक्षों का मूल-फल खावे तो अतथ्याय नहीं होता ॥ ५ ॥

यत्काण्डमुपाकुर्वीत यस्य चानुवाक्यं कुर्वीत

न तत्तदहरधीयीत ॥ ६ ॥

यस्मिन्नहनि यत्काण्डमुपाकृतं न तत्तदहरधीयीत । तथा श्रावण्यां पौर्णिमास्यामुपाकृत्य प्रशस्तेऽहरन्तरे यस्य काण्डस्यानुवाक्यमध्येऽनुमास्मभं कुर्वीत न तत्तदहरधीयीत । अहर्त्यहोरात्रोपलक्षणम् ॥ ६ ॥

अनु०—काण्ड आरम्भ करने की विधि (श्रावण की पौर्णिमासे) को अथवा काण्ड की अनुवाकानुक्रमणी का अध्ययन करते समय सम्बद्ध काण्ड का उस दिन (यथा उस रात्रि) अध्ययन न करे ॥ ६ ॥

उपाकरणसमापतयोश्च पारायणस्य तां विद्याम् ॥ ७ ॥

अनेकवेदाध्यायी यचेकस्य वेदस्य पारायणं कुरुते तदा तस्य पारायणस्य 'ये उपाकरणोत्सर्जने, तयोः कृतयोस्तां विद्यां तदहर्नाऽधीयीत । एतदेव ज्ञापकं पारायणस्याऽप्युपाकरणोत्सर्जने भवत इति । 'तां विद्यामि' ति वचनाद्विद्यास्त-राध्यने न दोषः ॥ ७ ॥

अनु०—(अनेक वेदों का अध्येता) एक वेद के पारायण का उपाकरण तथा उत्सर्जन करने के बाद उस (वेद) विद्या का उस दिन अध्ययन न करे ॥ ७ ॥

वायुर्धोपवान् भूमौ तृणसंवाहो वर्षति वा यत्र धाराः प्रवहेत् ॥ ८ ॥

धोपवान् कर्णश्रवः । भूमावस्थितानि तृणानि संवाहयति वलक्षिय गम-यतीति तृणसंवाहः । वर्षति वा^३ मेघे धाराः प्रवहेत्^३ विशिषेत् । यत्र देशे एवं-

१. उपाकरणोत्सर्जनयोः इति ड० पु०

२. देवे. इति क० पु०

विधी वायुस्तत्र तावन्तं कालं नाऽधीयीत । अत्र मनुः—

“कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमृह्ने” ॥ इति ॥ ८ ॥

अनु०—यदि वायु हर-हराती हुई बहती हो, तिनको जो उड़ा रही हो या शेष की धाराओं की बौछार ला रही हो तो उस स्थान पर (जब तक इस प्रकार की वायु बह रही हो) अध्ययन न करे ॥ ८ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे निगदसिद्धे—

‘शामारण्ययोश्च सन्धौ महापथे च विप्रोप्य च समध्ययन् तदहः ॥९॥

यदा’ सहाऽधीयानाः कारणशक्तिप्रयत्सेयुः । केचिच्चार्चयैण वा सङ्ग-
सास्तदा समध्ययन् सहाऽधीयमानं प्रदेश तदहर्नाधीयीत । विप्रोपितानां यदहः
पुनर्मेलनं तदहर्नाधीयीतेत्यन्ये ॥ ९ ॥

अनु०—गाँव और बन की सीमा पर, महापथ पर अध्ययन न करे अथवा साथ
अध्ययन करने वाला यात्रा पर गया हो तो उस दिन उस अंश का अध्ययन
न करे ।

टिप्पणी—इसकी एक व्याख्या यह भी है कि जब साथ अध्ययन करने वाले
कहीं यात्रा से लौटे हो तो उस दिन उनके साथ अध्ययन न करे ॥ ९ ॥

स्वैरिकर्मसु च ॥ १० ॥

नाधीयीतेत्येव ॥ १० ॥

अनु०—अपने को सुख देने वाले कर्मों को करते समय अध्ययन न करे ॥ १० ॥

अत्रोदाहरणम्—

यथाहस्तप्रक्षालनोत्सादनानुलेखणानीति ॥ ११ ॥

णत्वमाकास्मिकम्, अपपाठो वा ॥ ११ ॥

अनु०—इस प्रकार के स्वर्ष को सुख देने वाले कर्म हैं: हाथ धोना, दबाना
या खुबलाना ॥ ११ ॥

तावन्तं कालं नाऽधीयीताऽध्यापयेद्वा ॥ १२ ॥

तेषु स्वैरिकर्मसु तावन्तं कालमध्ययनमध्यापनञ्च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

अनु०—इन सुखद कार्यों के करते रहते समय तक न तो अध्ययन करे और
न अध्यापन ॥ १२ ॥

सन्धयोः ॥ १३ ॥

१. म० स्थु० २. १०२ २. इटं ११ शं च सूत्रं त्रिधा विच्छिन्नं ङ० पु०

२. सहाधीयमानेषु केचित् इति ख० पु०

सन्ध्योत्थोऽप्योत्थोऽदर्शनात् उभे सन्ध्ये । तयोस्तावन्तं कालं नाधीयी-
ताभ्यापवेद्या । एवमुत्तरत्रायणुत्थितिः ॥ १३ ॥

अनु०—दोनों सन्ध्या समय (गोधूलि वेलाओं) में अध्ययन या अभ्यासन न
करे ॥ १३ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे निगदसिद्धे—

तथा वृक्षमारूढोऽप्यु चावगाढो नक्तं चापावृते ॥ १४ ॥

विवृतद्वारमपावृतम् । तत्र नक्तं नाधीयीत ॥ १४ ॥

अनु०—दृष्ट पर चढ़कर नदी में प्रवेश कर और रात्रि में द्वार खोलकर
अध्ययन न करे ॥ १४ ॥

दिवा च पिहिते ॥ १५ ॥

संवृतद्वारं पिहितम् । तत्र दिवा नाधीयीत ॥ १५ ॥

अनु०—दिन में द्वार बन्द कर अध्ययन न करे ॥ १५ ॥

अविहितमनुवाकाध्ययनमापाढवासन्तिकयोः ॥ १६ ॥

वासन्तिको वसन्तोत्सवः । स च चैत्रमासि शुक्लप्रयोदश्यां भवति ।
आपाढशब्देनापि तस्मिन्मासे क्रियमाणस्तादृशः कश्चिदिन्द्रोत्सवादिर्विवक्षितः ।
तयोस्तद्दृशुवाकाध्ययनमविहितम् । अनुवाकप्रहणान्मनूने न दोषः ।

अपर आह—अनुवाकप्रहणान्मन्त्राहाणयोरेव प्रतिषेधः, नाज्ञाना
मिति ॥ १६ ॥

श्रनु०—आशङ्क महीने (इन्द्रोत्सव) में और वसन्त के उत्सव के समय
अनुवाक का अध्ययन नहीं करना चाहिए ।

टिप्पणी—इदत्त ने व्याख्या में संकेत किया है कि चूँकि सूत्र में अनुवाक के
अध्ययन का निषेध है अतः अनुवाक से छोटे अंशों का अध्ययन किया जा सकता
है । इसी प्रकार कुछ व्याख्याकारों के अनुसार अनुवाक का निषेध करके केवल
मन्त्र ब्राह्मणत्सक वेद का निषेध किया गया है वेदाङ्ग का नहीं ॥ १६ ॥

नित्यप्रश्नस्य चाऽविधिना ॥ १७ ॥

नित्यं प्रश्नाध्ययनं यत्र स नित्यप्रश्नो ब्रह्मयज्ञः । यस्य चाविधिना वक्ष्य-
माणेन प्रकारेण विनाऽनुवाकाध्ययनमविहितम् । यद्यपि नित्यं ब्रह्मयज्ञाध्ययनं
तथापि केनचिदप्यङ्गेन विना न कर्तव्यम् । तेन विस्मृत्य प्रातराशे कृते प्रायश्चि-
मेव न ब्रह्मयज्ञः । मनुः—

‘स्नातकत्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्’ । इति ॥ १७ ॥

अनु०—इसो प्रकार ब्रह्मयज्ञ में विना उचित विधि के वेद के अंश का अध्ययन
करना निषिद्ध है ।

टिप्पणी—ब्रह्मयज्ञ का अध्ययन नित्य करना चाहिए किन्तु अङ्ग के विना अध्ययन नहीं करना चाहिए। यदि कोई दैनिक ब्रह्मयज्ञ करना भूलकर प्रातराग मण्डन कर ले तो उसके लिए उपवास का प्रायश्चित्त ही करना होता है ॥ १७ ॥

तस्य विधिः ॥ १८ ॥

तस्य नित्यप्रश्नस्य विधिर्वक्ष्यते ॥ १८ ॥

अनुवाद—दैनिक अध्ययन की विधि इस प्रकार है ॥ १८ ॥

अकृतप्रातराश उदकान्तं गत्वा प्रयतः शुचौ देशेऽधीयीत

यथाध्यायामुत्सृजन्वाचा ॥ १९ ॥

अकृतविद्याभोजन उदकसमीपं गत्वा प्रयतः स्नानमार्जनादिशुद्धः शुचौ देशे प्राच्यामुदीच्यां वा दिश्यच्छर्दिर्दशेऽधीयीत । यथाध्यायं यथा पाठमनुषङ्गरहि-
तमुत्सृजन् आद्रित आरभ्य प्रथमादिष्वहस्तु' अधीयीत द्वितीयादिषूत्सृज्य ततः
परमधीयीत । वाचा लघैरित्यर्थः ॥ १९ ॥

अनुवाद—प्रातराग करने से पूर्व जल के समीप जाकर स्नान, मार्जन आदि द्वारा शुद्ध होकर पवित्र स्थान में ऊँचे स्वर से पढ़े हुए अंश को छोड़कर आरम्भ से पाठ करे ॥ १९ ॥

मनसा चाऽनध्याये ॥ २० ॥

अनध्याये च मनसाऽधीयीत नित्यत्वाध्यायम् ॥ २० ॥

अनुवाद—जिस दिन अनध्याय का विधान किया गया हो उस दिन मन से ही स्वाध्याय करे ॥ २० ॥

विद्युति चाऽप्यग्रायां स्तनयित्वावप्रायत्ये प्रेताग्ने नीहीरे

च मानसं परिचक्षते ॥ २१ ॥

विद्युति अग्न्याग्रायामंविरेतायाम् । स्तनयित्वा वाऽप्यग्ने । अप्रायत्ये आत्म-
नोऽशुचिभावे । प्रेताग्ने च मुक्ते । नीहारे च नीहारो हिमानी तस्मिन् च वर्त-
माने । मानसमन्तरोक्तमध्ययनं परिचक्षते वर्जयन्ति ॥ २१ ॥

अनुवाद—यदि निरन्तर विजली चमक रही हो अथवा निरन्तर मेघमार्जन हो रहा हो, यदि स्वयं शुद्ध न हो, आद का अन्न खाने पर, कुहरा छाप रहने पर वेद का मानसिक स्वाध्याय भी वर्जित किया गया है ॥ २१ ॥

श्राद्धश्रोजनं एवैके ॥ २२ ॥

एके त्वाचार्याः श्राद्धभोजन एव मानसं परिचक्षते, न विद्युदादितु ॥२२॥
अनुवाद—कुछ वर्गश केवल भाइभोजन करने पर ही मानसिक स्वास्थ्याय का
निषेध करते हैं ॥ २२ ॥

विद्युत्स्तनयितृष्टुष्टिश्चापतौ 'यत्र सन्निपतेयुस्त्र्यहमनध्यायः ॥ २३ ॥
अपतौ यस्मिन् देशे यो वर्षाकालः ततोऽन्यत्सत्रापर्वुः । तत्र यदि विद्युद्युदा-
दयस्सन्निपतेयुः समुद्रितास्तुः तदा त्र्यहमनध्यायः ॥ २३ ॥

अनु०—जब अतसमय में बिजली की चमक, मेघ की गर्जन अथवा वर्षा एक
साय होवे तो तीन दिन अनन्याय होता है ॥ २३ ॥

यावद्भूमिव्युदकेत्येके ॥ २४ ॥

यावता कालेन भूमिः विगतोद्का भवति तावन्तं कालमनध्याय इत्येके
मन्यन्ते ॥ २४ ॥

अनु०—कुच घर्मशास्त्रों के अनुसार केवल उस समय तक अनन्याय होता है
जब तक पृथ्वी सूख नहीं जाती ॥ २४ ॥

एकेन द्वाभ्यां वैतेषामाकालम् ॥ २५ ॥

एतेषां विद्युद्युदादीनां मध्ये एकेन द्वाभ्यां चा योगे आकालमनध्यायः । अप-
रेद्युरा तस्य कालस्य प्राप्तैरित्यर्थः ॥ २५ ॥

अनु०—यदि उपयुक्त विद्युत्, मेघगर्जन और वर्षा में से कोई एक घटित हो
या दो एक साथ हो तो दूसरे दिन के उती समय तक अनन्याय होता है ॥ २५ ॥

सूर्याचन्द्रमसोऽग्रहणे भूमिचलेऽपस्वान् उल्कायामन्युत्सते

च सर्वासा विद्याना सार्वकालिकमाकालम् ॥ २६ ॥

'सूर्याचन्द्रमसो' इति वचनं दृहस्पत्यादिनिवृत्त्यर्थम् । भूमिचले मूकम्ने ।
अपस्थाने निर्घाते । उल्कायासुल्कापाते । अन्युत्पाते' ग्रामादिदाहं । एतेषु निमि-
त्तेषु' सर्वेषु सर्वासां विद्यानाम्—

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविततरः ।

१. 'यत्र' इति नास्ति क० गु०

२. एहादिदाहे इति य० पु० ३. सर्वेषु इति नास्ति, स० ग० पु०

४. विशु पु० अङ्गानि शिक्षाभ्याकरणञ्चन्दोनिरुक्तज्यौतिषशौत्रसूत्राणि, चत्वारो
वेदाः, ऋगादयः प्रसिद्धाः । मीमांसा पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा च 'न्यायविततरः'
गौतमप्रणीतमान्वीक्षन्याख्यं न्यायशास्त्रम् । वैशेषिकशास्त्रं च, पुराणं मत्स्यादिपुराणानि,
मन्वादिमण्डानि धर्मशास्त्राणि च विद्यापदवाच्यानीत्यर्थः ।

पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ इत्युक्तानाम् । सार्वकालिकस्मृतौ चापतौ चाऽऽकालमनध्यायः । अत्र 'सर्वासामिति' वचनादन्यत्र वेदानामेव प्रतिषेधः । अज्ञानामपीत्यन्ये ॥ २६ ॥

अनु०—सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण के समय, भूकम्प आने पर, आँधी चलने पर, उल्कापात होने पर तथा आग लगने पर सभी वेदों एवं अङ्गों का अध्ययन दूसरे दिन उभी समय तक नहीं करना चाहिए ।

टिप्पणी—'सर्वासं विद्यानां' से कुछ लोग सभी वेदों का अर्थ ग्रहण करते हैं और कुछ लोग वेद और वेदाङ्गों से अर्थ लेते हैं ।—हरदत्त की व्याख्या ॥ २६ ॥

अथ चापतौ सूर्याचन्द्रमसोः परिवेष इन्द्रधनुः प्रतिसूर्यमत्स्यश्च वाते
पूतिगन्धे नीहारे च सर्वेष्वेतेषु तावत्कालम् ॥ २७ ॥

अपतां वधं दृश्यमानं शचत् दृश्यते तावत्कालमनध्यायः । एवं परिवेषापिष्वपि योज्यम् । इहस्पत्यादिपरिवेषे न दोषः । इन्द्रधनुः प्रसिद्धम् । सूर्यसमीपे तदाकृतिः प्रतिसूर्यः । मत्स्यः पुच्छवन्नयाम् । समाहारद्वन्द्वे छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः । सर्वेष्वेतेषु वातादिषु च त्रिषु तावत्कालमनध्यायः । वाते घोषवति । पूतिगन्धे दुर्गन्धे । नीहारे हिमान्याम् । वातादिग्रहणं पूर्वोक्तानां श्रगर्दभादीनामुपलक्षणार्थम् । पुनरिह वचनं तावत्कालमिति विधातुम् । अत्रैव श्वगर्दभादिप्रदण्डे कर्तव्ये पूर्वत्र पाठस्य चिन्त्यं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

अनु०—सद्य से भिन्न समय में भेष दिखाई पड़ने पर सूर्य या चन्द्रमा के परिवेष से घिरे होने पर सूर्य के सर्माप उसकी अनुकृति दिखाई पड़ने पर, पुच्छल तारा उगने पर इन्द्रधनुष होने पर दुर्गन्ध आने या कुहरा छाये रहने पर उतने समय तक सभी विद्याओं का अनश्याय होता है, अब तक ये घटनायें रहती हैं ॥ २७ ॥

मुहूर्तं विरते वाते ॥ २८ ॥

वाते घोषवति विरतेऽपि मुहूर्तमात्रमनध्यायः । द्वे नाहिके मुहूर्तम् ॥ २८ ॥

अनु०—तीव्र वायु का बहना बन्द होने के बाद भी एक मुहूर्त तक अनध्याय होता है ॥ २८ ॥

सलावृक्यामेकसुक इति स्वप्नपर्यन्तम् ॥ २९ ॥

^१ 'तावत्काल'मित्यस्याऽपवादोऽयम् । सलावृक्येकसुकशब्दो व्याख्यातौ ॥ २९ ॥

अनुवाद—भेड़िया का भा एक सुगाल का शब्द सुनाई पड़ने पर निद्रा से जगने के बाद तक अनव्याप होता है ॥ २९ ॥

नक्तं चारण्येऽनानावहिरन्ये वा ॥ ३० ॥

रात्रावग्निवल्लिते हिरण्यवलिते वाऽरण्ये नाधीयीत ॥ ३० ॥

अनुवाद—रात्रि को किसी ऐसे वन में अध्ययन न करे जहाँ अग्नि या स्वर्ण न हो ॥ ३० ॥

अननूक्तं चाऽपत्तौ छन्दसो नाधीयीत ॥ ३१ ॥

उत्सर्जनादूर्ध्वमुपाकरणादर्वागपतुः । तत्र छन्दसोऽननूक्तमंशमपूर्वं नाऽधीयीत । ग्रहणाध्ययनमपत्तौ न कर्तव्यम् । यद्यपि 'तैष्यां पौर्णमास्यां रोहिण्यां वा विरसे' वित्युक्तम्, तथापि कियन्तं कालं तद्विररमणम् ? कस्माद्वाऽध्ययनम् ? इत्यपेक्षायामिदमुच्यते—एतावन्तं कालं ग्रहणाध्ययनं न कर्तव्यमिति । धारणाध्ययने नदोषः । तथा छन्दस' इति वचनाद्भक्तानां ग्रहणाध्ययने न दोषः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—असमय में (उत्सर्जन और उपाकरण के बीच) छन्द के उस अंश का अध्ययन न करे जिसका अध्ययन पहले न किये हो ।

टिप्पणी—'छन्दसः' उल्लेख होने से वेदाङ्गों का अध्ययन करने में कोई दोष नहीं है ॥ ३१ ॥

प्रदोषे च ॥ ३२ ॥

प्रदोषे चाऽननूक्तमपि नाधीयीत । 'मासं प्रदोषे नाधायीते' त्येतत्तु धारणाध्ययनस्यापि प्रतिपेधार्थम् । अपर आह—यस्यां रात्रौ द्वादशी त्रयोदशी च भिक्षोभवतः, तस्यां प्रदोषे नाधीयीतानूक्तमनूक्तं च, ऋतावपत्तौ च । एष आचार इति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—प्रदोष में भी छन्द के किसी नये अंश का अध्ययन न करे ।

टि०—कुछ लोगों के अनुसार जिस रात्रि को द्वादशी, त्रयोदशी मिलती हैं उस सन्ध्या को अध्ययन न करे ॥ ३२ ॥

सावंकालिक्कामान्नातम् ॥ ३३ ॥

आन्नातमधीतं तत्सार्धकालिकमपत्तौ प्रदोषे च सर्वस्मिन्कालेऽध्येतव्यम् ३३
अनुवाद—पढ़े हुए विषय को सभी काल में (श्रुतु से भिन्न समय में तथा सन्ध्या को भी) अध्ययन करे ।

टिप्पणी—इसका संबन्ध ३१वें सूत्र से जोड़कर अर्थ करने पर विपरीत अर्थ होगा, अर्थात् अध्ययन न करे ॥ ३३ ॥

यथोक्तमन्यदतः परिपत्सु ॥ ३४ ॥

अत एतस्मादनध्यायप्रकरणोक्तादन्यद्वनध्यायनिमित्तम् । परिपत्सुमानवादि-
धर्मशास्त्रेषु यथोक्तं 'तथा द्रष्टव्यम् । तत्र वसिष्ठः ३'दिग्दाहपर्वतप्रपातेपूपलरु-
धिरपांसुर्वेष्ववाकालिक' मिति ।

यमः—

३'श्लेष्मातकस्य शल्मल्या मधूकस्य तथाप्यधः ।
कदाचिदपि नाध्येयं कोविदारकपितृयोः ॥'

सङ्गामोद्यानदेवतासमीपेषु नाधोथीतेति ॥ ३४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्ताबुज्ज्वलायामेकादशी कण्डिका

अनुवाद—(अनध्याय के विषय में) और नियम दूसरे धर्मशास्त्रों से भी
ग्रहण कर समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां

प्रथमप्रश्ने तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥



१. तथा इति नास्ति. क० पु०

२. व. रघु ११. ८. दिग्दाहपर्वतनादकथ्यप्रपातेषु, इति मुद्रितपुस्तकपाठः ।
निमित्तप्रादुर्भावादारभ्याऽन्येद्युर्भावत् स एव कालः स आकालः । तत्र भवमाकाङ्क्षिकम् ।

३. मुद्रितयमस्मृतौबृहथमस्मृतौ वा नेदं वचनमुपलभ्यते ।

अथ चतुर्थः पटलः

तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

योऽयं नित्यस्वाध्यायस्तपः कृच्छ्रातिकृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणं तपो याव-
त्सर्वं साधयति तावत्साधयतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अनु०—नित्य स्वाध्याय तप है, ऐसा ब्राह्मण का कथन है ।

टिप्पणो—इसका तात्पर्य यह है कि कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपो
का भी फल होता है, वही फल स्वाध्याय का भी होता है ॥ १ ॥

तत्र श्रूयते 'स यदि त्रिष्टनासीनः शयानो वा

स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि

स्वाध्याय इति ॥ २ ॥

तत्रैव ब्राह्मणे "स यदि त्रिष्टनासीन' इत्यापत्कल्पः श्रूयते । तत्र ^२'दूर्वाणां
महदुपस्तोर्योपस्थं कृत्वा प्राङ्नासीनः स्वाध्याय' मिन्यादिर्मुह्यः कल्पो^३ ब्राह्मण
एवीकः । इह पुनरासीनवचनं यथाकथञ्चिदासनार्थम् । सर्वथाऽप्यधीयानस्तप
एव तत्तप्यत इति ब्राह्मणार्थः । मनुस्स्याह—

^४ आहैव स नत्वाम्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यस्त्वव्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शचित्तोऽन्वहम् ॥' इति ।

१. तै० आ० २. १२. अत्र धृषे ब्राह्मणघ्नयानुपूर्वी योपसा सा क्वचित् ब्राह्मणे
नोपलभ्यते । किन्तु एवमनुमीयते—तैत्तिरीयण्यकद्वितीयप्रपाठकद्वादशानुवाकगतं 'उत
विष्टन्नुत नऋन्नुतासीन उत शयानोऽधीतैव स्वाध्यायम्' इत्यंशं 'तप एव तत् तप्यते
तपो हि स्वाध्यायः' इति तत्रैव त्रयोदशानुवाकगतमंशं चाऽऽदायैकीकृत्य धृष्टेऽनुदितयान्
सूत्रकार इति ।

२. तै० आ० २. ११. १ ३. तैत्तिरीयण्यके स्वाध्यायब्राह्मण इत्यर्थः ।

४. मनु० २. १६७ 'यदि ह वा अप्यभ्यस्योऽलंकृतस्तुदितस्तुले शयने शयान.
स्वाध्यायमर्चति आहैव य नखाद्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वाच् स्वाध्यायमधीते, तस्मात्
स्वाध्यायोऽस्पृतेव्यः' (मा० शत० ब्रा० ११. ५. ३.) इति माध्यान्दिनगतपथब्राह्मणवा-
क्यमुल्लेखं मानवी स्मृतिरिति भाति ।

स्त्रग्यीति स्वैरं दर्शयन्ति ॥ २ ॥

अनुवाद्—उसी ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि चाहे वह छोड़े होकर स्वाध्याय करे या बैठकर या सोकर, वह तप ही करता है, क्योंकि स्वाध्याय तप ही है ।

टि०—यह तैत्तिरीय आरण्यक का वचन है, इसमें किसी भी प्रकार से स्वाध्याय करने को तप कहा गया है । बैठने में भी वह किसी भी प्रकार से बैठकर या किसी भी प्रकार से सोकर स्वाध्याय करे । वह तप के समान फलदायक होता है ॥ २ ॥

एवं कर्तुर्नियमो नाऽपशतीवाऽऽदरणीय इत्युक्त्वा कालेऽप्याह—

अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम् 'ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायस्त-
स्यैते वपट्कारा यस्तनयति यद्विद्योतते यदवस्फूर्जति यद्वातो वा-
यति । तस्मात् स्तनयति विद्योतमानेऽवस्फूर्जति वाते वा वाय-

त्यधीयीतैव वपट्काराणामच्छम्बट्कारायति ॥ ३ ॥

अथापि अपि च स्वाध्यायो नाम य एष ब्रह्मयज्ञः ब्रह्म वेदः तत्साधनो
यागः । यथा दर्शपूर्णमासादयः पुरोडाशादिसाधनाः । हवैशब्दो प्रसिद्धि
द्योतयतः । तस्य यज्ञस्यैते षड्यमाणाः स्तनयित्वाद्यो वपट्काराः वपट्कार-
रथानीयाः । बहुवचननिर्देशात् वपट्कारानुवपट्कारस्वाहाकारास्सर्वे प्रदानार्था
गृह्यन्ते स्तनितं मेवशब्दः । विद्योतनं विद्युद्दयापारः । अवस्फूर्जनमशनिपातः ।
तत्र 'अवस्फूर्जथुर्लिङ्ग' मिति दर्शनात् । 'वायती' ति 'ओवैशोपण' इत्यस्य
रूपम् । यथा आर्द्रप्रदेशशुष्को भवति तथा वातीत्यर्थः । यस्मादेते वपट्काराः
तस्मान् स्तननादिष्वनध्यानिमित्तेषु सत्स्वप्यधीयीतैव । न पुनरनध्याय इति
नार्धीयोत । किमर्थम् ? वपट्काराणामेतेषामच्छम्बट्काराय अव्यर्थत्वाय ।

१. इदानीमुपलभ्यमानमाष्यदिनशततपयब्राह्मणवर्कित्स्वियम् "तस्य वा एतस्य ब्रह्म-
यज्ञस्य चत्वारो वपट्काराः यद्वातो वाति यद्विद्योतते, यत् स्तनयति यदवस्फूर्जति
तस्मादेवं विद्वाते वाति विद्योतमाने स्तनयत्यवस्फूर्जस्यधीयीतैव वपट्काराणामच्छम्बट्-
काराय" इति ।

२. वपट्कारः तर्बन् यागादौ हविःप्रक्षेपात् पूर्वं हविःप्रक्षेपार्थमेव पठ्यमानयाज्यायाः
अन्ते पठ्यमानेः 'वौषट्' इति शब्दः । सोमयागे तच्चतुर्ग्रहरोमानन्तरं "सोमस्यान्ते
वीहिर वौषट्" इति द्वितीयवारं पठ्यमानोऽनुवपट्कारः । स्वाहाकारस्तु प्रसिद्धः ।

३. स्तननं इति. ख० ग० पु० ४. वायवीन्यर्थः इति क० पु०

अन्यथा एते वपट्कारा व्यर्थास्त्युः । ततश्च^१ यथा होत्रा वपट्कृते अध्वर्युने जुहुयात् तादृगेव तस्यस्त् ॥ ३ ॥

अनु०—वाक्सनेयिब्राह्मण में कहा गया है : स्वाध्याय एक प्रकार का दैनिक यज्ञ है, जिसमें ब्रह्म ही यज्ञ का साधन है, जिस प्रकार दशपूर्णमास आदि में पुरोडाश साधन होता है । जो मेघगर्जन होती है, जो विद्युत् की चमक होती है, जब वज्रपात होता है, ठी वही सब स्वाध्याय यज्ञ का वपट्कार शब्द है । इस कारण मेघगर्जन होने पर, विद्युत् चमकने पर, वज्रपात होने पर तथा आँधी चलने पर भी अध्ययन करे, अग्नया ये वषट्कार रूप शब्द व्यर्थ हो जायेंगे ।

टि०—यहाँ शतपथब्राह्मण ? १.५.६.८ का निर्देश किया गया है ॥ ३ ॥

तस्य शाखान्तरे वाक्यसमाप्तिः ॥ ४ ॥

तस्य वाजसनेयिब्राह्मणस्य । शाखान्तरे वाक्यसमाप्तिर्भवति, न तावति पर्यवसानम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य का पर्यवसान अन्य शाखा में भी उपलब्ध होता है ॥ ४ ॥

तदेव शाखान्तरं पठति—

अथ यदि वा वातो वायात्स्तनयेद्वा विद्योतेत वाऽत्रस्फूर्जद्वैकां वचमेकं वा यजुरेकं वा सामाभिव्याहरेद्भूर्भुवस्सुवस्सत्यं तपः श्रद्धायां जुहोमीति वैतत् । तेनोहैवाऽस्यैतदहस्स्वाध्याय

उपात्तो भवति ॥ ५ ॥

अन्ते इतिशब्दोऽध्याहार्यः । वातादिषु सत्सु एकामृचमधीयीत । प्राप्ते प्रदेशे । यजुर्वेदाध्ययन एकं यजुः । सामवेदाध्ययन एकं साम । सर्वेषु वा वेदेषु 'भूर्भुवः सुव' रित्यादिकं यजुरभिव्याहरेत्, न पुनर्यथापूर्वं प्रश्नमात्रम् । तेनैव तावतैवास्याऽध्येतुः तदहः तस्तिश्रद्धानि स्वाध्याय उपात्तो भवति^१ अधीतो

१. दशपूर्णमासादियोगेषु सर्वत्र इविःप्रदानसमये "अङ्गध्या अतुब्रूहि" इति प्रेषानन्तरं पुरोनुवास्यामन्वय्याऽऽभाव्य प्रत्याभाव्य यज्याभ्युक्त्वा तषट्कृते जुहोति" इति वचनात् वषट्कारानन्तरं होमो विहितः । तत्र वषट्कारानन्तरं होमाकरणे यादको दोषस्तादृशस्सादित्यर्थः ।

२. 'ठावतीति० नास्ति ख० पु०

३. किमिदं शाखान्तरमिति न शायते । ४, ५, वेदाध्यायो इति क० पु०

६. स्वीकृती भवति अधीतो भवतीत्यर्थः, इति ख० पु०

भवतीति यावत् । केचित्तु 'भूर्भुवः सुव' रित्यादिकं ब्राह्मणभागाध्ययनविषये मन्यन्ते, न सार्वत्रिकम् ॥ ५ ॥

अनु०—यदि तीव्र वायु चलता हो, मेघगर्जन होता हो, विद्युत् की चमक शोवी हो, या वज्र पात होता हो, तो एक ऋचा का, एक यजुर्मन्त्र का अथवा एक साम का अध्ययन करे अथवा सभी वेदों का अध्ययन करते समय 'भूर्भुवः सुव' आदि एक यजुर्मन्त्र का अध्ययन करे इस प्रकार उन दिन के स्वाध्याय का अध्ययन पूरा हो जाता है ।

टिप्पणी—इस प्रकार उपर्युक्त मेघ गर्जन आदि के समय पूरे प्रस्त भाग का अध्ययन करना आवश्यक नहीं होता । कुछ लोगों के अनुसार केवल मूः सुवः सुवः शब्दों का प्रयोग करने से ही उस दिन का स्वाध्याय पूरा हो जाता है ॥ ५ ॥

कस्मात् पुनर्वाजसनेयित्राहाणस्योद्राहते शाखान्तरे वाक्यसमाप्तिराश्रीयते न पुनर्यथाश्रुतमात्रं गृह्यते ? तत्राह—

एवं सत्यायंसमयेनाऽविप्रतिपिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं सति वाक्यपरिसमाप्तावाश्रीयमाणायामार्यसमयेन आर्याः शिष्टा मन्वादयः तेषां समयो व्यवस्था, तेन अविप्रतिपिद्धं भवति । इतरथा विप्रतिपिद्धं स्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—इस प्रकार यदि इस सूत्र को ब्राह्मणवाक्य के साथ सम्बद्ध किया जायगा तो आर्यों के नियम का विरोध नहीं होगा ।

टि०—उपर्युक्त सूत्र ५ में व्यक्त नियम से ब्राह्मणग्रन्थ के साथ सामंजस्य बना रहता है तथा ब्राह्मण का भी विरोध नहीं होता तथा दूसरी ओर धर्मशास्त्रकारों के अनन्यार्यविषयक नियमों का भी विरोध नहीं होता ॥ ६ ॥

कथम् ?

अध्यायानध्यायं ह्युपदिशन्ति । तदनर्थकं स्याद्वाजसनेयित्रा-

ह्युणं चेदवेक्षेत ॥ ७ ॥

आर्यों हि अध्यायमध्यायं चोपदिशन्ति । तदुपदेशमनर्थकं स्यात् यदि वाजसनेयित्राह्युणं यथाश्रुतमवेक्षेताऽध्येता ॥ ७ ॥

अनु०—क्योंकि आर्य अर्थात् धर्म जानने वाले शिष्ट लोग वेद के स्वाध्याय तथा अनाध्याय दोनों का उपदेश देते हैं । यदि वाजसनेयित्राह्युण के उपर्युक्त अंश मात्र पर ध्यान दिया जायगा तो शिष्टों का नियम व्यर्थ हो जायगा ॥ ७ ॥

ननु—अनर्थकमेवेदमस्तु, श्रुतिविरोधात् । तत्राह—

आर्यसमयो ह्यगृह्यमानकारणः ॥ ८ ॥

योऽयमध्यायानध्यायविषय आर्थसमयः न तत्र किञ्चित्कारणं गृह्यते । यथा 'वैसर्जनेनहोमीयं वासोऽध्वर्यवे ददाती' त्यत्रागृह्यमाणकारणश्चार्थसमयः श्रुत्यनुमानद्वारेण प्रमाणम् । अतो वाक्यपरिस्समाप्तिरेव युक्ता । एवं हि बाजसनेयित्रारक्षणस्यापि नात्यन्तवाधः । अनध्यायोपदेशस्यापि प्रभूताध्ययनविषयतयाऽर्थवत्त्वमिति । सूत्रे 'अगृह्यमानकारण' इति णत्वाभावश्छान्दसः ॥८॥

अनु०—आर्यों के स्वाध्याय तथा अनध्याय विषयक नियमों का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता ।

टि०—चूँकि आर्यों के नियम का कोई लौकिक कारण नहीं है अतः उसका कारण धार्मिक होना चाहिए और वह श्रुति पर ही आधारित है ॥ ८ ॥

का पुनरसौ स्मृतिः ? या ब्रह्मयज्ञेऽप्यनध्यायमुपदिशति । मानवे तावद्विपर्ययः श्रूयते—

३ 'नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।' इति ।

सामान्येनानध्यायोपदेशस्तु ब्रह्मयज्ञादयत्र चरितार्थः । तस्मात्तादृशी स्मृतिर्मुंग्या । एवं तर्होन्निहोत्रादिष्वपि मन्त्राणामनध्यायः प्राप्नोति । नेत्याह—

विद्यां प्रत्ययनध्यायः श्रूयते न कर्मयोगे मन्त्राणाम् ॥ ९ ॥

विद्या वेदाध्ययनम् । तां प्रत्यनध्यायः श्रूयते । न पुनर्मन्त्राणां कर्मयोगे । हेतुः परिभाषायामुक्तो^३ यान्तरत्वादिति । अर्थान्तरं हि कर्मणि प्रयोगो मन्त्राणाम् 'न पुनर्ग्रहणाध्ययनम् । पारायणाध्ययनमध्वेऽनध्यायागमो भवति वा न वेति चिन्त्यम् । एवं श्रीरुद्रादिजपेऽपि ॥ ९ ॥

अनु०—वेद के अनध्याय के विषय में बन्धों ने जो नियम दिये हैं वे विद्याप्रर्षण के लिए ही हैं न कि वेद के मन्त्रों का यश के समय प्रयोग के लिए ॥ ९ ॥

१. सोमयोगे अग्नीषोमीयपशुधानकाले तदर्थं शालामुखीयादग्नेः कञ्चिदंश-प्रुद्धस्य तस्य उत्तरवेदिरथाहवनीयकुण्डे स्थापनायं अश्वर्यो गच्छति तं यजमानस्तप-त्नीपुत्रादयोऽनुगच्छेयुः । गच्छतस्तानहतेन दीर्घतमेन बलेणोपर्याच्छाद्य सर्वेवाहवनीय-देवं प्राप्तेषु तत्र तमग्नि प्रतिष्ठाप्य, आच्छादनबलान्तं स्रुग्ण्डे बध्वाऽऽन्येन जुहोति । ते वैसर्जनेहोमा उच्यन्ते । तन्व वसतः अध्वर्यवे दद्यात् इति प्रकृतवाक्यार्थः । स्मृते-रस्याः लोभादिमूलकत्वमापायातएवामाण्यमुक्तं शबरस्वामिना । कुमारस्वामिना तु एवं सति सर्वत्राऽनादवाप्तसप्तसङ्ख्यापाय मन्वादिस्मृतिवत् प्रामाण्यमेवाङ्गीकृतम् ।

२. म० स्मृ० २. १. ०६ ब्रह्मसत्रं सततप्रवृत्तं सत्रम्, यथा सहस्रतत्वरसरादिकं सत्रं न न कदाचिच्छिद्यते तद्वदिदं निःश्यायनमित्यर्थः ।

३. आप० प० १. ४० ४. अनुष्टुप्पार्थप्रकाशकतया इत्यधिकं ख० ग० पु०

कथं पुनरार्यसमयः प्रमाणम् ? यावता न तेषामतीन्द्रियेऽर्थं ज्ञानं सम्भवति । तत्राह—

ब्राह्मणोक्ता विधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्ते ॥ १० ॥

विधीयन्त इति विधयः कर्माणि । ते सर्वे स्मार्ता अपि ब्राह्मणेष्वेवोक्ताः नन्विदानीं ब्राह्मणानि नोपलभ्यन्ते । सत्यम्; तेषामुत्सन्नाः पाठाः, अध्येतृदीर्घ्यात् । कथं तर्हि तेषामस्तित्वम् ? प्रयोगादनुमीयन्ते । प्रयोगः रथतिनिवन्धनमनुष्ठानं च । तस्माद्ब्राह्मणान्यनुमीयन्ते मन्वादिभिरुपलब्धानीति ^१कथमन्यथा स्मरेयुस्तित्तिष्ठेषुर्वा । सम्भवति च तेषां वेदसंयोगः ॥ १० ॥

अनुयाद्—सभी विधियां पहले बंदों में उपदिष्ट थीं, किन्तु अब ब्राह्मणों के न उपलब्ध होने पर प्रयोग से ही उनका अनुमान किया जाता है ।

टि०—यह इस प्रश्न का उत्तर है कि स्मृतिकारों के नियमों का आधार क्या है । उत्तर में सभी स्मार्त नियमों का आधार शास्त्राणग्रन्थ माने गये हैं, जिनके आधिकार्य आच्यन करने वालों की दुर्बलता के कारण उपलब्ध नहीं है और अब प्रयोग के आधार पर केवल अनुमान के विषय है ॥ १० ॥

अथ प्रसङ्गादपस्मृतिकथ्यते—

यत्र तु प्रीत्युपलब्धतः प्रवृत्तिर्न तत्र शास्त्रमस्ति ॥ ११ ॥

यत्र ^२पितृष्वसुतामातुलसुतापरिणयनादी । प्रीत्युपलब्धतः प्रवृत्तिर्न तत्रोत्सन्नपाठं शास्त्रमनुमीयते, प्रीतेरेव प्रवृत्तिहेतोः सम्भवात् ॥ ११ ॥

अनु०—किन्तु जहाँ । स्मृति का या आचार का पालन करने से प्रीति प्राप्त होने से प्रवृत्ति होती हो तो वहाँ शास्त्र का अनुमान नहीं किया जाता है ।

टि०—क्योंकि प्रीति ही प्रवृत्ति का हेतु होती है ॥ ११ ॥

तत्रञ्च—

तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति ॥ १२ ॥

तद्विधानमनुतिष्ठन्नरकायैव राध्यति कल्पते ॥ १२ ॥

अन०—इस प्रकार की प्रवृत्ति का अनुसरण करने वाला नरक में ही गिरता है ॥ १२ ॥

अथ ब्राह्मणोक्ता विधयः ॥ १३ ॥

एवं स्मृत्याचारप्राप्तानां श्रुतिमूलत्वमुक्तम् ^१ अथ प्रत्यक्षब्राह्मणोक्ता

१. कथमपरया इति ख० पु० २. 'पितृष्वसुता' इति नास्ति ख० ग० पु०

२. अमेदानीं इति ख० पु०

एव केचिद्विधयो व्याख्यायन्ते तेषामपि स्मार्तेष्वनुप्रवेशार्थम् । तेन तद्वक्तृकस्मे स्मार्ताविक्रमनिमित्तमेव प्रायश्चित्तं भवति ॥ १३ ॥

अनु०—अब ब्राह्मण ग्रन्थों में उपदिष्ट विधियों का निर्देश किया जाता है ॥ १३ ॥

तेषां 'महायज्ञा महासत्राणोति च संस्तुतिः ॥ १४ ॥

तेषां वक्ष्यमाणानां महायज्ञा इति संस्तुतिः स्वाध्यायब्राह्मणे । महासत्रा-
णोति च संस्तुतिर्भवति बृहदारण्यकादौ । संस्तुतिग्रहणेन संस्तुतिमात्रमिदं न
नामधेयं 'धर्मातिदेशार्थमिति दर्शयति । तेन महायज्ञेषु सोमयोगेषु ये धर्माः
'न ज्येष्ठं भ्रातरमवीत्य सोमेन यष्टव्य' मित्यादयः, ये च महासत्रस्य गवाम-
यनस्य धर्मा^३ इष्टप्रथमयज्ञानामधिकार' इत्यादयः उभयेऽपि ते वक्ष्यमाणेषु
पञ्चमहायज्ञेषु न भवन्ति ॥ १४ ॥

अनु०—आगे बिन यज्ञों का वर्णन किया जायगा उन्हें स्तुति के लिए महायज्ञ
या महासत्र कहा जाता है ।

टि०—संस्तुति के लिए उन्हें महायज्ञ कहा जाता है, इत्से यह तात्पर्य है कि
बस्तुतः महायज्ञ उनका नाम नहीं है अपितु उनकी प्रशंसा के लिए ही इस नाम का
उन्के लिए प्रयोग किया जाता है ॥ १४ ॥
के पुनस्ते ? तानाह

^४अहरहभूंतवलिर्मनुष्येभ्यो यथाशक्ति दानम् ॥ १५ ॥

१. पञ्चैव महायज्ञाः तान्येव महासत्राणः श० बा० ११. ५. ६. १) इति श्रुतपथे ।
२. कुण्डपायिनामयनाख्ये संवत्सरसाध्ये सत्रविशेषे "भासमग्निहोत्रं जुहोतीति"^५
भूतोग्निहोत्रशन्दस्तत्रत्यस्य कर्मविशेषस्य गौण्या इत्या नामधेय सन् प्रसिद्धानिहोत्रात्
धर्मातिदेशकः इत्युक्तं पूर्वमीमांसायां सप्तमन्वृतीये । एवं च क्वचिद् नामत्वेनाभिधातृत्वा
प्रयुज्यमानस्य शब्दस्य प्रकरणान्तरेऽप्यत्र कर्मनामत्वा ददि भवणं, तदा न तत्र कर्मान्त-
रेऽपि तस्य शक्तिरङ्गीक्रियतेऽनेकार्यतादोषमिथा । किन्तु प्रसिद्धत्वाद्यज्ञकर्मनिष्ठगुणसमा-
नगुणवत्त्वरूपां गौणीं वृत्तिमाःशस्य तद्वत्वात् तदोषधर्मातिदेशक इति श्रियतम् । प्रकृते तु
न तथा । किन्तु स्तुतिमात्रमिति ।

३. इष्टप्रथमयज्ञे यष्टव्यम् इति, ख० पु० 'आहिताग्नेय इष्टप्रथमयज्ञा गृहपतिसत्तद-
शास्त्रमासीत्' इति सत्रेऽधिकारिनियमः । प्रथमयज्ञशन्देन सोमयाग उच्यतेऽग्नि
शोमसंस्थाकः । पूर्वं कृताधानाः अनुष्ठितानिष्टोमसंस्थाःकृतोमयागाः द्वादशाहादिषु सत्रा
ख्येषु ज्योतिष्टोमविकृतिभूतेषु सोमयागेष्वधिकारिणः इति वाक्यार्थः । तादृशानां निय-
मानां तत्रापेक्षा । अर्घांतवेदस्य सर्वस्याऽप्यत्राधिकार इति भावः ।

४. "यज्ञाणीमानि-श्रुतपथब्राह्मणस्य काञ्चन प्रविरूपतामनुभवन्ति" इयं हि श्रातपथी

वैश्वदेवे वह्यमाणेन बलिहरणकारेण भूतेभ्योऽहरहूर्भूत्वलिदेयः, एष भूतयज्ञः । मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति दानं कर्तव्यम् । एष मनुष्ययज्ञः ॥ १५ ॥

अनु०—इन महायज्ञों के अन्तर्गत प्रतिदिन प्राणियों के लिए बलि अर्पित करना तथा मनुष्यों की यथाशक्ति दान देना सम्मिलित है ।

टि०—भूतों अर्थात् सात प्रकार के प्राणियों को बलि अर्पित करना भूतयज्ञ हुआ तथा मनुष्यों को यथाशक्ति उन्नादि का दान करना मनुष्ययज्ञ कहलाता है ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वादशी कण्डिका

देवेभ्यः स्वाहाकार आ काष्ठात् पितृभ्यः स्वाधाकार ओद-

पात्रात् स्वाध्याय इति ॥ १ ॥

देवेभ्यः स्वाहाकारेण प्रदानम् आकाष्ठात् अशनीयाभावे काष्ठमपि तावदेयम् । वैश्वदेवोक्तप्रकारेणैव देवयज्ञः । केचिद्वैश्वदेवाहुतीभ्यः पृथग्भूतामिमामाहुतिं मन्यन्ते । देवेभ्यः स्वाहेति च मन्त्रमिच्छन्ति । 'देवयज्ञेन यस्य इति सङ्कल्पमिच्छन्ति । वयं तु न तथेति' गृह्य एवाऽबोचाम । केचिदाहुः— 'आकाष्ठा' इति वचनादशनीयाभावेन भोजनलोपेऽपि यथाकथञ्चित् वैश्वदेवं कर्तव्यम्, पुरुषसंस्कारादिति ।

अपरे तु-अशनीयसंस्कार इति वदन्तो भोजनलोपे वैश्वदेवं न कर्तव्यमिति स्थिताः ।

पितृभ्यः स्वधाकारेण प्रदानम् ओदपात्रात् अन्नाद्यभावे उदपात्रमपि स्वधाकारेण तावदेयम् । पात्रग्रहणात् सह पात्रेण देयम् । एष पितृयज्ञः । स्वाध्यायः

पक्तिः—भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञः इति । अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत् । तथैतं भूतयज्ञं समान्नोति, अहरहर्देव्यादोदपात्रात् तथैतं मनुष्ययज्ञं समान्नोति, अहरहस्त्वधा कुर्वादोदपात्रात् तथैतं पितृयज्ञं समान्नोति, अहरहस्त्वांशुकुर्वादाकाष्ठात्तथैतं देवयज्ञं समान्नोति । अयं ब्रह्मयज्ञः । स्वाध्यायौ वै ब्रह्मयज्ञः इति ।

१. आपस्तम्बग्रहणसूत्रस्यानाकुलतात्पर्यदर्शनसहितस्य चौलम्बामुद्रणालयमुद्रितस्य पुस्तकस्य २०४ पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

‘तस्य विधि’ रित्यारभ्योक्तो नित्यस्वाध्यायः । स तु ब्रह्मयज्ञः । इतिः समाप्त्तौ । इत्येते महायज्ञा इति । न चायमुपदेशक्रमोऽनुष्ठान उपयुज्यते । अनुष्ठानं तु— ब्रह्मयज्ञो, देवयज्ञः, पितृयज्ञो, भूतयज्ञो, मनुष्ययज्ञ इति ॥ १ ॥

• अनुयाद्—देवों के लिए स्वाहा शब्द के साथ काठ तक की आहुति दी जाती है, पितरों के लिए स्वधा शब्द के साथ बल तक की अंबलि अर्पित की जाती है, और स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ होता है ।

टिप्पणी—आकाशवाक् का अर्थ है कि अन्न भी हो तो काठ तक की आहुति देवों के लिए दी जाती है । इसका अर्थ यह भी लिया जाता है कि जिस किसी तरह वैश्वदेव कर्म करना चाहिए । कुछ अन्य धर्मज्ञों के अनुसार भोजन का अभाव होने पर वैश्वदेव नहीं करना चाहिए । पितरों के लिए अन्न आदि के अभाव में बल भी दिया जा सकता है । यह उदक पात्र में दिया जाना चाहिए । यह पितृपूज है । स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ होता है, ये महायज्ञ होते हैं ॥ १ ॥

पूजां प्रसङ्गादाह—

पूजा वर्णउपायसां कार्या ॥ २ ॥

वर्णतो^१ ये ज्यायांसः प्रशस्ततरा भवन्ति तेषामवरोण वर्णेन कार्या पूजा अर्चन्यगुणमनादिका उत्सवादिषु च गन्धलेपादिका ॥ २ ॥

अनु०—श्री लोग वर्ण की दृष्टि से भेद हैं उनके प्रति आदर-पूजा का भाव रखना चाहिए ॥ २ ।

वृद्धतराणां च ॥ ३ ॥

सजातीनामपि पूजा कार्या । तरपो तिर्देशात्^२ विद्यथावयःकर्मभिर्बुद्धानां ग्रहणम् । हीनानामपीत्येके । तथा च मनुः—

‘शूद्रोऽपि दरमर्ी गत’ इति ॥ ३ ॥

अनु०—अग्ने ही वर्ण के विद्या तथा अवस्था में भेद व्यक्तियों का सम्मान करना चाहिए ।

टिप्पणी—कुछ लोग अपने से हीन वर्ण के किन्तु विद्या तथा अवस्था में भेद व्यक्तियों के आदर का नियम स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

१. शिष्टाचारोऽपि ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञो, भूतयज्ञो, मनुष्ययज्ञ, इत्येवम् । न तु ब्राह्मणोक्तैरेव क्रमेणानुष्ठानम् । च० पुस्तके देवयज्ञो, भूतयज्ञ, इति पाठक्रमः ।

२. अत्र प्रथमान्तरसर्वाऽप्येकवचनान्ततया पठ्यते क० पु०

३. विचे बन्धुबंध्यः कर्म विद्या भवति पञ्चमी । एतानि मान्दस्यनानि गरोयो यद्यदुत्तरम् ॥ इति मन्वैर्विधादिभिर्बुद्धानामित्यर्थः ॥

४. म० मृ० २. १३७. दशमी गतः नक्त्यधिको अवस्थां गत इत्यर्थः । सर्वाणां शतस्य दशधा विभागे दशव्यवस्था नक्त्यधिकं भवति ।

पूजा कार्येत्युक्तम् । तद्विरोधी हर्षो बर्ष्य इत्याह—

हृष्टो दर्पति इसो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः ॥ ४ ॥

अभिमतलाभादिनिमित्तश्रित्तधिकारो हर्षः । तदयुक्तो हृष्टः । स दर्पति ह्यति । दर्पो गर्वोऽभिमानः । इसो धर्ममतिक्रामति, पूज्यपूजनादिकं प्रति स्तब्धत्वात् । खलुपुनश्शब्दौ वाक्यालङ्कारे । धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरको भवति नित्यं प्रतिपद्यते । तस्माद्दर्मातिक्रममूलभूतो हर्षो न कर्तव्यः । यद्यद्यपि भूतदाहीयेषु 'दोषेषु वर्जनीयेषु हर्षोऽपि,' बर्ष्यते । तथापीह विशेषेण हर्षस्य वर्जनार्थोऽयमारम्भः । योगाङ्गात्वाद्बर्ष्यमाणस्य ॥ ४ ॥

अनु०—अभीष्ट वस्तु की उपलब्धि से हर्षयुक्त व्यक्ति दर्पन्वित हो जाता है और धर्म का उल्लंघन करता है । धर्म का उल्लंघन करने पर वह निश्चय ही नरक प्राप्ति करता है ॥ ४ ॥

न समावृत्ते समादेशो विद्यते ॥ ५ ॥

समावृत्तं शिष्यं प्रति आचार्येण समादेशो न देयः—इदं त्वया कर्तव्यमिति । यथा असमावृत्तदशायामाज्ञा दीयते—उदकुम्भमाहरेत्यादि, नैवमिदानीम् । स्वेच्छया करणे न प्रतिपेध्यम् ॥ ५ ॥

अनु०—समावर्तन संस्कार के बाद शिष्य को आचार्य उपदेश न देवे ।

टि०—तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्य या समावर्तन हो जाने के बाद उस प्रकार आदेश न दे जिस प्रकार वह असमावृत्त अवस्था में दे देता था ॥ ५ ॥

ओङ्कारस्वर्गद्वारं तस्माद्ब्रह्माऽध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्येत ॥ ६ ॥

ओङ्कारः प्रणवः स्वर्गस्य द्वारमिव । यथा द्वारेण गृहाभ्यन्तरं प्राप्यते तथाऽनेन स्वर्गः । तस्मात् ब्रह्म वेदं स्वर्गसाधनमध्येष्यमाण एतदादि अनाम्नातमप्योङ्कारमादौ कृत्वा प्रतिपद्येत उपक्रमेताऽध्येतुम् ॥ ६ ॥

अनु०—ओङ्कार स्वर्ग का द्वार है, अतः वेद का अव्ययन आरम्भ करने के लिए इस ओङ्कार शब्द से ही आरम्भ करना चाहिए ॥ ६ ॥

विकथां चान्यां कृत्वैवं लौकिकया वाचा व्यावर्तते ब्रह्म ॥ ७ ॥

अध्ययनेऽनुपयुक्ता कथा विकथा । तां चान्यां कृत्वा एतदादि प्रतिपद्येत । एवं सति ब्रह्म वेदः लौकिकया वाचा व्यावर्तते तथा मिश्रितं न भवति ॥ ७ ॥

अनु०—अध्ययन के समय किसी अन्य असंबद्ध बात को कहने के बाद फिर औम् शब्द का उच्चारण करके ही अध्ययन करना चाहिये । इससे वेद लौकिक वाणी के साथ मिश्रित नहीं होता, अलग बना रहता है ॥ ७ ॥

पुनरप्योद्धारमेव स्वीति—

यज्ञेषु चैतदादयः प्रसवाः ॥ ८ ॥

यज्ञेषु दर्शपूर्णमासादिषु एतदादयः ओङ्कारादयः प्रसवा अनुज्ञावाक्यानि भवन्ति ब्रह्मादीनाम्—ॐ प्रणय, ॐ निर्वप, ॐ 'स्तुष्वमिति ॥ ८ ॥ अनु०—यज्ञ में बहुतशा वाक्यों के आरम्भ में 'ओम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है ॥ ८ ॥

लोके च भूतिकर्मस्वेतदादीन्येव वाक्यानि स्युर्यथा पुण्याहं स्वस्त्यद्विमिति ॥ ९ ॥

यथा यज्ञेष्वोङ्कारादयः प्रसवाः, लोके च भूतिकर्मसु पाणिप्रहणादिषु एतदादीन्येव वाक्यानि स्युः । तान्युदाहरति—यथेति । पुण्याहवाचने ॐ कर्मणः पुण्याहं भवन्तो ब्रुवन्त्विति वाचयिता वदति । 'ॐ पुण्याहं कर्मणोऽस्तु' इति प्रतिवकारः । 'ॐ कर्मणे स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' इति वाचयिता । 'ॐ कर्मणे स्वस्ति' इतीतरे । 'ॐ कर्मण ऋद्धि भवन्तो ब्रुवन्तु' इति वाचयिता । 'ॐ कर्मर्ष्यता'मितीतरे । तस्मादेवं प्रशस्त ॐकार इति ॥ ९ ॥

अनु०—लौकिक कार्यों में भी पुण्य कर्मों के करने के पहले ओम् का प्रयोग होवे, यथा 'ओम् पुण्याहम्' 'ओम् स्वस्ति ओम् ऋद्धिम्' । आदि वाक्यों में ।

टि०—भूतिकर्म से उन कर्मों से तात्पर्य है जो सुख तथा कल्याण के लिए किये जाते हैं, यथा पाणिप्रहण आदि संस्कार ॥ ९ ॥

नाऽसमयेन कृच्छ्रं कुर्वीत त्रिःश्रावणं त्रिस्सहवचनमिति परिहाप्य ॥ १० ॥

समयः शुश्रूपा, तेन विना कृच्छ्रं दुःखं दुःखधारणं अपूर्वं प्रन्यं न कुर्वीत । क्रियासामान्यवचनः करोतिरव्ययनेऽध्यायने च वर्तते । समयेन विना शिष्योऽपि कृच्छ्रं प्रन्यं नाऽधीयीत । आचार्योऽपि नाध्यापयेत् । तथा च मनुः—

“धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूपा वापि तद्विधा ।
न तत्र विद्या यसाव्या शुभं धौजमिधोपरे’ ॥ इति ।

१. सोमपाणे उद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्ताख्यान् छन्दोगान् प्रति गुणिनिष्ठयुगामिधानरु-
पस्तोत्रारम्भार्थं नाच्युणान्ऽनुशादानमिदम् ।
२. ॐ पुण्याहं इति क० पु० ३. ॐ कर्मणे स्वस्ति इति वाचयिता इति क० पु०
४. ॐ कर्मण ऋद्धि इति क० पु० ५. म० स्मृ० २. ११२

किमविशेषेण ? नेत्याह—त्रिःश्रावणं त्रिस्सहचचनमिति परिहाय्य वर्जयित्वा । त्रिःश्रावणमात्रे त्रिस्सहचचनमात्रे चान्यतरापेक्षया क्रियमाणे शुश्रूषा नापेक्ष्या । ततोऽधिके सर्वत्रापेक्ष्येति ॥ १० ॥

अनु०—समय अर्थात् शुश्रूषा के बिना किसी अपडित कठिन ग्रन्थ का अध्ययन न करे, और अध्यापन भी न करे । त्रिःश्रावण तथा त्रिस्सहचचन नाम के पाठ इसके अपवाद हैं, उनका अध्ययन तथा अध्यापन बिना समय के क्रिया बा सक्ता है ॥ १० ॥

अचिचिकित्सा यावद्ब्रह्म निगन्तव्यमिति हारीतः ॥ ११ ॥
विचिकित्सा संशयः । तद्भावोऽविचिकित्सा सा यावदुत्पद्यते तावद्ब्रह्म निगन्तव्यं नियमपूर्वमधिगन्तव्यमिति हारीतः आचार्यो मन्यते । अत्र पक्षे त्रिःश्रावणत्रिस्सहचचनयोरपि शुश्रूषितव्यम् । ब्रह्मग्रहणाद्ब्रह्मणु नाप्यविधिः ॥ ११ ॥

अनु०—शरीर का मत है कि मग्नूर्ण वेद का अध्ययन व्रतपूर्वक करना चाहिए, बत्र तक कि उसके विषय में किसी प्रकार की बिशाला इनी हुई है ।

टि०—हारीत के इस मत के अनुसार ऊपर त्रिःश्रावण तथा त्रिस्सहचचन के विषय में जो अपवाद का नियम बताया गया था वह लागू नहीं होगा, अपितु इनके विषय में भी व्रत आवश्यक हो जायगा । चूंकी इस सूत्र में ब्रह्म का ही प्रयोग है, अतः वेदांग के विषय में समय के नियम को नहीं समझना चाहिए ॥ ११ ॥

न वहिर्वेदे गतिर्विद्यते ॥ १२ ॥

वेदाद्ब्रह्महिर्भूते काव्यनाटकादिश्रवणे । गतिः शुश्रूषा न विद्यते यद्यपि तदुपयुक्तं वेदार्थज्ञाने ॥ १२ ॥

अनु०—वेद से भिन्न ग्रन्थों के विषय में शुश्रूषा का नियम नहीं होगा ।

टि०—वेद से भिन्न ग्रन्थों के अन्यर्गत काव्य, नाटक आदि वक्तव्ये गव्ये हैं ॥ १२ ॥

समादितृमध्यापयन्तं यावदध्ययनमुपसंगृह्णीयात् ॥ १३ ॥

य आचार्येण समादिष्टोऽयस्यापयति तं यावदध्ययनं यावद्दसावध्यापयते तावदुपसंगृह्णीयात् । तथा 'समादिष्टोऽध्यापयती' त्यत्राऽऽचार्यदारपरबद्धितिरुक्ता । तत्र 'चान्यत्रोपसङ्ग्रहणादिति वर्तते' अत उपसङ्ग्रहणार्थोऽयामारम्भः ॥ १३ ॥

१. आप० घ० १. ७. २८ । २. आप० घ० १. ७. २७

३. ततः इति. क०. पु० १. ७. २८

अनु०—जो व्यक्ति गुरु के आदेश से अध्यापन कर रहा हो, उसके चरण का इस समय तक उपसंग्रहण करना चाहिए, जब तक वह अध्यापन करे ॥ १३ ॥

नित्यमहन्तमित्येके ॥ १४ ॥

स चेत्समादिष्टोऽहं न भवति विद्यासदाचारादिना । ततो नित्यमुपसंगृह्णीयात्, इत्येके मन्यन्ते । स्वमतं तु यावदध्ययनमिति ॥ १४ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि यदि वह व्यक्ति योग्य हो तो तदैव उसके चरण का उपसंग्रहण करे ।

टि०—आपस्तम्ब का मत यही है कि उस व्यक्ति के चरण का उपसंग्रहण उसी समय तक करना चाहिए जब तक वह अध्यापन करे ॥ १४ ॥

न गतिर्विद्यते ॥ १५ ॥

यद्यथसावर्द्धं भवति तथाप्याचार्ये या गतिः शुश्रूषा सा तस्मिन्न कर्तव्या ॥ १५ ॥

अनु०—वह व्यक्ति विद्वान् भी हो तो भी उसके प्रति शुश्रूषा नहीं होती ॥१५॥
दृष्टानां तु ॥ १६ ॥

तुष्ट्यार्थे । दृष्टानां चान्तेवासिनां न गतिर्विद्यते । पूर्ववयसाऽन्तेवासिना अवरवया आचार्यो न शुश्रूषितव्यः । अध्ययनादूर्ध्वमित्येके । अध्ययनकालेऽपीत्यन्ये । केचिदथरवयसाऽप्यन्तेवासिना न दार्धके गतिः कर्तव्येत्याहुः ॥१६॥
अनु०—अधिक अवस्था वाले अन्तेवासियों के लिए भी शुश्रूषा का नियम नहीं होता ।

टि०—इसका तात्पर्य यह है कि यदि अन्तेवासी आचार्य से अधिक आयु का हो तो आचार्य की शुश्रूषा न करे । कुछ धर्मज्ञों के अनुसार यह नियम अध्ययन के बाद ही होता है किन्तु कुछ आचार्य अध्ययन काल में भी ऐसा नियम मानते हैं । कुछ इसका यह अर्थ लगाते हैं कि आचार्य से अल्प आयु का अन्तेवासी भी दृष्टान्त्या में आचार्य के प्रति शुश्रूषा न करे ॥ १६ ॥

ब्रह्मणि मियो विनियोगे न गतिर्विद्यते ॥ १७ ॥

ब्रह्मणि वेदविषये यदा मियो विनियोगः क्रियते बह्वृचो यजुर्वेदिनः सकाशाद्यजुर्वेदमधीते सोऽपि तस्माद्वेदम् । तदाऽपि परस्परं शुश्रूषा न कर्तव्या ॥ १७ ॥

अनु०—यदि दो व्यक्ति परस्पर एक दूसरे को वेद का अध्यापन करते हों तो उनमें परस्पर शुश्रूषा का नियम नहीं होता ॥ १७ ॥

अत्र हेतुं स्वयमेवाह—

ब्रह्म वर्धत इत्युपदिशन्ति ॥ १८ ॥

द्वयोरपि ब्रह्म वर्धते । सैव ब्रह्मवृद्धिः शुश्रूषेत्युपदिशत्याचार्याः ॥ १८ ॥
अनु०—क्योंकि माना जाता है कि दोनों का वेदशान बढ़ता है और उन दोनों

के लिए यही पारस्परिक शुभषा है ॥ १८ ॥

निवेशे वृत्ते संवत्सरे द्वौ द्वौ मासौ समाहित आचार्यकुले वसे-

दभूयः श्रुतिमिच्छन्ति श्वेतकेतुः ॥ १९ ॥

भूयःश्रवणमिच्छन् पुरुषो निवेशे दारकर्मणि वृत्तेऽपि प्रतिसंवत्सरं द्वौ द्वौ
मासौ समाहितो भूत्याऽचार्यकुले वसेदिति श्वेतकेतुराचार्यो मन्यते ॥ १९ ॥

अनु०—श्वेतकेतु का कथन है कि गृहस्थाश्रम रहते हुए भी जो और अधिक
अध्ययन करना चाहता है वह प्रत्येक वर्ष में दो मास के लिये समाहित मन से आचार्य
के कुल में निवास करे ॥ १९ ॥

अत्र हेतुत्वेन श्वेतकेतोरेव शिष्यान्प्रति वचनम्—

एतेन ह्यहं योगेन भूयः पूर्वस्मात्कालाच्छ्रुतमकुर्वीति ॥ २० ॥

एतेनानन्तरोक्तेन योगेनोपायेन अहं पूर्वस्मात् ब्रह्मचर्यकालात् भूयः बहु-
तरं श्रुतमकुर्वीति कृतवानस्मि । अतो यूयमपि तथा कुरुष्वमिति ॥ २० ॥

अनु०—श्वेतकेतु ने (अपने शिष्यों से) कहा है—'इस विधि से मैंने पहले
(ब्रह्मचर्य काल) की अपेक्षा अधिक वेद का अध्ययन किया है ॥ २० ॥

तच्छास्त्रविप्रतिषिद्धम् ॥ २१ ॥

तदिदं श्वेतकेतोर्वचनं श्रुत्यादिभिः शास्त्रैर्विरुद्धम् ॥ २१ ॥

अनु०—श्वेतकेतु का यह वचन शास्त्र के विपरीत है ॥ २१ ॥

कथमित्यत आह—

निवेशे हि वृत्ते नैयमिकानि श्रूयन्ते ॥ २२ ॥

हिंशब्दो हेतौ । यस्मात् निवेशे वृत्ते नैयमिकानि नियमेन कर्तव्यानि नि-
त्यानि कर्माणि श्रूयन्ते ॥ २२ ॥

अनु०—क्योंकि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बाद वेद के अनुसार दैनिक कर्मों
के सम्पादन का विधान किया गया है ॥ २२ ॥

इति त्रयोदशी कण्डिका

कानि पुस्तकानि ?

‘अग्निहोत्रमतिथयो यच्चवान्यदेवं युक्तम् ॥ १ ॥

अग्निहोत्रम्, अतिथयः अतिथिपूजा ।

‘यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः’

एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः ॥’ इति ।

यच्चान्यान्यदेवं युक्तं एवंविधं श्राद्धसन्त्योपासनादि । एवमेतैः कर्मभिरह्मरह-
राक्रान्तस्य न शरीरकण्डूनेष्वप्यवसरो भवति । स कथं द्वीद्वी मासौ गुरुकुले
वसेदिति ॥ १ ॥

अनु०—आग्निहोत्र, अतिथिपूजा, तथा अन्य नो कुछ भी उचित कृतंय (भाद्र
सन्त्योपासनादि) हैं (वे गृहस्थाभ्रम में करने होते हैं) ॥ १ ॥

अध्ययनार्थेन य चोदयेन्न चैनं प्रत्याचक्षीत ॥ २ ॥

यमाचार्यं माणवकोऽध्ययनं प्रयोजनमुद्दिश्य चोदयेत्—‘शिव्यस्तेऽहं
शाधि मां त्वां प्रपन्न’मिति, स एतं माणवकं नैव प्रत्याचक्षीत । चशब्दोऽ
वधारणे ॥ २ ॥

अनु०—शिव्य जिस गुरु से अध्ययन करने के लिये भाग्य करे वह भस्वीकार
न करे ॥ २ ॥

किमविशेष ? नेत्याह—

न चास्मिन् दोषं पश्येत् ॥ ३ ॥

चणिति निपातोऽस्ति—‘निपातैर्यद्यदिहन्तुकुवित्रेक्षेष्णकृषिग्रयुक’मिति ।
स चेदर्थे वर्तते । “इन्द्रश्च मृडयति न’ इत्यादौ दर्शनात् । तस्यायं प्रयोगः—न
चेदस्मिन् माणवके दोषमनध्याप्यताहेतुं पश्येत् ॥ ३ ॥

अनु०—यदि उस शिव्य में दोष न देखे तो अध्यापन करने से भस्वीकार
न करे ॥ ३ ॥

१. अग्निहोत्रमतिथयः । यच्चान्यदेवं युक्तम् । इति सूत्रद्वयत्वेन परिगणितं स०
च० पुस्तकयोः ।

२. वसि० रमू० ८. १६. वचनमिदं स्मृतिकृत्काले ‘दशः’—इत्यारम्य पठितेषु
वचनेषु मध्ये पठितम् । इदानीमुपलभ्यमानमुद्धृतदशस्मृतिपुस्तके तु नोपलभ्यते । वसिष्ठ
स्मृतौ विबोपलभ्यते । ३. शिरःकण्डूयने इति ख० पु०

४. पा० सू० ८. ३. १० ५. श्रू० सं० २. ४१. ११

यदृच्छायामसंवृतौ गतिरेव तस्मिन् ॥ ४ ॥

समानमधीयानेषु माणवकेषु यदि कस्यचिद्यदृच्छया दृष्टहेतुमन्तरेण बुद्धि-
मान्यादिनाऽध्ययनस्या 'संवृत्तिस्यात्' अधीतो भागो माणवकान्तरवन्नागच्छेत्
तदा तस्यां यदृच्छायामसंवृतौ तस्मिन्नाचार्ये गतिरेव शुश्रूषेव माणवकस्य शर-
णम् । तथा च मनुः—

२'यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूरधिगच्छति ॥" इति ।

अधिकं शुश्रूपितो हि गुरुस्सर्वत्मना तं शिक्षयेदिति ॥ ४ ॥

अनु०—यदि शिष्य के (मन्दबुद्धि होने से) अध्ययन पूरा न हो तो उसके लिए
गुरु की शुश्रूषा ही करनी होती है ॥ ४ ॥

मातरि पितर्याचार्यवच्छुश्रूषा ॥ ५ ॥

मातृग्रहणेन पितामहोप्रपितामहोरपि ग्रहणम् । पितृग्रहणेन पितामहग्रपि-
तामहयोः । सर्व एते आचार्यवच्छुश्रूपितव्याः ॥ ५ ॥

अनु०—माता तथा पिता के प्रति आचार्य की तरह शुश्रूषा करनी चाहिए ।

टि०—माता से पितामही, प्रपितामही आदि से भी वात्सर्ष्य है । इसी प्रकार
पिता शब्द से पितामह, प्रपितामह से भी वात्सर्ष्य है । इन सभी के प्रति उसी
प्रकार की शुश्रूषा विहित है जिस प्रकार की गुरु के लिए ॥ ५ ॥

समावृत्तेन सर्वे गुरव उपसङ्ग्राह्याः ॥ ६ ॥

उक्ताश्चानुक्ताश्च ज्येष्ठभ्रात्रुमातुलादयः सर्वे गुरवः समावृत्तेनाहरहरूपसं-
ग्राह्याः ॥ ६ ॥

अनु०—जिस शिष्य का समावर्तन हो चुका हो वह सभी गुरुजनों के चरणों का
उपसंग्रहण करे ।

टि०—ज्येष्ठ भ्राता, मामा, सभी गुरु के अन्तर्गत आते हैं ॥ ६ ॥

प्रोष्य च समागमे ॥ ७ ॥

यदि स्वयं प्रोष्य समागतो भवति । गुरवो वा प्रोष्य समागताः । तदापि
ते उपसङ्ग्राह्याः ॥ ७ ॥

अनु०—याथा से लौटने के बाद भी उनके चरणों का उपसंग्रहण करे ॥ ७ ॥

भ्रातृषु भगिनीषु च यथापूर्वमुपसङ्गहणम् ॥ ८ ॥

पूर्वणैव सिद्धे क्रमार्थं वचनम्—यथापूर्वं ज्येष्ठक्रमेणेति ॥ ८ ॥

अनु०—बड़े भाइयों और बड़ी बहनों का चरण उनकी ज्येष्ठता के क्रम से छूने चाहिये ॥ ८ ॥

नित्या च पूजा यथोपदेशम् ॥ ९ ॥

‘पूजा वर्णज्यायसां कार्या, दृढतराणां चेत्युपदेशानुरोधेन या नित्या पूजा सा यथापूर्वं दृढक्रमेण ॥ ९ ॥

अनु०—(वर्ण से श्रेष्ठ एवं आयु से दृढतर लोगों की) नित्य की जाने वाली पूजा निर्दिष्ट नियम के अनुसार करनी चाहिए । (अर्थात् उनकी श्रेष्ठता तथा अधिक अवस्था के क्रम से करनी चाहिए) ॥ ९ ॥

ऋत्विक्श्चशुरपितृच्यमातुलानवरवयसः प्रत्युत्थायाऽभिवदेत् ॥ १० ॥

त्रिवर्णपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हतीति वक्ष्यति । तेनावरवयस ऋत्विगादयोऽप्यभिवाद्यन्ते । तानभिवाद्यमानान् प्रत्युत्थायाऽभिवदेत् । नान्येऽप्येव सुखमासीनोऽभिवदति । वयस्त उत्कृष्टाणां तेषामियमेव पूजा ॥ १० ॥

अनु०—ऋत्विज्, शूर, चाचा, मामा यदि आपने से कम अवस्था के हों तो भी उठकर उनका अभिवादन करे ॥ १० ॥

तूष्णीं वोपसंगृह्णीयात् ॥ ११ ॥

अथवा प्रत्युत्थाय स्वयमपि तांस्तूष्णीमुपसंगृह्णीयात् । विद्याचारित्राद्वयपेक्षो विकल्पः ॥ ११ ॥

अनु०—अथवा चुनचाप ठनके चरण का स्पर्श करे ॥ ११ ॥

अथभिवाद्या उच्यन्ते—

दशवर्षं पौरसख्यं पञ्चवर्षं तु चारणम् ।

त्रिवर्षपूर्वं श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हति ॥ १२ ॥

पुरभवं पौरम् । पौरं च तत्सख्यं च पौरसख्यं सेवाद्विनियन्धनं बान्धवं तदभिवादनस्य निमित्तम् । कीदृशम् ? दशवर्षान्तरालं, दशवर्षाधिकः पौरसखा अश्रोत्रियोऽप्यभिवाद्य इति विवक्षितम् । पञ्चवर्षं तु चारणम् । सख्यमित्युपसंस्तमाप्यपेक्ष्यते । चारणशब्दः शास्त्रार्थाप्यिषु रूढः । तेषां सख्यं पञ्चवर्षमभिवा-

दनस्य निमित्तम् । 'श्रोत्रियं वक्ष्यति । त्रिवर्षपूर्वैः श्रौतियोऽभिवादनमर्हति स त्रिवर्षपूर्वतामात्रेणाभिवादनमर्हति, न पूर्वसंस्ववमपेक्षते ॥ १२ ॥

अनु०—दस वर्षों तक किसी पुरवासी के लिये मित्रता, पाँच वर्ष तक एक श्राद्धा के अध्ययन से उत्पन्न मित्रता अभिवादन का कारण होती है किन्तु श्रोत्रिय यदि तीन वर्ष से कम समय का परिवर्तित हो तो भी उसे अभिवादन करना चाहिए ॥ १२ ॥

ज्ञायमाने वयोविशेषे वृद्धतरायाऽभिवाद्यम् ॥ १३ ॥

क्रमार्थमिदम् वयोविशेषे ज्ञायमाने पूर्वं वृद्धतरायाऽभिवाद्यम् अभिवादनं कर्तव्यम् । पश्चाद्बुद्धायेति ॥ १३ ॥

अनु०—अवस्था ज्ञात होने पर अनेक व्यक्तियों में जो सबसे बूढ़ हो उसका पहले अभिवादन करना चाहिए ॥ १३ ॥

विद्यमगतायाऽगुरवे नाभिवाद्यम् ॥ १४ ॥

उच्चस्थाने नीचस्थाने वाऽवस्थितो विपमगतः । तस्मै गुरुव्यतिरिक्त्याय नाभिवाद्यम् । गुरवे त्वभिवाद्यमेव, दर्शने सति दूष्णोमवधानस्याऽयुक्त्यात् ॥ १४ ॥

अनु०—जैसे या नीचे स्थान पर स्थित किसी ऐसे व्यक्ति को जो गुरु नहीं है अभिवादन न करे ॥ १४ ॥

अन्वारुह्य वाभिवादीयते ॥ १५ ॥

इदमगुरुविषयम् । यत्रासावभिवादीयः स्थितः तत्रान्वारुह्याभिवादीयते अभिवदेत् । अन्वारुह्येत्यपि दृष्टव्यम्, न्यायस्य तुल्यत्वात्, गुरोर्बुद्धमात्र एवाभिवादनमित्युक्तम् ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा (यदि वह नीचे स्थित हो तो) उतरकर या (ऊपर स्थित हो तो) ऊपर जाकर उसका अभिवादन करे ॥ १५ ॥

सर्वत्र तु प्रत्युत्थायाभिवादनम् ॥ १६ ॥

सर्वत्र गुरावगुरौ च प्रत्युत्थायैवाभिवादनं कर्तव्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—किन्तु (गुरु या अगुरु) सभी के लिए (अपने स्थान से) उठकर अभिवादन करे ॥ १६ ॥

उत्तरे द्वेः सूत्रे निगदसिद्धे ।

^३अप्रयतेन नाभिवाद्यं, तथाऽप्रयताया,ऽप्रयतश्च न प्रत्यभिवादेत् ॥ १७ ॥

यज्ञज्ञानाद्प्रयताय कश्चिद्भिवाद्येत् तथापि सोऽप्रयतो न प्रत्य-
भिवदेत् ॥ १७ ॥

अनु०—अपवित्र होने पर अभिवादन न करे । अपवित्र व्यक्ति को प्रणाम न
करे और न स्वयं अपवित्र होने पर किसी के अभिवादन का उत्तर दे ॥ १७ ॥

पतिवयसः स्त्रियः ॥ १८ ॥

पत्युर्वद्वयस्तदेव स्त्रीणां वयः । तेन तदुरोधेन ज्येष्ठभार्यादिष्व-
भिवादनम् ॥ १८ ॥

अनु०—विवाहिता स्त्रियों को उनके पति की आयु के अनुसार प्रणाम करे ॥ १८ ॥

न सोपानद्वेष्टितशिरा अवहितपाणिर्वाभिवादयीत ॥ १९ ॥

अवहितपाणिः समिच्छुसादिहस्तः; दान्नादिहस्तो वा । अन्यत्पसिद्धम् ॥ १९ ॥

अनु०—जूते पहने हुए, या सिर को टके हुए भगवा शय में कुछ लिए हुए
अभिषेदन न करे ॥ १९ ॥

सर्वनाम्ना स्त्रियो राजन्यवैश्यौ च' न नाम्ना ॥ २० ॥

स्त्रियः सर्वनाम्नैवाभिवादयीत अभिवाद्येऽहमिति न नाम्ना' ऽसाधा-
रणेन देवदत्तोऽहमभिवादय इति । एवं राजन्यवैश्यौ च ॥ २० ॥

अनु०—स्त्रियों का तथा क्षत्रिय और वैश्य का अभिवादन करते समय अपने
लिए सर्वनाम का प्रयोग करते हुए अभिवादन करे, अपने नाम का उच्चारण
न करे ॥ २० ॥

मातरमाचार्यदारं चेत्येके ॥ २१ ॥

मातरमाचार्यदारं चेत्ये अपि द्वे सर्वनाम्नैवाऽभिवादयीत । न नाम्ना-
भिवादयीते मन्यन्ते । स्वमतं तु नाम्नैवेति ॥ २१ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि अपनी माता को तथा आचार्य की पत्नी को
भी इसी प्रकार (सर्वनाम का प्रयोग करके) प्रणाम करे ।

टि०—किन्तु आपस्तम्ब को यह मान्य नहीं । उनके अनुसार माता तथा
आचार्य पत्नी को अपना नाम लेकर ही प्रणाम करना चाहिए ॥ २१ ॥

१. 'न नाम्ना' इति पृथक् सूत्रं कर्त्तव्यं क० पु०

२. असाधारणेन देवदत्तोऽहमभिवादये' इति क० पुस्तके नास्ति ।

धयोविशेषेणाभिवादनं हीनवर्णे नास्तीत्याह—

दशवर्षश्च ब्राह्मणः शतवर्षश्च क्षत्रियः ।

पितापुत्री स्म तौ विद्धि तयोस्तु ब्राह्मणः पिता ॥ २२ ॥

शिव्यं प्रत्याचार्यस्याऽयमुपदेशः । स्मशब्दः श्लोकपूर्णे निपातः ।
ब्राह्मणः क्षत्रिय इत्युपलक्षणमुत्तमाधमवर्णानाम् । विद्धि जानीहि ।
'शिटं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

अनु०—दस वर्ष की आयु का ब्राह्मण तथा सौ वर्ष की आयु का क्षत्रिय परस्पर
पिता और पुत्र के संबन्ध बैसी स्थिति में है इनमें ब्राह्मण क्षत्रिय के क्षिप्र विवाह
पूज्य होता है ॥ २२ ॥

कुशलमवरवयसं वयस्यं वा पृच्छेत् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणविषयमिदम् ।^२ क्षत्रियादिषु विरोपस्य वक्ष्यमाणत्वान् । वयसा
तुल्ये वयस्यः । अवरवयसं वयस्यं वा ब्राह्मणं पथ्यादिषु सङ्गतं कुशलं
पृच्छेत्—'अपि कुशल'मिति ॥ २३ ॥

अनु०—अपने से कम आयु वाले व्यक्ता समान आयु वाले व्यक्ति से कुशल के
विषय में प्रश्न करे ।

टि०—यद् ब्राह्मण के विषय में है, क्योंकि क्षत्रिय के सन्दर्भ में आगे नियम
विवक्षित है ॥ २३ ॥

अनामयं क्षत्रियम् ॥ २४ ॥

पृच्छेत् 'अप्यनामयं भवत' इति । आमयो रोगः तदभावोऽनामयम् ॥ २४ ॥
अनु०—क्षत्रिय से अनामय (स्वास्थ्य) के विषय में प्रश्न करे ॥ २४ ॥

अनष्टं वैश्यम् ॥ २५ ॥

'अप्यनष्टपशुधनोऽस्ती'ति ॥ २५ ॥

अनु०—वैश्य से अनष्ट का प्रयोग करते हुए कुछ खोये न होने के विषय में
प्रश्न करे ॥ २५ ॥

आरोग्यं बृद्धम् ॥ २६ ॥

शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्—'अप्यरोगो भवा'निति ॥ २६ ॥

अनु०—शूद्र से आरोग्य के विषय में प्रश्न करे ॥ २६ ॥

• नाऽसम्भाव्य श्रोत्रियं व्यतिव्रजेत् ॥ २७ ॥

श्रोत्रियं पथि सङ्गतमसम्भाव्य न व्यतिव्रजेत् न व्यतिक्रामेत् ॥ २७ ॥

अनु०—सार्णं में श्रोत्रिय ब्राह्मण के मिष्टने पर उससे संभाषण किये बिना आगे न बढ़े ॥ २७ ॥

अरण्ये च खियम् ॥ २८ ॥

अरण्यप्रवृत्तं 'सभयस्य देशस्योपलक्षणम् । तत्र खियमेकाकिनीं दृष्ट्वा असम्भाष्य न व्यतिव्रजेत् । सम्भाषणं च मातृवद्भगिनीवच—'भगिनि किं ते करवाणि न भेतव्यम्' इति ॥ २८ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायासु-

ञ्जवलायां प्रथमप्रश्ने चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

अनु०—वन में किसी स्त्री को अकेली देखकर उससे संभाषण किये बिना आगे न बढ़े ।

टि०—ऐसी स्त्री से 'बहन, मैं आपकी क्या सहायता करूँ, इरिये मत' ('भगिनी, किं ते करवाणि, न भेतव्यम्') संभाषण की विधि है ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ चतुर्दशी कण्डिका ॥

अथ पञ्चमः पटलः

सर्वेषामेव कर्मणां शेषभूतमाचमनं विधास्यंस्तदुपयोगिनो वि-
धीनाह—

उपासने गुरुणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने
स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात् ॥ १ ॥

गुरुणामाचार्यादीनाम्, अन्येषां च वृद्धानां पूज्यानामतिथीनां च उपा-
सने यदा तानुपास्ते तदा, होमे साङ्गे पित्र्यादन्यत्र, जप्यकर्मणि जपक्रियायां
भोजनाचमनयोश्च, स्वाध्यायाध्ययने च, यज्ञोपवीती स्यात् यज्ञोपवीती भवेत्।
वासोविन्यासविशेषो यज्ञोपवीतम्^१ 'दक्षिणं बाहुमुद्धरतेऽवधत्ते सव्यमिति
यज्ञोपवीतम्, इति ब्राह्मणम्। वाससोऽसम्भवेऽनुकल्पं वक्ष्यति 'अपि वा
सूत्रमेवोपवीतार्थ' (२-४-२२) इति । मनुरप्याह—

^२'कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्वद्यूतं त्रिद्यूतं इति ॥

^३'उद्धृते दक्षिणे पाणतुपवीत्युच्यते द्यूधैः ॥' इति च ।

एषु कर्मसु यज्ञोपवीतविधानात्कालान्तरे नावश्यम्भावः ॥ १ ॥

अनु०—गुरुओं की उपासना के समय, श्रेष्ठ व्यक्तियों अथवा अतिथियों का
सम्मान करते समय, होम करते समय, जप करते समय, भोजन और आचमन के
समय, तथा दैनिक वेदाध्ययन के समय यज्ञोपवीती होवे (अर्थात् यज्ञ-सूत्र को बाएँ
कंधे के ऊपर से दाहिनी भुजा के नीचे तक धारण करे) ॥ १ ॥

भूमिगतास्वप्स्वाचम्य प्रयतो भवति ॥ २ ॥

^४आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ।

अव्यासाश्चेमेभ्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ इति मनुः ।

^५'शुचि गोलप्रिकृत्तोर्यं प्रकृतिस्यं महीगतम्' इति । याज्ञवल्क्यः

^६'अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी च प्रसूतिका ।

१. तै० आ० २. १.

२. म० सू० २. ४४

३. म० सू० २. ६३ 'द्विजः' इति ख० च० पुस्तकयोः मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तके ख ।

४. यज्ञोपवीतविधानात् इति. ख० पु० ५. म० सू० ५. १२७. या० स्म० १. १९२

६. अयं श्लोको मुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेषु नोपलभ्यते ।

दशगत्रेण शुध्यन्ति मूमिष्टं च नवोदकम् ।' इति ।
श्रावणे मासि सम्प्राप्ते सर्वा नद्या रज्ज्वलाः ।'

इति स्मृत्यन्तरम् । एवं भूतद्वीपरहितास्वप्वाचम्य प्रयतो भवति ।

प्रायत्यर्थमाचमनं भूमिगतावपसु कर्तव्यमिति ॥ २ ॥

अनु०—(शुद्ध) पृथ्वी पर एकत्र जड़ से आचमन करने पर शुद्धि होती है ॥२॥

यं वा प्रयत् आचमयेत् ॥ ३ ॥

यं वा प्रयतोऽप्य आचमयेत् सोऽपि प्रयतो भवति । सर्वथा स्वयं यामह-
स्तावर्जिताभिराङ्गराचमनं न भवति । एतेन शास्त्रान्तरोक्तं कमण्डलुधारणम-
प्याचार्यस्याऽनभिमतं लक्ष्यते । अलावुपात्रेण नालिकेरपात्रेण वा स्वयमाचमन-
माचरन्ति शिष्टाः ॥ ३ ॥

अनु०—अथवा किसी शुद्ध व्यक्ति द्वारा आचमन कराये जाने पर भी शुद्धि
होती है ।

टि०—इस प्रकार आचमन के लिए नदी आदि का जल ही उत्तम है । दूसरा
व्यक्ति भी आचमन करा सकता है । स्वयं अरने बाएँ हाथ में कोई पात्र लेकर
उससे बल गिराकर आचमन नहीं करना चाहिए, ऐसा आपस्तम्ब का मत है ।
आवस्वम्ब के अनुस्तर दोनों हाथों से आचमन की विधि सम्पादित होनी चाहिए ॥३॥

न वर्षधारस्वाचामेत् ॥ ४ ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रायत्यर्थस्याचमनस्य वर्षधारसु प्रसङ्गाभावात् पिपा-
सितस्य पानप्रतिपेधार्थमिति केचित् । अपर आह—अस्मादेव प्रतिपेधाच्छिष्या-
दिस्थकरकादेर्या धारा तत्र प्रायत्यर्थमाचमनं भवतीति ॥ ४ ॥

अनु०—वर्षों की धाराओं से आचमन न करे ।

टि०—इस नियम के कारण ही कुछ लोग प्यासे होने पर भी वर्षों का पानी न
पीने का नियम मानते हैं । कुछ लोग ऐसा स्वीकार करते हैं कि यह सूत्र सिक्कर
आदि पर रखे हुए पात्र की धारा से आचमन का निषेध नहीं करता । क्योंकि नूत्र
में वर्षों के बल का ही निषेध किया गया है ॥ ४ ॥

तथा प्रदरोदके ॥ ५ ॥

१. मनु०ः' इति क० पु०

२. एतदन्तरं 'त्रिदिनं च चतुर्थेऽह्नि शुद्धास्युज्ज्वली यथा' इत्यर्थमधिकं दृश्यते

ग. पु. स्मृत्यन्तरं इति च नास्ति ३. न भवत्येव इति ख० ग० पु०

४. तस्मात् प्रदरादुदकं नाचामेत्' इति तैत्तिरीयब्राह्मणम् ।

भूमेः स्वयं दीर्णः प्रदेशः प्रदरः तत्र यदुदकं तस्मिन् भूमिगतेऽपि नाऽऽचामेत् ॥ ५ ॥

अनु०—पृथ्वी में स्वयं बने हुए गर्त से जल लेकर आचमन न करे ॥ ५ ॥

तप्तभिश्चाऽऽकारणात् ॥ ६ ॥

तप्तभिरद्भिर्नाचामेत् अकारणात् ज्वरादौ कारणे सति न दोषः । 'तप्तभि' रिति वचनात् शतशीताभिरदोषः । तथा चोष्णानामेव प्रतिषेध स्मृतिषु प्रायो भवति ॥ ६ ॥

अनु०—बिना कारण के गरम किये गये जल से आचमन न करे ॥ ६ ॥

रिक्तपाणिर्वयस उद्यम्याऽप उपस्पृशेत् ॥ ७ ॥

वय इति पश्चिनाम । यो रिक्तपाणिस्सन् वयसे पश्चिण उद्यम्य तस्य प्रोत्सा-
रणाय पाणिमुधच्छते स तत्कृत्वाऽप उपस्पृशेत् तेनैव पाणिना । 'रिक्तपाणि'
रिति वचनात् काष्ठलोष्टादिसहितस्य पाणेरुद्यमने न दोषः । केचिदुपस्पृशेतमा-
चमनमाहुः ॥ ७ ॥

अनु०—खाली हाथ पक्षियों को उड़ाने के लिए हाथ उठाने के बाद जल से हाथ धोवे ।

टि०—इस नियम के अनुसार हाथ में कुछ लेकर पक्षी को उड़ाने में कोई दोष नहीं है । कुछ उपस्पृशन से आचमन का ही अर्थ लेते हैं ॥ ७ ॥

शक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतः स्यात् ॥ ८ ॥

शक्ती सत्यां मुहूर्तमप्यप्रयतो न स्यात् । आचमनयोग्यजलं दृष्ट्वैव मूत्र-
पुरीपादिकं कुर्यात् यदि तावन्तं कालं वेगं धारयितुं शक्नुयात्
इति ॥ ८ ॥

अनु०—(आचमन करने के लिए जल पाने में) समर्थ हो, तो एक क्षण भी अपवित्र न रहे ॥ ८ ॥

नग्नी वा ॥ ९ ॥

न मुहूर्तमपि स्यादिति । सम्बध्यते, शक्तिविषय इति च । त्रणादिना
कौपीनाच्छादनाशक्ती न दोषः ॥ ९ ॥

अनु०—(यदि शरीर आच्छादन में) समर्थ हो, तो एक क्षण भी नग्न न रहे ॥ ९ ॥

१. मायशः इति ख० पु० स्मृतिषु । इत्यन्तमेव च० पुस्तके ।

२. तावन्तं कालं इति नास्ति क० पु० ।

नाम्सु सतः प्रयमणं विद्यते ॥ १० ॥

येन प्रयतो भवति तत्रयमणमाचमनम् । करणे ल्युट् । तदस्यु सतो वर्तमानस्य न भवति । जलमध्ये आसीनोऽपि नाचमेत् ॥ १० ॥
अनु०—जल में रहने पर आचमन करके शुद्धि न करे ॥ १० ॥

उत्तीर्यं त्वाचमेत् ॥ ११ ॥

तीर उत्तीर्याचमेत् न जल इति । अयमर्थो त विधेयः । पूर्वेण गतत्वात् तस्मादयमर्थः—यदा नदीमुत्तरति नावा प्रकारान्तरेण वा तदा तामुत्तीर्य तीरान्तरं गतः प्रयतोऽप्याचमेत् । नवादेवतरणमाचमनस्य निमित्तमिति 'तुरप्यर्थः ॥ ११ ॥

अनु०—नदी को (नौका आदि से या किसी अन्य प्रकार से पार करके) (शुद्ध होने पर मी) आचमन करे ॥ ११ ॥

नाऽप्रोक्षितमिन्धनमनावाद्य्यात् ॥ १२ ॥

श्रौते स्मार्ते लोकिके वाऽनौ अप्रोक्षितमिन्धनं नाऽदध्यात् क्षपेत् केचिल्लोकिके नेच्छन्ति ॥ १२ ॥

अनु०—इंधन पर बल छिड़के बिना उसे (भौव, स्मार्त या लौकिक) बनि के ऊपर न रखे ।

टि०—कुछ लोग लौकिक अग्नि के लिए यह नियम नहीं मानते ॥ १२ ॥

मूढस्वस्तरे चासंस्पृशन्नन्यानप्रयतान्प्रयतो मन्येत ॥ १३ ॥

पतितचण्डालसूतिकाद्ये काशनस्पृष्टितत्स्पृष्टपुस्पृष्टनि सचेलमिति । गीतमः । तस्मिन्विषय इदमुच्यते आसनतया शयनतया वा सुष्टुवास्तीर्णः पलालादिसङ्घातः स्वस्तरः । पृषोदरादिषु दर्शनादूपसिद्धिः । यत्रातिशयतया पलालादेर्मूलाप्रविभागो न ज्ञायते स मूढः । मूढश्चासी स्वस्तरश्च मूढस्वस्तरः तस्मिन् पतितादिव्यप्रयतेष्वसीनेषु यः कश्चित्प्रयत उपविशेत् न च तान् संस्पृशेत् । तदा स प्रयतो मन्येत । यथा प्रयतमात्मानं मन्यते प्रयतोऽस्मीति तथैव मन्येत नैवांधे विषये तत्स्पृष्टिन्यायः प्रवर्तते इति ॥ १३ ॥

अनु०—(पुआल आदि बैसी बस्तुओं के बने हुए) मिले बुले ढेर के ऊपर अपवित्र लोगों के साथ बैठे हो और उनका स्पर्श न किए हो तो अपने को पवित्र समझे ॥ १३ ॥

१. दुग्धादोऽप्यर्थ इति, क० पु० २. गौ० घ० १४. ३०. उदक्या रजत्वा

३. तथेदमुच्यते इति, ग० पु० पाठसमीचीनः ।

८ आ०घ०

तथा वृण क्राष्टेषु निखातेषु ॥ १४ ॥

वृणकाष्टेष्वपि भूसी निखातेषु तत्पृष्टिन्यायो न भवति ॥ १४ ॥

अनु०—पृथ्वी में गड़े हुए वृणों और गढ़ी हुई लकड़ी के ऊपर (अपवित्र लोगों के साथ, बिना उनका स्पर्श किए) बैठने पर भी ऐसा ही समझना चाहिए (अर्थात् स्वयं को पवित्र मानना चाहिए ॥ १४ ॥

प्रोक्ष्य वास उपयोजयेत् ॥ १५ ॥

शुद्धमपि वासः प्रोक्ष्यवोपयोजयेत् वसीत । अपर आह—अशुद्धस्यापि वाससः प्रोक्षणमेव शुद्धिहेतुरिति ॥ १५ ॥

अनु०—ब्रह्म के ऊपर ब्रह्म छिड़क कर ही पहनना चाहिए (भले ही वह ब्रह्म शुद्ध, स्वच्छ क्यों न हो) ॥ १५ ॥

शुनोपहतः सचेलोऽवगाहेत ॥ १६ ॥

शुना उपहतः स्पृष्टः । यद्यपि चेलं न शुना स्पृष्टं तथापि सचेलोऽवगाहेत भूमिगतास्वप्सु स्नायात् नोद्धृतादिभिः । दृष्टस्य तु स्पृष्ट्यन्तरे प्रायश्चित्तम् । वत्र चसिष्टः^१

ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥”

अङ्गिराः—

^२ ब्रह्मचारी शुना दृष्टस्त्रिात्रेणैव शुध्यति ।
शुद्धस्थस्तु द्विात्रेण ह्येकाहेनाऽग्निहोत्रवान् ॥
नाभेरुर्ध्वं तु दृष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् ।
तदेव त्रिगुणं वक्त्रे मूर्ध्नि चेत्याच्चतुर्गुणम् ॥
क्षत्रविदृष्टद्रयोनिस्तु स्नानेनैव शुचिर्भवेत् ।
द्विगुणं तु वनस्थस्य तथा प्रव्रजितस्य च ॥
ब्राह्मणी तु शुना दृष्टा सोमे दृष्टिं निपातयेत् ।
यदा न दृश्यते सोमः प्रायश्चित्तं तदा कथम् ।
यां दिशं तु गतस्सोमस्तां दिशं त्वचलोकयेत् ॥
सोममर्गेण सा पूता पञ्चगव्येण शुध्यति ॥” इति ॥ १६ ॥

१. वचनमिदं न वसिष्ठस्मृतावुपलभ्यते ।

२. वचनानीमानि स्मृतिमुक्ताफलकारेणापि प्रायश्चित्तकाण्डे अङ्गिरोवचनत्वेनैवोपलभ्यन्तानि । परन्तु इदानीमुपलभ्यामानमुद्धृताङ्गिरः स्मृतिपुस्तके नोपलभ्यन्ते वासिष्टवेन तु लिखितं ख० च० पुस्तकयोऽप्यप्याम् ।

अनु०—कुत्ते द्वारा छुए जाने पर बलों को पहने हुए ही स्नान करे ॥ १६ ॥

प्रक्षाल्य वा तं देशमग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य

पादौ चाऽऽचम्य प्रयतो भवति ॥ १७ ॥

शुना सृष्टं प्रदेशं प्रक्षाल्याग्निना च संस्पृश्य पुनश्च प्रक्षाल्य पादौ च प्रक्षाल्य पश्चादाचम्य प्रयतो भवति । व्यवस्थितविकल्पोऽयम् ॥

‘ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते ।

तत्र स्नानविधिः प्रोक्तो ह्यथः प्रक्षालनं स्मृतम् ॥’

इति मानवे दर्शनात् ॥ १७ ॥

अनु०—अथवा कुत्ते द्वारा छुए स्थान की धोकर, उससे अग्नि का सर्वां कराके, फिर उसे धोकर तथा पैरों को धोकर आचमन करने के बाद शुद्ध होता है ॥१७॥

अग्निं नाप्रयत आसीदेत् ॥ १८ ॥

अप्रयतस्तत्राग्निं नासीदेत् अग्नेरासन्नो न भवेत्, यावति देशे ऊष्मोपलम्भः । तत्राप्यशक्तौ न दोषः ॥ १८ ॥

अनु०—अशुद्ध होने पर अग्नि के निकट न जात्रे ।

टि०—इतना समीप भी न जावे वहाँ से उसकी ऊष्मा का अनुभव होता हो । अशक्त होने पर कोई दोष नहीं ॥ १८ ॥

इषुमात्राद्वाङ्नासीदेत् ॥ १९ ॥

इषुमात्राद्वाङ्नासीदेत् । ऊष्मोपलम्भो भवतु वा मा भूदित्येके मन्यन्ते ॥ १९ ॥

अनु०—कुछ धर्मश्र ऐसा मानते हैं कि अथवित्र होने पर अग्नि से एक बाण की दूरी से कम दूरी पर न बैठे ॥ १९ ॥

न चैनमुपघमेत् ॥ २० ॥

अप्रयत इत्येव । एलमग्निमप्रयतो नोपधमेत् । प्रयतस्य न दोषः ।

‘मुखेनोपघमेद्दग्निं मुखाध्यनिरजायत ।’

इति स्मृत्यन्तरे दर्शनात् ।

‘नाग्निं मुखेनोपघमे’ इति मानवे दर्शनादुभयोर्विकल्पः । अपर आह—वाजसनेये श्रौतप्रकरणे ‘मुखाद्दग्निरजायत । तस्मान्मुखेनोपसमिन्व्या’ इति दर्शनात् श्रौतेषु मुखेनोपसमन्धिनम्, अन्यत्र स्मार्ते प्रतिपेध इति ।

अन्ये तु वैणवेनायसेन वा सुपिरेणोपसमिन्धनमिच्छन्ति । एवं हि मुख-
व्यापारस्यान्वयाच्छुतिरप्यनुगृहीता भवति, आस्यद्विन्दूनां पतनशङ्काभयात्
प्रतिषेधस्मृतिरपीति ॥ २० ॥

अनु०—(अपवित्र होने पर) अग्नि को फूँककर प्रव्यलित न करे ।

टि०—पवित्र होने पर अग्नि को फूँका जा सकता है । 'मुखादनिरबाधत्'के
कारण कुछ धर्मज्ञ मुख से अग्नि का फूँका जाना उचित मानते हैं, कुछ केवल यह
में ही मुख से अग्नि को फूँकना उचित ठहराते हैं । किन्तु, फूँकते समय अग्नि पर
शूक के कण गिरने के मय से कुछ स्मृतियों में इसका विरोध किया गया है ॥२०॥

खट्वायां च नोपदध्यात् ॥ २१ ॥

खट्वायां खट्वाया अधो ऽग्निं नोपदध्यात् । अत्राप्यशक्तौ न दोषः ॥ २१ ॥

अनु०—चारणई के नीचे अग्नि न रखे ।

टि०—अशक्त होने पर दोष नहीं होता ॥ २१ ॥

प्रभृतौदके ग्रामे यत्राऽऽत्माधीनं प्रयमणं तत्र वासो

धाम्यो ब्राह्मणस्य ॥ २२ ॥

प्रभृतं एधः उदकं च यस्मिन् ग्रामे तत्र वासो धाम्यः धर्म्यः । अत्रापि न
सर्वत्र । किं तर्हि ? यत्रात्माधीनं प्रयमणं प्रायस्यं मूत्रपुरीषप्रक्षालनादीनि यत्रा-
त्माधीनानि तत्र । यत्र तु कूपेष्वेवोदकं तत्र बहुकूपेऽपि न वस्तव्यम् । ब्राह्म-
णप्रहणाद्धर्णान्तरस्य न दोषः । ग्रामप्रहणादेवभूतेषु घोषादिष्वपि न वस्त-
व्यम् ॥ २२ ॥

अनु०—ब्राह्मण को ऐसे ग्राम में रहना चाहिए जहाँ इँधन तथा जल प्रचुर
मात्रा में हो तथा अपने को शूद्र करने का कार्य स्वेच्छा से कर सकता हो ॥ २२ ॥

मूत्रं कृत्वा पुरीषं वा मूत्रपुरीषलेपानन्लेपानुच्छि-

ष्टलेपान् रेतसश्च ये लेपास्तान्प्रक्षाल्य पादौ

चाऽऽवम्य प्रयतो भवति ॥ २३ ॥

मूत्रं पुरीषं वा कृत्वा उत्सृज्य तयोर्मूत्रपुरीषयोर्धे लेपास्तस्मिन्प्रदेशे स्थिताः
प्रदेशान्तरे वा पतिताः तान् सर्वान् । 'अन्नलेपांशानुच्छिष्टानपि उच्छिष्टलेपांश्चा-
नन्नलेपानपि । तथा रेतसश्च ये लेपाः स्वप्नादौ मैथुने वा तान् सर्वान्द्विर्युदा
च प्रक्षाल्य पादौ च लेपवर्जितावपि प्रक्षाल्य पश्चादाचम्य प्रयतो भवति । अत्र

मृतमणस्य सङ्घथायाश्चानुक्त्यात् यावता गन्धलेपक्षयो भवति तावदेव धिक्-
क्षितम् । तथा च याज्ञवल्क्यः—

‘गन्धलेपक्षयकरं शीचं कुर्याद्वतन्द्रितः ।’ इति ।

देवलस्तु व्यक्तमाह—

‘थावत्स शुद्धिं मन्येत तावच्छीचं समाचरेत् ।

प्रमाणं शीचसङ्घथाया न शिष्टैरुपदिश्यते ॥’ इति ।

पैठीनसीः—

‘मूत्रोच्चारं कृते शीचं न स्यादन्तर्जलाशये ।

अन्यत्रोद्भूतस्य कुर्यात्तु सर्वदेव समाहितः ।’ इति ॥ २३ ॥

इत्याप्तान्मन्त्रधर्मसूत्रदृष्टौ पञ्चदशो कण्डिका ॥

अनु०—मूत्र और मलत्याग के बाद मूत्र मल के लेन से युक्त अंगों को, मोजन के उच्छिष्ट से युक्त अंगों को वीर्य के लेप को (बल और मिट्टी से) बोजर, पेशे को बोजर आचमन करने के बाद शुद्धि होती है ॥ २३ ॥

तिष्ठन्नाऽऽचामेत् प्रह्वो वा ॥ १ ॥

तिष्ठन् प्रह्वो वा नाचामेत् । नायं प्रतिषेधः शक्यो वक्तुम् । कथम् ?
‘आसीनकिराचामे’ (१६.२.) द्विति वक्ष्यति । ततश्च यथा शयानस्थाचमनं
न भवति तथा तिष्ठतः प्रह्वस्य च न भवति । एवं तर्हि शौचार्थस्याचमनस्य नायं
प्रतिषेधः । किं तर्हि ? पानीयपानस्य प्रतिषेधः । तथा गौतमः-^३ ‘नाञ्जलिना
जलं पिबेत् । न तिष्ठ’ इति । अपर आह—अस्मादेव प्रतिषेधात्कचित्तिष्ठतः
प्रह्वस्य चाऽऽचमनमभ्यनुज्ञातं भवति । तेन ‘भूमिगतास्त्विवि’ त्वत्र तोरस्याऽयो-
ग्यत्वे ऊरुदग्ने^४ जानुदग्ने वा जले स्थितस्याऽऽचमनं भवति । गौतमीयेऽपि^५
न तिष्ठन्नुद्भूतोदकेनाचामे’ इति सूत्रच्छेदादुद्भूतोदकेनैव तिष्ठतः प्रतिषेध
इति ॥ १ ॥

अनु०—खड़े होकर अथवा आगे झुककर आचमन न करे ।

१. या० सू० १. १७

२. मुद्रितदेवलसूतादिं षचनं नोपलभ्यते ।

३. गौ० प० १. १, १०

४. नाभिदग्ने, इति. च० पु०

५. गौ० १. १०. गौतमोऽपि न तिष्ठन्नुद्भूतोदकेनाचामेत् इति सूत्रमेवादुद्भूतोद-
केनैव तिष्ठतः प्रतिषेधमाह’ इति क० पु०

टि०—हरदत्त के अनुसार आचमन के सन्दर्भ में इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि आगे ही कहा गया है (आसीनखिराचामेत्) उस नियम से लेटे-लेटे खड़े-खड़े आचमन करने का निषेध ही ही जाता है। अतः उनके अनुसार यह शौचार्य आचमन का निषेध नहीं है अपितु खड़े-खड़े अथवा आगे झुककर बल पीने का निषेध किया गया है। गौतम धर्म सूत्र में भी इस प्रकार का नियम बताया गया है कि अञ्जलि से बल अथवा खड़े होकर बल न पीए ॥ १ ॥

अथाऽऽचमनविधिः—

आसीनखिराचामेद्बृहदयङ्गमाभिरद्भिः ॥ २ ॥

अद्भिः तृतीया द्वितीयार्थे। अत्रानुक्तं स्मृत्यन्तरवशा^१ दुपक्रियते। आसीनः शुचौ देशे, नासने, भोजनान्ते त्वासने। दक्षिणं बाहुं^२ जान्वन्तरे कृत्वा प्राङ्मुख उपविष्टः उदङ्मुखो वा हृदयङ्गमा^३ अपः करतलस्थासु यावतीषु मासौ निमज्जति तावतोः फेनबुद्बुदरहिताः वीक्षिताखिराचामेत् पिबेत्, ब्राह्मणः हृदयङ्गमाः, क्षत्रियः कण्ठगताः, वैश्यस्तालुगताः, शुद्रो जिह्वाश्लेषास्सकृत् ॥२॥

अनु०—वैठक हृदय तक पहुँचने वाले बल से तीन बार आचमन करे।

टि०—क्षत्रिय के लिए यह बल कण्ठगत होता है, वैश्य के लिए तालुगत तथा शूद्र के लिए जिह्वा का ही स्पर्श करता है ॥ २ ॥

^४त्रिरोष्ठौ परिमृजेत् ॥ ३ ॥

परिमृज्यात् ॥ ३ ॥

अनु०—तीन बार ओठों को पोछे ॥ ३ ॥

द्विरित्येके ॥ ४ ॥

तुल्यविकल्पः ॥ ४ ॥

अनु०—कुछ धर्मों के अनुसार केवल दो बार आचमन करे ॥ ४ ॥

सकृदुपस्पृशेत् ॥ ५ ॥

सथ्यमाभिस्तिसृभिरङ्गुलीभिर्योष्ठौ ॥ ५ ॥

अनु०—(बीच की तीन अंगुलियों से ओठों) का एक बार स्पर्श करे ॥ ५ ॥

द्विरित्येके ॥ ६ ॥

तुल्यविकल्पः ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्य दो बार स्पर्श करने का नियम बताते हैं ॥ ६ ॥

१. 'उपस्पृशेत्' इति ग० पु० २. ऊर्वन्तरे इति. ख० ग० पु०

३. आपः इति. ख० ग० पु० ४. इदमग्निं च यत्रमेकीकृतं. ग० पुस्तके,

दक्षिणेन पाणिना सर्व्यं प्रोक्ष्य पादौ शिरश्चेन्द्रियाण्युपस्पृ-
शेत् चक्षुषी नासिके श्रोत्रे च ॥ ७ ॥

दक्षिणेन पाणिना सर्व्यं पाणिं प्रोक्ष्य तथा पादौ शिरश्च, इन्द्रियाण्युपस्पृ-
शेत् अङ्गुलीभिः । सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रसङ्गे परिसञ्चष्टे—चक्षुषी नासिके श्रोत्रे
चे' ति । इन्द्रियाणीति वचनं स्वरूपकथमात्रम् । तत्राऽङ्गुष्ठानामिकाभ्यां
चक्षुषी । केचिद्व्युत्पत्तु, केचित्पृथक् । अङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्या नासिके । अ-
ङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां श्रोत्रे । अत्र सहभाषयाऽशक्यत्वात् पृथग्भावस्य निश्चित-
त्वात् पूर्वत्रापि पृथगेवेति युक्तम् ॥ ७ ॥

अनु०—दाहिने हाथ से बाँप हाथ पर बल डालकर पैरों, शिर तथा नेत्र, नासिका,
कान—इन वीनों इन्द्रियों का स्पर्श करे ।

टि०—श्रंगूठे तथा अनामिका से आँखों का स्पर्श करे । कुछ लोगो दोनों से
एक साथ स्पर्श करने का विधान करते हैं, कुछ अलग-अलग श्रंगूठा तथा प्रदेशिनी-
अंगुली से नासिका का स्पर्श करे तथा अगूठा और कनिष्ठिका से कानों का
स्पर्श करे ॥ ७ ॥

अथाऽप उपस्पृशेत् ॥ ८ ॥

इन्द्रियस्पर्शानन्तरं हस्तौ प्रक्षालयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—(इन्द्रियों के स्पर्श के बाद बल से हाथों को धोये ॥ ८ ॥

भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेद्विः परिम्-
जेत्सकृदुपस्पृशेत् ॥ ९ ॥

भोजनं करिष्यन् प्रयतोऽपि द्विराचमनं कुर्यात् । अत्र विशेषः—द्विः परिसृ-
जेत्, न विकल्पेन त्रिः । सकृदुपस्पृशेत्, न विकल्पेन द्विः । 'प्रयतोऽर्पा'ति वच-
नादप्राप्तये सर्वत्र द्विराचमनमाचार्यस्याऽभिप्रेतम् ।
तत्र स्पृशन्तरम्—

'भुक्त्वा क्षुत्त्वा च सुप्त्वा च पीवित्वोक्त्वाऽनृतं वचः ।

आचान्तः पुनराचामेद्वसो विपरिधाय च' ॥ ९ ॥

अनु०—भोजन करने के पूर्व शुद्ध होने पर भी दो बार आचमन करे, दो बार
अपने मुँह को पोछे तथा एक बार अपने ओंठों का स्पर्श करे ॥ ९ ॥

श्यावान्तर्पर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याऽऽचामेत् ॥ १० ॥

दन्तमूलात्पर्यन्तोष्ठी । तत्राऽलोमकः प्रदेशः श्यावः । तस्यान्तः सलोमकः ।
तत्पर्यन्तावोष्ठावुपस्पृश्याऽऽचामेत् । ओष्ठयोरलोमकप्रदेशमङ्गुल्या^१ काष्ठादिना

१. अत्र सहभावस्याशक्यत्वात् पृथगपिक्रियते । अत्र पृथग्भावस्य निश्चितत्वात्
पूर्वत्रापि पृथगेवेति युक्तम् इति. ख० च० पु० । युक्तमित्यन्ते' इति. क० पु०

२. अङ्गुल्याऽऽज्जकनिष्ठादिना वेति क० पुस्तकेऽपपाठः ।

चोपस्पृश्याऽऽचामेदिति ॥ १० ॥

अनु०—दन्तमूल सहित ओठों को (अंगुलि या काष्ठ से) रगड़ने के बाद
आचमन करे ॥ १० ॥

न श्मश्रुभिरुच्छिद्यो भवत्यन्तरास्ये सद्भिर्यावन्न
हस्तेनोपस्पृशति ॥ ११ ॥

श्मश्रुणि यदा आस्यस्यान्तर्भवन्ति तदा तैरन्तरास्ये सद्भिरुच्छिद्यो न भवति
यावन्न हस्तेनोपस्पृशति । 'उपस्पर्शने तूच्छिद्यो भवति । ततश्चाऽऽचामेदिति ।
अस्मादेव प्रतिषेधात् ज्ञायते—यत्किञ्चिदपि द्रव्यमन्तरास्ये ^३सदुच्छिद्यताया
निमित्तमिति ॥ ११ ॥

अनु०—मूँछ के बाल यदि मुँह में आ जाँय तो जब तक उनका हाथ से स्पर्श
नहीं किया जाता तब तक अशुद्धि नहीं होती ॥ ११ ॥

य आस्याद्विन्दवः पतन्त उपलभ्यन्ते तेष्वचमनं विहितम् ॥ १२ ॥

भाषमाणस्याऽऽश्रयात् पतन्तो ये लालाविन्दव उपलभ्यन्ते चपुषा स्पर्श-
नाद्वा उपलब्धुं योग्यास्तेष्वचमनं विहितम् । वेदोच्चारणे तु गौतमः—'मन्त्र-
प्राह्णणमुच्चारयतो ये विन्दवः शरीर उपलभ्यन्ते न तेष्वचमन' मिति ॥ १२ ॥

अनु०—(बात-चीत करने में) यदि शूक के कण गिरते हुए दिखाई पड़े तब
आचमन करने का विधान होता है ॥ १२ ॥

ये भूमौ न तेष्वचामेदित्येके ॥ १३ ॥

ये विन्दवो भूमौ पतन्ति, न शरीरे, तेषु नाचमेदित्येके मन्यन्ते । स्वमवं
तु तेष्वप्याचामेदिति ॥ १३ ॥

अनु०—कुछ धर्मशास्त्रों का मत है कि जो शूक के कण पृथ्वी पर गिरे हों
शरीर पर न पड़े हों तो उनसे अशुद्धि नहीं होती तथा आचमन नहीं करना
चाहिए ।

टि०—आपस्तम्ब का मत है कि इस स्थिति में भी आचमन करना
चाहिए ॥ १३ ॥

स्वप्ने क्षवधौ ^४शिक्ष्णानिकाश्चालम्भे लोहितस्य केशानामग्नेर्गवां
ब्राह्मणस्य स्त्रियाश्चालम्भे महापयं च गत्वाऽग्नेयं चोपस्पृश्याऽप्रयतं च

१. स्वर्गने इति क० पु० १. सत् सदुच्छिद्यतायां निमित्तमिति क० पु०

२. नास्ति श्वनामिदं मुद्रितगौतमधर्मकोशेषु मदीये लिखितपुस्तके च ।

४. शृङ्गाणिका शृङ्गाणिका शृङ्गाणिका इत्यपि पाठाः ।

मनुष्यं नीवीं च परिघायाऽप उपस्पृशेत् ॥ १४ ॥

स्वप्नः 'स्वापः' क्षवधुः क्षुतम्, तयोः कृतयोः । शिङ्घाणिका नासिकामलम् । अशु नेत्रलजम्, तयोरालम्भे स्पर्शे । लोहितस्य रुधिरस्य । केशानां शिरोगतानां भूमिगतानां च । अन्यादीनां चतुर्णामलम्भे । महापथं च गत्वा । अमेध्यं च गोव्यतिरिक्तानां मूत्रपुरीषादि । ताम्बूलनिषेकादि चोपशुश्य । अप्रयतं च मनुष्यमुपशुश्य । नीवीं प्रसिद्धा तदधोगोधोघासो लक्ष्यते । तत्र परिघायाप उपस्पृशेत् । केयुचित् स्नानं केयुचिदाचमनं केयुचित् स्पर्शनमात्रं यावता प्रयोत मन्यते ॥ १४ ॥

अनु०—नीद मे या छीक आने पर नाक की गन्दगी, आँलौ के अश्रु आदि को छूने पर, दधिर, केश, अग्नि, गाय, ब्राह्मण, हों का स्पर्श करने पर, राजमार्ग पर जाकर झोटने पर, अमेध्य (गौ के अशिरिक्त अन्य प्राणियों का मूत्र, मूत्र) स्पर्श करने पर, अपवित्र वस्तु या व्यक्ति को छूने पर, अपने भयोवक्र को धारण करके या तौ स्नान करे अथवा आचमन करे अथवा केवल जल का स्पर्श करे ॥ १४ ॥

आर्द्रं वा शकृदोपधीर्भूमि वा ॥ १५ ॥

^१उपस्पृशेदित्येव । त्रिष्वार्द्रशब्दसम्बन्धते लिङ्गवचनादिविपरिणामेन । आर्द्रं वा शकृदुपस्पृशेत् ओषधीर्वा आर्द्राः, भूमिं वा आर्द्राम् । पूर्वोक्तेष्वेव ^२कल्पेषु वैकल्पिकमिदम् ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा गीले गोबर, गीले वीचे या गीली धुब्बी का स्पर्श करे ॥ १५ ॥
एवमाचनं ^३सह निमित्तरुक्तम् । अथाऽभक्ष्याधिकारः—

हिसार्थेनाऽसिना मांसं छिन्नमभोज्यम् ॥ १६ ॥

असिग्रहणं क्षुरादेरुपलक्षम् । यन्मांसं पाककाले हिसार्थेनाऽसिना छिन्नं तदभोज्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—हिसा के लिए मयुक तलवार या चाकू से काटे गए मांस का मक्षण न करे ॥ १६ ॥

दक्षिणरूपस्य नाऽपच्छिन्यात् ॥ १७ ॥

अपूपग्रहणं मूलफलादेरुपलक्षणम् । द्वितीयार्थे पशो । दन्तैरपूपं नावच्छिन्यात् । किं तु हस्तादिभिरपच्छिद्य च भक्षयेत् ॥ १७ ॥

१. स्वापनं इति ख० पु०

२ उपस्पृशेदिति विपरिणामेनेतदन्तो भागः क० पुस्तके नास्ति ।

३. 'सर्वेषु' इति ख० च० पु० । स्वल्पेषु इति ग० पु० । ४. 'सनिमित्त'मिति ख० पु०

अनु०—रोटियों, फल, मूळ आदि के टुकड़े अपने दातों से न करे ।
टि०—शाय आदि से ही तोड़कर या काटकर इनका मक्षण करे ॥ १७ ॥

यस्य कुले त्रियेत न तत्राऽनिर्देशो भोक्तव्यम् ॥ १८ ॥

यस्य कुले काश्चिन्त्रियते असपिण्डतायां सत्यां 'तत्राऽनिर्गते दशाहं न भोक्तव्यम् । 'अनिर्देशो' इत्याशौचकालस्योपलक्षणम् । तेन क्षत्रियादिव्यधिकं पक्षिण्यादिषु न्यूनम् ॥ १८ ॥

अनु०—किसी (छः पीढ़ी के भीतर के सवन्ध वाले) व्यक्ति के कुल में कोई मर गया हो और उसके बाद अशौच का (दस दिन का) समय न बीता हो तो उसके घर भोजन न करे ॥ १८ ॥

तथाऽनुत्थितायां सूतकायाम् ॥ १९ ॥

सूतका सूतिका । तस्यामनुत्थितायाम् । ज्ञानं नाम सूतिकागारे निवेशितानामुदकुम्भादीनामनयनम् । तत्र दशमेऽहनि भवति । 'दशम्यामुत्थिताया' मिति गृहे उक्तत्वात् । अत्रात्थाशौचकालोपलक्षणत्वाद्यावदाशौचमभोजनम् ।

अत्राऽङ्गिराः—

'ब्रह्मक्षत्रविशां भुक्त्वा न दोषस्त्वग्निहोत्रिणाम् ।

सूतके शाव अशौचे त्वस्थिसञ्चयनात्परम् ॥ इति ॥ १९ ॥

अनु०—इसी प्रकार ऐसे घर में भोजन न करे जहाँ सूतिका ली सूतिकाग्रह से अभी निकली न हो (और आशौच हो) ॥ १९ ॥

अन्तः शवे च ॥ २० ॥

याव 'द्वयामात्र निर्द्धियते शवः तावत्तत्र न भोक्तव्यम् । आचारस्तु धनुश्शतादूर्वाक् । तत्रापि प्रदीपमारोप्य उदकुम्भं चोपनिधाय भुङ्गते यदि 'समानवशं' गृहं न भवति ॥ २० ॥

अनु०—जिस घर के भीतर शव हो उस घर में भोजन न करे ॥ २० ॥

अप्रयतोपहतमन्नमप्रयतं न त्वभोज्यम् ॥ २१ ॥

अप्रयतेनाऽऽचिन्ता उपहतं स्पृष्टमप्रयतं भवति । किंतु अशुद्धमप्यभोज्यं न भवति । कः पुनरप्रयतस्याऽभोज्यस्य च विशेषः ? उच्यते—अप्रयतमन्नमन्ना-

१. 'तत्रातीते दशाहे भोक्तव्यम्' इति ग० पु० . २. आप० घृ० १५. ८

३. ग्रामान्तं न इति क० पु०

४. समानवशस्त्वं स्पृष्टाणां इति ख० घृ० । समानं वंशग्रहं न भवति इति क०

वधिश्चित्तमङ्किः प्रोक्षितं भस्मना मृदा वा संस्पृष्टं वाचा च प्रशस्तं प्रयतं भवति
मोक्ष्यं च । अमोक्ष्यं तु लघुनादि न कथञ्चिदपीति ॥ २१ ॥

अनु०—अपवित्र शाहण (या अन्य उच्चवर्ण के व्यक्ति द्वारा) छुआ गया अत्र
अपवित्र हो जाता है किन्तु अमोक्ष्य नहीं होता ।

टि०—बह भोजन अग्नि में रखने पर, जल छिड़कने पर या गरम अथवा मिट्टी
से स्पर्श करने पर अथवा वाणी से ही शुद्ध करने पर शुद्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

अप्रयतेन तु शूद्रेणोपहृतममोज्यम् ॥ २२ ॥

अप्रयतेन तू शूद्रेणोपहृतमनीतमन्नं न भोज्यम्, स्पृष्टंमस्पृष्टं च स्पृष्टमेवेत्य-
न्ये ॥ २२ ॥

अनु०—किन्तु अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन अमोक्ष्य हो जाता है ।
(भले ही वह छुआ गया हो या नहीं) ॥ २२ ॥

यस्मिन्श्चाऽऽन्ने केशस्स्यात् ॥ २३ ॥

तदप्यमोज्यम् । एतच्च पाकदशायामेव पतितेन केशेन सह यत्पक्वमन्नं
तद्विषयम् । पश्चात् केशसंसर्गं तु घृतप्रक्षेपादिना संस्कृतस्य भोज्यत्वं स्थूलान्त-
रोक्तम् ॥ २३ ॥

अनु०—बिस्स अन्न में केश पड़ गया हो वह अमोक्ष्य होता है ।

टि०—हरदत्त की व्याख्या के अनुसार यदि पकते समय ही केश पड़ा हो तब
वह भोजन अमोक्ष्य होता है, बाद में केश पड़ा हो तो घृत डाल देने से वह भोजन
शुद्ध हो जाता है ॥ २३ ॥

अन्यद्वाऽमेध्यम् ॥ २४ ॥

अन्यद्वाऽमेध्यं नखादि यस्मिन्नन्ने स्यात् तदप्यमोज्यम् । इदमपि पूर्ववत् ।

अत्र बौधायनः—

‘केशकीटनखरोमाबुपुरीषाणि दृष्ट्वा तावन्मात्रमन्नमुद्भृत्य शेषं भोज्य’
मिति । वसिष्ठस्तु ‘कामं तु केशकीटानुत्सृज्याङ्किः प्रोक्ष्य भस्मनाऽवकीर्य
वाचा प्रशस्तमुपयुञ्जीते’ ति ॥ २४ ॥

अनु०—अथवा किसी अन्य (नल आदि) अपवित्र वस्तु के पड़ने पर भी वह
भोजन अमोक्ष्य हो जाता ॥ २४ ॥

१ भोजनकाले तु केशपाते घृतमक्षेपादिना तु संस्कृतं भोज्यम् । इति० घ० पु०

२. बौ० घ० २. १२. ६ ३. वा० घ० १४. २३. उपयुञ्जीत इति ग० पु०

अमेध्यैरवमृष्टम् ॥ २५ ॥

अमेध्यैः कलञ्जपलणह्वादिभिरवमृष्टं स्पृष्टमभोज्यम् ॥ २५ ॥

अनु०—अथवा अपवित्र वस्तु के स्पर्श से दूषित भोजन भी अभोज्य होता है ॥ २५ ॥

कीटो वाऽमेध्यसेवी ॥ २६ ॥

‘यस्मिंश्चान्ने केशः स्या’ दिति व्यवहितमवि सम्बध्यते । अमेध्यसेवी कीटः
पुत्यण्डालयः ॥ २६ ॥

अनु०—बिस भोजन में गन्दगी का सेवन करने वाला कीड़ा पड़ा हो उसे भी नहीं खाना चाहिए ॥ २६ ॥

मूषिकलाङ्गं वा ॥ २७ ॥

पूर्ववत्सम्बन्धः । मूषिकला मूषिकपुरीषम् । अङ्गं वा । समस्तमपि मूषिक-
ग्रहणं सम्बध्यते । यस्मिन्नन्ने मूषिकस्याङ्गं पुच्छपादादि भवति तदप्यभो-
ज्यम् ॥ २७ ॥

अनु०—जिस भोजन में चूहे का मल अथवा उसके अंग का टुकड़ा पड़ा हो वह अभोज्य होता है ॥ २७ ॥

पदा वोपहतम् ॥ २८ ॥

प्रयतेनाऽपि पदा यत्स्पृष्टं तदप्यभोज्यम् ॥ २८ ॥

अनु०—पैर से छुए गये भोजन को भी नहीं खाना चाहिए ॥ २८ ॥

सिचा वा ॥ २९ ॥

सिक् वरुदशा । परिहितस्य वाससः सिचा यत् स्पृष्टं यदप्यभो-
ज्यम् ॥ २९ ॥

अनु०—पहने हुए बल के छोर से स्पृष्ट भोजन भी अभोज्य होता है ॥ २९ ॥

शुना वाऽपपात्रेण वा दृष्टम् ॥ ३० ॥

दृष्टमिति प्रत्येकमभिसम्बध्यते । शुना वा दृष्टमपपात्रेण वा दृष्टं यत्तदप्य-
भोज्यम् । पतितसूतिकाचण्डालोदक्यादयोऽपपात्राः, अपगताः पात्रेभ्यः । न हि
ते पात्रे भोक्तुं लभन्ते ॥ ३० ॥

अनु०—कुत्ते के द्वारा अथवा गन्दे पात्र के द्वारा छुए गए भोजन को भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३० ॥

सिचा वोपहृतम् ॥ ३१ ॥

अपरिहितस्य शुद्धस्यापि वाससस्सिचा यदुपहृतमानीतं तदव्यभोज्यम् ॥ ३१ ॥
अनु०—(न पहने गए, शुद्ध) बख के आंचल में बाँधकर लाया गया
भोजन भी अभोज्य होता है ॥ ३१ ॥

दास्या वा नक्तमाहृतम् ॥ ३२ ॥

दास्या रात्रावाहृतमभोज्यम् । खोलिङ्गनिर्देशात् दासेनाऽऽहृते न दोषः ।
अन्ये लिङ्गमविवक्षितं मन्यन्ते । 'नक्त' निति वचनादित्वा न दोषः ॥ ३२ ॥
अनु०—रात्रि में दासी के द्वारा लाया गया भोजन अभोज्य होता है ॥ ३२ ॥

भुञ्जानं वा ॥ ३३ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ षोडशी कण्डिका ॥

अनु०—भोजन करते समय ॥ ३३ ॥

यत्र शुट उपस्पृशेत् ॥ १ ॥

भोजनदशायां यदा शुट उपस्पृशेत् तदापि न भुञ्जीत । अत्र भुञ्जानग्रहणा-
दन्यदा शुटस्पर्शे नाऽप्रायत्यमिति केचित् । अन्ये तु—सदा भवत्येवाऽप्रायत्यम्,
भोजनदशायां त्वाधिक्यप्रतिपादनाय निषेध इति ॥ १ ॥

अनु०—यदि शुट उसे छू ले तो भोजन न करे ॥ १ ॥

अनर्हद्विर्वा समानपङ्क्तौ ॥ २ ॥

सर्वत्र वाशब्दः समुच्यते । अभिजनविद्यावृत्तरहिता अनर्हन्तः । तैस्सह
समानायां पङ्क्तौ न भुञ्जीत ॥ २ ॥

अनु०—अयोध (कुल, विद्या, आचरणहीन) लोगों के साथ एक पंक्ति में
भोजन न करे ॥ २ ॥

भुञ्जानेषु वा तत्राऽनूत्यायोच्छृष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा ॥ ३ ॥

समानपङ्क्ताविति वर्तते । समानङ्क्ती बहुषु भुञ्जानेषु यद्व्येकीऽनूत्याय
भोजनाद्विरम्य उच्छृष्टं शिष्यादिभ्यः प्रयच्छेत् आचामेद्वा, तस्यां पङ्क्तावित-
रेषां न भोक्तव्यम् । अतो बहुषु भुञ्जानेषु एको मध्ये न विरमेत् । भोजनक-
ण्टक इति द्वि तमाचक्षते ॥ ३ ॥

अनु०—जब अनेक लोग एक साथ भोजन कर रहे हों तो यदि उनमें एक व्यक्ति भोजन से विराम करके अपने उच्छिष्ट को बिना उठे ही शिष्य को देकर अथवा आचमन कर ले तो उन व्यक्तियों के साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन न करे ॥ ३ ॥

कुत्सयित्वा वा यत्राऽन्नं ददुः ॥ ४ ॥

मूर्ख, वैधवेय, विपं मुहृद्भवेति, एवं कुत्सयित्वा यत्रान्नं ददुद्युस्तदप्यभोज्यम् ॥ ४ ॥

अनु०—जहाँ तिरस्कार करके अन्न दिया गया हो वहाँ भोजन न करे ॥ ४ ॥

मनुष्यैरवघ्रातमन्यैर्वाऽपेक्ष्यैः ॥ ५ ॥

मनुष्यैरन्यैर्वा मारजारदिभिरसेष्यैरवघ्रातमन्नमभोज्यम् । 'अवेत्युपसर्गयोगात् दूरस्थैर्गन्धाघ्राणे न दोषः ॥ ५ ॥

अनु०—मनुष्यों के द्वारा अथवा (बिल्ली आदि अन्य) अपवित्र प्राणियों द्वारा निकट से संघे गये अन्न को न खावे ।

टि०—हरदत्त मिश्र ने व्याख्या में स्पष्ट किया है कि दूर से संघे गये अन्न को खाने में कोई दोष नहीं है ॥ ५ ॥

न नावि भुञ्जीत ॥ ६ ॥

नाव्यासीनो न भुञ्जीत, शुद्धेऽपि पात्रे ॥ ६ ॥

अनु०—नौका में बैठकर भोजन न करे ॥ ६ ॥

तथा प्रासादे ॥ ७ ॥

प्रासादौ दारुमयो मद्भ्रः । तत्रापि न भुञ्जीत ॥ ७ ॥

अनु०—लकड़ी के मंच के ऊपर बैठकर भी भोजन न करे ॥ ७ ॥

कृतभूमौ तु भुञ्जीत ॥ ८ ॥

भूमावनि मुञ्जातः कृतायां गोमयादिना संस्कृतायां भुञ्जीत । 'अपर आह—प्रासादोऽपि यदा मृदा कृतभूमिर्भवति, न केवलं दारुमयः, तदा तत्र भुञ्जीतैवेति ॥ ८ ॥

अनु०—सख छ लिये-पुते भूमि के ऊपर बैठकर भोजन करे ॥ ८ ॥

१. अवोपसर्गयोगात् इति क० पु० ।

२. इदं व्याख्यानतरं नास्ति० ग० पुस्तके ।

अनाप्रीतिं मृण्मये भोक्तव्यम् ॥ ९ ॥

यदि मृण्मये सुञ्जीत तदाऽनाप्रीते भोक्तव्यम् । आप्रीतं क्वचित्कार्यं पाका दाबुपयुक्तम् ॥ ९ ॥

अनु०—मिठ्टी के पात्र में भोजन करना हो तो ऐसे पात्र में भोजन करे जिसका पहले भोजन आदि पकाने के लिए उपयोग न किया गया हो ॥ ९ ॥

आप्रीतं वेदभिदग्धे ॥ १० ॥

आप्रीतमेव च्छेद्भयते, तदाऽन्तिनाऽभितो दग्धा तत्र भोक्तव्यम् ॥ १० ॥
अनु०—यदि पहले प्रयोग में लया हुआ मिठ्टी का पात्र ही मिले तो उसे अच्छी प्रकार अग्नि में तपाकर भोजनका पात्र बनावे ॥ १० ॥

परिमृष्टं लौहं प्रथतम् ॥ ११ ॥

लौहं लोक्कविकारभूतं कांस्यादि भोजनपात्रं भस्मादिभिः परिमृष्टं सत् प्रयतं भवति । तत्र भस्मना कांस्यम् । आग्नेन तात्रम् । राजतं शकृता । सौवर्णमङ्किरेवत्यादि स्थूलन्तरवशाद्द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—लौहे आदि का (तथा कौंसे आदि का) भोजनपात्र भस्म आदि से राइने पर पवित्र हो जाता है ॥ ११ ॥

निर्लिखितं दारुमयम् ॥ १२ ॥

दारुमयं भाजनं निर्लिखितं तष्टं सत् प्रयतं भवति ॥ १२ ॥

अनु०—लकड़ी का पात्र लिखने पर पवित्रहो जाता है ॥ १२ ॥

यथागमं यज्ञे ॥ १३ ॥

यज्ञपात्रं तु यथागमं शोधितं प्रयतं भवति । तद्यथा अग्निहोत्रहवणी दग्धैर्भस्मैः प्रक्षालिता, सोमपात्राणि 'भार्जालीये प्रक्षालितानि, आभ्यपात्राण्युज्योत्नवारिणा ॥ १३ ॥

अनु०—यज्ञ में पात्र वेद के आदेश के अनुसार विधि से पवित्र होता है ॥ १३ ॥

नाऽऽपणीयमन्नमश्नीयात् ॥ १४ ॥

आपणः पण्यवीथी । तत्र यत्क्रांतं लब्धं वा । तदापणीयम् । तच्च कृताञ्जनान्शनीयात् । त्रीक्षादिषु न दोषः ॥ १४ ॥

अनु०—बाजार से खरीदकर अथवा बना हुआ प्राप्त भोजन न खाए ॥ १४ ॥

१. यर्जालीयः सोमपात्रे सदोनामकण्डपस्थानेयक्रोणे स्थितः स्थानविशेषः ।

तथा रसानामामसमधुलवणानीति परिहाय ॥ १५ ॥

रसाः रसद्रव्याणि । तानप्यापणीयान्नास्नीयात् । 'आमसांसादि वर्जयित्वा ॥ १५ ॥

अनु०—रूचे मांस, मधु तथा नमक को छोड़कर बाजार से लाये गये अन्य रसयुक्त मौज्य पदार्थ भी न खाए ॥ १५ ॥

तैलसर्पिषी तूपयोजयेदुदकेऽऽवधाय ॥ १६ ॥

तैलसर्पिषी त्वापणीये अधुपयोजयेत् । उसकेऽवधाय निपिच्य पाकेन तैलसर्पिषी शोधयित्वा कार्यविरोधो यथा न भवति तथा उदकेन संसृज्येत् । न्ये^३ ॥ १६ ॥

अनु०—(बाजार से खरीदे गए) तेल तथा घृत का बल छिड़कर शुद्ध कर प्रयोग कर सकता है ॥ १६ ॥

कृतान्नं पर्युषितमखाद्यापेयानाद्यम् ॥ १७ ॥

कृतान्नं पक्वान्नं तत्पर्युषितं पूर्वेषुः पक्वं सत्खाद्यम् । अपेयमनाद्यं च यथायोगं खरविशदं द्रवं मृदुविशदं सिद्धं च ॥ १७ ॥

अनु०—रातमर रखा गया बना हुआ भोजन न खाए तथा इस प्रकार का नरम खाद्यपदार्थ न खाए ॥ १७ ॥

शुक्तं च ॥ १८ ॥

शुक्तं यत्कालपाकेनाऽम्लोभूतं तदपर्युषितमपि आखाद्यपेयानाद्यम् ॥ १८ ॥

नुअ०—खट्टे बने हुए भोजन को न ग्रहण करे ॥ १८ ॥

फाणितपृथुकतण्डुलकरम्ब^४ भरुजसवनुशाकमांसपिष्टक्षीरविकारौषधिवनस्पतिमूलफलवर्जम् ॥ १९ ॥

अनन्तरोक्तं विधिद्वयं फाणितादीन् वर्जयित्वा द्रष्टव्यम् । फाणितं पानविशेषः । इक्षुरस इति केचित् ।^५ अष्टानां त्रीहीणां तण्डुलाः पृथुकृताः पृथुकाः । करम्बो दधिशकुसमाहारः यः करम्भ इति प्रसिद्धः वेदेऽप्युभयं

१. आममांसादीनि परिहाय. इति ग० पु० २. शोषयित्वा. इति ग० पु०

३. व्याचक्षते इत्यधिकं ख० ग० पु०

४. भरुजेति ख० पु० भरुजेति क. पु.

५. भर्भितानां इति. ख. पु.

भवति' 'यत्करस्वैजुं होति' ।^२ "धानाः करस्मभः परिवापः" इति । भरुजाः भ्रष्टा यवाः । क्षीरविकारो दध्यादि । प्रसिद्धमन्थत् ॥ १९ ॥

अनु०—पाणित (कुछ लोगों के अनुसार, ईश का रस सिरका) चिउड़ा, सकु तथा दधि मिश्रित करम्भ, मुना हुआ यव, सकु, शक्क, मांस, आटा, दूध तथा दूध से निर्मित पदार्थ दही आदि, इछो के फल और मूख के विषय में उपयुक्त नियम नहीं होता (अर्थात् इन्हें खाने के काम में लाया जा सकता है ॥ १६ ॥
अथ 'शुकं चे'त्वास्य विधेः शेषः—

शुकं चाऽपरयोगम् ॥ २० ॥

परेण इव्यान्तरेण योगो यस्य तत् परयोगं, ततोऽन्यदपरयोगम् । तदेव शुकं वर्ज्यम् । यत्तु दध्यादि द्रव्यान्तरसंसृष्टं शुकं तद्भोज्यमेव । एवं च पूर्वत्रैवाऽपरयोगमिति विशेषणं वक्तव्यम् । इदमेव वा सूत्रमस्तु । सूत्रद्वयकरणं त्वाचार्यप्रवृत्तिकृतम् । यथा 'सलाहृक्येकसूकोल्लक्षशब्द'^३ इति पूर्व सामान्येनाऽभिधाय 'सलाहृक्यामेकसूक इति स्वप्नपर्यन्त'^४ मिति पश्चाद्विशेष उक्तः ॥ २० ॥

अनु०—किन्तु दूसरी बात के साथ मिठाये बिना ही बो बलु खदी हो गई हो उसे नहीं खाना चाहिए ॥ २० ॥

सर्वं मद्यमपेयम् ॥ २१ ॥

मद्यं मदकरं तत्सर्वमपेयम् । अत्र स्मृत्यन्तरवशाद्द्वयवस्था ।

तत्र मतुः—

‘गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुता ।

यथैका न पातव्या’ तथा सर्वा द्विलोत्तमैः ॥’ इति ।

सुताव्यतिरिक्तं तु मद्यं ब्राह्मणस्य नित्यमपेयम् ।

तथा च गौतमः—

“मद्यं नित्यं ब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्ययोस्तु ब्रह्मचारिणो’रिति ॥ २१ ॥

अनु०—सभी मादक वस्तुएँ अपेय होती हैं ॥ २१ ॥

तथैलकं पयः ॥ २२ ॥

अविः प्लका । तस्याः पयः क्षीरमपेयम् ॥ २२ ॥

१. तौ ब्रा० ३. ८. १४

२ तौ सं० ६. ५. ११

३. म० स्मृ० ११. ९४

४ 'हयैवान्या' इति ग० पु०

५ गौ० ध० २. २० मद्य नित्यं ब्राह्मणः, इत्येव सूत्रम् ॥

९ आ० ध०

अनु०—भैंस का दूध भी अपेय होता है ॥ २२ ॥

उष्ट्रीक्षीरमृगोक्षीरसन्धिनीक्षीरयमसूक्षीराणीति ॥ २३ ॥

उष्ट्रीमृग्यौ प्रसिद्धे । या गर्भिणी दुग्धे सा सन्धिनीति शास्त्रान्तरे प्रसिद्धा । एककालदोहेत्यन्ये । एकस्मिन् प्रसवे या अनेकं गर्भं सुते, सा यमसूः । उष्ट्रयादीनां क्षीराण्यपेयानि । इतिकरणमेवं प्रकाराणामन्येषामेकशफादीनां क्षीरमपेयमिति ।

तथा च मनुः—

‘‘आरण्यान्तं च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना ।

स्त्रीक्षीरं चैव बर्ज्यानि सर्वशूक्तानि चैव हि ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।

आचिकं सन्धिनीक्षीरं विचत्सायाश्च गोः पयः ॥ इति ॥ २३ ॥

अनु०—कैटनी, हिरणी का दूध, सन्धिनी (गर्भिणी) होते हुए भी दूध देने वाली) (अथवा एक समय दूध देने वाली) गाय भैंस आदि का, एक बार में कई दूध देने वाली, एक खुर वाली मादा पशु का दूध अपेय होता है

टि०—सूत्र में ‘इति’ शब्द एक खुर वाले पशुको का निर्देश करता है ॥ २३ ॥

धेनोश्चाऽनिर्दशायाः ॥ २४ ॥

धेनुर्नवप्रसूता गौः । चकारादजा महिष्योश्च । ‘‘अजा गावो महिष्यश्चे’ति मानवे दर्शनात् ॥ २४ ॥

अनु०—गाय (भैंस तथा बकरी) का दूध न्याने के दस दिन के भीतर अपेय होता है ॥ २४ ॥

तथा कीलालौषधीनां च ॥ २५ ॥

कीलालौषधयः सुरार्था औषधयः । तासां च विकारमृतमन्नमनाद्यम् ॥ २५ ॥

अनु०—सुरा बनाने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली औषधियों से सयुक भोजन नहीं खाना चाहिए ॥ २५ ॥

१ म० सू० ३, ९, ८

२ म० सू० नारदलोको मानवे उपलभ्यते । प्रसुत ‘अनिर्दशाया गोः क्षीरे (५. ८)

इति श्लोकन्यासनावसरे कुल्लूकभट्टेन ‘‘गोसिति वेग्धीरोपलक्षणार्थम् । तेनाजामहिष्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः, इति लेखनात् ‘अजा गावो महिष्यश्चे’त्यस्याऽमानवत्वमेवाऽनुमीयते । वस्तुतस्तु पाराशरीयं बचनमिदम् । (५४० सू० ३. ७) तत्रैव दर्शनात् ॥

‘करञ्जपलण्डुपरारीकाः ॥ २६ ॥

२करञ्जं रक्तलघुनम् । पलण्डु इवेतम् । परारीका कृष्णम् । ३मण्डुमाख्यया स्लेच्छानां प्रसिद्धम् । एते चाऽभक्ष्याः ॥ २६ ॥

अनु०—प्याज, सफेद लहसुन तथा परारीका (शलजम ?) अपस्व होते हैं ॥ २६ ॥

अभक्ष्यानां प्रतिपदपाठो न शक्यते इति समासेनाह—

यच्चञ्जाऽयत् परिचक्षते ॥ २७ ॥

यच्चान्यदेव्युक्तं शिष्टाः परिचक्षते वर्जयन्ति तदप्यभक्ष्यम् ।

तत्राह मनुः—

४लघुनं गृञ्जनं चैव पलण्डु क्वकानि च ॥

अभक्ष्याणि द्विजातीनामभ्यप्रभवानि च ॥’ इति ॥ २७ ॥

अनु०—दूसरी अन्य वस्तुएँ भी जिनका (वर्मश लोग) निषेध करते हैं अभक्ष्य होती हैं ॥ २७ ॥

क्याववभोज्यमिति हि ब्राह्मणम् ॥ २८ ॥

क्याकु छत्राकं तदभोज्यमभक्ष्यम् । ब्राह्मणग्रहणमुक्तार्थम् ॥ २८ ॥

अनु०—छत्राक (कुकुरमुचा) अभोज्य है, ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है ॥ २८ ॥

एकलुरोष्ट्रगवयग्रामसूकरशरभगवाम् ॥ २९ ॥

एकलुरा अश्वाद्यः । गवयो गोसदृशः पशुः । शरभोऽष्टपाद आरण्यो मृगः । अन्ये प्रसिद्धाः । एतेषां मांसमभक्ष्यम् ॥ २९ ॥

अनु०—एक लुर (वाले पशुभो का, ऊँट का, गवय, ग्राम्य सूअर, शरभ का मांस अभोज्य होता है ॥ २९ ॥

धेन्वनडुहोभक्ष्यम् ॥ ३० ॥

१. कलञ्जपलण्डुपरारीकाः इति क० पु० पटारिकाः इति. ष० पु०

२. अनेनैव प्रमाणेन ‘न कलञ्जं भक्षयेत्’ इत्यादौ कलञ्जशब्दो रक्तलघुनपर इत्यस्माभिर्जातिषातं नञर्थनिरूपणावसरे मीमांसान्यायप्रकाश्याख्यायां सारविवेचिन्याम् । तत्र प्रमाणान्तरमप्युपन्यस्तं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

३. डुण्डुमाख्यया इति ख० पु० सुहण्डुमाख्यया इति. क० पु०

४. म० मनु० ५. ५

धेन्वनडुहोमांसं भक्ष्यम् । गोप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवः ॥ ३० ॥
अनु०—गाय का तथा बैल का मांस भक्ष्य हो सकता है ॥ ३० ॥

मेष्यमानडुहमिति वाजसनेयकम् ॥ ३१ ॥

'अनुडुहो मांसं न केवलं भक्ष्यम्, किं तर्हि ? मेष्यमपीति वाजसनेयिनः
समामनन्ति ॥ ३१ ॥

अनु०—वाजसनेयक के अनुसार बैल का मांस यश में अर्पित करने योग्य भी
होता है ॥ ३१ ॥

कुक्कुटो विकिरणाम् ॥ ३२ ॥

व्यवहितमप्यभोज्यमिति सन्बध्यते । पादाभ्यां विकीर्य कीटघान्यादि ये
भक्षयन्ति ते सयूरादयो विकिरास्तेषां मध्ये कुक्कुटो न भक्ष्यः । स्थूलन्तरव-
शात् ग्राम्यो, नाऽऽरण्यः ॥ ३२ ॥

अनु०—पक्षियों में जो पैरों से खुरच कर कीड़ों को खाते हैं, उनमें मुर्गा भक्ष्य
नहीं होता ॥ ३२ ॥

प्लवः प्रतुदाम् ॥ ३३ ॥

तुण्डेन प्रतुद्य ये भक्षयन्ति ते दार्षाघाटादयः प्रतुदाः । तेषां मध्ये प्लव
एवाऽभक्ष्यः । प्लवः 'शकटबलाख्यो वक्रविशेषः ॥ ३३ ॥

अनु०—बो पक्षी चोंच से अन्न इत्यादि फोड़कर खाते हैं उनमें प्लव अभक्ष्य
होता है । (प्लव 'शकटबल' नाम का बगला बैसा पक्षी है) ॥ ३३ ॥

^३क्रव्यादः ॥ ३४ ॥

क्रव्यं मांसं तदेव केवलं येऽदन्ति ते क्रव्यादाः गृध्रादयः । तेऽप्यभ-
क्ष्याः ॥ ३४ ॥

अनु०—शव का भक्षण करने वाले पक्षी अभक्ष्य होते हैं ॥ ३४ ॥

हंसभासचक्रवाकसुपर्णाश्च ॥ ३५ ॥

हंसः प्रसिद्धः । भासः श्येनाकृतिः पीनतुण्डः । चक्रवाकः मिथुनचरः ।
सुपर्णः श्येनः । एते चाऽभक्ष्याः ॥ ३५ ॥

अनु०—हंस, भास, चक्रवाक और बाज पक्षी अभक्ष्य होते हैं ॥ ३५ ॥

क्रञ्चक्रौञ्च वाघ्रणिसलहमणवर्जम् ॥ ३६ ॥

१. आनडुहं मांसं इति ख० ग० पु०

२ शकटबिलाख्यः इति, ख० पु० शकाबलाख्यः इति ग० पु० शकबलाख्य इति-
प० ढ० पुस्तकयोः । ३. एतदादि सूत्रप्रयमेकीकृतं क० पु०

कृच्छ्रा दृन्द्वाराः । क्रीञ्चा मियुनचराः । ते चाऽभक्ष्याः । सूत्रे क्रीञ्चेति विभक्तिलोपरछान्दसः । किमविशेषण कृच्छ्रकौञ्चा अभक्ष्याः । नेत्याह—वार्धो-
णसलक्ष्मणवर्जम् । श्वेतो लोहितो वा मूर्धो येषां ते लक्ष्मणाः त एव विश्वो-
न्ते—वार्धार्णसा इति । वार्धं चर्म तदाकारा नासिका येषां ते वार्धार्णसाः ।
एवं भूतान् लक्ष्मणान् वर्जयित्वा कृच्छ्रकौञ्चा न भक्ष्या इति ।

अन्ये त्वाहुः—'क्रथ्याद्' इति प्राप्तस्य प्रतिषेधस्य ऋञ्चादिषु चतुर्ष्वभति-
पेध इति । तत्र लक्ष्मणा सारसी लक्ष्मणवर्जमिति 'ऋयापोस्संज्ञाच्छ-
न्दसो' रिति ह्रस्वः । एवं कृच्छ्रादिशब्दस्यऽप्यजादिदावन्तस्य ॥ ३६ ॥

अनु०—इतमै से कृञ्च, क्रीञ्च मन्वी अमरूप होते हैं किन्तु (श्वेत या लाल सिर
वाले) वर्गनासिका वाले ळक्ष्मण पक्षी मरूप होते हैं ॥ ३६ ॥

पञ्चनखानां^२ गोघाकच्छपरश्वविट्छयंकखङ्गशशपूतखपवर्जम् ॥ ३७ ॥

पञ्चनखा नखानरमार्जारादयः । तेषां मध्ये गोघादीन् सप्त वर्जयित्वा
अन्ये अभक्ष्याः । गोघा कृकलासाकृतिर्महाकाया । कच्छपः कूर्मः । श्वाविट्
बराहविशेषः, यस्य नाराचाकाराणि लोमानि । शयंकः शल्यकः, यस्य चर्मणा
तनुत्राणं क्रियते । श्वाविट्शयंक इति युक्तः पाठः । एके तु छकारं पठन्ति ।
छकारात्पूर्वमिकारम् । खङ्गो मृगविशेषः, यस्य शृङ्गं तैलमाजतम् । शशः
प्रसिद्धः । पूतिलपः । शशाकृतिः हिमवतिः प्रसिद्धः ॥ ३७ ॥

अनु०—पाँच नखवाले पशुओं का मक्षण नहीं करना चाहिये, किन्तु इनमें गोघा
कछुका, श्वाविट्, शल्यक, खड्ग नाम का मृग, खरगोष्ठ, पूतिलष अपवाद हैं ।
(अर्थात् इन सातों के मांस का मक्षण किया जा सकता है ॥ ३७ ॥

अभक्ष्यश्चेतो मत्स्यानाम् ॥ ३८ ॥

मत्स्यानां मध्ये चेताल्यो मत्स्यो न भक्ष्यः ॥ ३८ ॥

अनु०—मछलियों में चेटक नामकी मछली अभक्ष्य होती है ॥ ३८ ॥

सर्पशीर्षी मृदुरः क्रथ्यादो ये चाऽन्ये विकृता यथा मनुष्यशिरसः ॥ ३९ ॥

सर्पश्वेब शिरौ यस्य सोऽपि मत्स्यो न भक्ष्यः । मृदुरो मकरः ये च क्रथ्य-
मेवाऽदन्ति शिशुमारादयः तेऽप्यभक्ष्याः । ये च छकेभ्योऽन्ये मत्स्या विकृता-
काराः । तत्रोदाहरणम्—यथा मनुष्यशिरसः जलमनुष्याल्या जलहस्त्यादयश्च ।
तेऽपि सर्वे न भक्ष्याः । अत्र मनुः—

१. पा० सू० ६ ३. ६ ३. २. पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः, इत्यत्र द्वितीयसप्तमवर्जितानां अक्षणम् ।

१ अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयधिक्रयी ।
संस्कृता चोपहृता च स्वाङ्कश्चेति घातकाः ॥

२ मांसभक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्रम्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रयदन्ति मनीषिणः ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥' इति ।

३ अप्रतिपिद्धेष्वपि भक्षणाग्निवृत्तिरेव ज्यायसीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे सप्तदशी कण्डिका ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रधिरचितायामु-

ञ्ज्वलायां प्रथमप्रदत्ते पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

अनु०—सौंप की तरह सिहाली मछडी, मकर केवल मृत शरीर का मांस खाकर रहनेवाले तथा विकृत आकार वाले यथा मनुष्य के सिर की तरह सिर वाले प्राणी भक्ष्य नहीं होते ॥ ३९ ॥

१. म० सू० ५.५१

२. खोकोऽयं नास्ति क० पु०

३. 'अत्रामतिषिद्धेष्वपि निवृत्तिरेव ज्यायसी भक्षणपानमैधुनादिस्यः इत्यर्थः' इति

य० पु० ।

अथ पशुः परलः

एवं तावन्निमित्तदुष्टं जातिदुष्टं कालदुष्टं चाऽऽभोग्यमुक्तम् । तत्र निमित्तदुष्टं यस्य शुभे भ्रियेते (दृ. ९२.) इत्यादि । जातिदुष्टं कलङ्कादि । कालदुष्टं पर्यु-
पितादि । इदानीं प्रतिग्रहाशुचीनि कानिचिदनुज्ञाय कानिचित् प्रतिबंधति—
मध्वानं मार्गं मांसं भूमिमूलफलानि रक्षा गव्यूर्तिनिवेशनं

युग्यधासश्रेयतः प्रतिगृह्याणि ॥ १ ॥

मधु पक्कमपकं वा । आमं तण्डुलादि । मृगस्य विकारो मार्गं मांसम् ।
भूमिः शालेयादिश्रेयम् । विश्रमस्थानमित्यन्ये । मूलफलानि 'मूलकात्रादीनि ।
रक्षा अभयदानम् । गव्यूर्तिगोमार्गः । निवेशनं गृहम् । युगं वहतीति युग्यो
बलीवर्द्धः । तस्य घासो भक्ष्यं पलालादि । एतान्युग्रतोऽपि प्रतिगृह्याणि प्रति-
ग्राह्याणि अटुर्भिक्षेऽपि । उग्रः पापकर्मा द्विजातिः, वैश्याद्वा शुद्रायां जातः ।
उग्रग्रहं तादृशानामुपलक्षणम् ॥ १ ॥

अनु०—मधु, चावल आदि (बिना पके हुए अन्न /, मृगका मांस, भूमि, मूत्र
फल, अभयदान, गाय के लिए चारागाह, घर, बैल, पशुओं के लिए चारा, उग्र
(पाप कर्मां द्विजाति अपवा वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री का पुत्र) से भो लिया जा
सकता है ॥ १ ॥

एतान्यपि नाजन्तेवास्याहुतानीति हारीतः ॥ २ ॥

एतानि मध्वादीन्यपि अन्तेवास्याहुतान्येव प्रतिग्राह्याणि, न स्वयमुग्रत
इति हारीत आचार्यो मन्यते ॥ २ ॥

अनु०—हारीत का ही कपन है कि ये वस्तुएँ भी तभी स्वीकार करनी चाहिए जब
शुभ्य द्वारा लाई गई हो (आचार्य स्वयं इन्हें न स्वीकार करे) ॥ २ ॥

आमं वा गुल्होरन् ॥ ३ ॥

पूर्वांक्षेध्वामं स्वमेय वा गुहोरन् द्विजा इति हारीतस्यैव पशुः ॥ ३ ॥

अनु०—पूर्वांक्षे वस्तुओं में चावल आदि स्वयं भी ग्रहण कर सकता है ॥ ३ ॥

कृतान्नस्य वा विरसस्य ॥ ४ ॥

आमस्याऽलाभे कृतान्नस्याऽपि विरसस्य लवणादिरसासंयुक्तस्य । पश्वीनिर्दि-
शात् स्तोत्रम् । स्वयमन्तेवास्याहुतं वा गुहोरन् ॥ ४ ॥

अनु०—(हारित का मत है कि) ब्राह्मण उग्र से विना पकाया हुआ अथवा नमक आदि से असंयुक्त उबाला हुआ मांस ग्रहण कर सकता है ॥ ४ ॥

न सुभिक्षाः स्युः ॥ ५ ॥

अन्वरोक्तविधानद्वये यद्गृहीतमन्नं तेन सुभिक्षाः सुहिता न भवेयुरेव ।
यावता प्राणयात्रा भवति तावदेव गृह्णीरन्, न यावता सौहित्यं तावदिति ॥५॥
अनु०—इस प्रकार का अन्न उतना ही ग्रहण करे जितने से जीविका निर्बाह हो ।
(जितना मिल सके उतना सब ग्रहण न करे) ॥ ५ ॥

स्वयमप्यवृत्तौ सुवर्णं दत्त्वा पशुं वा भुञ्जीत ॥ ६ ॥

यदि तु दुर्भिक्षतया आत्मनोऽपि वृत्तिर्न लभ्यते प्रागेव षोडशवर्गय, ष्ठा स्वयमप्यवृत्तौ यत्रैव लभ्यते तत्रैव कृतान्नमपि भुञ्जीत । तत्र गुणविधिः—सुवर्णं दत्त्वा सहृदेवोपक्वत्समुपस्थात्सुवर्णेन स्पृष्ट्वा । एतेन पशुं वा दत्त्वेत्यपि व्याख्यातम् । 'पशुरग्निः', 'अग्निः पशुरासी' दिति मन्त्रलिङ्गात् 'गोसूक्तेनाऽनेह परधानदर्शनाच्च ॥ ६ ॥

अनु०—दुर्भिक्ष के समय में (यदि जीविका निर्बाह संभव न हो तो) किसी से भी प्राप्त मोबन खा सकता, है किन्तु उसके पूर्व उसको सोने से स्पर्श कराये अथवा अग्नि से स्पर्श कराये ।

टि०—इसका अर्थ यह भी लिया जाता है कि खरीदकर अथवा किसी पशु को देकर । ६ ॥

नाऽत्यन्तमन्ववस्येत् ॥ ७ ॥

न पुनरत्यन्तमन्ववसीदेत् ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार की बीबनवृत्ति में अधिक रुचि न रहे ॥ ७ ॥

वृत्ति प्राप्य विरमेत् ॥ ८ ॥

यदा विहिता वृत्तिलभ्यते तदा निविद्धाया विरमेत् । न पुन 'स्सकृ-
त्पृच्छायाः' किमवकुण्ठनेने"ति न्यायेन तत्रैव रमेत् ॥ अत्र छान्दोग्योप-
निषत्—'सकृचीहृतेषु कुरुवाटिकया सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे

१. ते० सं० ५. ७. २६ २. ऋ० सं० १. २८. १

३. छा० उ० १. १० "सकृचीहृतेषु मटन्व्यः अग्रनयः ताभिर्हृतेषु नाधितेषु कुरुषु
सस्येष्वित्यर्थः । ततो दुर्मित्से बाते भ्राटिस्या अमुपजातयोधरादिस्त्रिव्यञ्जनाया
उषातिर्ह नामतः चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः इभः हस्ती तमर्हतीतीभ्यः ईश्वरः इत्यारोहो
बा । तस्य ग्रामः इभ्यग्रामः तस्मिन् प्रद्वानकः अन्नाभात् । द्रा कुत्सार्थो गतौ । कुत्सितो
गतिं गतः । अन्त्यावस्थां प्राप्त इत्यर्थः । उवास उषितवान् कस्यचिद्गृहमाश्रित्य । सो-
ऽन्वार्थमटन्निम्यं कुरुवाणान् कुत्सितान्माषान् खादन्तं भक्षयन्तं यदृच्छयोपलभ्य विभिषे" -
इति याङ्करभाष्यम् ।

प्रदानक उवास । स हेयं कुल्माषान् खादन्तं विभिक्षे' इत्यादि । मन्त्रवर्णञ्च भवति' 'अवर्त्या शुन अन्त्राणि पेच' इति । अवर्त्या इत्यभावेन । अपर आह-दुर्भिक्षे स्वयमप्यवृत्तौ आ तन्निवृत्तेयञ्च कुत्रचिन्नोचेऽपि दातारि भुञ्जानो वसेत् यां च यावतीं च स्वर्णमात्रां यं कञ्चन पशुं वा तस्मै दत्त्वा । न पुनरत्यन्तमन्ववश्येत् वृत्तिं प्राप्य विरमेदिति ॥ ८ ॥

अनु०—बब वर्णानुसार यथोचित बीबनवृत्ति प्राप्त हो तब निषिद्ध बीबनवृत्ति का परित्याग करे ।

टि०—इस सन्दर्भ में व्याख्याकार ने छान्दोग्योपनिषद् तथा ऋग्वेद के दो श्रंशों का उद्धरण दिया है जिनके अनुसार 'आपत्काल' में कुत्ते की व्यसक्तियों पकाकर खाना भी अवर्ष नहीं है ॥ ८ ॥

एवमापदि वृत्तिशुक्त्वा सुभिक्षेऽन्नापदि वृत्तिमाह—

त्रयाणां वर्णानां क्षत्रियप्रभृतीनां समावृत्तेन न भोक्तव्यम् ॥ ९ ॥

समावृत्तौ द्विजातिः क्षत्रियादीनां त्रयाणां वर्णानां गृहे न भुञ्जीत ॥ ९ ॥

अनु०—समावर्तन के बाद ब्राह्मण तीन वर्णों—क्षत्रिय आदि के घर में भोजन न करे ॥ ९ ॥

प्रकृत्या ब्राह्मणस्य भोक्तव्यमकारणादभोज्यम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्यान्नं प्रकृत्या स्वभावेनैव भोक्तव्यम् । कारणादेव त्वभोज्यम् ॥ १० ॥

अनु०—ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त भोजन स्वभावतः गृहण करे, किसी विशेषकारण से ही उसके भोजन को अवस्वीकार करे ॥ १० ॥

कारणमाह—

यथाऽप्रायश्चित्तं कर्माऽऽसेवते प्रायश्चित्तवति ॥ ११ ॥

यत्र यदा वैश्वदेवानिदोत्रादीनि नित्यमाभ्युदयिकं वाऽप्रायश्चित्तं कर्माऽऽसेवते तात्पर्येण करोति प्रायश्चित्तवत्यात्मनि चेदितं प्रायश्चित्तं प्राणायामोपवासविधिकृच्छ्रादि न करोति तदा एतस्मात् कारणात् ब्राह्मणस्याऽन्नमभोज्यमिति ॥ ११ ॥

अनु०—जब ब्राह्मण प्रायश्चित्त न करके कोई ऐसा अत्य (वैश्वदेव, अग्निहोत्र आदि) कर्म करे तो प्रायश्चित्त नहीं है, तो उस ब्राह्मण द्वारा दिया गया भोजन न ग्रहण करे ॥ ११ ॥

१. श्रु० सं० ४. १८. १३

२. यत्र यदा अग्निहोत्रवैश्वदेवाद्यकरणे प्रायश्चित्तं सुस्त्वा तदनुसृत्य; नित्यमाभ्युदयिकं वा कर्मासेवते तात्पर्येण करोति न प्रायश्चित्तवत्यात्मनि चोदिते प्रायश्चित्तं सदैव स्मात्कारणादभोज्यमिति इति - क० पु० । ३. प्राणायामपयिकृच्छ्रादि इति. ख० पु०

चरितनिर्वेषस्य भोक्तव्यम् ॥ १२ ॥

चरितो निर्वेषः प्रायश्चित्तं येन तस्याऽन्नं भोक्तव्यम् । तद्धोजने न दोषः ।
निष्ठया भूतकालस्याऽभिधानाचार्यमाणेऽपि निर्वेषे न भोक्तव्यम् । किं तर्हि ?
चरिते ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु उसके प्रायश्चित्त का तप कर लेने पर उसके घर भोजन करे ।

टि०—हरदत्त ने 'चरितनिर्वेषस्य' के चरित की ओर निर्देश करते हुए यह
स्पष्ट किया है कि प्रायश्चित्त के काल में भी उसका अन्न न ग्रहण करे ॥ १२ ॥

सर्ववर्णानां स्वधर्मं वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्जमित्येके ॥ १३ ॥

शूद्रवर्जितानां स्वधर्मं वर्तमानानां त्रयाणां वर्णानामन्नं भोज्यम् । न ब्राह्म-
णस्यैवेत्येके मन्यन्ते ॥ १३ ॥

अनु०—शूद्र को छोड़कर अपने धर्म में वर्तमान सभी तीनों वर्णों का अन्न भोज्य
होता है ॥ १३ ॥

तरयाऽपि घर्मोपनतस्य ॥ १४ ॥

तस्याऽपि शूद्रस्याऽन्नं भोज्यम्, यद्यसौ धर्मार्थमुपनतः आश्रितो भवति ।
धर्मग्रहणार्थार्थमुपनतस्याऽभोज्यम् । आपत्कल्पश्चाऽयम् ॥ १४ ॥

अनु०—(आपत्ति के समय में) यदि शूद्र भी धर्म के लिए आश्रित हो तो
उसका अन्न भोज्य होता है ॥ १४ ॥

सुवर्णं दत्त्वा पशुं वा भुञ्जीत नाऽत्यन्तमन्ववस्येद्वृत्तिं प्राप्य

विरमेत् ॥ १५ ॥

गतम् ॥ १५ ॥

अनु०—सोने से या अग्नि से स्पर्श कराकर भोजन करे उस भोजन में विशेष
इच्छि न ले और अग्नी यथोचित बाँवतवृत्ति प्राप्त कर लेने पर शूद्र का अन्न खाना
बन्द कर दे ।

टि०—'सुवर्णं दत्त्वा पशुं वा' से यह भी अर्थ लगाया जाना है कि सोना या
पशु देकर उस अन्न को ग्रहण करे ॥ १५ ॥

सङ्घान्नमभोज्यम् ॥ १६ ॥

सङ्घो गणः तस्य यत् स्वयन्नं न त्वेकस्य । तदभोज्यं यद्यपि ते सर्वं

ददयुः ॥ १६ ॥

अ०—बहुत से व्यक्तियों के समूह से प्राप्त अन्न न खाये ॥ १६ ॥

परिक्रष्टं च ॥ १७ ॥

‘भोक्तुकामा आगच्छत’ इत्येवं परिक्रुश्य सर्वत आहूय यदीयते तत्परिक्रुष्टं तद्भोज्यम् ॥ १७ ॥

अनु०—चारो ओर पृथक्कर दिये गये अन्न को न खाये ॥ १७ ॥

सर्वेषां च शिल्पलाजीवानाम् ॥ १८ ॥

चित्रनिर्माणदिकं शिल्पं ये आजीवन्ति’ तेषां सर्वेषामपि ब्राह्मणादीनामन्नभोज्यम् ॥ १८ ॥

अनु०—(चित्र निर्माण आदि) शिल्प कला से जीविका चलाने वाले व्यक्ति को का भोजन न ग्रहण करे ॥ १८ ॥

ये च शूद्रमाजीवन्ति ॥ १९ ॥

ये च शस्त्रेण जीवन्ति तेषामप्यन्नमभोज्यम् । क्षत्रियवर्जम्, तस्य चिह्नित्वात् ॥ १९ ॥

अनु०—(क्षत्रिय के अतिरिक्त) शूद्र से जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्ति को का अन्न अभोज्य होता है ॥ १९ ॥

ये चाऽऽधिम् ॥ २० ॥

आजीवन्तीत्यपेक्षते । स्वगृहे परान् वासयित्वा तेभ्यो भूतिग्रहणमाधिः, यः स्तोम इति प्रसिद्धः ।

परभूमौ कुटिं कृत्वा स्तोमं दत्त्वा वसेत्तु यः । इति ।

तं चाऽऽधिंये आजीवन्ति तेषामप्यन्नमभोज्यम् । ये तु प्रसिद्धमाधिमानीवन्ति तेषां वार्धुपिकत्वादेव^१सिद्धो निषेधः ॥ २० ॥

अनु०—मकान या भूमि किराए पर देने वाली का अन्न अभोज्य होता है ॥ २० ॥

भियक् ॥ २१ ॥

अभोज्यान्न इति प्रकाणान्नस्यते । भियक् भैपज्यवृत्तिः । धर्मार्थं तु ये सर्वदृष्टादीन्निक्रित्सन्ति ते भोज्यान्ना एव ॥ २१ ॥

अनु०—न्यवसायतः दवा आदि देकर जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्ति का अन्न अभोज्य होता है ॥ २१ ॥

वार्धुपिकः ॥ २२ ॥

दृढथाजीवी । सोऽप्यभोज्यान्नः ॥ २२ ॥

अनु०—न्याज देने वाले व्यक्ति का अन्न अभोज्य होता है ॥ २२ ॥

१. आजीवन्ति इत्यन्तरं ‘आजीवन्ति तेन ये जीवन्ति’ इत्यधिकं क० पु०

२. तस्य चिह्नित्वात्. इति नास्ति क० पु०

३. अभोज्यान्नत्वं सिद्धम्, इति ख० ग० पु०

दीक्षितोऽक्रीतराजकः ॥ २३ ॥

दीक्षितो दीक्षणीयेष्टया संस्कृतः सोऽपि यावत् क्रीतराजको न भवति सोमकर्म्यं न करोति तावद्भोज्यान्नः ॥ २३ ॥

अनु०—सोमयज्ञ में दीक्षणीया इष्टि करने वाले का भोजन उस समय तक अमो-
ज्य होता है जब तक उसने सोम का कर्म नहीं किया है ॥ २३ ॥

अग्नीषोमीयसंस्थायामेव ॥ २४ ॥

भोक्तव्यमिति वक्ष्यमाणमपेक्षते । अग्नीषोमीये पशौ संस्थिते समाप्त एव भोक्तव्यम् । न प्रागिति ॥ २४ ॥

अनु०—(दीक्षणीया इष्टि करने वाले यजमान का अन्न) उस समय भोज्य होता है जब अग्नि तथा सोम के लिए पशुओं को बलि दी जा चुकी हो ॥ २४ ॥

पक्षान्तरमाह—

हुतायां वपायां दीक्षितस्य भोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

अग्निषोमीयस्य वपायां हुतायां वा दीक्षितस्यान्नं भोक्तव्यम् । तथा च बहुवृचब्राह्मणम्—'अशितव्यं वपायां हुतायाम्' इति ॥ २५ ॥

अनु०—अथवा जब अग्नि और सोम के लिए वपा का होम कर दिया गया हो तब दीक्षित का अन्न ग्रहण किया जा सकता है ॥ २५ ॥

पक्षान्तरमाह—

यज्ञार्थे वा निर्दिष्टे शेषाद्भुञ्जीरन्निति हि ब्राह्मणम् ॥ २६ ॥

इदं यज्ञार्थमिति व्यादेशे कृते शेषाद्भुञ्जीरन्निति ब्राह्मणं भवति । ब्राह्मण-
ग्रहणं प्रीत्युपलब्धितः प्रवृत्तेरपरस्मृतिता मा भूदिति प्रत्यक्षमेवाऽत्र ब्राह्मण-
मिति ॥ २६ ॥

अनु०—एक ब्राह्मण ग्रन्थ में यह कहा गया है कि यज्ञ के लिए अलग निकाह कर शेष भाग का भक्षण किया जा सकता है ॥ २६ ॥

१. ज्योतिष्टोमे—'आग्नैवैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिव्यमाणः, इत्यनेन दक्षिणीयेष्टिर्नाम काचिदिष्टिविहिता । सा च यजमानसंस्कारायां, इति निर्णयितं पूर्वमीमां-
सार्थो पञ्चमध्याये । तथा संस्कृतो यजमानो यावत् यागार्थद्रव्यं सोमब्जतां न क्रीणाति तावत्पर्यन्तमित्यर्थः । प्रथमदिने 'अपराद्धे दीक्षयेत्' इति अपराद्धे दीक्षा विहिता । ततः पूर्व दीक्षणीयेष्टिः । तत्समन्तरदिने सोमकर्मणं विहितम् । ततश्च प्रथमदिनेऽपराह्ला-
दनन्तरं द्वितीयादिनमप्याह्लात् पूर्वं दीक्षितान्नं न भोक्तव्यमिति फलितम् । इदं चैकदीक्षा-
पक्षे । अनेकदीक्षापक्षे तु तदनुरोधेन दिनसंख्यावृद्धिः प्रत्येतव्या ।

वलीवः ॥ २७ ॥

पण्डकः । सोऽप्यभोज्यान्तः ॥ २७ ॥

अणु०—नपुंसक का अन्न अभोज्य होता है ॥ २७ ॥

राज्ञांप्रैपकरः ॥ २८ ॥

राज्ञामिति बहुवचनात् ग्रामादेर्यः प्रैपकरः तस्याऽपि प्रतिषेधः ॥ २८ ॥

अनु०—राजा आदि के संदेशवाहक का अन्न अभोज्य होता है ॥ २८ ॥

अहवियर्जाजी ॥ २९ ॥

यश्चाऽहविषा नरुधिरादिना यजतेऽभिचारादौ यथा 'यमभिचरेत्तस्य लोहि-
तमवदानं कृत्वे' ति सोऽप्यभोज्यान्तः ॥ २९ ॥

अनु०—दंडसे ब्राह्मण का मोबन भी अभोज्य होता है जो यशकी हवि के लिए
अनुपयुक्त पदार्थ से यज्ञ करता है ।

टि०—इस प्रकार की हवि से आचारिक क्रियाओं में दी जाने वाली मनुष्य के
रक्त आदि की आहुति से तात्पर्य है ॥ २९ ॥

चारी ॥ ३० ॥

चारो गूढचरः स्पशः । सोऽप्यभोज्यान्तः ॥ ३० ॥

अनु०—गुप्तचर का अन्न अभोज्य होता है ॥ ३० ॥

अविधिना च प्रव्रजितः ॥ ३१ ॥

यश्चाऽविधिना प्रव्रजितः शाक्यादिस्तोऽप्यभोज्यान्तः ॥ ३१ ॥

अनु०—बिना विधि सन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्तिका अन्न अभोज्य
होता है ।

टि०—हरदत्त ने इस प्रकार के प्रव्रजित लोगों से शाक्य अर्थात् बौद्धों का अर्थ
लिया है सम्भव है कि आपस्तम्ब ने बौद्धों को ओर ही संकेत किया । किन्तु मूलतः
यह सूत्र धर्मशास्त्र विहित नियम का उल्लंघन कर सन्यास लेनेवाले का निर्देश करता
है ॥ ३१ ॥

यश्चाऽनीनपास्यति ॥ ३२ ॥

'(योऽज्ञापयन्नि त्यक्त्या प्रायश्चित्तं न करोति सोऽप्यभोज्यान्तः । अपि
च) अविधिनेत्येव । यश्चाऽविधिना उत्सर्गोप्यया विनाऽनीनपास्यति सोऽप्य-
भोज्यान्तः ॥ ३२ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अग्नि का परित्याग करदेता है उसका अन्न अभोज्य
होता है ॥ ३२ ॥

यश्च सर्वान् वर्जयते सर्वान्नी च श्रोत्रियो निराकृतिर्दृषलीपतिः ॥३३॥
 यश्च सर्वान् वर्जयते भोजने न क्वचिद्सुकुङ्गे न कञ्चिद्भोजयति स
 सर्ववर्जी । यश्च सर्वान्नी सर्वेषामन्नं तावुभावप्यभोज्यान्नी । श्रोत्रियः
 इत्युभयोश्शेषः । श्रोत्रियोऽपि सन्नभोज्यान् एवेति । निराकृतिः निःस्वा
 ध्यायः । निर्जित इत्यन्ये । सोऽप्यभोज्यान्ः । दृषलीपतिः क्रमविवाहे यत्
 दृषली पत्नी जीवति इतरा मृताः स दृषलीपतिः । स श्रोत्रियोऽप्यभोज्यान्
 इति ॥ ३३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावाप्रादशो कण्डिका ॥ १८ ॥

अनु०—जो विद्वान् ब्राह्मण सबके भोजन का परित्याग करता है अर्थात् न किसी
 को भोजन कराता है और न किसी के यहाँ भोजन कराता है अथवा जिस किसी का
 अन्न ग्रहण करता है उस व्यक्ति द्वारा दिया गया भोजन अमोज्य होता है । स्वाध्याय
 न करने वाले ब्राह्मण का तथा जिस ब्राह्मण की केवल सूदा पत्नी जीवित हो उसका
 अन्न अमोज्य होता है, मछे ही, वेद का विद्वान हो ॥ ३३ ॥

मत्त उन्मत्तो बद्धोऽङ्गिकः प्रत्युपविष्टो यश्च प्रत्युपवेशयते

तावन्तं कालम् ॥ १ ॥

मदकण्डव्यसेवया विकृति गतो मत्तः उन्मत्तो भ्रान्तः । बद्धो निगलितः ।
 अङ्गिकः पुत्रात् श्रुतग्राही, पुत्राचार्य इति शब्देषु निन्दितः । प्रत्युपविष्टः
 ऋणादिना कारणेनाऽधमर्णादिकं निरुध्य तत्पार्श्वे उपविष्टः । प्रत्युपवेशयिता
 त्वितरः, तत्पुं परिहारमकृत्सेन सह कामं सुचिरमासत्तामित्यासीनः । ता एते
 मत्तादयस्तावन्तं कालमभोज्यान्नाः, यावन्मदाद्यनुवृत्तिः । अपर आह—
 अङ्गिकः ऋणस्य दाता प्रत्युपवेशदुरिदं विशेषणमिति ॥ १ ॥

अनु०—मदपान से मत्त बने हुए, पागल, बन्दी, अपने पुत्र से वेद का अध्ययन
 करने वाले, ऋणी को ऋण देने के लिए रोक कर बैठने वाले तथा इस प्रकार रोक
 कर बैठाने गये ऋणी का अन्न टतने समय तक अभोज्य होता है जब तक इन व्यक्तियों
 की तत्तत् अवस्था हो ॥ १ ॥

क आश्यान्तः ॥ २ ॥

यद्येते अभोज्यान्तः कस्तर्हि आश्यान्तः ! कस्य तर्हन्नमशनीयमिति ।
 यद्यप्येते अभोज्यान्ना इत्युक्ते परिशिष्टा भोज्यान्ना इति गम्यते । तथाप्यनेक
 मतौपन्यासार्थं प्रदनपूर्वक आरम्भः ॥ २ ॥

अनु०—किन व्यक्तियों का भोजन भोज्य होता है ॥ २ ॥

य ईप्सेदिति कण्वः ॥ ३ ॥

य एव प्रार्थयते स एवाऽऽश्नान्न इति कण्व ऋषिर्मन्यते 'प्रति-
सिद्धयर्जम् ॥ ३ ॥

अनु०—कण्व ऋषि का मत है कि ओ व्यक्ति भोजन के लिए प्रार्थना करता है
उसी का अन्न भोज्य होता है ॥ ३ ॥

पुण्य इति कौत्सः ॥ ४ ॥

सर्ववर्णानां स्वधर्मं वर्तमानानां' (१८.१३-) मिल्युक्तत्वात् भोज्यान्ना-
रसर्वे पुण्या एव । इह पुनः पुण्यप्रद्वृणमतिशयार्थम् । तपोद्दोमज्जैः
स्वधर्मेण च युक्तः पुण्यः । स स्वयमप्रार्थयमानोऽपि भोज्यान्न इतिकौ-
त्सस्य पक्षः ॥ ४ ॥

अनु०—कौत्स ऋषि का मत है कि सभी पुण्य आचरण वाले व्यक्तियों का अन्न
भोज्य होता है ।

टि०—पुण्य से तात्पर्य तप, होम वर आदि कर्मों को करते हुए अपने धर्म में
सिध्द रहने वाले व्यक्ति से तात्पर्य है । यदि ऐसा व्यक्ति स्वयं प्रार्थना न करे तब भी
उसका अन्न भोज्य होता है । ४ ॥

यः कश्चिद्दद्यादिति वाष्यायणिः ॥ ५ ॥

यः काश्चिदुपयोऽपुण्यो वा सततं दानशोलः । स भोज्यान्न इति वाष्या-
यणिराह ।

तथा च मनुः—

^२श्रद्धापूतं वदान्यस्य हस्तमश्नुयेतरत् ।' इति ॥ ५ ॥

अनु०—वाष्यायणि का मत है कि प्रत्येक दानशील व्यक्ति का अन्न भोज्य होता
(चाहे वह पुण्य आचरण वाला हो यां न हो ॥ ५ ॥

अत्रोपपत्तिः—

यदि हि रजः स्यावरं पुरुषे भोक्तव्यमथ चेच्चलं दानेन

निर्दोषो भवति ॥ ६ ॥

रजः पापम् । तथापि पुरुषे कर्तारि म्थावरं स्थिरं नोपभोगन्तरेण
क्षीयते तदा ततः प्रतिग्रहेऽपि भोक्तारि संक्रमाभावात् भोक्तव्यम् । अथ
चेच्चलमुपभोगन्तरेणाऽपि क्षीयते तदा सततदानशैले न मुहूर्तमपि पापम-
वतिष्ठत् इति कुतो भोक्तुदोषइति ॥ ६ ॥

अनु०—यदि कोई पाप, पाप करने वाले पर स्थिर लगा हुआ है तो वह उस पापी व्यक्ति का भी अन्न खाया जा सकता है क्योंकि पाप, पापी को छोड़कर उसके अन्न का भोजन करने वाले पर नहीं जा सकता और यदि पाप पापी को छोड़ सकता है तब भी उसका अन्न खाया जा सकता है क्योंकि इस प्रकार वह दान के द्वारा निर्दोष हो जाता है ॥ ६ ॥

शुद्धा भिक्षा भोक्तव्यैककुणिकी काण्वकुत्सी तथा पुष्करसादिः ॥७॥

धार्मिकेणोद्यता आहृता भिक्षा शुद्धा । सा भोग्येत्येकादीनां पञ्चानां पक्षः ।
पुष्करसादिः^१ पौष्करसादिः । आदिबृद्धयभावश्छान्दसः ॥ ७ ॥

अनु०—शुद्ध मिला हुआ भिक्षा भोग्य होती है, ऐसा एक, कुणिक, काण्व, कुत्स तथा पुष्करसादि का मत है ॥ ७ ॥

सर्वतोपेतं वाष्यायणीयम् ॥ ८ ॥

सर्वत उपेतं सर्वतोपेतम् । छान्दसो गुणः । उपेतमथाचितोपपन्नम् । तत्सर्वतोऽपि भोव्यमिति वाष्यायणीयं मतम् ॥ ८ ॥

अनु०—वाष्यायण का मत है कि बिना मांस किसी से भी प्राप्त अन्न भोज्य होता है ॥ ८ ॥

इदानीं स्वमतमाह—

पुण्यस्येप्सतो भोक्तव्यम् ॥ ९ ॥

कण्वकुत्सयोः पक्षी समुच्चितावाचार्यस्य पक्षः^२ ॥ ९ ॥

अनु०—पुण्य आचरण करने वाले व्यक्ति द्वारा स्वयं दिया हुआ भोजन खाना चाहिए ॥ ९ ॥

पुण्यस्याऽप्यनीप्सतो न भोक्तव्यम् ॥ १० ॥

यः प्रार्थितोऽपि नेत्यसच्छुक्त्वा कथंचिदापादितेऽप्सः^३ सोऽनीप्सन्नित्युच्यते, तस्य पुण्यस्याऽप्यभोग्यमिति । अपर आह—अनीप्सत इति कर्त्वारि पठौ । पुण्यस्याप्यन्नं न भोज्यं, यदि भिक्षमाणः पूर्ववैरादिना स्वयमोप्सन्न भवतीति ॥ १० ॥

अनु०—पवित्र आचरण वाले व्यक्ति द्वारा अन्न चाहे दिया गया भोजन अभोग्य होता है ॥ १० ॥

यतः कुतश्चाऽभ्युद्यतं भोक्तव्यम् ॥ ११ ॥

‘सर्वतोपेत’ (१९.८) मित्युक्तमेव पुनरुच्यते विशेषवियशया ॥ ११ ॥

१. आचार्यः इत्यधिकं क० पुस्तके । २. ‘आचार्यस्य वक्षेण’ इति. क० पु०

३. सोऽल्पैःसुखान्नीप्सन्नित्युच्यते’ इति क० पु०

अनु०—किसी व्यक्ति से बिना माँगे अपि अन्न भोज्य होता है ॥ ११ ॥

तमाह—

नाज्जनिमोपपूर्वमिति हारोतः ॥ १२ ॥

‘अथ तुभ्यमिदमाहरित्यामि तदन्नभयता ग्राह्यमिति निवेदनं नियोगः। तदभावः अनियोगः। पुनर्नञ्समासः। द्वौ नवौ प्रकृतमर्थं गमयतः। अन्ननियोगो नियोगः तत्पूर्वं चेदभ्युद्यतं न भोज्यमिति ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु शरीर का मत है कि यदि वह भोजन बिना पूर्वं निवेदन के दिया गया हो तो भोज्य नहीं होता है ॥ १२ ॥

अथ पुराणे श्लोकाबुदाहरन्ति—

‘उद्यतामाहूतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम् ।

भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥

न तस्य पितरोऽन्नमिति दश वर्षाणि पञ्च च ।

न च हव्यं वहत्यनिर्यस्तामभ्यधिमन्यते ॥ इति ॥ १३ ॥

अथ अपि च पुराणे—

^२सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशमन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥’

इत्वंलक्षणे भविष्यदादौ। उद्यतां हस्ताभ्यामुद्यम्य धारिताम्। आहूतां स्वयमानीताम्। पूर्वमनिवेदितां भिक्षाम्। दुष्कृतकारिणोऽपि सकाशात् भोज्यां मेने प्रजापतिर्मनुः, मनुः प्रजापतिरस्मीति दर्शनात्। यस्तु तामभ्यधिमन्यते प्रत्याचष्टे तस्य पितरः कव्यं नाश्नन्ति। कियन्तं कालम्? दश वर्षाणि पञ्च च। अग्निश्च हव्यं न वहति। तावन्तमेव कालमिति प्रत्याख्यातुर्निन्दार्थवाद् ॥ १३ ॥

अनु०—पुराण के निम्नलिखित दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—प्रजापति ने बिना माँगे मिली हुई दाता के हाग स्वयं खाकर अपित भी गई भिक्षा को भोज्य

१. नाद्यतनमधिप्यपुराणीयमिदं वचनम्। Cf मनु० ४. २५१. २५२

२. अमरको० १. वा० ५

३. मनुः प्रजापतिर्भक्षिमिति दसे दर्शनात्, इति क० पु० प्रजापतिर्वक्षिमिति मानये दर्शनात् इति ख० पु०

मान है, भले ही वह पिशा पाप कर्म करने वाले व्यक्ति द्वारा दी गई हो। किन्तु इस प्रकार की पिशा का पहले से देने की घोषणा न की गई हो। जो व्यक्ति इस प्रकार के धन को अस्वीकार कर देता है उसके पितर पन्द्रह वर्ष तक उसकी श्राद्ध-बलि का महण नहीं करते और अग्नि भी उनकी आहुति को देवताओं तक नहीं पहुँचाता ॥ १३ ॥

‘चिकित्सकस्य मृगयोश्शाल्यकृन्तस्य पाशिनः ।

कुलटायाम्पण्डकस्य च तेपामन्नमनाद्यम् ॥ १४ ॥

चिकित्सको भिषक् । मृगयुर्मृगघाती लुब्धकः । शल्यकृन्तः शस्त्रेण अन्थादीनां छेत्ता अम्बष्ठः । पाशी पाशघान् पाशजालेन मृगादीनां ग्राहकः । कुलालुलमटतीति कुलटा व्यभिचारिणी । पण्डकः तृतीयाप्रकृतिः । एतेषां चिकित्सकादीनामन्नमनाद्यम् । चिकित्सकपण्डकयोः पुनर्वच-नमुद्यत्स्याऽपि प्रतिपेयार्थम् । ३पूर्वत्र तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । एवं तर्हि सूत्रकारस्य स प्रतिपेयः । अयं तु पुराणश्लोके प्रतिपेय इत्यपीन-रुक्तस्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—(पुराण के एक दूसरे पद्य में भी कदा गया है कि) चिकित्सक, बहेलिया, चीड़-पाड़ करने वाले (शल्यकृन्त, अम्बष्ठ), बाल से मृग इत्यादि को पकड़ने वाले, कुलटा स्त्री, और नपुंसक का अन्न अभोज्य होता है ॥ १४ ॥

अथाप्युदाहरन्ति—

अन्नादे भ्रूणहा माष्टिं अनेना अभिशंसति ।

स्तेनः प्रमुक्तो राजनि याचन्ननुतसङ्करे ॥ इति ॥ १५ ॥

पण्डितस्य वेदस्यऽध्येता भ्रूणः । तं यो हतवान् स भ्रूणहा । सोऽन्नादे माष्टिं लिम्पति । किम् (१) प्रकरणादेन इति गम्यते । भ्रूणघ्नो योऽन्नमति तस्मिन्स्तेनः संक्रामति । तस्मात्तथोद्यत्तमाप्यभोज्यमिति प्रकरणस-ङ्गतः पादः । इतरत् पुराणश्लोके पठ्यमाने पठितम् । अनेनसं योऽभि-शंसतिमित्थं च ब्रूते-इदं त्वया कृतमिति । स तस्मिन्नभिशंसति तदेनो माष्टिं । मसुःसु—

३पतितं पतित्युक्त्वा चोरं चोरोति वा पुनः ।

वचनात्तुल्यदोपस्थान्मिथ्या द्विदोपभागभवेत् ॥

१. Cf मनु० ४. २११. २१२ २. पूर्वत्र तर्हि ग्रहणस्य वैयर्थ्यम् ।

३. म० स्म० श्लोकोऽयमिदीनां मुद्रितकोशेषु नोपलभ्यते ।

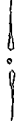
इति द्वैगुण्यमाह । तदभ्यासे द्रष्टव्यम् । 'स्तेनः प्रकीर्णकेशः' (२५.४.) इति वक्ष्यति । स एव तृतीयस्य पादस्यार्थः । कर्तृभेदादपौनरुक्त्यम् । सङ्करः प्रतिज्ञा प्रतिश्रवः । सत्यसङ्कर इति यथा । यः प्रतिश्रुत्य न ददाति सोऽदृष्टसङ्कर इति । ककारस्तु छान्दसः । तस्मिन् याचकः स्वयमेवो माष्टि । तस्मात्प्रतिश्रुतं देयमिति ॥ १५ ॥

इत्यापस्तम्बसूत्रदृत्ताद्येकोनविंशो कण्डिका ॥ १९ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रदृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचित्वायामु-

ख्यलायां प्रथमप्रश्ने पष्ठः पटलः ॥ ६ ॥

अनु०—(एक और पद्य भी उद्धृत किया जाता है) वेद का अध्ययन करने वाले ब्राह्मण (ग्रन्थ) का वच करने वाले अपना पाप अपना अन्न खाने वाले के ऊपर सक्रमित कर देता है । निर्दोष व्यक्ति का पाप उस पर झूठा दोषारोपण करने वाले व्यक्ति को मिल जाता है । मुक्त किये गये चोर का पाप राजा के ऊपर तथा याचक का पाप दान देने की मिथ्या प्रतिज्ञा करने वाले के ऊपर चला जाता है ॥१५॥



अथ सप्तमः पटलः

नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्माश्चिरेत् ॥ १ ॥

इमं लौकिकं लोके विदितं ल्यातिलाभपूजात्मकम्, अर्थं प्रवीन-
नम् । पुरस्कृत्य अभिसन्धाय । धर्मान् चिरेत् ॥ १ ॥

अनु०—धर्म का आचरण केवल सांसारिक उद्देश्य से (यश, लाभ, सम्मान के
लिए) ही नहीं करना चाहिए ॥ १ ॥

किं कारणम् ?

निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति ॥ २ ॥

हि यस्मादेवं क्रियमाणा धर्मा अभ्युदये फलकाले निष्फला भव-
न्ति ।^१ लोकार्थं ह्यसौ धर्मं चरति, न कर्तव्यमिति श्रद्धया । न च श्रद्धया विना
धर्मः फलं साधयति ।^२ 'यो वै श्रद्धामनारभ्ये'ति श्रुतेः॥२२॥ किमत्रेदानीं दृष्टं
फलंत्याज्यमेव ? नेत्याह—

अनु०—क्योंकि जब धर्म का आचरण इस ध्येय से किया जाता है तब वह फल
देने के समय निष्फल हो जाता है ॥ २ ॥

तद्यथाऽऽत्रे फलार्थे^३ निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूपद्येते, एवं धर्मं
चर्यमाणमर्था अनूपद्यन्ते ॥ ३ ॥

तदिति वाक्योपन्यासे । फलार्थं ह्याश्रवृक्षो निर्मायते आरोप्यते । तस्मिन्
फलार्थे^४ निमित्ते छाया गन्धश्चाऽनूपद्येते । एवं धर्मं चर्यमाणमर्थाः ल्या
त्यादयोऽनूपद्यन्ते अनुनिष्पद्यन्ते । तथैव स्वीकार्याः^५ । न चोद्देश्यतया ।
तथा चाह—

'यथेक्षुहेतोः सलिलं प्रसेचयंतुणानि बल्लीरपि च प्रसिञ्चति ।

तथा नरो धर्मार्थेन वर्तयन् यशश्च कामांश्च बहूनि चाऽऽस्तुते ॥' इति ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु प्रकार फल के लिए आम का पेड़ लगाया जाता किन्तु उतसे छाया
और सुगन्धि भी होती है, इसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर लौकिक फल भी
गौण रूप से उत्पन्न होते हैं । (उन्हें गौण रूप में ही स्वीकार करना चाहिए, प्रमुख
के रूप में नहीं लेना) ॥

१ लोकमकर्याः फलं = लौकिक

२. तौ सं० १. श्रद्धा = यो

श्रुतिः । अस्या व्ययम् ।

३

श्रद्धामनारभ्य यत्रेन यजते नास्त्येष्टाय भद्रघते, इति

नो चेदनुत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति ॥ ४ ॥

यद्यपि दैवादधर्मो नाऽनूपद्यन्ते तथापि धर्मोक्तावद्भवति । स च स्वतन्त्रः पुरुषार्थः । किमन्यैरर्थैरिति ॥ ४ ॥

अनु०—यदि धर्मों के आचरण से लौकिक फल नहीं भी उत्पन्न होते तो भी धर्म की हानि नहीं होती । (अर्थात् धर्म का आचरण स्वयं धर्म के लिए करना चाहिए ॥ ४ ॥

अनसूयदुष्टं प्रलम्भः स्यात् कुहकशठनास्तिकबालवादिषु ॥५॥

कुहकः प्रकारो शुचिरेकान्ते यथेष्टचारी । शठः वक्रचित्तः । नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी । बालः श्रुतरहितः । एतेषां वादिषु अनसूयुः स्यात् । असूयया द्वेषो लक्ष्यते । द्वेषा न स्यात् । तात् विपयीकृत्य द्वेषमपि न कुर्यात् । तथा दुष्प्रलम्भश्च स्यात् । प्रलम्भनं विसंवादनं मिथ्याफलाख्यानम् ।^३ शुधिवञ्च्योः प्रलम्भन' इति दर्शनात् । दुष्प्रलम्भो विसंवादयितुं मिथ्याफलाख्यानेन प्रवर्तयितुमशक्यः । कुहकादिवाःपु वञ्छितो न स्यात् । तद्गो स्यादित्यर्थः ॥५॥

अनु०—दुष्टों, शठों नास्तिक, वेदशान्हीन व्यक्तिों के वचनों से कुवि नही होना चाहिए और उनके घीसे में भी नहीं पड़ना चाहिए ॥ ५ ॥

वञ्छनस्य सम्भवमाह—

न धर्माधर्मौ चरत 'आवं स्व' इति, न देवगन्धर्वा न पितर इत्या-

चक्षते' इयं धर्मोऽयमधर्म, इति ॥ ६ ॥

आधमिति छान्दसं रूपम् । भाषायां तु^३ 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषाया'मित्यालं प्राप्नोति । यदि हि धर्माधर्मौ विगद्भवन्तौ गोव्याघ्रवञ्चरेतामावां स्व इति भ्रुवाणौ, यदि वा देवादयः प्रकृष्टज्ञाना ब्रूयुरिमौ धर्माधर्माविति ततः कुहकादिवादिषु न स्याद्वञ्छना । तदभावात्तु वञ्छनासम्भव इति । इदं चात्र द्रष्टव्यम्—प्रत्यक्षादेर्न गोचरौ धर्माधर्मौ । किन्तु नित्यनिर्देशोपवेदगम्यौ । तदभावे तन्मूलधर्मशास्त्रगम्याविति ॥ ६ ॥

अनु०—धर्म-अधर्म स्वयं आकर इस प्रकार नहीं कहते कि हम यहाँ हैं (अर्थात् धर्म और अधर्म अरना परिचय स्वयं नहीं देते) । देवता, गन्धर्व और पितृगण भी यह नहीं बताते कि यह धर्म है और यह अधर्म । (इसलिए कष्ट आचरण करने वालों के

वचनों से सावधान रहना चाहिए) धर्म और अधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष आदि से नहीं जाना जाता, किन्तु वेद से ही जाना जा सकता है जो नित्य निर्दोष है ॥ ६ ॥
यत्र तु प्रायश्चित्तादौ विषयव्यवस्था दुष्करा तत्र निर्णयमाह—

यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो, यं गृह्णन्ते सोऽधर्मः ॥ ७ ॥

आर्याः शिष्टास्त्रैर्वर्णिकाः । बहुवचनाच्चत्वारण्यो वा । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

‘चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पण्डितैर्विद्यसेव वा ।

सा ब्रूते यं स धर्मस्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥’ इति ॥ ७ ॥

अनु०—बिस कार्य को आर्य लोग (तीन उच्च वर्णों के) उत्तम कहते हैं, वह धर्म है और बिस कार्य की निन्दा करते हैं वह अधर्म है ॥ ७ ॥

इदानीं श्रुतिस्त्युयोः प्रत्यक्षयोरदर्शने शिष्टाचारादप्यवगम्य धर्मः कार्य इत्याह—
सर्वजनपदेष्वेकान्तसमाहितमार्याणां वृत्तं सम्यग्बिनीतानां वृद्धानामात्मवतामलोलुपानामदाग्भिकानां वृत्तसादृश्यं भजेत ॥ ८ ॥

सम्यग्बिनीताः । आचार्यार्थोऽनः स्या’ (२. १९) इत्यादिना विनयनसम्पन्नाः । वृद्धाः परिणतवयसः । यौवने विषयवश्यताऽपि स्यादिति दमुक्तम् । आत्मवन्तो जितेन्द्रियाः । अलोलुपा अक्रुपणाः । अदाग्भिका अधर्मैश्चजाः, एकान्तप्रकाशयोरेकवृत्ताः । एवंभूतानामार्याणां सर्वजनपदेषु यदेकान्तेनाऽव्यभिचारेण समाहितमनुगतं वृत्तमनुष्ठानम्, न मातुलमुतापरिणयनवत्कतिपयविषयम्, तद्दृत्तसादृश्यं भजेत । तदनुसृत्यं चेष्टेत । न तेपामनुष्ठानं निर्मूलम् । सम्भवति च वैदिकानामुत्सन्नपाठब्राह्मणाभुव इति ॥ ८ ॥

अनु०—अपना आचरण उसी आचरण के अनुरूप बनाना चाहिए जो सभी देशों में एकमत से निरन्तर विनयशील, धृढ, भित्तिन्द्रिय, लोमहीन, दम्भहीन आर्यों के द्वारा एकमत से स्वीकार किया गया हो ॥ ८ ॥

एवमुभौ लोकावभिजयति । ९ ॥

एवं श्रुतिस्मृतिसदाचारमूलमनुष्ठानं कुर्वन् उभौ लोकावभिजयति इमं चाऽमुं च ॥ ९ ॥

अनु०—इस प्रकार आचरण करके वह लोक और परलोक दोनों को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

अविहिता ब्राह्मणस्य वणिज्या ॥ १० ॥

क्रयविक्रयव्यवहारो वणिज्या । सा स्वयं कृता ब्राह्मणस्य वृत्तिर्न विहिता
प्राप्तानुवादोऽयमपवादविधानार्थः ॥ १० ॥

अनु०—ब्राह्मण के लिए वणिज्य विहित नहीं है ॥ १० ॥

आपदि व्यवहरेत पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणवृत्तेरभाव आपत् । तस्यां सत्याम् । पण्यानाम् । व्यवहृत्पणोः समर्थो-
यो रिति कर्मणि पठ्यौ । व्यवहरेत । क्रयश्च विक्रयश्च व्यवहारः, पण्यानि
क्रीणीयान् विक्रोणीत चेत्यर्थः । अपण्यानि वक्ष्यमाणानि व्युदस्यन् वर्जयन् ।
कृत्स्नाया वैश्यवृत्तेरुपलक्षणमिदम् । क्षत्रियवृत्तिश्च दण्डापूपिकया सिद्धा ।
तथा च गौतमः—‘तदलाभे क्षत्रियवृत्तिस्तदलाभे वैश्यवृत्ति’ रिति ॥ ११ ॥

अनु०—आपदि के समय में वह उन्हीं वस्तुओं का व्यापार कर सकता है जिनका
विक्रय करना विहित है । किन्तु जिन वस्तुओं का नम विक्रय विहित नहीं है उनका
व्यापार न करे ॥ ११ ॥

अपण्यान्याह—

मनुष्यान् रसान् गगान् गन्धानन्नं चर्मं गवां वशां श्लेष्मोदके तोक्म-
किण्वे पिप्पलीमरीचे घान्यं मांसमायुधं सुकृताशां च ॥ १२ ॥

मनुष्या दारदासादयः । रसा गुडलवणादयः, क्षीरादयो वा । रागाः कुसु-
म्भादयः रज्यन्तेऽनेनेति । रज्यन्त इति वा रागा वखादयः । गन्धाश्चन्दना-
दयः । गवां मध्ये वशा वन्ध्या गौः । श्लेष्म जलुवञ्चादिः, येन विश्लिष्टं
चर्मोदि सन्धीयते । ‘यथा’ श्लेष्मणा चर्मण्यं वाऽव्यह्ना विश्लिष्टं संश्लेभ्ये’
दिति दहद्बुचवाह्नये दर्शनात् । उदकं कुम्भजलम् । तोक्मं ईपङ्कुरितानि
श्रीह्यादीनि । किण्वं सुराप्रकृतिद्रव्यम् । सुकृतं पुण्यं तस्य फलं सुकृताशा ।
शिष्टानि प्रसिद्धानि । ‘एतान्यपण्यानि वर्जयित्वा अन्येषां पण्यानां व्यवहरेत ।
मनुष्यादीन्वर्जयित्वेष्वेव सिद्धे’ अपण्यानोक्ति वचनमन्वेषामप्यपण्यानां व्युदा-
सार्थम् । तत्र मनुः

१. नापदि विधानार्थः इति क० पु० २. पा० सू० २. ३. ५७

३. कश्चित् दण्डे प्रोक्तान् अपूपान् कस्यचित् निकटे निक्षेप्य बहिर्गत्वा पुनः प्रति-
निवृत्य तं पृष्ठयान् क्व मे दण्ड इति । तेनोक्तम् ‘भूषिकैर्मक्षित इति । तदा तेनाऽयंपत्या
कश्चित्तं यदा दण्डोऽपि मूर्षिकैर्मक्षितः तदा किमु वक्तव्यमपूपस्तेर्मक्षिता इति । अयं दण्डा-
पूषिभ्यान्वायः ॥

४. गौ० घ० ७. ६, ७

५. ऐ० ब्रा० ५. ५० १२ ख०

६. आपणीयानि इति क० पु०

सर्वान् रसानपोहृत कृतान्तं च तिलैस्सह ।
 अशुमनो लवणं चैव पशवो चे च मानुषाः ॥
 सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणश्रीमाविकानि च ।
 अपि चेत्युररक्तानि फलमूले तथोपधीः ॥
 अपः शल्लं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः ।
 क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥
 आरण्यांश्च पशून् सर्वांन् दंष्ट्रिणश्च वर्यांसि च ।
 मद्यं नीलीं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफान् पशून् ॥^१
 इति ॥ १२ ॥

अनु०—मनुष्य (अयं तु दास-दासी), रस (जैसे गुड़, नमक, दूध), रंग, सुगन्धि (चन्दन इत्यादि), अन्न, चमड़ा (बन्ध्या) गौ, लाख, बाल, हरा (अर्थात् बिना पका) अन्न, सुरा की तरह के पदार्थ और पीपर, मरिच, अनाज, मांस, हथियार और अपने पुण्यफल नहीं वेचना चाहिए ॥ १२ ॥

तिलतण्डुलांस्त्वेव धान्यस्य विशेषेण न विक्रीणीयात् ॥ १३ ॥

धान्यानां मध्ये तिलतण्डुलानेव विशेषतोऽतिशयेन न विक्रीणीयात् न विक्रीणीत । अन्येषां विकल्पः । स्वयमुत्पादितेषु नाऽयं प्रतिषेधः । मानवे हि श्रुतम्^१—

‘काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृपीबलः ।

विक्रीणांत तिलञ्छुद्धान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥’ इति ॥ १३ ॥

अनु०—विशेष रूप से तिल और चावल का तो क्रय-विक्रय न करे ।

टि०—इसदृश व्याख्या में यह स्पष्ट क्रिया है कि स्वयं उगाये गये तिल और चावल के विषय में प्रतिषेध का नियम नहीं है ॥ १३ ॥

अविहितश्चैतेषां मिथो विनिमयः ॥ १४ ॥

विनिमयः परिवर्तनम् । येषां विक्रयः प्र तिपिद्धः तेषां परस्परेण विनिमयोऽप्यविहितः प्रतिपिद्धः, न कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अनु०—इसमें भी किसी एक का दूसरे के साथ विनिमय भी नहीं करना चाहिए ॥ १४ ॥

तेष्वेव केषां चिद्विनिमयोऽनुज्ञायते—

अग्नेन चाऽन्नस्य मनुष्याणा च मनुष्यै रसानां च रसैर्गन्धानां च

गर्धैर्विद्यया च विद्यानाम् ॥ १५ ॥

अन्नादीनां विद्यान्तानां विनिमयो भवत्येवेत्यर्थः । तथा च वसिष्ठः—रसा रसैस्समहो हीनतो वा। तिलतण्डुलपकान्नं विद्यामनुग्याश्च विहिताः परिवर्तनेन' इति । भानवे तु विशेषः—

'रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसः ।

कृतान्नं चाऽऽकृतान्नेन तिला घान्येन तत्समाः ॥' इति ।

गौतमीये तु—'विनिमयस्तु । रसानां रसैः । पशूनां च । न लवणकृता-न्नयोः । तिलानां च । समेनाऽऽमेग तु पक्वस्य सप्रत्यर्थ' इति । तस्माद्ब्रह्मप्रतियोगाद्युत्तिर्न शङ्कनीया । पूर्वत्र चोक्तं 'ब्राह्मणि मिथो विनियोगे न गतिर्विद्यत' (१३.१७) इति । 'विनिमयाभ्यनुज्ञानादेव विद्यादीनां विक्रयोऽपि प्रतिपिद्धो वेदितव्यः ॥ १५ ॥

अतु०—किन्तु अन्न से अन्न का, मनुष्यों से मनुष्यों का रसों से रसों का, गन्धों से गन्धों का तथा विद्या से विद्या का विनिमय किया जा सकता है ॥ १५ ॥

अक्रोतपण्यैर्व्यवहरेत् ॥ १६ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रदृत्तौ विंशतितमी कण्डिका ॥ २० ॥

अक्रोतानि स्वयमुत्पादितानि अरण्यादाहृतानि वा यानि पण्यानि तैर्व्यवहरेत् मुञ्जादिभिः ॥ १६ ॥

अतु०—जिन विहित वस्तुओं को खरीदा न गया हो उनका विक्रय किया जा सकता है ॥ १६ ॥

मुञ्जवल्जैर्मूलफलैः ॥ १ ।

मुञ्जवल्जजास्तृणविशेषाः ॥ १ ॥

अतु०—(स्वयं उत्पादित) मूँज, बल्जज शास, मूल और फल का विक्रय कर सकता है ॥ १ ॥

तृणकाष्ठैरविकृतेः ॥ २ ॥

तृणानां विकारो रज्ज्वादिभावः । काष्ठानां विकारः स्थूणादिभावः । तृणादादेव सिद्धे मुञ्जवल्जजमूहणं विकारार्थम् ॥ २ ॥

अतु०—अन्न प्रकार के मी तृणों और काष्ठ का, जिनसे काँट-छाँट कर कोई उपयोगी वस्तु न बनायी गयी हो, विक्रय कर सकता है ॥ २ ॥

नाऽऽत्यन्तमन्ववस्येत् ॥ ३ ॥

प्रतिषिद्धानामपि विक्रयविनिमयाभ्यां जीवेत् । न पुनरत्यन्तमन्ववस्येत्
अवसीदेत् । तथा च गौतमः 'सर्वथा तु वृत्तिरशक्तावशौचेण । तदत्येके
प्राणसंशय' इति । मनुष्ये—

“जोवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।

आकाशमिव पङ्केन न स दोषेण लिप्यते” ॥ इति ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु इस प्रकार के जीवन में बहुत रुचि न रखे ॥ ३ ॥

वृत्तिं प्राप्य विरमेत् ॥ ४ ॥

गतम् ॥ ४ ॥

अनु०—अपने योग्य जीवनवृत्ति मुलभ होते हो इस प्रकार के व्यापार का परि
रहाग कर दे ॥ ४ ॥

न पतितैस्संव्यवहारो विद्यते ॥ ५ ॥

पतिताः स्तेनादयो वक्ष्यमाणास्तैः सह न कश्चिदपि व्यवहारः कर्तव्यः ।
तत्र मनुः—^३

संबत्सरेण पतति पतितेन सहाऽऽचरन् ।

याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥' इति ।

यानादिभिसंबत्सरेण पतति । याजनादिभिस्तु सद्य एव ॥ ५ ॥

अनु०—पतितों के साथ किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

तथाऽपपात्रैः ॥ ६ ॥

अपपात्राश्चण्डालोदयः । तैश्च संब्यवहारो न कर्तव्यः ॥ ६ ॥

अनु०—(चण्डाल आदि) अयोग्य पात्रों के साथ भी व्यवहार न करे ॥ ६ ॥

अथ पतनीयानि ॥ ७ ॥

द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनं, तस्य निमित्तानि कर्माणि वक्ष्यन्ते ॥ ७ ॥

अनु०—अप पतनीय कर्मों का उल्लेख किया जाता है ॥ ७ ॥

स्तेयमाभिशास्यं पुरुषवधो ब्रह्मोऽज्ञं गर्भशातनं मातुः पितुरिति
योनिस्त्वन्वधे सहापत्ये स्त्रीगमनं सुरापानमसंयोगसंश्लेषः ॥ ८ ॥

स्तेयं सुवर्णचौर्यम् । आभिशास्त्यं ब्रह्महत्या । 'ब्राह्मणमात्रं च हृत्वाभिशास्त' (२४.७.) इति वक्ष्यमाणत्वात् । पुरुषवधो मतुष्यजातिवधः । तेन स्त्रीवधोऽपि गृह्यते । ब्रह्मोज्झं उज्झ उत्सर्गं । भावे घञ् । छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः । ब्रह्म वेदः तस्याऽधीतस्य नाशनं ब्रह्मोज्झम् । औपधादिप्रयोगेण गर्भस्य वधो गर्भशातनम् । मातुर्योनिस्मन्वधे मातृवत्त्वाद्दौ । पितुर्योनिस्मन्वधे पितृवत्त्वाद्दौ सहापत्ये अपत्येन सहिते स्त्रीगमनं मातृवत्प्रगमनं तत्सुतागमनं मातृलसुतागमनं चेत्यर्थः ।

^१गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।

यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥

इति मानवे निपिद्धायाः सुरायाः, पानं सुरापानम् । असंयोगाः संयोगानर्हाः प्रतिलोमादयः । तैः संयोग एकगृह्वासादिः असंयोगसंयोगः । एतानि पतनीयानि ॥ ८ ॥

अनु—सुवर्ण की चोरी, ब्राह्मण की हत्या, पुरुष का वध. वेदाप्ययन का त्याग, गर्भ की हत्या, माता और पिता के योनिस्मन्वध वाली स्त्रियों (माता की बहन, पिता की बहन) तथा उनकी पुत्रियों (मौसी की पुत्रो, मामा की पुत्री, बुआ की पुत्री, चाचा की पुत्री) के साथ मैथुन, सुरापान तथा उन लोगों के साथ संयोग' (बनसे संयोग करना निषिद्ध है—ये सभी पतन कराने वाले दुराचरण हैं ॥ ८ ॥

गूर्वोर्सांलि गुरुर्सांलि च गत्वाऽभ्यांश्च परतल्पात् ॥ ९ ॥

सखीशब्दस्य छान्दसो ह्रस्वः । गुर्वासखी मात्रादीनां सखी । गुरुसखी पित्रादिनां सखी तां गत्वा । किम् ? पततीत्युत्तरत्र श्रुतमपेक्ष्यते । अन्यांश्च परतल्पान् गत्वा पतति । तल्पशब्देन शयनवाचिना दारा लक्ष्यन्ते ॥ ९ ॥

अनु०—माता, (बड़ी बहन आदि), भ्रष्ट स्त्रियों की सखियों तथा पिता आदि की प्रिय स्त्रियों अथवा दूसरे व्यक्ति की विवाहिता पत्नी के साथ मैथुन पतन का कारण होता है ॥ ९ ॥

नाऽगुरुत्तल्पे पततीत्येके ॥ १० ॥

गुरुदारव्यतिरेकेण परतल्पगमने पातित्यं नास्तीत्येके मन्यन्ते । यद्यपि सामान्येन पतनीयान्त्युक्तम्, प्रायश्चित्ते तु गुरुदुभवाधो द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि गुरु पत्नियों के अतिरिक्त अन्य विवाहिता स्त्रियों से मैथुन पतन का कारण नहीं होता ॥ १० ॥

अधर्माणां तु सततमाचारः ॥ ११ ॥

तुश्चार्थः । उक्तव्यतिरिक्तानामप्यधर्माणां सततमाचारः पतनहेतुः ॥ ११ ॥
अनु०—इनके अतिरिक्त अन्य अधर्मों का निरन्तर आचरण भी पतन का कारण होता है ॥ ११ ॥

वाथाऽशुचिकराणि ॥ १२ ॥

अशुचि पुरुषं कुर्वन्तीत्यशुचिकराणि, तानि वक्ष्यन्ते ॥ १२ ॥

अनु०—अब मनुष्य को अपवित्र बनाने वाले कर्मों का उल्लेख किया जाता है ॥ १२ ॥

शूद्रगमनमार्यंस्त्रीणाम् ॥ १३ ॥

त्रैवर्णिकस्त्रीणां शूद्रगमनमशुचिकरम् ॥ १३ ॥

अनु०—तीन उच्च वर्णों की स्त्रियों का शूद्रों के साथ यौन संवन्ध अपवित्रता का कारण होता है ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धानां मांसभक्षणम् ॥ १४ ॥

येषां मांसं प्रतिषिद्धं तेषां मांसस्य भक्षणमशुचिकरम् ॥ १४ ॥

अनु०—जिनके मांस का भक्षण निषिद्ध है उनके मांस का भक्षण अशुचिकर होता है ॥ १४ ॥

तत्रोदाहरणम्—

शुनो मनुष्यस्य च कुक्कुटसूकराणां ग्राम्याणां क्रव्यादसाम् ॥ १५ ॥

ग्राम्याणांमिति वचनाद्धारण्यानामप्रतिषेधः । अदनमदः, भावेऽसुप्तत्ययः ।
क्रव्यविषयमदनं येषां ते क्रव्यादसः केवलं मांसवृत्तयो गृह्णादयः ॥ १५ ॥

अनु—कुत्ते का, मनुष्य का, गौं के दुग्गों, सूअरों और श्वमशों पशु पक्षियों का मांसभक्षण अशुचिकर होता है ॥ १५ ॥

मनुष्याणां मूत्रपुरीषप्राशनम् ॥ १६ ॥

मूत्रपुरीषग्रहणं तादृशस्य रेतसोऽप्युपलक्षणम् ॥ १६ ॥

अनु०—मनुष्य के मूत्र-मूत्र को खाना अशुचिकर होता है ॥ १६ ॥

शूद्रोच्छिद्यमपपात्रगमनं चाऽऽर्याणाम् ॥ १७ ॥

— शूद्रोच्छिद्यं सुक्तमार्याणां त्रैवर्णिकानामशुचिकरम् । अपपात्राः प्रतिलोम-
स्त्रियः तासां च गमनम् ॥ १७ ॥

अथऽष्टमः पटलः

(अध्यात्मपटलः)

अध्यात्मिकान् योगाननुतिष्ठेन्न्यायसंहिताननैश्वारिकान् ॥ १ ॥

अनु०—उपपत्ति से युक्त, इन्द्रियों के विषयों के बहिर्विशेष को नोकने वाले आध्यात्मिक योग के साधनों का अनुष्ठान करे ॥ १ ॥

टिप्पणी—योग से तात्पर्य है चित्त के समाधान के हेतु। क्रोध आदि दोषों के समाप्त होने पर उन हेतुओं की उत्पत्ति होती है अतः उन्हें न्यायसंहित अर्थात् उपपत्तिसमन्वित कहा गया है। चित्त के बाहर विषयों पर भटकने को निरुचर कहते हैं, इस चित्तविशेष से उत्पन्न क्रोध आदि को नैरुचर कहते हैं। उनसे शून्य योग के साधन का ही अनुष्ठान विहित है। इस पटल पर हरदत्त ने शंकराचार्य का विवरण भाव्य उद्धृत किया है ॥ १ ॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादप्रणीतं विवरणम्

अथ 'अध्यात्मिकान् योगान्'—इत्याद्यध्यात्मपटलस्य संक्षेपतो विवरणं प्रस्तूयते। किमिह प्रायश्चित्तप्रकरणे समान्मानस्य प्रयोजनमिति। उच्यते—कर्मक्षयहेतुत्वसामान्यात्। अनिष्टकर्मक्षयहेतूनि हि प्रायश्चित्तानि भवन्ति। सर्वं च कर्म वर्णाश्रमविहितमनिष्टमेव चिवेकिनः, देहग्रहणहेतुत्वात्। तत्क्षयकारणं चाऽत्मज्ञानम्, प्रयुत्तिहेतुदोषनिवर्तकत्वात्। दोषाणां च निर्घाते आत्मज्ञानवतः पण्डितस्य धर्मार्थमक्षये क्षेमप्राप्तिरिह विवक्षितेत्यात्मज्ञानार्थमध्यात्म'पटलमारभ्यते, कर्मक्षयहेतुत्वसामान्यात्।

ननु वर्णाश्रमविहितानां कर्मणामफलहेतुत्वात् तत्क्षयो नेष्ट इति, न, "सर्ववर्णानां स्वधर्मादुष्ठाने परमपरिमितं सुखम्" (२. २. २)

इत्यादिश्रवणात्। अपरिमितवचनान् क्षेमप्राप्तिरेवेति चेन्न, 'तत्परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण' (२. २. ३) इत्यादिश्रवणात्। गौतमश्च—

१. अत्र पटलशब्दो नपुंसकविंग. प्रयुक्तः। 'समूहे पटलं न ना' (अमरको० ३. २. ००) इत्यम'कोशात्। समूहवाचिनः पटलशब्दस्यैव स्त्रीबन्धम्। 'तिलके च परिच्छेदपटलः' इति शेषकोशात् परिच्छेदवाचकस्य पटलशब्दस्य तु पुल्लिङ्गत्वेऽप्यवगम्यते। अत एव च सर्वे ग्रन्थकाराः 'इति प्रथमः पटलः, इत्येव लिखन्ति। अतोऽत्रापि पुल्लिङ्गत्वेन भाव्यं यद्यपि पटलशब्देन तथापि भेदाविवक्षया प्रयोगः कृत इति भाति ॥

“वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय” इत्यादि-
ना संसारगमनमेव दर्शयति कर्मणां फलम् । सर्वाश्रमाणां हि दोषनि-
र्घातलक्षणानि समयपदानि विधिनाऽनुतिष्ठन् सार्वगामी भवति, न तु
स्वधर्मानुष्ठानात् । वक्ष्यति च—

‘विधूय कविः’ (२२. ५) ‘सत्याचूते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं
च परित्यज्याऽऽत्मानमन्विच्छेद्’ (२. २१. १३) इत्यादि ।

“तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति” (२. २१. २.)
इति वचनात् क्षेमशब्दस्य चाऽऽपवर्गार्थत्वात् सर्वाश्रमकर्मणां ज्ञानरहितानामेव
फलार्थत्वं, ज्ञानसंयुक्तानि तु क्षेमप्रापकाणि, यथा विपदध्यादीनि मन्त्रशर्करादि-
‘संयुक्तानि कार्यान्तरारम्भकाणि, तद्वदिति चैतन्-न; अनारभ्यन्त्यात् क्षेमप्राप्तेः ।
यदि हि क्षेमप्राप्तिः कार्यो स्यात् तत इदं चिन्त्याम्-किं केवलैः कर्मभिरारभ्या ?
ज्ञानसहितैर्वा? ज्ञानकर्मभ्यां वा ? केवलेन ज्ञानेन कर्मासंयुक्तेन वेत्ति । न त्वार-
भ्या केनचिदपि; क्षेमप्राप्तेः नित्यत्वात् । अतोऽसदिदम्-ज्ञानसंयुक्तानि कर्माणि
क्षेमप्राप्तिमारभन्ते इति । ज्ञानसंयुक्तानां ज्ञानवदेव क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धापनयक-
र्तृत्वमिति चैतन्-न, सकार्यकारणानामेव कर्मणां क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वात् ।
अविद्यादोषेऽतूति हि सर्वकर्माणि सहफलैः कार्यभूतैः क्षेमप्राप्तिप्रतिबन्धकानि ।
तदभावमात्रमेव हि क्षेमप्राप्तिः । न च तदभाव आत्मज्ञानादत्यतः कुतोऽधिदु-
पलभ्यते । तथाऽह्युक्तम्—

“निर्द्वैत्य भूतवहात् क्षेमं गच्छति पण्डितः” (२२. ११.) इति । पाण्डि-
त्यं चेहात्मज्ञानं, प्रकृतत्वात् । श्रुतेश्च “आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न विभेति
शुद्धश्चेति” इति । अभयं हि क्षेमप्राप्तिः । ‘अभयं वै जनक ! प्राप्नोऽसि’ इति
श्रुत्यन्तरात् ।

“तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति” (२. २१. २.) इत्या-
चार्यवचनमन्यार्थम् । कथम् ? यथोपदिष्टेऽपि यथाश्रमधर्मेऽप्यग्रे निष्कामस्सन्
प्रवर्तमानो ज्ञानेऽधिकृतो भवति, न यथेष्टं चेष्टन् कामकामी जायापुत्रविचा-
दिकामापहृतव्यग्रचेताः । ज्ञानो च सन् सर्वसन्न्यासक्रमेण क्षेमं गच्छतीत्येवो
ऽर्थः । न हि दोषनिर्घातः कदाचिदपि कर्मभ्य उपपद्यते । समिध्याज्ञानानां

हि दीपाणां प्रवृत्तौ सत्यां प्राचल्यमिहोपलभ्यते । 'सङ्कल्पमूलः कामः' इति च स्मृतेः । प्रवृत्तिमान्द्वये च' दीपतदुत्त्वदर्शनात् । न चाऽनिर्हृत्य समिध्याज्ञानान् दीपान् क्षेमं प्राप्नोति कश्चित् । न च जन्मान्तरसञ्चितानां शुभकर्मणां विहितकर्मभ्यो निवृत्तिरुपपद्यते, शुद्धिसामान्ये विरोधाभावात् । सत्सु च तेषु तत्कल्योपभोगाय शरीरप्रदणं; ततो धर्माधर्मप्रवृत्तरागद्वेषौ, पुनः शरीरग्रहणं चेति संसारः केन वायेते ? तस्मान्न कर्मभ्यः क्षेमप्राप्तिस्तत्रातिव्यनियुत्तिर्वा ।

कर्मसहितज्ञानादविद्ययानियुत्तिरिति चेत् ! यद्यपि ज्ञानकर्मणोर्भिन्नकार्यत्वाद् विरोधः तथापि तैलवस्वर्गनीनामिव संहृत्य कर्मणा ज्ञानमविद्यादिसंसारकारणं निवर्तयतीति चेन्न । क्रियाकारकफलापनुर्भेदेनाऽऽत्मलाभाभावात्, ज्ञानस्य कर्मभिः संहतत्वानुपपत्तेः । तैलवस्वर्गमीनां तु सहभावित्वोपपत्तेरितरेतरोपकार्योपकारकत्वोपपत्तेश्च संहतत्वं स्यात् । न तु ज्ञानकर्मणोस्तदुभयानुपपत्तेः संहतत्वं कदाचिदपि सम्भवति । केवलज्ञानपक्षे शास्त्रप्रतिषेधवचनादयुक्तमिति चेन्न । ज्ञानकार्योनिवर्तकत्वाच्छास्त्रप्रतिषेधवचनस्य ।

योऽयं कर्मविधिपरैः केवलज्ञानपक्षस्य सर्वसंन्यासस्य विप्रतिषेधो विरोधः, स नैव ज्ञानकार्यमविद्यादोषक्षयं वारयति 'भियते हृदयग्रन्थिः' 'तस्य तावदेव चिरम्' 'मृत्युमुखान् प्रमुच्यते' इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतसिद्धम्, कर्मविधिपरत्वात् प्रवृत्तिशास्त्रस्य । न च (तत्) ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं वारयति, सर्वोपनिषदामप्राप्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्, 'पूः प्राणिनः' (२२*४.) 'आत्मा वै देवता' इत्यादिस्मृतीनां च । तस्माद्यद्यपि बहुभिः प्रवृत्तिशास्त्रैर्विप्रतिषिद्धं केवलज्ञानशास्त्रमात्मैकत्वविषयमल्पं, तथापि सकार्यस्य ज्ञानस्य चलवत्तरत्यान्न केनिद्वारयितुं शक्यम् ।

जीवतो दुःखानितर्कत्वाज्ज्ञानस्याऽनैकान्तिकं क्षेमप्रापकत्वमिति चेत्, न, 'भियते हृदयग्रन्थिः' 'ब्रह्मविदानोति परम्, 'निचाय्य तं मृत्युमुखान् प्रमुच्यते' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यः । बहुभिर्विप्रतिषिद्धत्वात् सर्वत्यागशास्त्रस्य लोकवत् त्याज्यत्वमिति चेन्न, तुल्यप्रमाणत्वात् । मानसान्तानि सर्वाणि कर्माण्युक्त्वा । "तानि वा एतान्चवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" इति तपःशब्दवाच्यानां कर्मणामधत्त्वेन संसराविषय-

त्वमुक्त्वा न्यासशब्दाद्यस्य ज्ञानस्य केवलस्य 'न्यास एवात्यरेचयत्' 'न्या-
गेनैके अमृतत्वमानशुः' इत्यमृतत्वफलं दर्शयति शास्त्रम् ।

“तस्यैवं विदुषो यज्ञरथाऽऽत्मा यजमानः” इत्यादिना च विदुषः सर्वक
(र्म?र्मा) भावं दर्शयति;

“द्वौ पन्थानावनुिष्कान्ततरौ कर्मपथश्चैव पुरस्तात् सन्न्यासश्च, तयोः
सन्न्यास एवातिरेचयति”

इति च । विप्रतिपेधवचनस्य निन्दापरत्वाद्युक्तमिति चेन्न
अविद्विष्यस्य कर्मणः गुत्यर्थत्वोपपत्तेः । मन्दबुद्धयो हि लोकेऽदृष्टप्रयोजनाः
प्ररोचनेन प्रवर्तयितव्याः कर्मसु । न दृष्टप्रयोजना विद्वांसः । परतिन्दा हि परस्तु-
तिरिति केवलज्ञाननिन्दया कर्मस्तुतिपरमाचार्यवचनम् ।

यत्तु “बुद्धे चेतु क्षेमप्राणम्, इहैव न दुःखमुपलभेत” (२.१.१६) इति
ज्ञानस्य साधनत्वानैकान्तिकवचनं, तद् “ब्रह्मविद्वान्जोति परम्” इत्यादिवाक्ये-
भ्यः प्रत्युक्तम् ; आचार्यान्तरवचनाच्च ‘त्यज धर्ममधर्मं च’ न तत्र क्रमते
बुद्धिः ‘दैधर्म्याचरेत्’ ‘हरमात् वर्म न दुर्वान्त’ इत्यादिः । तस्मात् केवलदेव
ज्ञानात् क्षेमप्राप्तिः ॥

अध्यात्मिकान् योगानिति । अध्यात्मं भवन्तीत्यध्यात्मिकाः । छान्दसं ह्यस-
त्वम् । के ते अध्यात्मिका योगाः ? वक्ष्यमाणा अक्रोधादयः । ते हि चित्तसमा-
धानहेतुत्वाद् योगाः । बाह्यानि मित्तनिरपेक्षत्वाच्चाध्यात्मिकाः । तानध्यात्मि-
कान् योगान् । न्यायसंहितान् उपपत्तिसमन्वितान् । ते हि क्रोधादिषु दोषनि-
घातं प्रति समर्था उपपद्यन्ते न्ययतः । अनैश्चारिकान् निश्चारयन्ति मनोऽन्तः-
स्थं वहिर्विषयेभ्य इति नैश्चारिकाः क्रोधादयो दोषाः, तत्प्रतिपक्षभूता ह्येतेऽनैश्चा-
रिकाः । अक्रोधादिषु हि सत्सु चित्तमनिश्चरणस्वरूपं प्रसन्नमात्मावलम्बनं
तिष्ठति । अतस्ताननुतिष्ठेत् सेवेत । अक्रोधादिलक्षणं चित्तसमाधानं कुर्यादि-
त्यर्थः । तथा हि परः स्व आत्मा लभ्यते । क्रोधादिदोषापहृतचेतस्तथा हि स्वोऽ
पि पर आत्माऽविज्ञातोऽल्लघ इव सर्वस्य यतः, अतस्तल्ल्याभाय योगानुष्ठानं
कुर्यात् ॥ १ ॥

उज्ज्वला

उक्तानि पतनीयान्यशुचिकराणि च कर्माणि । तेषां प्रायश्चित्तानि वक्ष्यन्ना-
दित आत्मज्ञानं तदुपयोगिनश्च योगानधिक्कुरते । तस्यापि सर्वपापहरत्वेन मुख्य-
प्रायश्चित्तत्वान् । श्रूयते हि—

१. नारा० उ० ३ २. नारा० उ० ८०

३. तै. उ. २. १.

११ आ० ध०

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' इति ।

१० ध्येपीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त' इति च । याज्ञवल्क्योऽप्याह—

इव्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ॥' इति ।

अथात्मनि भवानध्यत्मिकान् । छान्दसो बृहदंगभावः । आत्मनो लम्भयितृन् । योगान् चित्तसमाधानइतूरुं वक्ष्यमाणानक्रोधादीनु रायान् । अत्रुतिष्ठेत् सेवेत न्यायसंहितान् उपपत्तिसमान्वितान्, उपपद्यन्ते हि ते न्यायतः क्रोधादीनां दोषाणां नियति । अनैश्चारिकान् निश्चारिश्चि तरय वहिर्विक्षेपः, तपै चे प्रभवन्ति क्रोधादयो वक्ष्यमाणाः ते नैश्चारिकाः तत्रुतिपशुभूतान् । अक्रोधादिषु ससु चित्तमनिश्चरणशोलमात्मालम्बनं निश्चलं तिष्ठति तस्मात्ताननुतिष्ठेत् । आत्मानं लब्धुमक्रोधादिलक्षणं चित्तसमाधानं कुर्यादिति ॥ १ ॥

विशरणम्

पुत्रवित्तादिलाभो हि परो दृष्टो लोके । किमात्मलाभेन ? इत्यत आह—

आत्मलाभान्न परं विद्यते ॥ २ ॥

अतु०—आत्मा के ज्ञान के लाभ से बड़कर कोई अन्य लाभ नहीं है ॥ २ ॥

आत्मलाभाद् आत्मनः परस्य स्वरूपप्रतिपत्तेः न परं लाभान्तरं विद्यते तथा विचारितं बृहदारण्यके 'तदेतत् प्रेयः पुत्राद्' इत्यादिना ॥ २ ॥

उपवृत्त्या

किंपुनरात्मा प्रयत्नेन लब्धव्यः ? ओमित्याह—

आत्मलाभात्परमुच्छ्रष्टं लाभान्तरं नास्ति । तस्मात्तस्य लाभाय यत् आस्थेय इति । कः पुनरसावात्मा ? प्रत्यागात्मा । नन्वसौ नित्यलब्धः । न हि स्वयमेव स्वस्याऽलब्धो भवति । सत्यम्, प्रकृतिमेलनात्तद्धर्मतामुपगतो विनष्टस्वरूप इव भवति । प्रकृत्या हि नित्यसम्बद्धः पुरुषः । तथाविधश्च सम्बन्धो यथा परस्परं विवेको न ज्ञायते । अन्योन्यधर्माश्चान्योऽन्यत्राऽध्यस्यन्ते । यथा क्षीरोदके सम्पृक्ते न ज्ञायते विवेकः—इयत् क्षीरमित्यदुदकमिति, अमुष्मिन्नवकाशे क्षीर-ममुष्मिन्नवकाशे उदकमिति । यथा वा अन्ययोगोलकयोरभिसम्बद्धयोर्ये अग्नि धर्मा उष्णत्वभास्वरत्वाद्यः ते अयोगोलकेऽध्यस्यन्ते । ये वा अयोगोलकधर्माः काठिन्यदैर्घ्यादयः तेऽनावध्यस्यन्ते एवं हि तत्र प्रतिपत्तिः एकं वस्तु उष्णं दीर्घं

भास्वरं कठिनमिति । तद्वदिहापि पुरुषपथमाश्चैतन्यादयः प्रकृतावध्यस्यन्ते । प्रकृ-
तिधर्माश्च सुखदुःखमोहपरिणामादयः पुरुषे । ततश्च एकं यत्तु चैतनं सुखादि-
कलिलं परिणामीति व्यवहारः ।

यस्तु तस्तु तस्मिन् सङ्घाते अचेतनांशः परिणामी । चैतनांशस्तु तमनुधावति ।
येन येन रूपेण परिणमति तेन तेनाऽभेदाध्यायसमापद्यते । यथा क्षीरायस्थगते
घृतं क्षीरे दृष्यात्मना परिणमति तामयस्थामनुप्रविशति तद्वदिहापि । तद्विद-
मुच्यते—“तत्त्वद्वा तदेवानुप्रविशदिति । सर्गेऽध्यात्मनः कर्तृत्वमिदमेव—यद्दुत
भोक्तृत्वया निमित्तत्वम् । तदेवं स्वभावतः स्वच्छोऽध्यात्मा प्रकृत्या सहोभेद-
मापन्नः तद्धर्मा भवति । एवं तद्विकारेण महता तद्विकारेणाऽहङ्कारेण, इत्याश-
रीराद्द्रष्टव्यम् । स्थूलेऽहं कृशोऽहं देवोऽहं मनुष्योऽहं तिर्यगहमिति । तस्यैवं-
गतस्यापेक्षितत्रयस्वरूपलाभः नोचैरिव वर्धितस्य राजपुत्रस्य । तद्यथा—श्वरादि-
भिर्याल्यल्पभृति स्वसुतैस्सह संवर्धितो राजपुत्रस्तज्जातीयमात्मानमवगयन्मात्रा
स्वरूपे कथिते लब्धयस्वरूप इव भवति । तथा प्रकृत्या ‘वेदययेव स्वरूपान्तरं नीत
आत्मा मात्स्थानीयया’^१ तत्त्वंमांसं’ति श्रुत्या स्वभावं नांयते—यदेवंविधं परिशुद्ध
यत्तु तदेव त्वमसि, यथा मन्यसे ‘मनुष्योऽहं दुःखह’ मित्यादि न तथेति ।
यथा य एवंभूतो राजा स त्वमसौति राजपुत्रः ।

ननु तत्त्वमसौति ब्रह्मणा तादात्म्यमुच्यते । को ब्रूते ? नेति । ब्रह्माऽपि
नान्यद्ब्रह्मन् । किं पुनरयमात्मा एकः ? आहो स्विन्नात्मा ? किमनेन ज्ञानेन ?
त्वं तावदेवंविधश्चिक्रेरसो नित्यनिर्मलः संसर्गात्कल्पतामिव गतः । तद्विद्यो-
गश्च ते मोक्षः । त्वयि मुक्ते यद्यन्ये सन्ति ते संसरिष्यन्ति । का ते क्षतिः ?
अथ न सन्ति तथापि कस्ते व्याभ इत्यलमियथा । महर्देया कथा । तद्व्येते
इलोका भवति—

नीचानां वसन्तौ तदीयतनयैः सार्धं चिरं वर्धित-

स्त्वज्जतीयमवैति राजतनयः स्वात्मानमप्यञ्जसा ।

संघाते महदादिभिससहसंस्तद्वत्परः पूरुप-

म्यात्मानं सुखदुःखमोहकलिलं मिथ्यैव धिङ्मन्यते ॥ १ ॥

दाता भोगपरः समग्रविभवो यः शासिता दुष्कृतां

राजा स त्वमसौति मातृमुलतः श्रुत्वा यथावत्स तु ।

राजोभूय^२ जयार्थमेव यतते तद्वत्सुमान् बोधितः

श्रुत्वा तत्त्वमसीत्यपास्य दुरितं ब्रह्मैव सम्पद्यते ॥ २ ॥

इत्येवं बहवोऽपि राजतनयाः प्राप्ता दशामीदृशी

१ शू० उ० २. ६

२. वक्षया० इति. ख० पु०

३. छा० उ० ६. १. ३

४. यथार्थमेव क० पु०

नैवान्योन्यभिदामपास्य सहसा सर्वे भजन्त्येकवाम् ।
 किं तु स्वे परमे पदे पृथगमी तिष्ठन्ति भिन्नातथा
 क्षेत्रज्ञा इति तत्त्वमादिवचसः का भेदवादे क्षतिः ॥ ३ ॥
 तेष्वेको यदि जातु भाटवचनात् प्राप्नोति निजं वैभवं
 नान्येन क्षतिरस्य यत्किल परे सत्यन्यथा च स्थिताः ।
 यद्धान्ये न भवेयुरेवमपि को लाभोऽस्य तद्द्वैतित्तिः

पुंसामित्यभिदां भिदां च न वयं निर्वद्वय निश्चिन्महे ॥ ४ ॥ इति ॥
 तत्राऽऽत्मलाभीयाञ्छ्लोकानुदाहरिष्यामः ॥ ३ ॥

अनु०—इम यहाँ आत्मा के ज्ञान की प्राप्त का महत्त्व प्रतिपादित करने वाले
 उपनिषद् के श्लोको को उद्धृत करेंगे ॥ ३ ॥

विवरणम्

सत्यं क्रोधादयो दोषा आत्मलाभप्रतिबन्धभूता अक्रोधादिभिर्निहं (न्य?)
 न्ते; तथापि न मूलोद्धर्तनेन निवृत्तिः क्रोधादीनाम्, सर्वदोषबोजभूतमज्ञानं न
 निवृत्तमिति तस्य चाऽनिवृत्तौ दोषस्याऽनिवर्तितत्वात् सकृन्निवृत्ता अपि
 क्रोधादयो दोषाः पुनरुद्भवन्तीति संसारस्याऽऽत्यन्तिकोच्छेदो न स्यात्
 तहोपबीजभूतस्याऽऽज्ञानस्य मतान्, ज्ञानादन्यतो न निवृत्तिरित्यात्मस्वरूप-
 प्रकाशनायात्मज्ञानाय मतान् शालान्तरोपनिषद्भ्यः, तत्र तस्मिन् आत्मलाभ-
 प्रयोजने निमित्ते । आत्मानं करतलन्यतरमिव ल(म्भि ? स्मयि)तुं समर्थान्
 आत्मलाभीयान् श्लोकानुदाहरिष्यामः उद्धृत्याऽऽहरिष्यामः । प्रन्थीकृत्य दर्श-
 यिष्याम इत्यर्थः ॥ ३ ॥

उज्ज्वला

तदिहोऽपेक्षितमात्मज्ञानमुपदिश्यते । तच्च त्रिविधम्—श्रुतं मननं निर्दिध्या-
 सनमिति । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निर्दिध्यासितव्य' इति श्रवणात् । तत्र श्रुतमु-
 पनिपदादिशब्दजन्यं ज्ञानम् । मननमुपपत्तिभिर्निरूपणम् । एवं श्रुते मते
 चात्मानि साक्षात्कारहेतुरविक्षिप्तेन चेतसा निरन्तरं भावना निर्दिध्यासनम् ।
 तत्राऽऽत्मसिद्धये श्रौतं ज्ञानं तावदाह—

तत्रेति वाक्योपन्यासे । आत्मलाभीयानात्मलाभप्रयोजनान् । अनुप्रवचना-
 दिषु दर्शनाच्छ्रयः । श्लोकान् पौदवद्वानौपनिपदान् मन्त्रान् । उदाहरिष्यामः
 उद्धृत्याहरिष्यामः प्रन्थे निवेशयिष्यामः ॥ ३ ॥

पूः प्राणिनः सर्वं एव गुहाशयस्याऽऽहन्यमानस्य विकल्पप-

स्याऽचलं चलनिकेतं येऽनुत्तिष्ठन्ति तेऽमृताः ॥ ४

अनुः—सभी जीवित प्राणियों का शरीर उस आत्मा का निवास - स्थान होता है, जो बुद्धिलयी गुणा में शयन करता है, जो पाप-रहित है, जरा-रोग इत्यादि सभी दोषों से मुक्त है, अमर है। जो व्यक्ति उस अबल तथा बंचल प्राण शरीर में विद्यमान आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह अमर हो जाता है।

टि०—गुहा शब्द प्रकृति का पर्यायवाची है। अइन्द्रमान का अर्थ यह है कि आत्मा शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होता। जिस प्रकार राजा पुर में निवास करता है मन्त्रियों द्वारा लये गये भोग का मुल प्राप्त करता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में निवास करता हुआ भोगों का अनुभव करता है। चलनिकेत से अर्थ है कि जिसका निकेत अथवा निवासस्थान चल है अर्थात् आत्मा का निवासस्थान शरीर नाशमान है ॥ ४ ॥

पूः पुरं शरीरम् । प्राणिनः प्राणवन्तः । सर्वे एव ब्रह्मादीनि स्तम्भपर्यन्तानि प्राणितः। पुरं पुरमिच राज्ञः उपलब्धधिष्ठानम् । कस्य पुरम् ? गुहाशयस्याऽऽत्मनः । यथा स्वकीयपुरे राजा सन्निवादिपरिदृष्ट उपलभ्यते, एवं देहज्वात्मा बुद्ध्यादिकरणसंयुक्त उपलभ्यते। उपलभते च बुद्ध्यादिकरणोपसंहतान् भोगान्। अतोऽविद्याधरणारामभूतावां बुद्धिगुहायां शेत इति गुहाशयः तस्य पुरम् । तस्यां बुद्ध्याशयस्याऽऽह्यमानस्य, छेदनभेदनजरारोगादिभिर्हान्यमाने देहे न हन्यते । "न यधेनाऽस्य हन्यते" इतिच्छान्दोग्ये । तस्य विकल्पस्य, कल्पपं पापं तदस्य नास्तीति विकल्पयः । सर्वं ह्यविद्यादोषसहितं धर्माधर्मोख्यं कर्म कल्पपं भवति, विकल्पपर्येति विशेषणेन तत् प्रतिपिच्यते तत्कार्यं जरारोगादिदुःखरूपमहान्यमानस्येति । एवं हेतुफलसम्बन्धराहितस्याऽऽसंसारिण उपलब्धधिष्ठानं पूः सर्वं प्राणिनः । अतो न संसार्यन्त्योऽस्ति । "एकौ देवः सर्वभूतेषु 'गूढ' इति श्वेतारवतरे । "एष सर्वेषु भूतेषु गूडोऽत्मा न प्रकाशते" इति च काठके । "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादि बालसनेयके । "स आत्मा तत्त्वमसो"ति च छान्दोग्ये । पूर्वोर्ध्वेन ब्रह्मणो याथात्म्यमुक्त्योत्तरार्धेन तद्विज्ञानवतस्तद्विज्ञानफलमाहृत्यस्य सर्वे प्राणिनः पुरा अहन्यमानस्य विकल्पस्य, तस्य सर्वप्राणिसम्बन्धादर्थसिद्धमाकाशवत् सर्वगतत्वम्" आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यं" इति च श्रुतेः । सर्वगतस्य चाऽचलत्वमर्थसिद्धमेव । तमचलं चलनिकेतं चलायां हि प्राणिगुहायां स्वयं

१. छा० उ० ८. १०. ४ २. श्वेता० उ० ६. ११

३. कठो० १. ३. १२ ४. वृ० उ० ३. ८. ११

५. छा० ६. ८. ९

शेते तमचलं चलनिकेतम् । येऽनुतिष्ठन्ति ममात्मेति साक्षात् प्रतिपद्यन्ते, तेऽ-
मृताः अमरणधर्माणो भवन्ति ॥ ५ ॥

उज्ज्वला

गुहेति प्रकृतिनाम ।

‘यत्तत्प्रसृतं कारणमप्रमेयं ब्रह्म प्रधानं प्रकृतिप्रसृतः ।

आत्मा गुहा योनि’ रनाद्यन्तः क्षेत्रं तथैवाष्टमक्षरं च ॥” इति
पुराणे दर्शनात् । तस्यां शेते तथा सहाऽऽविभागमापन्नस्तिष्ठतीति गुहाशय
आत्मा ।

१ ‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् ।

अजो ह्येको जुपमाणौऽनुशेते जहात्वेनां भुक्तभोगमजोऽन्वः, इति च म-
न्त्रान्तरम् । अहन्दमानस्य न ह्यसौ शरीरे हन्यमानेऽपि हन्यते तथा चोक्तं भग-
वता—‘न हन्यते हन्यमाने शरीर’ इति । विकल्मपस्य निर्लेपस्य । सर्व एव हि
धर्माधर्मादिरन्तःकरणस्य धर्मः, आत्मनि त्वद्धारतः । एवंभूतस्वात्मनः सर्व एव
प्राणिनः ब्रह्माद्यास्तिर्यगन्ताः प्राणादिसन्तः संघाताः पूः पुरं उपभोगस्थानम् । यथा
राजा पुरमाधिवसन् सचिवैरानीतान् भोगानुपभुङ्क्ते, तथाऽयं देवादिशरीरमधि-
वसन् करणैरुपस्थापितान् भोगानुपभुङ्क्ते, तथायं देवादिशरीरमधिवसन् करणै-
रुपस्थापितान् भोगानुपभुङ्क्ते । तमेवंभूतमचलं सर्वगतत्वेन निश्च-
लम् । चलनिकेतं निवेतं स्वस्थानं शरीरं तद्यस्य चलं तं येऽनुतिष्ठन्ति उपासते
एवंभूतोऽहमिति प्रतिपद्यन्ते, तेऽमृताः सुक्ता भवन्तीति ॥ ४ ॥

विवरणम्

कथं तदनुष्ठानमिति ? उच्यते—

यदिदमिदिहेदिह लोके विषयमुच्यते ।

विधूय तत् कविरेतदनुतिष्ठेद्गुहाशयम् ॥ ५ ॥

अनु०—इस संसार में जो भी पदार्थ इन्द्रिय के विषय कहे गये हैं उन सभी का
परित्याग करके विद्वान् व्यक्ति गुहा में स्थित (बुद्धिरूपी, गुफा में शयन करने वाले
आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील होवे ।

टि०—इस पद्य में इह का दो बार प्रयोग लोक और स्वर्ग लोक दोनों का
वाचक है ॥ ५ ॥

१. अनाद्यन्तं इति, ख० पुस्तके २. तं • भा० (नारायणोपनिषदि) १०. १

३. ‘तथा चोक्तं भगवता—‘न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।’ इति नास्ति क० पुस्तके ।

५. भगवद्गी० २. २०

यदिदं प्रत्यक्षतोऽवगम्यमानं रज्यन्तपानादिसंभोगलक्षणम् । इदिति किञ्चि-
दर्थे । यत्किञ्चिद्विदं प्रत्यक्षम् । इहाऽस्मिन् लोके । विषयम् । इदंशब्दसामाना-
धिकरणान्तापुसकलिङ्गप्रयोगो विषयमिति । उभयलिङ्गो वा विषयशब्दः । द्वि-
तीय इच्छब्द इहशब्दश्च । तयोः क्वचिन्नियोगः । इच्छब्दार्थे । इहशब्दोऽमु-
ष्मिन्नर्थे । लोकाशब्दः काकाक्षिबहुभवनं सम्बध्यते । इह लोके इह च लोकेऽमु-
ष्मिन् यद्विदं विषयमुच्यते, स्वर्गादिलोके पादर्वथमध्यस्थो व्यपदिशति इह लोके
इति च लोके इत तत्सर्वं विषय परित्यज्य । क्वचिः क्रान्तदर्शी, मेधावीत्यर्थः ।
फलं साधनं च तद्विधूय एषणात्रयाद् व्युत्थायेत्यर्थः अनुविष्टेद् गुहाशयं यथो-
क्तलक्षणमात्मस्त्वम् ॥ ५ ॥

उत्पत्त्या

विषयसङ्गपरिक्वागेनाऽव्यमुपास्य इत्याह—

यदिदं, विषयं, मेतदिति सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययशब्दाब्दसः । एवमितिशब्दे तका
रस्य दकारः । इतिशब्दः प्रसिद्धौ । इहशब्द आश्रये । इतिशब्देनावृत्तेन शब्दादिषु
विषयेष्ववान्तरप्रकारभेदः प्रतिपाद्यते । विषयापहृतचेतसो हि वदन्ति—इति ह
तस्या गीतम्, इति ह तस्याः सुखस्पर्शः, इति ह तस्या रूपं निष्टप्रमिव कनकम्,
इति ह तस्याः स्वादिष्टोऽधरस्मिणः, इति ह तस्या गन्धो घ्राणतर्पणं इति । एवं
विष्यमानुपभेदोऽपि द्रष्टव्यः । अत्राऽन्तन्तरमपर इति शब्दोऽव्याहार्यः । इति ह
इति हेति योऽयं लोके विषय उच्यते, सामान्यपेक्षमेकवचनम्, एतद्विधूय
गुहाशयमनुत्तिष्ठेत् । कविर्मेधावी ॥ ५ ॥

विवरणम्

तत् क्वाऽनुष्ठातव्यमिति । उच्यते—

आत्मन्नेवाऽहमलक्ष्यैतद्धितं सेवस्व नाऽहितम् ।

अथाऽन्येषु प्रतीच्छामि साधुष्ठानमनपेक्षया ।

महान्तं तेजसस्कायं सर्वत्र निहितं प्रभुम् ॥ ६ ॥

अनु०—मैंने महान् अनन्त तेज शरीर सर्वत्र व्याप्त प्रभु आत्मा का जिसका ज्ञान
दूसरो वस्तुओं के ऊपर ध्यान न देकर एकाग्रचित्त होकर प्राप्त करना चाहिये, ज्ञान
प्राप्त नहीं किया और दूसरी वस्तुओं (इन्द्रियों आदि) में उसे प्राप्त करने का
प्रयत्न करता रहा । किन्तु अब परम ज्ञान प्राप्त कर बैसा नहीं रह गया । तुम लोग
भी उस कल्याणकारी उत्तम मार्ग का सेवन करो जिसको के पीछे मत दौड़ो जो हित-
कारी मार्ग नहीं है ॥ ६ ॥

आत्मन्नेव आत्मन्येव । प्रत्यगात्मा हि परमात्मा । सर्वं ह्यत्रानुष्ठेयम् । यदि देहादन्यत्रानुष्ठेयीत, सोऽनात्मा कल्पितः स्यात् । तस्माद् देहादिसङ्घात आत्मन्येव विधूय बाह्यासङ्गं गुहाशयमात्मतत्त्वमनुष्ठेयम् । किमन्येष्वन्तनुष्ठेयमिति भ्रगवतो मतम् ? बाढम्, प्रथममेव नान्येष्वनुष्ठेयमात्मतत्त्वम् । कथं तर्हि ? सर्वप्रयत्नेनापि स्वदेहादिसङ्घाते यथोक्तमात्मतत्त्वं न लभेत, अथाऽहमन्येष्वान्दित्यादिवु प्रतोच्छामि अभिवाञ्छामि । साधुष्ठानं साधोः परमात्मनः उपलब्धिस्थानं, यत्र गुहाशयं ब्रह्मतत्त्वमनुष्ठेयम् । अतयेक्षयाऽऽयत् पुत्रवित्तलोकादिमुखं छित्त्वा निःरुहत्वा । न ह्यात्मानुष्ठानं चाद्यार्थाकाङ्क्षा च सह सम्भवतः । कस्मात् पुनरनेकान्यन्यानि हितप्रकारण्यनेयैक्षयाऽऽमानुष्ठानमेव यत्नत आरथीयत इत्यत आहाऽऽचार्यः—यथान्यान्यहितानि हितबुद्ध्या परिगृहीतानि, न तथैवमात्मसेयनम् । किं तर्हि ? (ए) तद्धितमेव । तस्मात् सेवस्वेति । किंविशिष्टश्चाऽऽत्मा सेवितव्य इत्याह—महात्मम् अमितान्तम् अनन्त (र) त्वादब्रह्मत्वाच्च महानात्मा, तं महान्तम् । गुणैर्बोपाधिसहचारिभिर्महान्तं, बृंहणमिति यद्वत् । तेजसस्कायं तेजःशरीरमित्यर्थः । चैतन्यत्मज्योतिस्वरूपम् । तद्धि तेजसां तेजः । 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' २ 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः । सर्वत्र सर्वदेहेषु ब्रह्मादितम्बपर्यन्तेषु । निहितं स्थितम्, उपलब्धिह्रूषेणामिव्यक्तमित्यर्थः । न हि ब्रह्मणोऽभिव्यक्तिनिमित्तत्वव्यतिरेकेण कस्यचिदाधारत्वसम्भवः । निराधारं हि ब्रह्म, सर्वगतत्वोपपत्तेः प्रभुं प्रभवति सर्वानोश्चान् प्रति, अचिन्त्यशक्तित्वात् । एवमाद्यनन्तगुणविशिष्टमात्मानं सेवस्वेति ॥ ६ ॥

उपलब्ध्या

विषयत्यागो हेतुमाह—

शिष्यं प्रत्याचार्यस्य वचनमेतत् । द्वौ चात्र हेतू विषयागं त्यागो—पराधीनत्वमहितत्वं च । महान्तं गुणतः । तेजसस्कायं तेजसशरीरं तेजोराशि स्वयंप्रकाशम् । 'आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाचेति बृहदारण्यकम् । सर्वत्र निहितं सर्वगतम् । प्रभुं स्वतन्त्रम् । एवंभूतं गुहाशयं एतावन्तं कालं अहमात्मन्, सप्रभ्येकवचनस्य लुक् आत्मनि । अस्मिन् मदीये सङ्घाते अन्यानपेक्षयैव लब्धुं योग्यमउच्छ्या अथान्येषु इन्द्रियादिषु तं तं विषयं प्रतोच्छामि लब्धयै लट्, प्रत्यच्छम् । इदानीं तु तं लब्ध्वा न तथाविद्योऽस्मि । त्वमन्येनदेव हितं साधुष्ठानं साधुमानं सेवस्व नाहितं विषयानुधावनमिति ॥ ६ ॥

सर्वभूतेषु यो नित्यो विपश्चिदमृतो ध्रुवः ।

अनङ्गोऽशब्दोऽशरीरोऽस्पर्शश्चमहाञ्जलुचिः ।

स सर्वं परमा काठा स वैपुवतं स वै वैभोजनं पुरम् ॥ ७ ॥

अनु०-वह आत्मा सभी प्राणिनों में नित्य अर्थात् अनश्वर शाश्वत रूप में विद्यमान है, अमर है ध्रुव अर्थात् विकाररहित है, ज्ञानस्वरूप है, अंगहीन तथा शब्द और स्पर्श गुण से परे है । एक्ष्म शरीर से भी वर्जित है । अत्यन्त शुद्ध है वही सम्पूर्ण विश्व है, परम लक्ष्य है । शरीर के भीतर उसी प्रकार से अवस्थित है जिस प्रकार सत्र यज्ञ में विपुवत नाम का दित मध्य में होता है । आत्मा उसी प्रकार सभी लोगों द्वारा प्राय है जैसे अनेक मार्गों से युक्त नगर में सभी लोग आते हैं ॥ ७ ॥

विवरणम्

विशिष्टमात्मानं सेवस्वेति क्रियापदमनुवर्तते । किं च सर्वभूतेषु ब्रह्मादिप्वनित्येषु यो नित्योऽविनाशो । विपश्चिन्मेधाधो, सर्व इत्यर्थः । अमृतोऽत एव यो ह्यनित्योऽसर्वज्ञः स मर्त्यो ह्यष्टः अयं तु तद्विपर्ययत्वाद्मृतः प्रथः । अविचलः । निष्कम्पस्वभाव इत्यर्थः । अनङ्गः स्थूलशरीररहित इत्यर्थः । स्थूले हि शरीरे शिरआद्यङ्गानि सम्भवन्ति । अशरीर इति लिङ्गशरीरवर्जित इत्येतत् । अशब्दः नाऽस्य शब्दगुणः सम्भवति । शब्दविद्धि मन् अन्यथा शब्दात्मकः शब्दात्मकमेव विजानीयात् । न चैतदस्ति । अतोऽशब्दः । तथा अस्पर्शः आकाशवायुभूतद्रव्यगुणप्रतिषेधेन शब्दादयो गन्धावसानाः सर्वभूतगुणाः प्रतिपिद्धा वेदितव्याः । तत इदं सिद्धमाकाशादादि सूक्ष्मत्वम् । शब्दादिगुणबाहुल्याद्वाव्यादिषु स्थूल्यत्वात्तन्म्यसुपलभ्यते । शब्दादिगुणाभावात्प्रतिशयसूक्ष्मत्वं सर्वगतत्वादि चाऽप्रतिबन्धेन धर्मजातं तर्केणाऽपि शक्यं स्थापयितुम् । महान्, अत एव शुचिर्निरञ्जनः । अथवा शुचिः पावन इत्यर्थः । शुचि हि वस्तु पावनं ह्यष्टम्, यथा लोके वाप्यन्यादि । किञ्च य आत्मा प्रकृतः, स सर्वम् । १६ इदं सर्वं यदयमात्मे' ति हि बाजसनेयके । न ह्यात्मव्यतिरेकेण किञ्चिन्निरूप्यमाणमुपपद्यते । अत एव परमा प्रकृष्टा । काष्ठा अवसानम् । १७ सा काष्ठा सा परा गतिरिति काठके । संसारगतीनां अवसानं निष्ठा समाप्तिरित्यर्थः । स वैपुवतं मध्यं सर्वस्य, सर्वान्तरभुतेः । विपुवस्तु वा ३ दिवाकीर्त्येषु मन्त्रेषु नित्यं प्रका-

१. इह ७ उ० ६. ५. ७ २. काठ० १. ३. ११

३ गवामपयान्प्रसंवेत्सत्साध्वत्त्रविशेषः । स एकवच्यधिकशतत्रयदिवस- (३६१) सायः । तत्राशौच्युत्तरशत (१८०) दिनानि पूर्व पञ्चः । तान्धेव दिना- न्दुत्तरं पञ्चः । मध्यमं यदरेकाशौच्युत्तरशतमरू (१८१) पं स विदुवान् । तत्र दिवा- कीर्त्याल्यं साम ब्रह्मसाम भवति । तेन च साम्ना परमात्मा गीयते । अतो विपुवदत्त- मप्यस्थानत्वात् तत्प्रतिशयत्वाद्वा ब्रह्म वैपुवत्तमिति भावः ।

श्यं भवतीति वैपुवतः । स परमात्मा ।

ननु 'स सर्वं परमा काष्ठा स वैपुवत'मित्युक्तम् । कस्मात् पुनस्तदात्मतत्त्वं विभक्तमुपलभ्यत इति । उच्यते—स परमात्मा वैभाजनं, विभक्तिर्विभजनं विवेक आत्मनो यस्मिन् देहे क्रियते, तत् विभाजनमेव वैभाजनम् । आत्मनो विवेकोपलब्ध्यधिष्ठानं हि शरीरम् । तच्चाऽनेकधा विभक्तम् । तदुपाध्यनुवर्तित्वाद् वैभाजनम् सर्वथा शुद्धमेव सर्वैर्नोपलभ्यते । किं तर्हि ? विभक्तो विपरीतश्चोपलभ्यते ॥ ७ ॥

उज्ज्वला

पुनरप्यसौ कीदृश इत्याह—

सर्वभूतेषु मनुष्यादिषु सङ्घातेषु यो नित्यः विनश्यत्स्वपि न विनश्यति विपश्चित् मेधावी चित्तस्वरूपः । अमृतः नित्यत्वादेवामरणधर्मा । अतः प्रुवः एकरूपः, विकाररहितः । न प्रधानवद्विकारिणस्सतो धर्मिरूपेणाऽस्य नित्यत्वमित्यर्थः । अनङ्गः करचरणाद्यङ्गरहितः । अशरीरः सूक्ष्मशरीरेणाऽपि भूतगुणानामुपलक्षणम् । शब्दादिगुणरहितः । अशरीरः परमार्थतोऽत्यन्तशुद्धः । वर्जितः । महाच्छुचिः महत्त्वं शौचस्य विशेषणम् । परमार्थतोऽत्यन्तशुद्धः । स सर्वं प्रकृत्यम्बेदद्वारेण । स एव परमा काष्ठा, ततः परं गन्तव्याभावात् । स वैपुवतं विपुवान्नाम गवामयनस्य मध्ये भवमहः । 'एकविंशमेतद्वद्वरुपयन्ति विपुवन्तं मध्ये संवत्सरस्ये'ति दर्शनात् । विपुवानेव वैपुवतम् । तद्यथा संवत्सरस्य मध्ये भवति एवमङ्गानामेपमध्ये । 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मे'ति बह्वृचब्राह्मणम् । स एव च वैभाजनं पुरं विविधैर्मार्गैर्भजनीयं विभजनम् । तदेव वैभाजनं प्रज्ञादिरनुशक्तिकादिश्च । यथा समृद्धं पुरं सर्वैरर्थिभिः प्राप्यमेवमयमपीति ॥ ७ ॥

तं योऽनुतिष्ठेत्सर्वत्र प्राध्वं चाऽस्य सदाऽऽचरेत् ।

दुर्दर्शं निपुणं युक्तो यः पश्येत्स मोदेत विष्टपे ॥ ८ ॥

अनु०— जो व्यक्ति उस आत्मा का चिन्तन करता है, सर्वत्र और सभी अवस्थाओं में उसके अनुकूल आचरण करता है, जो समाहित हो कर स्वप्न से भी भाग्यन्त स्वप्न कठिनाई से दीख पड़ने वाले आत्मा का दर्शन करता है, वह परमलोक में सभी दुखों से मुक्त होकर निरन्तर सुख का अनुभव करता है ॥ ८ ॥

विवरणम्

अतस्तदुपाध्यनुवर्तित्यभावदर्शनमर्थाद्याख्यं हित्वा विद्यया शास्त्रजनि-
तदर्शनेन तं यथोक्तलक्षणमात्मानमनुतिष्ठेत् । सर्वत्र सर्वात्मिन् काले । किञ्च न

क्षेत्रलम्बुगुणानामात्रमस्य । प्राध्वं बन्धनम् आत्मैकवरसप्रज्ञतां स्थिरां याहोपणा-
व्यावृत्तरूपां सर्वसंन्यासलक्षणम् । तद्धि बन्धनं विदुषो ब्राह्मणि एवं हि बद्धो
ब्रह्मणि । संसाराभिमुखो नाऽऽवर्तते । तस्माद् बन्धनं चाऽस्य सदाऽऽचरेत् ।
सदनुगुणबन्धने सदाचरतः किं स्यादिति ? उच्यते—दुर्दर्शो दुःखेन ह्योपणत्या-
गादिना स दृश्यत इति दुर्दर्शम् । निपुणं यस्माद्धि दुर्दर्शं तस्मान्निपुणम् । अ-
त्यन्तकौशलेन समाहितचेतसा युक्ती यः पश्येत् साक्षादुपलभेत्—अहमात्मोति,
स मोदेत । एवं दृष्ट्वा हर्षमानन्दलक्षणं प्राप्नुयात् । विष्टपे विगतसन्तापलक्षणे-
ऽस्मिन् ब्रह्मणीत्यर्थः ॥ ८ ॥

उज्ज्वला

तमेवंभूतमात्मानं योऽनुतिष्ठेदुपासीत यश्चाऽस्य सर्वत्र सर्वास्ववस्थासु सदा
प्राथमानुक्कृत्यमाचरेत् । आनुक्कृत्यं प्रतिपिद्वर्जनं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानं
च । यश्च दुर्दर्शं निपुणं सूक्ष्मतः युक्तः समाहितो भूत्वा पश्येत् साक्षात्कृत्यात् ।
सः विष्टपे विगततापे स्वे माह्वन्नि स्थितो मोदेत सर्वदुःखबन्धितो भवति । सं-
सारदशायां वा तिरोहितं निरतिशयं स्वमानन्दमनुभवतीति ॥ ८ ॥

॥ इत्यापस्तम्बसूत्रदृत्तावुज्ज्वलायां द्वविशी कण्डिका ॥ २२ ॥

आत्मन् पश्यन् सर्वभूतानि न मुह्ये चिन्तयन्कवि । आत्मानं चैव
सर्वत्र य पश्यत्स वै ब्रह्मा ऽऽकपूष्ठे विराजति ॥ ९ ॥ १ ॥

अनु०—सभी प्राणियों को अपने में स्थित देखता हुआ ब्रह्मा विद्वान् मोह न प्राप्त करे ।
(अथवा जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में ध्यान करता हुआ देखता है वही
मेधावी है) । जो आत्मा का दर्शन सभी वस्तुओं में करता है वह ब्राह्मण स्वयं लोक
में प्रतिष्ठित और देदीप्यमान होता है ॥ १ ॥

विवरणम्

किञ्च आत्मन् पश्यन् आत्मनि पश्यन् उपलभमानः । सर्वभूतानि सर्वाणि
(भूतानि) । सर्वेषां भूतानामात्मस्वरूपतामेव पश्यन्नित्यर्थः । सर्वत्राऽऽत्मानं
च परम् । न मुह्येत् मोहं न गच्छेत् । न ह्याल्लोकत्वदर्शिनो मोहावतरः; ^२‘तत्र
को मोह’ इति च मन्त्रलिङ्गात् । कीदृग्विशिष्टमात्मदर्शनं मोहनिवर्हणमित्याह—
चिन्तयन् उपसंहृतकरणः कविः मेधावी सन् ध्यायमानः । न शब्दजनित-
दर्शनमात्रेण मोहोपगमः । सर्वभूतेष्वनुप्रविष्टमेकं संब्यवहारकाले यो हि युक्तः
पश्येत्, स वै ब्रह्मा ब्राह्मणः । नाकपूष्ठे सुकरागौ (?) ब्रह्मणि । विराजति
विविधं दीप्यते ॥ ९ ॥

उपबला

सर्वाणि भूतानि आत्मन् आत्मनि शेषत्वेन स्थितानि पश्यन् उपनिषदादि-
भिर्जानन् । पश्चाच्चिन्तयन् युक्तिभिर्निरूपयन्, यो न मुह्येत् मध्ये मोहं न
गच्छेत् । कविर्मथावो । पश्चाद् सर्वत्रैव शेषत्वेन स्थितमात्मानं पश्येत् साक्षा-
त्कुर्यात् स वै ब्रह्मा ब्राह्मणः नाकपृष्ठे तत्सदृशे रवे महिम्नि स्थितो विराजति
स्वयं प्रकाशते ॥ १ ॥

निपुणोऽणीयान् विसोर्णाया यस्सर्वमावृत्य तिष्ठति । वर्षीयांश्च
पृथिव्या ध्रुवः सर्वमारभ्य तिष्ठति । स इन्द्रियैर्जगतोऽस्य ज्ञानादथोऽ-
नन्धस्य ज्ञयात्परमेष्ठो विभाजः । तस्मात्क्रायाः प्रभवन्ति सर्वे समूलं
शाश्वतिकः स नित्यः ॥ १० ॥ २ ॥

अनु०—वह ज्ञानवान् है, कमरु-नाल के विसतन्त्रु से भो सूक्ष्म है, जो सम्पूर्ण
विश्व को व्याप्त करके स्थित है । जो पृथ्वी से अधिक भारी है, नित्य है, सम्पूर्ण विश्व
को अग्ने में समाविष्ट किए हुए स्थित है । वह परमात्मा इन्द्रियो से उत्पन्न होने
वाले इस संसार के ज्ञान से भिन्न है, जो ज्ञान इन्द्रिय-विषयो से अभिन्न होता है ।
वह अपने परम प्रकृष्ट लोक में स्थित होता है, वह सम्पूर्ण संसार को विविध रूपों
में विभक्त करता है । उसी परमात्मा से ही शरीर उत्पन्न होते हैं, अतः वह सृष्टि का
मूल कारण है, नित्य है, विकाररहित है ॥ २ ॥

विवरणम्

किञ्च निपुणः सर्ववित् अणोयान् अणुतरो विसोर्णायाः विसतन्तोरपि ।
कोऽसौ ? यः प्रकृत आत्मा सर्वं समस्तं जगदावृत्य संव्याप्य तिष्ठति । किञ्च
वर्षीयान् वृद्धतरः स्थूलतरश्च पृथिव्याः । सर्वात्मको हि सः । ध्रुवः नित्यः सर्व
कृत्स्नमारभ्य संस्तम्भनं कृत्वा । तिष्ठति वर्तते । “येन द्यौरुप्रा पृथवी च दृढा’
इति मन्त्रलिङ्गात् । स सर्वेश्वरः सर्वज्ञः एको विज्ञेय इत्यर्थः । स परमात्मा
इन्द्रियैर्जन्यते यज्ञानं जगतोऽस्य, तस्मात् ज्ञानादन्यो विलक्षणः ‘लौकिकज्ञा-
नादन्य इति विशेषणाद्ज्ञानात्मक इत्येतेत् सिद्धम् । सत्यं ज्ञानमनन्तमि’ति च
श्रुतेः । अस्य जगत इन्द्रियजन्यज्ञानादन्य इत्युक्तम् । अतश्च तद्व्यतिरिक्तं जग-
दिति प्राप्तम् । अतस्तन्माभूदित्याह—अनन्यस्य अपृथग्भूतस्य जगतः, ज्ञेयात्
ज्ञातव्यात् परमाथस्वरूपाद्द्वयात् परमेश्वराद् धटादेरिव मृदः । स च परमेष्ठो
परमे प्रकृष्टे रवे महिम्नि हृदाकाशेऽवस्थातुं शीलमाप्सेति परमेष्ठो । स्वयमेव
विभाजः विभक्तो देवपितृमनुष्यादिना ज्ञातृज्ञेयज्ञानभेदेन च, यस्मात् स एव
ज्ञेय आत्मा स्वतो विभजति जगद्भेदकथा । तस्मादेवाऽऽत्मनः कायाः शारीरा-

प्याकाशादिक्रमेण प्रभवन्ति सर्वे ब्रह्मादिलक्षणाः । अतो मूलं स जगतः ।
 ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इति श्रुतेः । अत एव स शाश्वतिकः । यो
 हि पृथिव्यादिविकारः, सोऽवादिक्रमेण विनश्येत्, परं मूलकारणमापद्यते,
 सोऽशाश्वतिकोऽनित्यः । अयं चाऽऽत्मा परं मूलम् । न तस्याऽऽव्यन्यन्मूल-
 मस्ति, यतो जातो विनश्येत्, मूलमापद्यते, ततस्तद्विलक्षणत्वाच्छाश्वतिकः
 शाश्वदेकरूपः । अतो नित्यः एकरूपमहत्स्वमूलत्वेभ्यश्च ॥ १० ॥

उक्तवला

निपुणो मेधावी चित्स्वरूपः । विसोर्णयाः विसतन्तो रयणीयात् सूक्ष्मः ।
 यः सर्वमावृत्य व्याप्य तिष्ठति । यत्र पृथिव्य अपि वर्षीयान् प्रवृद्धतरः सर्वग-
 तत्वादेव सर्वभारभ्य विष्टभ्य शेषित्वेनाऽधिष्टाय तिष्ठति । ध्रुवः एकरूपः ।
 अस्य जगतो यदिन्द्रियज्ञानं ज्ञानं इन्द्रियजन्यं तस्मात् । कीदृशात् ? अनन्यस्य
 ज्ञेयात्, एकरूपमर्थं पृष्ठी, ज्ञेयात् नीलपीताद्याकारादनन्यभूतं नीलपीताद्या-
 कारं, तस्माद्विपज्ञानादन्य इत्यर्थः । श्रूयते च ‘तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् ।
 अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय’ इति ।

^३ ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः ।

तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतस्मिन्मूलं ॥’ इति पुराणम् । स्वभावतः स्व-
 रूढस्य चिद्रूपस्याऽऽत्मनो नीलपीताद्याकारकालुष्यं तद्रूपाया बुद्धेरतुरागकृतं भ्रा-
 न्तमित्यर्थः । वैपयिकज्ञानादन्य इति विशेषेण ज्ञानात्मक इत्यपि सिद्धम् ।
 ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे’ति च श्रुतिः । एवंभूतस्याऽऽत्मा परमेष्ठी परमे स्वरूपे
 तिष्ठतीति । विभाज इत्यस्य परेण सम्बन्धः । विभजत्यात्मानं देवमनुष्यादिरू-
 पेण नानाशरीरानुप्रवेशेनेति विभाक् । तस्माद्विभाजो निमित्तभूतात् सर्वे काया
 देवमनुष्यशरीराणि प्रभवन्ति वत्पश्यन्ते । स मूलं प्रपञ्चसृष्टेर्भोक्तृतया
 मूलकारणम् । स नित्यः अविनाशी । शाश्वतिक एकरूपः अविकारः ॥ २ ॥

विवरणम्

एवं यथोक्तमात्मानं विदितवत् आध्यात्मिका योगा न्यायसहिता अप्रतिव-
 न्धेन भविष्यन्ति । मिथ्याप्रत्ययपूर्वका हि दोषाः । दोषनिमित्तश्च धर्मो धर्म-
 जनितः संसारः दोषनिवृत्तावत्यन्तं विनिवर्तते इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्महा—

दोषाणां तु निर्घातो योगमूल इह जीविते ।

निहृत्य भूतदाहीयान् क्षेमं गच्छति पण्डितः ॥ ११ ॥ ३ ॥

अतुं—किन्तु इस बीबन में (क्रोध आदि) दोषों का विनाश योग से ही होता है । प्राणियों को बलाने वाले इन दोषों को नष्ट करके पण्डित (ब्रह्मविद्) कर्म्याग प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

दोषाणां तु क्रोधादीनां निर्घातः विनाशः । योगा अक्रोधाद्यः, तन्मूलः तन्निमित्तमित्येतत् । अक्रोधादिषु हि सत्सु प्रतिबन्दिनो दोषा दुर्बलत्वान्निर्हन्त्यनं । इह जीवत इति दोषः भवकर्मनिमित्तत्वाज्जोवितस्य देहधारणावसत्तनो दोषव्यापार इत्येतद् दर्शयति । तत्रापिपक्षेष्वक्रोधादिषु कथं तु नाम मुमुक्षुः प्रयत्नातिशयं कुर्युरिति योगदोषयोरितरेतरविरोधित्वे सति स्थितिगतिवद् योगेभ्यो दोषाणामेव निर्घातः, न तु विपर्यय इत्येतद् । कथमिति चेत् ? उच्यते—सम्यग्दर्शनसचियत्वाद् बलवन्तो योगाः । मिथ्याप्रत्ययसचिवत्वात् दुर्बलत्वान्निर्हन्त्यनं । निर्हन्तीत्येतदप्युक्तम् । युद्धिवलवद्भयतद्दोषानां लोके निर्घातो दृष्टः । 'अक्रोधनः' (१. १. २३) 'क्रोधादीश्च—' (१. १. २५) इति लिङ्गान् । निर्हृत्य अपहृत्य । भूतदाहान् दोगेषु (न ?) ह्युद्भूतेषु भूतानि दहन्त इव अग्निना परितप्यन्ते । अतो भूतदाहा दोषा उच्यन्ते । तान् निर्हृत्य । क्षेमं निर्भयं मोक्षं गच्छति ।

“आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन” अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि 'न भवति धिदुपां ततो भयम्' इत्यादिश्रुतिसृतिभ्यः । न दोषप्रशममात्रेणाऽत्र ब्रह्मविदः क्षेमप्राप्तिरित्याह—पण्डित इति । ब्रह्मविदि ह्यत्र पण्डितशब्दः प्रयुक्तो, न शास्त्रविदि । "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" इति श्रुतेः । इहाऽऽत्मविद्याधिकारात् ।

यदि तर्हि दोषनिर्हरणं पण्डितोऽप्यपक्षेण, तं प्रति न हि ब्रह्मविद्या क्षेमप्राप्तिनिमित्तम् । यदि ब्रह्मविद्यैव क्षेमप्राप्तिनिमित्तं, ब्रह्मविद्यानन्तरमेव न दुर्बलमुपलभेत । नैप दोषः । उक्तो ह्यत्र परिहारः—सम्यग् ज्ञानबलावष्टम्भाद् बलिनो योगा दुर्बलान् दोषान् मिथ्याप्रत्ययभवान् निर्हन्तुमलमिति । तस्माद् ब्रह्मविद्यैव क्षेमप्राप्तिः । अन्यथा दोषनिर्हरणकर्मक्षययोरस्तम्भवान् ।

विद्यया चेद् दोषनिर्हरणकर्मक्षयावश्यं भवतः, तत इदमयत्नकार्यित्याद् दोषनिर्हरणस्य नित्यानुवादरूपमनर्थकम्, निर्हृत्येति, न, प्रवृत्तकर्माक्षिप्तत्वाद् दोषाणाम् । द्विविधानि ह्यनेकजन्मान्तरकृत्वानि कर्माणि—फलदानाय प्रवृत्तान्य-प्रवृत्तानि च । यत्तु प्रवृत्तं कर्म, तस्माच्छिस्तं दोषः कर्तुः सुखदुःखान्निफलदलाय, दोषाभावे फलारम्भकत्वानुपपत्तेः । न हि रगद्वेषादिशून्यं सुखदुःखं प्रवृत्ति-लब्धिः कदाचित् कस्यचिदिह दृश्यते । तस्मात् फलदानाय प्रवृत्तेन कर्मणाऽऽ-

क्षिप्ता दीपाः प्रसङ्गेन प्राप्तबला यत्नतो निहर्तव्याः । प्रवृत्त्याधिक्यहेतुत्वेवप्रसङ्गात् । असत्वेदमुक्तम्-दीपाणां तु निर्घातो योगमूले इह जीवित इति । मन्दमध्यमोक्त-मापेक्षत्याच । ब्रह्मविदामपि न सर्वेषां समा ब्रह्मप्रातिपत्तिः, विवेकतिशयदर्शनात् कस्यचित् । 'एष ब्रह्मविदां वरिष्ठ' इति च श्रुतेः सम्यग्दर्शनसम्पन्न' इति च स्मृतेः । मन्दमध्यमब्रह्मविदपेक्षया त्यागवैराग्येन्द्रियजयविवेक्यवस्त्वम्, उत्तमब्रह्मविदां त्वर्थप्राप्तमेतत् सर्वमित्यनुवादमात्रम् । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्या निवर्तते, इति यवन्नात्, गुणातीतलक्षणवचनेभ्यश्च । प्रवृत्तकर्माक्षिप्तदीपात् तज्जनितचेष्टाभ्यश्च भवति विदुषोऽपि देहान्तरोत्पत्तिरिति चेद्—सुखेऽपुवत् प्रवृत्तकर्माक्षिप्त-प्रत्याद् विद्वद्दीपचेष्टानां प्रवृत्तकर्माविभागेनैवोपक्षोणश्चास्तिर्यात् प्रयोजनान्तरभावाच्च न जन्मान्तरारम्भकत्वमुपपद्यते । यद्यप्रवृत्तं कर्म, तत्तत्त्वद्वावस्थमेव ब्रह्मविद्याहुताशनदग्धवोजशक्तित्वान्नालं जन्मान्तरारम्भाय,' क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि' ३ 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इत्यादिश्रुतिसृष्टिभ्यः । अतः सिद्धापण्डितस्य दीपनिर्हरणात् क्षेमप्राप्तिः ॥ ११ ॥

उक्त्वबला

दीपणां वक्ष्यमाणानां श्लोधादीनां निर्घातः निर्मूलनम् । इह जीविते योग-मूलः योगा वक्ष्यमाणे अक्रोधादयः तन्मूलकः । अतश्च तान् भूतदाहोयान् भूतानि दहतः क्रोधादीन्दोषान् निहृत्य क्षेमं गच्छति आत्मत्राणद्वारेण । पण्डितो लब्धज्ञानः आत्मसाक्षात्कारी । क्षेमं अभयं मोक्षम् 'अभयं वै जनकप्राप्तोऽसी'ति बृहदारण्यकम् ॥ समाप्तः श्लोकाः ॥ ३ ॥

अथ भूतदाहीयान्दोषानुदाहरिष्यामः ॥ १२ ॥ ४ ॥

अनु०—अथ इमं उन दोषो का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे वो प्राणियों का नाश करते हैं ॥ ४ ॥

भूतानां दाहो भूतदाहः तस्मै हिताः भूतदाहीयाः तस्मै हितमिति छः ।

क्रोधी हर्षो रोषो लोभो मोहो दम्भो द्रोहो मृपो-

खमत्याशपरीवादावसूया काममन्यु अनारम्यम-

योगस्तेषां योगमूलो निर्घातः ॥ १३ ॥ ५ ॥

अनु०—क्रोष, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, द्रोह अर्थात् दूसरे को अनिष्ट करने की इच्छा, असत्य भाषण, अविभोजन, दूसरे पर मिथ्या दोष लगाना, दूसरे के गुणों से

अऽना, काम, द्वेष, इन्द्रियों को वश में न रखना, मन को समाहित न करना—ये प्राणियों का विनाश करने वाले दोष हैं और ये दोष योग के माध्यम से ही समाप्त होते हैं ॥ ५ ॥

विवरणम्

तत्र क्रोधस्ताडनाक्रोशनादिहेतुस्तःकरणविक्षोभो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः । हर्षस्तद्विपरीतोऽभीष्टलाभजनितो बाष्परोमाब्जनादिलिङ्गः । रोपोऽनिष्टविषयो मानसो विक्रियाविशेषः । लोभः परद्रव्येप्सा, स्वद्रव्याविनियोगस्तीर्थे । मोहः वैकृता । दम्भ आत्मनो धार्मिकत्वप्रकाशनम् । द्रोहः परानिष्टचिकीर्षो । मृषो-कार्याकार्याविद्यमनृतवचनम् । अत्याशपरीचादौ अत्याशोऽतिमात्रमशनम् । परीचादोऽसमर्क्षं परदोषाभिधानम् । असूया परगुणेष्वक्षमा । काममन्यु कामः स्त्रीव्यतिकराभिलापः । मन्युस्तद्विघातकृत्यु द्वेषः । अनात्म्यम् अनात्मवत्ता । एष क्रोधादिरयोगः, असमाधानलक्षणो ह्येष चेतसो विक्षेपप्रकारः । तेषां योगमूलो निर्घातः ॥ १२ ॥ १३ ॥

उपबला

१ ताडनाक्रोशादिहेतुकोऽन्तःकरणविक्षोभः स्वेदकम्पादिलिङ्गः क्रोधः । हर्षः इष्टलाभाच्चेतस उद्रेको रोमाब्जादिलिङ्गः । रोपः क्रोधस्यैव कियानपि भेदो भिन्नादिषु प्रतिकूलेषु मनसो वैलोक्यमात्रकार्यकरः । लोभो द्रव्यसङ्गः, यो धर्म-व्ययमपि रुणद्धि । मोहः कार्याकार्ययोरविवेकः । स च प्रायेण क्रोधादिजन्योऽपि पृथगुपदिश्यते कदाचित्तदभावेऽपि सम्भवतीति । दम्भो धार्मिकत्व-प्रकाशनेन लोकवञ्चनम् । द्रोहोऽपकारः । मृषोद्यमनृतवादः । अत्याशोऽत्यश-नम् । परीचादः परदोषाभिधानम् । असूया परगुणेष्वक्षमा । कामः स्त्रोसंसर्गः । मन्युः गूढो द्वेषः अनात्म्यं अजितेन्द्रियत्वं जिह्वाचापलादि । अयोगो विक्षिप्त-चित्तता । एते भूतवर्दीया दोषाः । तेषां योगमूलो निर्घातः ॥ ५ ॥

के पुनस्ते योगा इति, उच्यते—

अक्रोधोऽहर्षोऽरोवोऽलोभोऽमोहोऽदम्भोऽद्रोहः सत्यवचनमनत्या-
शोऽपैशुनमनसूया संविभागस्त्याग आर्जवं मादवं शमो दमः सर्वभू-
तैरविरोधो योग आर्यमानुशंसं तुष्टिरिति सर्वाश्रमाणां समयपदानि
तान्यनुत्तिष्ठन् विधिना १ सावंगामी भवति ॥ १४ ॥ ६ ॥

१. आक्रोशादि इति ख० पु० २. प्रदर्शनेन इति क० पु० ३. अधमता इति क० पु०

४. सर्वगामी इति विवरणानुमतः पाठः ।

अनु०—क्रोधहोनात, ईर्ष्य का अभाव, रोष न करना, अलोभ, मोह का अभाव, दम्भ का न होना, द्रोह न करना, सत्य बचन, भोजन में संयम, परदोष कथन से विमुक्त होना, अशुष्या का अभाव, स्वार्थहीन उदारता, दान आदि न लेना, सरलता, कोमलता, भाववैरो का शमन. इन्द्रियो को बश में करना, सभी प्राणियों के साथ प्रेम, आत्मा के चिन्तन में मन को समाहित करना, आयों के नियम के अनुसार आचरण, क्रूता का त्याग, सन्तोष—इन उत्तम गुणों का विधान सभी चार आश्रमों के भेद बनों समयाचारपूर्वक क्रिया है, जो इनका शास्त्रोक्त विधि से आचरण करता है वह विश्वात्मा को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

विवरणम्

अक्रोधोऽदृष्टः इत्येवमाद्या अयोनोविपरीताः । अतस्ते समाधिलक्षणत्वाद् योगः । संविभागः आत्मनो यात्रासाधनस्याऽर्थिभ्यः संविभजनम् । त्यागः । दृष्टादृष्टभोगानां शक्तितः परित्यजम्, तत्साधनानां च । आर्जवम् ऋजुता, अदुष्टाफलनपूर्विका वाङ्मनःकाथानां प्रवृत्तिः । मार्दवं शृदुत्वम् । शमोऽन्तःकरणोपशमः । दमो वाङ्मकरणापेशमः । इदमन्यद् योगलक्षणं संक्षेपत उच्यते—सर्वभूताविरोधो योगः, विरोधे हि भूतानां पीडा, तद्भावेऽपीडा । स एव सर्वभूतापीडालक्षणो योगः । आर्द्रम् आर्योणां भायः अक्षुद्रता । आनृशंसम् आनृशंस्यम्, अक्रौर्यम् । लुष्टिः लब्धव्यवस्थाऽस्त्राभेऽपि चेतसः प्रसन्नतयाऽवस्थानं लाम इव । सर्वभूताधिरोधलक्षणां हि सा परित्राजकस्यैव सम्भवतीत्यार्यादीनां त्रयाणामन्येषां चाऽविरुद्धानां सर्वोश्रमाद् प्रति प्रामितीविशद्वदसामर्थाद्, इतिशब्दस्य च प्रकारवचनत्वादायादीनीत्यंशकाराणि सर्वाश्रमान् प्रति गमयति सर्वाश्रमाणां समयपदानीति । 'समयस्थानतातोत्वेनत् । अवश्यानुप्रेयानीत्यर्थः । तान्येतानि यथोक्तान्यनुतिष्ठन् विधिना सर्वगामी सर्वगमनशीलः, ज्ञानाभिव्यक्तिसंश्लेषेण भवति मुच्यते इत्यर्थः ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यस्य कृतिषु
आपस्तम्भोपधर्मशास्त्राध्यात्मपटविवरणम् ॥ ॐ ॥

उज्वला

के पुनस्ते योगाः ? तानाह—

एते चाऽक्रोधादयोऽपि भावरूपाः न क्रोधाद्यभावमात्रम्, क्रोधादिनिर्घातहेतु-
तयोपदेशान् । के पुनस्ते ? अक्रोधः, क्रोधादिषु प्रसक्तैवपि मा कार्षमिति सङ्क-
ल्पः । अहर्षः, इष्टलाभालाभेषु चेतस ऐकरूप्यम् । अरोषः मित्रादिषु प्रतिकूलै-

ष्वपि मनोविकाराभावः । अलोभः सन्तोषोऽलम्बुद्धिः । असोहोऽवधानम् ।
 आदम्भो धर्मानुष्ठानम् । अद्रोहः परेष्वपकारिष्वव्यनपकारः । अनसूया परगुणे-
 ष्वभिभोदनम् । सत्यवचनं यथादृष्टार्थवादित्यम् । संविभागः आत्मानं 'मुप-
 ध्याऽप्यप्रादिदानम् । त्योगोऽपरिमहः । आर्जवं मनोवाक्कायानामेकरूपत्वम् ।
 मार्दवं सूपगम्यता । शमः मन्युपरित्यागः । दमः इन्द्रियजयः । एताभ्यामेव
 गतत्वात् पूर्वत्र स्वस्मिन् क्रमे अक्रामः, अमन्युः, आत्मवत्त्वमिति नोपदिष्टम् ।
 सर्वभूतैरधिरोधः । सर्वग्रहणं क्षुद्रैरविरोधार्थम् । योगः ऐकाल्यम् । आर्याणां
 भावः आर्यं शिष्टाचारानुपालनम् । आनृशंसं आनृशंसं व्यवहारपचनादी प्रस-
 क्तैर्ण्डुर्यस्य वर्जनम् । तुष्टिरनिर्वेदः समयो व्यवस्था । सा च प्रकरणाद्धर्मज्ञा-
 नाम् । पदं विषयः । एते अक्रोधादयः सर्वेषामाश्रमाणां सेव्याः, न केवलं योगि-
 नामेवेति धर्मज्ञानां समय इत्यर्थः । एते हि भाव्यमानाः क्रोधादीन् समूलघातं
 घ्नन्ति । अतश्च तान्यनुतिष्ठन् विधिना सार्वगामी भवतिः तान्यक्रोधादीनि तुष्टय
 न्तानि । विधिना यथाज्ञात्वात् । अनुतिष्ठन् सार्वगामी सर्वस्मै हितः सार्वः
 आत्मा तं गच्छति प्राप्नोति । 'विधिने'ति वचनात् 'प्राणिनां तु वधो यत्र तत्र
 साक्ष्यनृतं वदेत् ।' इत्यादिके विषये अनृतवचनादावपि न दोष इति ॥ ६ ॥

इति श्रीहरदत्तविरचितायामापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुज्ज्वलायां

त्रयोविंशो कण्डिका ॥ २३ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामु-

ज्ज्वलायां प्रथमप्रश्नेऽष्टमः पटलः ॥ ८ ॥

१. अवश्य इति क० पु० २. इन्द्रियनिग्रहः इति ग० पु०
 ३. द्वित्रैष्वप्यादर्शपुस्तकेषु 'प्राणिनां तु वधो यत्र' इत्येव मुद्रितपुस्तकेषु पाठस्त-
 मस्ति । (या० सू० २. ८३) किञ्च मनौ एतत्समानार्थकश्लोक एवमुपलभ्यते—

यद्द्विविद्वृत्तविप्राणां यत्रतौकौ भवेद्वधः ।

यत्र वृत्तव्यपटलं चिद्धि सस्यद्विद्विभ्यते ॥ इति । (य० सू० ८. १०४)

अनयोरेकार्यत्वमस्युपगम्यैव विशानेश्वरैर्णाऽपि "यत्र वग्निनां यद्द्विविद्वृत्तवि-
 प्राणां सस्यवचनेन वधस्तस्माद्यते" इति याज्ञवल्कीयं वचनं व्याख्यातम् । अन्यैरपि
 विश्वरूपपारार्द्धदिग्भिः 'वर्णिनाम्' इत्येवं पाठः स्वीकृतः । अतोऽत्रापि 'वर्णिनां' इत्येव
 पाठस्ताधीयानिति युक्तमुत्तरायामः ।

अथ नवमः पटलः

क्षत्रियं हत्वा गवां सहस्रं वैरयातनार्थं दद्यात् ॥ १ ॥

क्षत्रियं हत्वा गवां सहस्रं ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् । किमर्थम् ? वैरयातनार्थं वैरं पापं तस्य यातनं निर्हरणं तदर्थम् ऋषभश्चात्राऽधिकः सर्वत्र प्रायश्चित्तार्थं” (२४-४) इति वक्ष्यति । तेन प्रायश्चित्तरूपमिदं दानम् । प्रायश्चित्तं च पापक्षयार्थम् । तत्किमर्थं वैरयातनार्थमित्युच्यते ? केचिन्मन्यन्ते—नाऽयुक्तं क्षीयते कर्म पुण्य-समुण्ये च । प्रायश्चित्तं तु नैमित्तिकं कर्मान्तरं । यथा गृहदाहादौ क्षामवत्यादय इति । वाञ्छितकर्तुमिदमुक्तम् । श्रौतेऽप्युक्तं—‘दोषनिर्घातार्थानि भवन्ती’ इति । अपर आह—यो येन हन्यते स हृतो त्रियमाणस्तस्मिन्वैरं करोति—अपि नामाऽहमेनं जन्मान्तरेऽपि वध्यासमिति । तस्य वैरस्य यातनार्थमिदमिति प्रायश्चित्त-चार्थत्वमपि वक्ष्यमाणेन सिद्धमिति ॥ १ ॥

अनु०—क्षत्रिय की हत्या करने पर पाप को दूर करने के लिए एक सहस्र गायों का दान करे ।

टि०—वैरयातनार्थम् का अर्थ इदत्त ने ‘पाप का निर्हरण-करने के लिए’ किया है । प्रायश्चित्त पाप के नाश के लिए किया जाता है, तब ‘वैरयातनार्थं’ क्यों कहा गया है ? प्रायश्चित्त नैमित्तिक कर्म होता है । कुछ लोगों के अनुसार वैरयातनार्थं का प्रयोग इस अर्थ से किया गया है कि मारा जाने वाला व्यक्ति मरते समय मरने वाले के प्रति वैर का भाव बना लेता है तथा दूसरे जन्म में बदला लेने का संकल्प करते हुए मरता है उसके इस वैर का शमन करने के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है ॥ १ ॥

शतं वैश्ये ॥ २ ॥

वैश्ये हते गवां शतं दद्यात् ॥ २ ॥

अनु०—वैश्य का वध करने पर सौ गायों का दान करे ॥ २ ॥

दश शूद्रे ॥ ३ ॥

शूद्रे हते दश दद्यात् । गा इति प्रकरणाद्भवत्येते ॥ ३ ॥

अनु०—शूद्र का वध करने पर दस गायों का दान करे ॥ ३ ॥

१. ‘यस्य गृहान् दहत्यनये क्षामवते पुरोडशमध्याङ्गपालं निषेधेत् भागवेनेवेनैवं शमयति नाऽध्याऽपर गृहान् दहति’ (तै० सं० २. २. २) इति विहिता अहितामेगंब-मानस्य गृहे दश्ये वाहशशूद्राहनिमिचका शामवदग्निदेववाकेष्टिः क्षामवतीष्टिः ।

ऋषभश्चाऽत्राधिकः सर्वत्र प्रायश्चित्तायः ४

सर्वेष्वेतेषु निमित्तेषु ऋषभोऽत्यधिको देयः । न केवलं गा एव । इदं प्रायश्चित्त्रयं मानवेन समानविषयम् । यथाऽऽह—

‘अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।

ऋषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्धयर्थमात्मनः ॥

श्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।

वसन् दूरतरे ग्रामाद्दृक्षमूलनिकेतनः ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।

प्रमाप्य वैश्यं वृत्तरथं दद्याद्द्वैकशतं गवाम् ॥

एतदेव व्रतं कृत्स्नं पण्मासान्द्व्यद्रहा चरेत् ।

ऋषभैकादशा वाऽपि दद्याद्विप्राय गास्सिताः ॥’ इति ॥ ४ ॥

अनु०—इन सभी निमित्तों में प्रायश्चित्त के लिए गायों के अतिरिक्त एक सौड़ का भी दान करे ॥ ४ ॥

छोषु चैतेषामेवम् ॥ ५ ॥

एतेषां क्षत्रियादीनां स्त्रीषु च हतासु एवमेव प्रायश्चित्तं यथा पुरुषेषु ॥ ५ ॥

अनु०—इन (क्षत्रिय आदि) वर्णों की स्त्रियों का वध करने पर भी वैसा ही प्रायश्चित्त करना होता है बैसा इन वर्णों के पुरुषों के वध के संबन्ध में विदित है ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायं हत्वा सवनगतं वाऽभिशस्तः ॥ ६ ॥

उक्तेषु यौ पूर्वा वर्णां क्षत्रियवैश्यौ तयोर्यो वेदाध्यायः अधीतवेदः तं हत्वा अभिशस्तो भवति अभिशस्त इति ब्रह्मघ्नोऽभिधानम् सवनगतं वा, तयोरेव वर्णयोः यः सवनगतः सवनशब्देन न प्रातस्सवनादीनुच्यन्ते, नापि यागमात्रम् । किं तर्हि ? सोमयागः । तत्र यो दीक्षितः सवनगतः ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षित इति दर्शनात् । तं च हत्वाऽभिशस्तो भवति । पूर्वयोर्वर्णयोरिति किम् ! ब्राह्मण मा भूत् । इष्यते ब्राह्मण । वक्ष्यति च ‘ब्राह्मणमात्रं च’(२४.७.)ति । एवं तर्हि शब्दे भूत् । न शूद्रो वेदाध्यायः सवनगतो वा भवति । इदं तर्हि प्रयोजनं पूर्वयोर्वर्णयोरेव यथा स्यात्तयोरेव यावत्सलोमौ^१ करणाम्बष्टी तयोर्ना भूदिति । तेनान्ये वर्णधर्मा अनुलोमानामपि भवन्ति ॥ ६ ॥

१, म० स्पृ० ११. १२७-१३०

२. इत्वरपुस्तकेषु “सवर्णाम्बष्टी”; इत्येव पाठः ।

अनु०—प्रथम दो (क्षत्रिय और वैश्य) वर्णों के वेद के विद्वान् पुरुषों का अथवा इन दोनों वर्णों के सोमयाग में दीक्षित पुरुष का वध करने वाला अभिशप्त होता है।

टि०—अभिशप्त का अर्थ है 'ब्रह्मन्' महापातकी। यह नियम इन दोनों वर्णों के अनुलोम सवन्ध से उत्पन्न करण और अम्बष्ठ के विषय में नहीं होता—इरद्व कौ व्याख्या ॥ ६ ॥

ब्राह्मणमात्रं च ॥ ७ ॥

हत्वाऽभिशस्तो भवति । मात्रप्रहृणाद्ब्राडभिनजनिवद्यासंस्काराद्यपेक्षा ॥

अनु०—वर्णमात्र से ही ब्राह्मण पुरुष को हत्या करने वाला अभिशप्त होता है। टि०—मात्र का व्यवहार इस अर्थ से किया गया है कि उसका वेदज्ञ या विद्वान होना या संस्कार युक्त होना आवश्यक नहीं है ॥ ७ ॥

गर्भं च तस्याऽविज्ञातम् ॥ ८ ॥

तस्य ब्राह्मणमात्रस्य । गर्भं च स्त्रीपुत्रपुंसकभेदेनाऽविज्ञातम् । हत्वाभिशस्तो भवति ॥ ८ ॥

अनु०—वर्णमात्र से ही ब्राह्मण पुरुष की या गर्भ की, चाहे उस गर्भ का लिङ्ग अज्ञात क्यों न हो, हत्या करने वाला अभिशप्त होता है ॥ ८ ॥

आथेयीं च क्षियम् ॥ ९ ॥

‘ऋदुल्मातामात्रेयीमाहु’रिति वसिष्ठः । तस्येति वर्तते । आथेयीं च ब्राह्मणक्षियं हत्वाऽभिशस्तो भवति । ब्रह्महा भवति । सम्भवत्यस्यां ब्राह्मणगर्भे इति । अत्रिगोत्रजा आथेयीत्यन्ये ॥ ९ ॥

अनु०—आथेयी (ऋदुस्नाता) ब्राह्मणस्त्री का वध करने वाला अभिशप्त होता है।

टि०—कुछ लोग आथेयी का अर्थ अत्रिगोत्र में उत्पन्न स्त्री करते हैं ॥ ९ ॥

तस्य निर्वेपः ॥ १० ॥

तस्य सर्वप्रकाराभिशस्तस्य निर्वेपः प्रायश्चित्तं वक्ष्यते ॥ १० ॥

अनु०—जब अभिशप्त व्यक्ति के प्रायश्चित्त का विधान किया जायगा ॥ १० ॥

अरण्ये कुटि कृत्वा वाग्मतः शवशिरध्वजोऽश्रशाणोप-

क्षमघोनाभ्युपरिजान्वाच्छाद्य ॥ ११ ॥

कृत्वेति वचनान्न परकृता कुटो ग्राह्या । वाक् यता नियता येन स वाग्मतः शवशिरः । आहिताग्न्यादिषु दर्शनात् निष्ठान्तस्य परनिपातः । शवशिरः

ध्वजो यस्य स शवशिरोध्वजः । सकारलोपश्छान्दसः । स्वव्यापादितस्य शिरो
ध्वजद्वयस्यै प्रोतं कृत्वेत्यर्थः । यस्य काय चिच्छवयेत्यन्ये । शणस्य विकार-
शानी पटी तस्या अर्धमर्धशानी तस्याः पक्षमर्धशानीपक्षं आयामवित्सारयोरु-
भयोरप्यर्थम् । अधो नाभि उपरिजानु च यथा भवति तथा तावन्तं प्रदेश-
माच्छाद्य । सापेक्षत्वात् 'ग्रामे प्रतिष्ठेते' (२४.१४)ति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।
मध्ये क्रियान्तरविधिः ॥ ११ ॥

अनु०—वन मे एक कुटी बनाकर, वाणी को रोककर, कुण्डे के ऊपर मनुष्य की
खोपड़ी रखकर तथा शरीर का नाभि से छुटने तक का भाग सन के वस्त्र के चौलाई
भाग से आच्छादित कर रहे ॥ ११ ॥

तस्य पन्था अन्तरा वर्त्मनो ॥ १२ ॥

तस्य ग्रामं प्रविशतः वर्त्मनो अन्तरा शकटादेर्वत्मनोर्मध्ये पन्था वेदितव्यः ।
अपर आह—यत्र ख्यादावुभयोः पार्श्वयोर्वत्मनी भवतः तत्र तयोर्मध्येन सूक-
रादिपथेन सञ्चरेदिति ॥ १२ ॥

अनु०—(ग्राम में प्रवेश करते समय गाड़ी इत्यादि की) दोनों ओकों के बीच
का भाग उसका मार्ग रोवे ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा चाज्यमुत्क्रामेत् ॥ १३ ॥

अन्यस्मार्थं दृष्ट्वा पथ उत्क्रामेत् । तत्र कौटिल्यः 'पञ्चारत्नयो रथपथश्चत्वारो
हस्तिपथः द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्याणा'भिति । तेन मनुष्येषु द्वौ हस्तावुत्क्रामेदिति ॥ १३ ॥

अनु०—दूधरे (आर्य) व्यक्ति को देखकर मार्ग छोड़कर हट जाने ।

टि०—कौटिल्य के अनुसार दो हाथ दूर हो जावे ॥ १३ ॥

खण्डेन लोहितकेन चारावेण ग्रामे प्रतिष्ठेत ॥ १४ ॥

खर्परमात्रं खण्डम् । ^१लोहितकमनाप्रीतम् । एवम्भूतं शरावं भिक्षापात्रं
गृहीत्वा ग्रामे प्रतिष्ठेत । ग्रामं गच्छेत् ॥ १४ ॥

अनु०—घटिया किसम की घातु के पात्र का खर्पर (भिक्षापात्र के रूप में) लेकर
गोंब में प्रवेश करे ॥ १४ ॥

कोऽभिशास्ताया भिक्षामिति^३ ससाज्गारं चरेत् ॥ १५ ॥

^१अभिशास्तो ब्रह्महा । तस्मै महां को धार्मिको भिक्षां ददातीति त्वैत्रं वाणः
ससाज्गाराणि चरेत् । सप्तग्रहणमधिकनिष्ठस्यर्थम् । द्वित्रैर्वेवागारेषु यदि पर्याप्तं
लभ्यते तदा तावत्येव ॥ १५ ॥

१. कौटि० अर्प० २. ४. २२ २. लोहितं मनास्ताम्रम् इति० क० पु०

३. ससागाराणि इति क० पु० ४. अभियत्ते को धार्मिकः, इत्येव पाठः ग० पु०

अनु०—'दुष्ट अभिमत को कौन भिक्षा देगा' ऐसी पुकार लगते हुए सात घरों में भिखाटन करे ॥ १५ ॥

सा वृत्तिः ॥ १६ ॥

सप्तस्वगारेषु या च यावती लभ्यते सैव धृत्तिः अपर्याप्ताऽपि ॥ १६ ॥

अनु०—इस प्रकार जो कुछ मिले उसी से बीबिका निर्वाह करे (मले ही इस प्रकार प्राति भोजन अपर्याप्त होवे ॥ १६ ॥

अलट्ठवोपवासः ॥ १७ ॥

यदि सप्तागारेषु न किञ्चिल्लभ्यते तदोपवास एव तस्मिन्नहनि ॥

अनु०—(यदि सात घरों में भिखाटन करने पर) कुछ भी न प्राप्त हो तो उपवास करे ॥ १७ ॥

गाश्र रक्षेत् ॥ १८ ॥

एवं प्रायश्चित्तं कुर्वन्नहरहर्याश्च रक्षेत् ॥ १८ ॥

अनु०—इस प्रकार प्रायश्चित्त करते हुए गायों को रखा करे ॥ १८ ॥

तासां निष्क्रमणप्रवेशाने द्वितीयो ग्रामेऽर्थः ॥ १९ ॥

तासां गवां निष्क्रमणसमये प्रवेशनसमये च द्वितीयो ग्रामेऽर्थः प्रयोजनम् ।
भिक्षार्यं प्रथममुक्तम् । ताऽन्यथा ग्रामं प्रविशेदित्युक्तं भवति ॥

अनु०—जब गायें गाँव से निकलती हैं और प्रवेश करती हैं वह उसके लिए भिषार्य ग्राम में दुबारा प्रवेश करने का समय होता है ॥ १९ ॥

द्वादश वर्षाणि चरित्वा सिद्धः सद्भिस्सम्प्रयोगः ॥ २० ॥

एवं द्वादश वर्षाणि व्रतमेतच्चरित्वा सद्भिः सम्प्रयोगः कर्तव्यः । सद्भिः सह सम्प्रयुज्यते येन विधिना स कर्तव्यः । स शिष्टाचारे शाब्दान्तरे च सिद्धः स उच्यते—कृतप्रायश्चित्तः स्वहस्ते यवसं गृहीत्वा गामाह्वयेत् । सा यद्वागत्य श्रद्धधाना भक्षयति तदा सम्यगन्तेन व्रतं चरितमिति जानीयात्, अन्यथा नेति ॥ २० ॥

अनु०—बारह वर्ष तक यह प्रायश्चित्त करने के बाद उस शालोक शिष्टाचार को करे जिसके द्वारा वह पुनः उज्ज्वनों के समाव में प्रवेश योग्य हो जाय ॥ २० ॥

आजिपथे वा कुटि कृत्वा ब्राह्मणव्योऽप्यजिगीषमाणो

वसेत्त्रिः प्रतिराट्वोऽप्यजित्य वा मुक्तः ॥ २१ ॥

सङ्ग्रामेण जेतव्या दस्युषो येन पथा ग्रामं प्रविश्य गवादिकमपहृत्याऽपसरन्ति स आजिपथः । तस्मिन्वा कुटिं कृत्वा वसेत् । किं चिकीर्षन् ! ब्राह्मणगव्यः' 'वा छन्दसी'ति पूर्वसवर्णाभावे यणादेशः । ब्राह्मणगवीरपजिगीपमाणः दस्युत्पजित्य प्रत्याहर्तुमिच्छन् । एवं वसन् दस्युभिर्हियमाणं गवादिकमुद्दिश्य तैर्युद्धं कुर्वन् त्रिः प्रतिराद्धः तैरपजितः अपजित्य वा तान् गवादिकं प्रत्याहृत्य ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा मुक्तो भवति तस्मादेनसः । द्वादशवार्षिके प्रवृत्तस्येदम् । एवमुत्तरमपि ॥ २१ ॥

अनु०—अथवा (बारह वर्ष तक उपयुक्त प्रायश्चित्त करने के बाद) चौरों के मार्ग में कुटी बनावे और चौरों से ब्राह्मणों को अपहृत गायों को छुड़ाने का प्रयत्न करता रहें, तीन बार परास्त होने पर अथवा उन पर विजय पाने पर बह पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

आश्वमेधिकं वाऽवभृथमेवेत्य मुच्यते ॥ २२ ॥

अथ वाऽवभृथमेघावृथे स्नात्वा मुच्यते ॥ २२ ॥

अनु०—अथवा अश्वमेघ का अवभृथ स्नान करने पर पाप दूर होता है ॥ २२ ॥

धर्मार्थसन्निपातेऽर्थग्राहण एतदेव ॥ २३ ॥

धर्मस्याऽग्निहोत्रादेः, अर्थस्य च कुड्यकरणादेः^३ युगपद्यत्र सन्निपातः तत्रोभयानुग्रहासम्भवे धर्मलोपेन योऽर्थं गृह्णाति तस्याऽप्येतदेव प्रायश्चित्तम् । अथवा धर्मं हित्वाऽर्थहेतोः कौटसाद्व्यादि करोति तद्विषयमेतन् अत्र गौतमः—

^३कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनं गुरोरृताभिःशंसनं महापातकसमानो'ति । मरुति—

^४अवृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोश्चाऽलीकनिर्वन्धः समानि ब्रह्महृत्यया' ॥ इति ॥ २३ ॥

अनु०—धर्म और अर्थ दोनों का अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होने पर जो व्यक्ति अर्थ अर्थात् भौतिक लाभ का चयन करता है (और धर्म की उपेक्षा कर देता है) उसके लिए भी यही प्रायश्चित्त होता है ॥ २३ ॥

गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा कर्मसमाप्तमेतैनैव विधिनो-

त्तमाटुच्छ्वासाच्चरेत् ॥ २४ ॥

गुरुः पित्राचार्यादिः । श्रोत्रियोऽधीतवेदः । स यदि कर्मसमाप्तो भवति सोमन्तानि कर्माणि समाप्तानि यस्य स कर्मसमाप्तः । तौ हत्वा एतेनैवाऽनन्त-

रोक्तेन विधिना ओत्समाहुच्छ्वासात् । उत्तम उच्छ्वासः प्राणवियोगः । आ तस्माच्चरेत् ॥ २४ ॥

अनु०—गुरु(पिता, आचार्य आदि), वेद के विद्वान् तथा सोमयज्ञ का अन्तिम कर्म समाप्त कर लेने वाले भोत्रिय का वध करने वाला न्यक्ति इसी प्रार्थनाश्च का आचरण अन्तिमइवास रहते समय तक करे ॥ २४ ॥

नास्याऽस्मिह्नौके प्रत्यापत्तिविद्यते ॥ २५ ॥

अश्वमेधावधुधादिषु सम्भवत्स्यपि अस्याऽस्मिल्लोकं अस्मिन् जीविते प्रत्यापत्तिः शुद्धिर्नास्तीत्यर्थः ।

अनु०—उसको पाप से मुक्ति इस संसार में नहीं होती ॥ २५ ॥

करुमपं तु निहृण्यते ॥ २६ ॥

मृतस्य करुमपं निहृण्यते । तन पुत्रादिभिः संस्कारादिः कर्तव्य इति भावः । अन्ये तु पूव सूत्रे-तन्निरुत्थर्थं मन्यन्ते । प्रत्यापत्तिः पुत्रादिभिः पित्रादिभावेन सम्बन्ध इति ॥ २६ ॥

अनु०—मृत्यु के बाद उस व्यक्ति के पाप दूर हो जाते हैं ॥ २६ ॥

इति हरदत्तविरचितायामापस्तम्बसूत्रधृतो चतुर्विंशो कण्डिका ॥ २४ ॥

अथ पश्चाद्विंशो कण्डिका

गुरुत्पगामी सवृषणं शिश्नं परिवास्याऽञ्जलावा

घाय दक्षिणां दिशमनावृत्तं ब्रजेत् ॥ १ ॥

गुरुत्र पिता, नाऽऽचार्यादिः । तल्पशयनेन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते । सा च साक्षाज्जननी^१ । न तत्सपत्नी । तां गत्वा सवृषणं साण्डं शिश्नं परिवास्य क्षुरादिना छिन्वाऽञ्जलावाघाय दक्षिणां दिशं ब्रजेत् । अनावृत्तिम् आवृत्तिर्न क्रियते यस्यां तां दिशमनावर्तमानो गच्छेत् । अथ ये^२ दक्षिणस्यो-दधेस्तीरे वसन्ति तेऽपि यावद्देशं गत्वा उदधिमेव प्रवेक्ष्यन्ति । मरणं ह्यत्र विवक्षितम् । अत्र सर्वतः—

^१पितृद्वारम् समाह्वय मातृवर्जं नराधमः ।

भगिनीं सातुरासं वा स्वसारं वाऽन्यमातृजाम् ॥

एता गत्वा स्त्रियो मोहात्^३ ततःकृच्छ्रं समाचरेत् ॥ इति ।

१. तेन पुत्रादिभिर्संस्काराद्यौष्वेदिकाः कार्या इति भावः० इति ख० पु०

२. तत्सपत्नी वा इति ग० पु०

३. अयेति नास्ति ग० पु०

४. संव० सू० १५८. १५६

५. ततःकृच्छ्रात् पद्माचरेत्, इति. छ० पु०

नारदस्तु—

‘माता मातृष्वसा श्वश्रुमांतलानी पितृष्वसा ।
‘पितृव्यपत्नी शिष्यस्त्री भगिनो तत्सखी स्तुपा ॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञा प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥
आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते ।

शिश्रनस्योत्कृन्तनं तत्र नाऽन्या दण्डां विधीयते ॥ इति ॥ १ ॥

अनु०—गुरु पत्नी से मैथुन करने वाला महापातका आण्डकोष सांश्रुत बनने-
न्द्रिय को काटकर अरना अज्ञाल म रखकर बिना रके दक्षिण दिशा को तब तक
चलता जाय जब तक । गर कर मृत्यु नहीं प्राप्त कर लेता ।

टि०—गुरु त यहाँ पिता से तात्पर्य है। आचार्यादि से नहीं। तलर का ढाधणिक
अर्थ भार्या है। यहाँ साक्षात् मातृगमन से अभिप्राय है, पिता की सपत्नियों से भी
नहीं। दक्षिण समुद्र के किनारे निवास करने वाला व्यक्ति भी दक्षिण की ओर ही चले
और समुद्र में प्रवेश करके मृत्यु प्राप्त करे ॥ १ ॥

ज्वलिता वा सूर्मिं परिष्वज्य समान्पुयात् ॥ २ ॥

आयसी ताम्रमयो वा अन्तस्सुपिरा खीप्रकृतिरत्र सूर्मिः । तां ज्वलितामग्नीं
तप्ताम् । परिष्वज्य समान्पुयात् समाप्तिं गच्छेत् श्रियेत् ॥ २ ॥

अनु०—अथवा बलवा हुई (लोह या ताम्र का) ला प्रतिमा का आलिङ्गन करके
बोवन को समाप्त करे ॥ २ ॥

सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेत् ॥ ३ ॥

‘गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।’

तस्याः पाता सुरापः । सः अग्निस्पर्शां ^३अग्निक्थितां सुरां पिबेत् । तथा ।

दग्धकायः शुद्धयति ॥ ३ ॥

अनु०—सुरापान करने वाला अग्नि पर खोलायी गईं सुप्त पिण्ड ॥ ३ ॥

स्तेनः प्रकीर्णकेशोऽसे मुसलमाधाय राजानं गत्वा कर्माऽऽ

चक्षीत । तेनैनं हन्याद्वधे मोक्षः ॥ ४ ॥

स्तेनो ब्राह्मणवर्णहारो । असे स्वे स्तन्धे । मुसलमाधाय आयसं खादिरं
वा धारयन् । राजानं गत्वा कर्माऽऽचक्षीत—एवंकर्माऽस्मि, शाधि मामिति ।
स तेन मुसलेन एतं स्तेनं हन्यात्, यथा मृतो भवति । ^३वधेन स्तेयात्
मोक्षो भवति ॥ ४ ॥

१ पितृव्यसखिशिष्यस्त्री इति. क० पु० ६ २ अतिश्रुपिता इति. ख० ग० ५०

३. पचे सति स्तेनस्य मोक्षो मुक्तिर्भवत्येनसो नान्यथा इति. क० च० पु०

अनु०—चोर अपने केश विखरे हुए तथा कंधे पर मुसल रखकर राजा के पास जावे और उससे अपना कर्म बतावे। राजा उस मुसल से चोर के ऊपर प्रहार करे, उससे यदि उसका बघ हो जाय तो चोरी के पाप से मुक्ति हो जाती है ॥४॥

अनुज्ञातेऽनुज्ञातारमेनः स्पृशति ॥ ५ ॥

यदि राजा दयादिना तमनुजानीयात् गच्छेति, तदा तमनुज्ञातारं राजन-
मेव तदेनः स्पृशति ॥ ५ ॥

अनु०—यदि राजा उससे क्षमा कर दे तो उसका पाप क्षमा करने वाले राजा को ही लग जाता है ॥ ५ ॥

अग्नि वा प्रविशेत् ॥ ६ ॥

उत्तरसृजु ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा स्वयं को अग्नि में झोक दे ॥ ६ ॥

तीक्ष्णं वा तप आयच्छेत् ॥ ७ ॥

तीक्ष्णं तपः महापराकादि । तदा आयच्छेत् आवर्तयेत् ॥ ७ ॥

अनु०—अथवा (महापराक आदि) कठोर तप का बार बार आचरण करे ॥७॥

भक्तापचयेन वाऽऽस्मानं समानुयात् ॥ ८ ॥

भक्तमन्त्रम् । तस्यापचयो हासः । प्रथमे दिने यावन्तो प्रासाः ते एकेन न्यूना द्वितीये । एवं तृतीयादिपि आ एकस्माद् प्रासात् । तथापि यदि न समाप्तिः ततस्तत्रैव प्रासपरिमाणापचयः कर्तव्यः । एवं भक्तापचयेनाऽऽस्मानं समानुयात् समापयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—अथवा भोजन में प्रतिदिन हास करते हुए अपना जीवन समाप्त कर दे ॥ ८ ॥

कृच्छ्रसंवत्सरं वा चरेत् ॥ ९ ॥

अथ वा संवत्सरमेकं नैस्त्वयेण कृच्छ्रंश्चरेत् । एयमेनसु गुरुषु गुरुणि,
लघुषु लघूनीति व्यवस्था ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा एक वर्ष तक निरन्तर कृच्छ्र व्रत करे ॥ ९ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ १० ॥

अस्मिन्नेव विषये पुराणश्लोकमप्युदाहरन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०— इस विषय में इन श्लोकों को भी उद्धृत किया जाता है ॥ १० ॥

स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा ।
चतुर्थकाला मितभोजिनः स्यु'रपोऽभ्यवेयुः सवनानुकल्पम् ।

स्थानासनभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैरप पापं नुदन्ते ॥ ११ ॥

ब्रह्महत्याव्यतिरिक्तानि स्तेयादीनि कृत्वा चतुर्थकालाद्भृत्यो भोजनकालो-
येषाम् । यथा-अद्य दिवा मुङ्क्ते श्वो नक्तमिति, ते तथोक्ताः । तथापि भित्त-
भोजिनः न मृष्टाशिनः । 'अपोऽभ्यवेयुः भूमिगतास्वप्सु स्नानं कुर्युः । सवना
नुकल्पं; तथा सवनानि प्रातरसवनादीन्यनुकल्पानि अउस्तान्यानुष्ठितानि
भवन्ति तथा' त्रिपवणमित्यर्थः । तिष्ठेयुरहनि, रात्रावासीरन् । एवं स्थानास-
नाभ्यां विहरन्तः कालक्षेपं कुर्वन्तः । एते त्रिभिर्वर्षैस्तत्पापमपनुदन्ते ॥ ११ ॥

अनु०—चोरी करने वाला मु० पात्र करनेवाला गुरुपत्नागमा प्रत्येक चौथे
भोजन क समय थोड़ा भोजन करे तीन सवनों के समय स्नान करे, दिन छोड़े होकर
तथा रात्रि बैठे-बैठे बिठावे । तान वर्ष में ये कर्म उसके पाप को दूर कर देते हैं किन्तु
ब्राह्मण की इत्या करने वाला इसका अन्वय होता है ॥ ११ ॥

प्रथमं वण परिहाप्य प्रथम वणं हत्वा सङ्ग्राम

गत्वाऽवतिष्ठेत् तत्रैनं हृत्युः ॥ १२ ॥

प्रथमो वर्णो ब्राह्मणः । तं हत्वा सङ्ग्रामं गत्वा सेनयोर्मध्येऽवतिष्ठेत् । किं
सर्वे ? नेत्याह—प्रथमं वर्णं परिहाप्य ब्राह्मणवर्जमितरो वर्णः क्षत्रियादिरि-
त्यर्थः । तत्र स्थितमेनं ते सैनिका हृत्युः, त एनं इतं विदधुः । अन्तस्त एन-
स्त्रिनः स्युः, यथा राजा स्तेनम् । स मृतश्शुद्धयति ॥ १२ ॥

अनु०—यदि प्रथम वर्ण को छोड़कर किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति ने प्रथम वर्ण
अर्थात् ब्राह्मण का वध किया है, तो वह युद्ध में जाकर दोनों पक्षों के बीच खड़ा हो
जाय वहाँ सैनिक उसका वध करे तो मरने पर वह पाप से शुद्ध हो जाता है ॥ १२ ॥

अपि वा लोमानि त्वचं मांसमिति हावयि-

त्वाऽर्गिन प्रविशेत् ॥ १३ ॥

अनन्तरोक्त एव विषये प्रायश्चित्तान्तरम् । इतिशब्दो लोहितादीनामप्यु-
पलक्षणार्थः । आत्मनो लोमादीन्युक्त्य पुरोहितेन हावयित्वा होमं कारयित्वा
पश्चात् स्वयं तस्मिन्नग्नीं प्रविशेत्, मृतः शुद्धयति । तत्रानिमुपसमाधाय
जुहुयात् "लोमानि मृत्योर्जुहोमि, लोमभिमृत्युं वासये स्वाहा । त्वचं मृत्यो-
र्जुहोमि त्वचा मृत्युं वासये स्वाहा ॥ लोहितं मृत्योर्जुहोमि लोहितेन मृत्युं

१. अपोऽभ्युपेयुः इति. छ० पु०

२. सोमयागे प्रातर्मध्यन्दिने सायंमिति त्रिषु कालेषु प्रातरसवर्नं माध्यन्दिनं सवर्नं
तृतीयसवर्नं इति सवनत्रयमनु० इतवयाऽऽशीयते तदत्र कालत्रयेऽपि स्नानं कुर्युरित्यर्थः ।

वासये स्वाहा । स्नावानि मृत्योर्जुहोमि स्नावभिर्मृत्युं वासये स्वाहा । मांसानि मृत्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्युं वासये स्वाहा । अस्थीनि मृत्योर्जुहोमि अस्थभिर्मृत्युं वासये स्वाहा । मज्जानि मृत्योर्जुहोमि मज्जभिर्मृत्युं वासये स्वाहा । मेदो मृत्योर्जुहोमि मेदसा मृत्युं वासये स्वाहा” । इत्येते मन्त्राः वसिष्ठेन पठिताः ॥१३॥

अनु०—अथवा अपने शरीर से रोम त्वचा मांस निकलवाकर अग्नि से हवन कराये और स्वयं की अग्नि में झोक दे ॥ १३ ॥

वायसप्रचलाकवह्णिणचक्रवाकहंसभासम^०डुकनकुलडेरिका-

श्वहिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तम् ॥ १४ ॥

वायसः काकः । प्रचलाकः कामरूपी कृकालासः । वह्णिणो मयूरः । चक्रवाको दिवा मिथुनचरः, रात्रौ बिरही । हंसो मानसयासो । भासो गृध्रविशेषः । नकुलमण्डूकादयः प्रसिद्धाः । डेरिका गन्धमूषिका । एतेषां समुदितानां वधे शूद्रवत्प्रायश्चित्तम् । प्रत्येकं वधे तु कल्प्यम् । केचित् प्रत्येकं वध एतत्प्रायश्चित्तमित्याहुः ॥ १४ ॥

अनु०—कौआ गिरगिट मोर चक्रवाक हंस भासनाम का पक्षी मेटक नैवला डेरिका अथवा कुत्ते की हत्या करने पर वही प्रायश्चित्त करे जो शूद्र की हत्या पर किया जाता है ।

टि०—कुछ धर्मज्ञ इनके सवका वध करने पर शूद्रवध के समान प्रायश्चित्त मानते हैं कुछ लोगो के अनुसार इनमे से प्रत्येक के वध पर शूद्रवध के समान प्रायश्चित्त विहित है ॥ १४ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तो प्रथमप्रश्ने पञ्चविंशो कण्डिका ॥ २५ ॥

अथ षडविंशो कण्डिका

धेन्वनहुहोश्चाऽकारणात् ॥ १ ॥

धेनुः पयस्विनी गौः । अनड्वान् अनोवहनयोग्यो वलीवर्द्धः । तयोः कारण-मन्तरेण हिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । कारणं कोपो मांसेच्छा वा । ताभ्यां विना, अनुद्विपूर्धमित्यर्थः । वृद्धिपूर्व तु ‘गाश्च वैरदच’दित्यादि स्मृत्यन्तरे द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

अनु०—विना कारण के दूध देने वाली गौ या बैल की हत्या करने पर शूद्र की हत्या के प्रायश्चित्त के समान ही प्रायश्चित्त करना होता है ।

धुयंवाहप्रवृत्तो चेतरेषां प्राणिनाम् ॥ २ ॥

धुरं वहतीति धुर्यो यलीवर्दः । तेन वोढुं शक्त्या धुर्यवाहः । तावत्सु हिसायाः प्रष्टुतौ सत्याम् इतरेषां प्राणिनां केवलं प्राणा एव येषां नाऽस्थीनि तेषां हिसायां शूद्रवत्यायद्विचमिति । अत्र गौतमः “अस्थन्वतां सहस्रं हत्वा अनस्थिमतामनु-डुङ्कारे चेति ॥ २ ॥

अनु०—अन्य दूसरे केवल प्राणियों का (जिसमें अस्थियों न होवे) बैल के बोस बितनी मात्रा में वध करने पर शूद्र के वध के प्रायश्चित्त के बराबर प्रायश्चित्त करना होता है ॥ २ ॥

अनाक्रोश्यमाक्रुश्याऽनृतं वोक्त्वा त्रिरात्रम-

क्षीराक्षारलवणभोजनम् ॥ ३ ॥

येन यो न कथञ्चनाऽऽक्रोशमर्हति स पित्राचार्यादिरनाक्रोश्यः । तमाक्रुश्य अनृतं वोक्त्वा पातक्रोपातकवर्जं, त्रिरात्रं क्षीरादि भोजने व्रजयेत् । क्षीरप्रहणेन तद्विकाराणां दृध्यादीनामपि ग्रहणमित्याहुः ॥ ३ ॥

अनु०—जिस व्यक्ति के ऊपर किसी प्रकार आक्रोश नहीं करना चाहिए ऐसे पृथ्व्य व्यक्ति पर आक्रोश करने वाला. (छोटी बात पर) अस्तव्य भाषण करने वाला तीन दिन तक दूध मसाले और नमक के भोजन का परदेव करे ॥ ३ ॥

शूद्रस्य सप्तरात्रमभोजनम् ॥ ४ ॥

शूद्रस्त्वनन्तरोकथिष्ये सप्तरात्रमुपवसेत् ॥ ४ ॥

अनु०—यदि शूद्र वर्ण का व्यक्ति यही अपराध करे तो वह सात दिन तक उपवास करे ॥ ४ ॥

क्षीणां चैवम् ॥ ५ ॥

क्षत्रियं हत्वे' (२४.१.) त्यादिषु अनृतवचनाङ्गेषु निमित्तेषु यानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि तानि क्षीणामर्थेवमेव कर्तव्यानि । एतत् 'चत्वारो वर्णा' इति ज्ञात्याभिधानादेव प्राप्तं सत्रियमार्थमुच्यते—अत ऊर्ध्वं पुरुषस्यैव न स्त्रीणामिति । अपर आह—ज्ञात्याभिधानादेव सिद्धे अतिदेशार्थं वचनम् । अतिदेशेषु चाऽर्थं प्राप्यते इति स्मार्तो न्यायः । तेन स्त्रीणामर्थप्राप्त्यर्थं वचनमिति । तथा च भागवतः—

अशौचित्यस्य वर्षाणि षडो वाप्यूनयोदशः ।

प्रायश्चित्तार्थमर्हन्ति स्त्रियो न्यायित एव च ॥' इति ॥ ५ ॥

अनु०—स्त्रियां भी उपयुक्त प्रायश्चित्त करे ।

टि०—इसके बाद के प्रायश्चित्त पुरुष ही करें क्रिया नहीं ॥ ५ ॥

येष्वाभिशास्तयं तेषामेकाङ्गं छित्त्वाऽप्राणिहिंसायाम् ॥ ६ ॥

येषु हतेषु 'सबनगतं वाऽभिशास्त', (३४.९) ईत्यादिना अभिशास्तत्वमुक्तं तेषामेकाङ्गं छित्त्वा शूद्रवत्यायदिचत्तं कुर्यात् । अप्राणिहिंसायां यदि छेदनेन तस्याङ्गस्य शक्ति' न हन्यते ॥ ६ ॥

अनु०—अिन पुरुषों की इका कराने पर इत्या करने वाला अभिशास्त हो जाता है, उन व्यक्तियों' के शरीर का एक अंग काटने पर, यदि उनका प्राण संकटापन्न नहीं होवा (उस अंग की शक्ति नष्ट नहीं होती) तो शूद्र के वच के समान प्रायश्चित्त करना होता है ॥ ६ ॥

^३अनार्यवैपशुनप्रतिपिद्धाचारेष्वभश्या भोज्यापेयप्राशने शूद्रायां च रेतस्सिक्वाऽप्येतौ च दोषवच्च कर्माभिसन्धिपूर्वं कृत्वाऽभिसन्धिपूर्वं वाऽबिलङ्गाभिरप उपस्पृशेद्वाऽरुणोभिर्वाऽन्यैर्वा पवित्रमन्त्रैर्यथा कर्माभ्यासः ॥ ७ ॥

आर्याणां भाव आर्यम् । तद् अस्मिन्नाचारेऽस्ति तद्वार्यवम् । मत्वर्थीयो वप्रत्ययः । ततोऽन्यदनार्यवम् । असत्यभाषणादि । पेशुनं परदोषकथनं राजगामिप्रतिपिद्धाचारः 'श्रीवचनमैथुनयोः कर्माऽस्तुपुर्लभे' (३०.१९) दित्यादेरुद्घातनम् । अभक्ष्यं वृथाकृसरदि । अभोष्यं केशकीटागुपहतम् । अपेयम् अनिर्दिश्यायाः गोः क्षीरादि । एतेषां प्राशने शूद्रायां च वेद्यामभृतौ रेतः सिक्त्वा । अयोनी च जलादौ रेतः सिक्त्वा । शोषवच्च कर्म श्रोतमाभिचारिकम् । अभिसन्धिपूर्वं बुद्धिपूर्वं कृत्वा अनभिसन्धिपूर्वं वा परपीडादिकरं कर्म कृत्वा । अबिलङ्गाभिः^४ आपो हि ष्टा मयोऽभुव' इति तिसृभिः^५ हिरण्य वर्णांश्चुचयः पायका' इति चतसृभिरप उपस्पृशेत् । तूष्णीं प्रथमं स्तात्वा पश्चादेतैर्मन्त्रैर्मर्जनं कुर्यात् । वारुणभिर्वा^६ इमं मे वरुण, तस्त्वा यामि; त्वन्नो अग्ने' इत्येताभिरन्यैर्वा पवित्रैः^७ 'पवमानस्तुवर्जनः' इत्येतैर्नाबुवाकेन^८ शुद्धयतीभिः^९ तरत्समन्दीयेन च । यथा

१. न भक्ष्यते, इति. घ० पु० । २. गौतमीये २६. १६ सूत्रं द्रष्टव्यम् ।

३. तै० ५. ६. १० यो वदियवतमो रतः, तस्मा अरं गमाम वः, इत्यग्निमे ऋची ।

४. तै० सं० ६. ६. १ याली राजा वरुणः, यसां देवा द्विवि शिवेन मा चतुष्पा इत्यग्निं ऋक्चयम् ।

५. तै० सं० ४. २. ११ ६. तै० ब्रा० १. ४. ८

७. ऋ० सं० ८. १५. ६ ८. ऋ० सं० ८. १५. ७.

कर्माभ्यासः' कृतः तावच्छ्रुत्वो उपसृशेत् । रहस्यप्रायश्चित्तमेतदित्याहुः ॥५॥

अनु० - अनार्य आचरण का दोषी, दूसरों पर दोष लगाने वाला, निषिद्ध आचार का अनुसरण करने वाला, वञ्चित वस्तु का भक्षण और पान करने वाला, शूद्रा स्त्री से मैथुन करके, योनि के अतिरिक्त अन्यत्र (अस्वाभाविक) वीर्य स्वलन करके दोषयुक्तः ज्ञानवृद्धकर (शत्रु आदि के नाश के लिए अथवा अनजान ही अभिचारिक कर्म करने पर, आपोहिष्ठा मयोभुव' आदि तीन मन्त्रों से तथा 'दिरण्यवर्णांशुचयः पावकाः' आदि चार मन्त्रों से स्नान तथा बल से अभिषेक करे, अथवा ब्रह्मण के मन्त्रों 'इमं मे वरुण', 'तत्रा यामि' 'त्वन्नो अग्ने' आदि मन्त्रों या 'पवमानस्तुबर्बनः' अनुवाक से अपराध की मात्रा के अनुसार स्नान करे ॥ ७ ॥

गर्दभेनाऽवक्रीणीं निःश्रुतिं पाक्यज्ञेन यजेत् ॥ ८ ॥

यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात् सोऽवक्रीणीं गर्दभेन निःश्रुतिं यजेत् पाक्यज्ञेन स्थालीपाकविधानेन । अत्र मनुः—

२४ 'अवक्रीणीं तु कोनेत गर्दभेन चतुष्पथे ।

पाक्यज्ञविधानेन, यजेत निःश्रुतिं निशि ॥' इति ।

हारीतरत्न—

'स्त्रीष्यरक्रीणीं निःश्रुत्यै चतुष्पथे गर्दभं पशुमालभेत पाक्यज्ञधर्मेण । भूमौ पशुपुरोडाशशवणमप्सवदानैः प्रचार्याऽऽज्यं जुहोति 'कामावक्रीणींऽऽस्स्यवकी-
णींऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामाभिद्रुघोस्यभिद्रुघोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इति ॥ ८ ॥

अनु० - (स्त्री स्पर्श से) ब्रह्मचर्यं को भंग करने वाला अवक्रीणीं ब्रह्मचारी निःश्रुति के लिए पाक्यज्ञ की विधि से गदहे की बलि प्रदान करे ॥ ८ ॥

तस्य शूद्रः प्रादनीयात् ॥ ९ ॥

तस्य गर्दभस्य सपिप्मद्धविरुच्छिष्टं शूद्रः प्रादनीयात् 'तेन सपिप्मवा
म्राह्मण' मित्यस्याऽपवादः ॥ ९ ॥

अनु०—उस गर्दभ की बलि का रक्व करने से अपशिष्ट मांस का शूद्र पुरुष को भक्षण कपाये ॥ ९ ॥

मिथ्याधीतप्रायश्चित्तम् ॥ १० ॥

नियमातिव्रमेणाऽर्घोत मिथ्याधीतम् । तद्दोषनिर्हरणाय प्रायश्चित्तं
वक्ष्यते ॥ १० ॥

अनु०—नियम का उल्लंघन करके अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के दोष का प्रायश्चित्त आगे बताया जायगा ॥ १० ॥

संत्रसरमाचार्यंहिते वतंसानो वाचं यच्छेस्वाध्याय एवोत्सृजमानो

वाचमाचार्यं आचार्यंदारे वा भिक्षाचर्ये च ॥ ११ ॥

आचार्यंहिते वर्तमानो वचंयमः स्यात् । 'स्वाध्यायादिष्वेवु वाचमुत्सृज-
मानः । आचार्यं तं प्रति कार्यनिवेदने । एवमाचार्यंदारे । भिक्षाचर्यं भिक्षाचर-
णम् । तत्र च 'भवति भिक्षां देहोति । अस्मादेव ह्यायते—असमावृत्तविषयमेत-
दिति ॥ ११ ॥

अनु०—एक वर्ष तक बुराचप गुरु की सेवा करे, और केवल प्रतिदिन के स्वाध्याय के समय आचार्य, आचार्यपत्नी से किसी आवश्यक कार्य का निवेदन करते समय, और भिक्षाचरण के समय ही बोले ॥ ११ ॥

एवमन्येऽत्रपि दोषवत्स्वपतनोपेतूत्राणि यानि वक्ष्यामः ॥ १२ ॥

यथा मिथ्यार्थो तस्येदं प्रायश्चित्तमेवमुत्तराणि यानि प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामः
तान्यन्येष्वपि । अपिशब्दात्मिथ्याधीतेऽपि । दोषवत्स्वपतनोयेषु पतनीयव्यति-
रिक्तेषु कर्मसु येष्याहत्य प्रायश्चित्तं नोक्तं तद्विषयाणि द्रष्टव्यानि ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार उन्ही दोषों के लिए तथा अन्य दोषयुक्त कर्मों के लिए भी आगे बताये जाने वाले प्रायश्चित्त करने चाहिए ॥ १२ ॥

काममन्युभ्यां वा जुहुयात्कामोऽकार्षोमन्युर त्र्यर्षोदिति ॥ १३ ॥

स्वाहाकाराः ताम्बां होमः । अल्पं द्रव्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—काम और मन्यु के लिए 'कामोऽकार्षोत्' (ऐसा काम ने किया है)
'मन्युरकार्षोत्' (ऐसा मन्यु ने किया है) कहते हुए हवन करे ॥ १३ ॥

जपेद्वा ॥ १४ ॥

अस्मिन् पक्षे न स्वाहाकारः । केचित्तु 'कामाय स्वाहा' 'मन्यवे स्वाहे'ति
होममिच्छन्ति । जपपक्षे तु सूत्रोपदिष्टो मन्त्राविति । दोषाभ्यासानुरूपं जप-
होमयोरपवृत्तिः ॥ १४ ॥

अनु०—अथवा काम और मन्यु के मन्त्र का केवल जप करे ॥ १४ ॥

पर्वणि वा तिलमक्ष उपोष्य वा श्वोभूत उदकमुप-

स्पृश्य सावित्रीं प्राणायामशस्सहस्रकृत्व आ-

वर्तयेदप्राणायामशो वा ॥ १५ ॥

पर्वणि पौर्णमास्याममाधास्यायां वा । तिलानेव भक्षयति नान्यदोदना-
दिकमिति तिलभक्षः । इवोभूते उदकमुपपृश्य स्नात्वा सावित्री प्राणायामशः
प्राणायामेन एकस्मिन्प्राणायामे यावत्कृत्व आवर्तयितुं शक्यं तावत्कृत्व आवर्त-
येत् । एवमा सहस्रपूर्तः प्राणायामावृत्तिः । अप्राणायामशो वा 'जपकाले प्राणा-
नायच्छेत्, तूर्णान् जपेद्वेति ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा पर्वो पर (पौर्णमासी तथा अमावस्या को) तिल का भक्षण करके
अथवा उपवास करके, दूसरे दिन स्नान करे, प्राणायाम करके गायत्री मन्त्र का एक
हजार बार जप करे अथवा बिना प्राणायाम किये ही गायत्री मन्त्र का एक हजार बार
जप करे ॥ १५ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने षड्विंशो कण्डिका ॥ २६ ॥

श्रावण्यां वा पौर्णमास्यां तिलभक्ष उभोष्य वा इवो भूते 'माहानदमुद-
: कमुपस्पृश्य सावित्र्या समित्सहस्रमादध्याजपेद्वा ॥ १ ॥

गिरिप्रभवा समुद्रगामिनी नदी महानदी तत्र भवं महानदम् । समित्सहस्रं
याज्ञिकस्य वृक्षस्य 'आदध्या'दिति वचनात्त होमधर्मः स्वाहाकारः^३ 'जुहोति-
चोदना स्वाहाकारप्रदान,' इत्युक्त्यात् । जपेद्वा ॥ १ ॥

अनु०—अथवा भाषण महीने की पौर्णमासी को तिल का भक्षण करके या उप-
वास करके दूसरे दिन किसी बड़ी नदी में स्नान करे और एक सहस्र याज्ञिक वृक्ष की
समिधाएँ गायत्री मन्त्र का जप करते हुए अग्नि पर रखे अथवा एक सहस्र बार गायत्री
मन्त्र का जप करे ॥ १ ॥

इष्टियज्ञक्रतून्वा पवित्रार्थानाहरेत् ॥ २ ॥

पवित्रार्थाः शुद्धयर्थाः 'मृगाराथा इष्टयः । 'यज्ञक्रतवः सोमयागा अग्निष्टो-
मादयः । ताः येतानि षट् प्रायश्चित्तानि एनस्सु गुरुषु गुरुषु, लघुषु लघुषु ॥२॥
अनु०—अथवा अपनी शुद्धि के लिए (मृगारादि) इष्टियज्ञ, सोमयाग अग्निष्टोम
आदि यज्ञ करे ।

१. बरकाल इत्यादि नास्ति स० ष० पु० २. महानदं इति उ० पु०

३. (आ० १० ३. ४.) "जुहोतिचोदना स्वाहाकारप्रदान इत्युक्त्यात् । जपेद्वा"

इति नास्ति० क० उ० पु०

४. अमनयेदशोदुचेदप्याकपालः (वे, ध० ७. ५. २२) इति विरिठोऽधिर्मुंनोऽविष्टयं
इति० ।

५. यज्ञाः क्रावः । इति क० उ० पु०

टि०—इस प्रकार छ. विविध प्रायश्चित्त बताये गये हैं, अधिक दोष होने पर कठिन प्रायश्चित्त करे और कम दोष होने पर इनमें से सरल प्रायश्चित्त करे ।—हरदत्त की व्याख्या ॥२॥

अभोज्यं भुक्त्वा नैष्णुरीण्यम् ॥ ३ ॥

अभोज्यस्य मार्जारदिमांसस्य भक्षणे निष्पुरीषभावः कर्तव्यः । यावदुदरं निष्पुरीषं भवति तावदुपवस्तव्यम् ॥ ३ ॥

अनु०—निषिद्ध भोजन का भक्षण करने पर तब तक उपवास करे जब तक पेट मलरहित नहीं हो जाता ॥ ३ ॥

तत्क्रियता कालेनाऽवाप्यते ? तद्वाह—

तत्सप्त रात्रेणाऽत्राप्यते ॥ ४ ॥

तत् नैष्णुरीण्यम् । सप्त रात्रेणाऽवाप्यते सप्त रात्रमुपवस्तव्यमित्यर्थः । सप्त रात्रमुपवसेदितः च सिद्धे नैष्णुरीण्यवचनाद्योषां त्रिरात्रेणैव तदवाप्यते तेषां तावदेव शुद्धिः । तथा च गौतमः—^१‘अभोज्यभोजने निष्पुरीषभावः त्रिरात्रावरमभोजनं सप्त रात्रं वै’ति ॥ ४ ॥

अनु०—पेट में मल का पूर्णतः अभाव सामान्यतः सात रात्रियों में होता है ॥४॥

हेमन्तशिधिरयोर्वोभयोस्सन्ध्योर्वोदिकमुपसृशेत् ॥ ५ ॥

उभयोः सन्ध्ययोः सायं प्रातश्च । उदकमुपसृशेत् भूमिगतास्फुप्सु स्नायात् । उद्धृताभिर्वा शीताभिः ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा हेमन्त और शिधिर ऋतुओं में प्रातः और साय उठते जब से स्नान करे ॥ ५ ॥

कृच्छ्रद्वादशरात्र वा चरेत् ॥ ६ ॥

द्वादशरात्रसाध्यो व्रतविशेषः कृच्छ्रद्वादशरात्रः ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा चारह दिन का कृच्छ्र व्रत करे ॥ ६ ॥

तस्य विधिमाह—

त्र्यहमनन्तारयदिवाशो ततस्त्र्यहम् , त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाशनाति

किञ्चनेति कृच्छ्रद्वादशरात्रस्य विधिः ॥ ७ ॥

आदित्तस्त्रिष्वहसु नक्तं नाऽश्नीयात् । दिवं च भुञ्जेत् । ततस्त्र्यहमद्विवाशो रात्रावेव भुञ्जीत । न दिवा । ततस्त्र्यहमयाचितमेव भुञ्जेत् । याच्याप्रतिषेधोऽयम् । तेन स्वद्वन्द्वस्याऽप्रतिषेधः । तथा च गौतमः ^२‘अथाऽपरं त्र्यहं न कंचन

पर्वणि पौर्णमास्यामावास्यायां वा । तिलनेत्र भक्षयति नान्यदोदना-
दिक्रानति तिलमक्षः । इवोनूते उदकमुपट्टय्य स्नात्वा सवित्री प्राणायामशः
प्राणायामेन एकस्मिन्प्राणायामे यावत्कृत्व आवर्तयितुं शक्यं तावत्कृत्व आवर्त-
येत् । एवमा सहस्रभूतेः प्राणायामादृत्तिः । अत्राणायामशो वा 'जपकाले प्राणा-
नायच्छेत्, तूर्ण्यी जपेद्वेति ॥ १५ ॥

अनु०—अथवा पर्वो पर (पौर्णमासी तथा अमावस्या को) तिल का मक्षण करके
अथवा उखाव करके, दूसरे दिन स्नान करे, प्राणायाम करके गायत्री मन्त्र का एक
हजार बार बार करे अथवा बिना प्राणायाम किये ही गायत्री मन्त्र का एक हजार बार
बार करे ॥ १५ ॥

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रदृष्टौ प्रथमप्रश्ने षड्विंशोऽङ्किका ॥ २६ ॥

श्रावण्यां वा पौर्णमास्यां तिलमज्ज उभोष्य वा श्वो भूते 'माहानदमुद-
ः कमुपस्पृश्य सवित्र्या समित्सहस्रमादध्याञ्जपेद्वा ॥ १ ॥

गिरिप्रमवा समुद्रगानिनी नदी महानदी तत्र भवं महानदम् । समित्सहस्रं
याञ्छिकृत्य दृक्षत्स 'आदध्या'दिति वचनात्त होमधर्मः स्वाहाकारः^३ 'जुहोति-
चोदना स्वाहाकारप्रदान,' इत्युक्त्याम् । जपेद्वा ॥ १ ॥

अनु०—अथवा क्षावण महाने की पौर्णमासी को तिल का मक्षण करके या उर-
वात करके दूसरे दिन किसी बड़ी नदी में स्नान करे और एक सहस्र याञ्छिक दृष्ट की
समिवाएँ गायत्री मन्त्र का बार करते हुए अग्नि पर रत्ने अथवा एक सहस्र बार गायत्री
मन्त्र का बार करे ॥ १ ॥

इष्टियत्तकतूनुवा पवित्रार्थानाहेत् ॥ २ ॥

पवित्रार्थाः शुद्धार्थाः 'दृगापया इष्टयः । 'यत्तद्वत्तवः सोमवागा अग्निष्टो-
नादयः । तान्पैवानि षट् प्रायश्चित्तानि एतन्सु गुरुषु गुरुणि, लघुषु लघुनि । २।
अनु०—अथवा अननो दृष्टि के लिए (सुगन्धदि) इष्टियाँ, सोमवाग अग्निधोम
आदि यज्ञ करे ।

१. बनकाठ इत्यादि नाति ल० च० पु० २. महानद इति छ० पु०

३. (आ० प० ३. ४.) 'जुहोतिबोदना तदाकाप्यदल इत्युक्तात् । बंधेदी'
इति नाति० क० छ० पु०

४. अनपेऽदोदुचेऽप्याकरतः (वि० सं० ७. ५. २२) इति विहितोऽधर्मनोऽपिष्टियं
इतिष्ठा ।

५. यज्ञाः कृतवः । इति क० छ० पु०

टि०—इस प्रकार छः विविध प्रायश्चित्त बताये गये हैं, अधिक दोष होने पर कठिन प्रायश्चित्त करे और कम दोष होने पर इनमें से सरल प्रायश्चित्त करे ।—हरदत्त की व्याख्या ॥२॥

अभोज्यं भुक्त्वा नैष्पुरीष्यम् ॥ ३ ॥

अभोज्यस्य मार्जारदिमांसस्य भक्षणे निष्पुरीपभावः कर्तव्यः । यावदुदरं निष्पुरीपं भवति तावदुपवस्तव्यम् ॥ ३ ॥

अनु०—निर्बिद्ध भोजन का भक्षण करने पर तब तक उपवास करे जब तक पेट मजबूत नहीं हो जाता ॥ ३ ॥

तत्क्रियता कालेनाऽवाप्यते ? तद्वाह—

तत्सप्त रात्रेणाऽवाप्यते ॥ ४ ॥

तत् नैष्पुरीष्यम् । सप्त रात्रेणाऽवाप्यते सप्त रात्रमुपवस्तव्यमित्यर्थः । सप्त रात्रमुपवसेदितः च सिद्धे नैष्पुरीष्यवचनाद्येप्यं त्रिरात्रेणैव तदवाप्यते तेषां तावदेव शुद्धिः । तथा च गौतमः—“अभोज्यभोजने निष्पुरीपभावः त्रिरात्रावरमभोजनं सप्त रात्रं वेति ॥ ४ ॥

अनु०—पेट में मल का पूर्णतः अभाव सामान्यतः सात रात्रियों में होता है ॥४॥

हेमन्तशिधिरयोर्वोभयोस्तन्व्योर्वोदकमुपसृशेत् ॥ ५ ॥

उभयोः सन्व्ययोः साद्यं प्रातश्च । उदकमुपसृशेत् भूमिगतास्वप्सु स्नायात् । उद्यूताभिर्वा शोताभिः ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा हेमन्त और शिधिर ऋतुओं में प्रातः और सायं दण्डे अङ्गुल स्नान करे ॥ ५ ॥

कुच्छद्वादशरात्र वा चरेत् ॥ ६ ॥

द्वादशरात्रसाध्यो व्रतविशेषः कुच्छद्वादशरात्रः ॥ ६ ॥

अनु०—अथवा बारह दिन का कुच्छु व्रत करे ॥ ६ ॥

तस्य विधिमाह—

त्र्यहमनक्कार्यदिवाशो ततस्त्यहम्, त्र्यहमयाचितत्रतस्त्यहं नाशनाति कश्चनेति कुच्छद्वादशरात्रस्य विधिः ॥ ७ ॥

आदितस्त्रिष्वहस्तु नक्तं नाऽश्नेयात् । दिवंच भुञ्जेत् । ततस्त्यहमद्विवाशो रात्रावेव भुञ्जेत् । न दिवा । ततस्त्यहमयाचितमेव भुञ्जेत् । याच्याप्रतिषेधोऽयम् । तेन त्वद्व्यस्याऽप्रातिषेधः । तथा च गौतमः—“अथाऽपरं त्र्यहं न कृचन

याचे'दिति । ततश्चहं नाशनाति कञ्चन फलादिकमपीति । एवं कृच्छ्रद्वारा-
दशरात्रस्य विधिः । तत्र स्तुत्यन्तरवाशाद्धविष्यमन्नं ब्रह्मचर्यं, स्त्रीशुद्धादिभिरस-
म्भाषणं च द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

अनु०—(कृच्छ्र व्रत का नियम इस प्रकार है) तीन दिनों सन्ध्या को भोजन न
करे, फिर अगले तीन दिनों दिन में भोजन न करे, फिर तीन दिन विना मींगे प्रातः
अन्न खाकर रहे और उसके बाद तीन दिन तक कुछ न खावे । इस प्रकार बारह दिन
के कृच्छ्र व्रत की विधि है ॥ ७ ॥

एतमेवाऽभ्यास्येत् संवत्सरं स कृच्छ्रसंवत्सरः ॥ ८ ॥

एतमेव विधिं संवत्सरं निरन्तरमभ्यसेत् । स एष कृच्छ्रसंवत्सरो वेदि-
तव्यः । यः पूर्वोक्तः 'कृच्छ्रसंवत्सरं वा चरे' (२५. ९.) दिति ॥ ८ ॥

अनु०—यदि इसी व्रत की आवृत्ति वर्ष भर तक करे तो वह एक वर्ष का कृच्छ्र-
व्रत (कृच्छ्रसंवत्सर) होता है ॥ ८ ॥

अथाऽपरं बहून्वप्यपतनीयानि कृत्वा त्रिभिरनश्नन् पारा-

यणैः कृतप्रायश्चित्तो भवति ॥ ९ ॥

अथाऽपरं प्रायश्चित्तमुच्यते । अनश्नतैव निरन्तरं त्रीणि पारायणानि कर्त-
व्यानि । आदिस आरभ्याऽऽसमाप्तेर्वेदस्याऽध्ययनं पारायणम् । बहून्वपि ।
अपिशब्दात्किं पुनरेकं द्वे वा ॥ ९ ॥

अनु०—अथ दूसरे व्रत का नियम इस प्रकार है । अनेक ऐसे दोष युक्त कर्म करने
पर, जिन कर्मों से पतन नहीं होता, यदि उपवास करते हुए अपने वेद की सम्पूर्ण
शाखा की निरन्तर तीन बार पारायण करे तो दोष से मुक्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

अनार्या शयने विभ्रद्ददद्वृद्धिं कवायपः । अब्राह्मण इव

वन्दित्वा तुणेष्वासीत् पृष्ठतप् ॥ १० ॥

अनार्या शूद्रा तां शयने विभ्रत् उपगच्छन् । ददद्वृद्धिं वृद्धयर्थं द्रव्यं ददत् ।
वृद्धयाजीव इत्यर्थः । सुराव्यतिरिक्तं मद्यं कवायः । तस्य पाता कवायपः । यश्चा-
ऽब्राह्मण इव सर्वान् वन्दी भूत्वा स्तौति स सर्वोऽपि तुणेपूदयादारभ्याऽऽसीत् ।
यावदस्याऽऽदित्यः शृष्टं पश्चाद्भागं तपति । आदित्ये तपति तदानुगुण्यचरणान्
स्वयमेव पृष्ठतवित्युच्यते । अभ्यासे अभ्यासो यावता श्रद्धि मन्वते ॥ १० ॥

अनु०—अनार्या अर्थात् शूद्रा से संभोग करने वाला, न्याब पर धन देने वाले,
(सुरा के अतिरिक्त अन्य) मादक द्रव का पान करने वाला, सबकी अब्राह्मण की तरह
वन्दना करने वाला, घास पर (सूर्योदय के समय से) बैठकर अग्नी पीठ को तपाने ॥-

यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णं वर्णं ब्राह्मणस्सेवमानः चतुर्थकाल

^१उदकाभ्यवायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम् ॥ ११ ॥

कृष्णो वर्णः शूद्रः । तमाहाकरो भूत्वा वृत्त्यर्थं सेवमानः । शिष्टं स्पष्टं गतं च । अपर आह— शूद्रां मैथुने सेवमान इति । अस्मित्यंशे ऋताबुगमने अपत्योत्पत्ताविवं द्रष्टव्यम् । मनुः—

^२वृषलीफेनपीतस्य निशवासोपहतस्य च ।

तस्यां चैव प्रसृतस्य निष्कृतिर्ने विधोयते ॥^३ इति ॥ ११ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रश्रुतौ प्रथमप्रश्ने सप्तविंशो कण्डिका ॥ २७ ॥

अनु०—कृष्ण वर्ण (शूद्र) की एक दिन और एक रात सेवा करने के दोष को ब्राह्मण वर्ण का पुरुष प्रति चौथे भोजनकाल पर स्नान करके तीन वर्ष में दूर कर देता है । टि०—कुछ लोगो ने सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है । ब्राह्मण शूद्रा से एक रात्रि में सभोग का दोष इस प्रायश्चित्त से दूर करता है ।

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रश्रुतौ हरदत्तमिश्राविरचितायामु-

ज्वलायां प्रथमप्रश्ने नवमः पटलः ॥ ९ ॥



अथ दशमः पटलः

यथा कथा च परपरिग्रहमभिमन्यते स्तेनो ह भवतीति

कौत्सहरीतौ तथा काण्वपुष्करसादी ॥ १ ॥

‘यथा कथा च आपघनापदि वा भूयांसमल्पं वा, परपरिग्रहं परस्वमभिमन्यते-ममेदमस्त्विति बुद्धौ कुरुते’ सर्वथा स्तेन एव भवतीति कौत्सादयो मन्यन्ते ॥ १ ॥

अनु०--ब्रह्म किसी अवस्था में (आपत्ति में या सामान्य अवस्था में) जो व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति को प्राप्त कर लेने का लोभ करता है, वह स्तेन होता है, ऐसा कौत्स और हरीत का तथा काण्व और पुष्करसादी का मत है ॥ १ ॥

सन्यपवादाः परपरिग्रहेष्विति वाप्यायिणिः ॥ २ ॥

वाप्यायिणितु मन्यते केषुचित्परपरिग्रहेषु स्तेयस्याऽपवादासन्तीति ॥ २ ॥

अनु०--दूसरे की वस्तु ग्रहण करने के विषय में अपवाद भी हैं, ऐसा वाप्यायिणि का मत है ॥ २ ॥

वानेवोदाहरति—

शाम्योषा युग्यघासो न स्वामिनः प्रतिषेधयन्ति ॥ ३ ॥

शमी बीजकोशी तस्यामुष्यन्ते दहन्ते कालवशेन पच्यन्ते इति शाम्योषाः कीशीधान्यानि मुद्गरमापचणकादीनि । युगं वहतीति युग्यः शकटवाद्यं घलीवर्द्धः, तस्य घासो भक्षस्तृणादिः युग्यघासः । एते आदीयमानाः स्वामिनो प्रतिषेधयन्ति स्वामिभिः प्रतिषेधं न कारयन्ति । एतेष्व्यादीयमानेषु स्वामिनः न प्रतिषेद्धुमर्हन्तीत्यर्थः । स्वयंग्रहणेषां न स्तेयद्रोष इति यावत् । अत्र रत्यन्तरे विशेषः—

‘चणकत्रीहिगोधूमयवानां मुद्गरमापयोः ।

अनिषिद्धैर्महीतव्यो मुष्टिकेऽध्वनि स्थितैः ॥’

मनुस्तु—

‘द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविधु द्वे च मूलके ।

आद्दानः परक्षेत्रात्त दण्डं दानुमर्हति ॥ ३ ॥

१. ‘कया’ इति छान्दसं रूपं कयमित्यर्थं । दण्डं च ‘दमन्नुवन् कया हाग्याः’ (शै० सं० २. ६. ३) ‘कया मा निरभागिति’ (शै० सं० ३. १. ६) इत्यादौ ।

२. बुद्धौ कृत्वाऽऽरच इत्यर्थः, इत्यधिकं क० छ० पु० ३. म० स्पृ० ८. ३४१

अनु०—बीज बीज के भीतर पकने वाले बीज (कोशीधान्य, मुद्ग, माष, चणक आदि), तथा दैह को खिलाने के लिए घास ग्रहण करने वाले को इन वस्तुओं का स्वामी मना न करे ॥ ३ ॥

अतिव्यवहारो व्यूढो भवति ॥ ४ ॥

शम्योपादिष्वपि अतिव्यवहारो व्यूढो दुष्टो भवति, अतिमात्रापहारं स्ते-
यदोषो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अनु०—किन्तु इन वस्तुओं को भी बहुत अधिक मात्रा में लेना दोषयुक्त होता है।
सर्वत्राऽऽनुमतिपूर्वमिति हारीतः ॥ ५ ॥

सर्वेषु द्रव्येषु सर्वास्ववस्थानु स्वाम्यनुमतिपूर्वमेव ग्रहणमिति हारीत
आचार्यो मन्यते ॥ ५ ॥

अनु०—हारीत का मत है कि सभी अवस्थायों में वस्तु ग्रहण करने से पहले
स्वामी को अनुमति ले लेनी चाहिए ॥ ५ ॥

न पाततमाचार्यं ज्ञाति वा दर्शनार्थो गच्छेत् ॥ ६ ॥

‘न पतितैः सव्यवहारो विद्यत’ (२१.५) इत्युक्तेऽपि पुनरुच्यते—आचार्यो-
दियु विशेषं वक्ष्यामीति ॥ ६ ॥

अनु०—पतित आचार्य या निकट सम्बन्धी से मिलने के लिए न जावे ॥ ६ ॥

न चाऽऽत्माद्भोगानुपयुञ्जीत ॥ ७ ॥

अस्मात्पतितादाचार्यात् ज्ञातेषां पित्रादेः भोगान् भोगसाधनानि दाययात-
यपि नोपयुञ्जीत न गृहीयात् ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार के व्यक्ति से अपने सुख की वस्तुएँ भी न ग्रहण करे ॥ ७ ॥

यदृच्छासन्निपात उपसंगृह्य तूष्णीं व्यतिव्रजेत् ॥ ८ ॥

यदि पतितैराचार्यादिभिर्नृदृच्छ्यां सन्निपातः सङ्गतिः स्यात् तदाऽविधि-
नोपसंगृह्य तूष्णीं तैस्सह किञ्चिदप्यसम्भाव्य व्यतिव्रजेत् गच्छेत् । न क्षणमपि
इ तिष्ठेत् ॥ ८ ॥

अनु०—यदि सहसा वे मिल जाँय तो चुपचाप उनका चरणस्पर्श करके वहाँ से
प्रस्थान कर देना चाहिए ॥ ८ ॥

माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्मण्यारभते तस्यां शुश्रूषा

नित्या पतितायामपि ॥ ९ ॥

पुत्रत्वस्य, स्वार्थिकत्वः । यथा ‘देहत्वमेवान्य’दिति । पुत्रस्य कृते माता
भयांसि दृष्टार्थानि गर्भधारणाशुचिर्निर्हरणस्तन्वदानप्रदक्षिणनमस्कारोपवासा

दीनि कर्माणि करोति तस्मात्तस्यां पतितायामपि शुश्रूषा अभ्यङ्गस्तापनादिका-
नित्या नित्यमेव कर्तव्या ॥ ९ ॥

अनु०—माता पुत्र के लिए अनेक कर्म करती है, उसकी सेवा सदैव करनी
चाहिए, भले ही वह पतिता हो गई हो ॥ ९ ॥

न तु धर्मसन्निवापः स्यात् ॥ १० ॥

एकस्मिन् धर्मे सहाऽन्वयो धर्मसन्निवापः । स पतिताया मात्रा सह न कर्त-
व्यः । नामसुब्रह्मण्यां मातुर्नामग्रहणम् । वरुणप्रघासेषु 'यवन्तो यजमानस्था-
ऽमात्याः सखीकास्तावन्त्येकातिरिक्तानी' त्येवमादिकमुदाहरणम् । किं पुनरेव-
मादिषु मातुरन्वयः शुश्रूषा ? ओमित्याह । अन्विता हि सा सम्मता मन्यते ।
निरस्ता तु विभता । वैश्वदेवार्थे च पाके सा न भोजयितव्या । मृतायास्तु
तस्याः संस्कारादिकाः क्रियाः कर्तव्याः नेति विप्रतिपन्नाः ॥ १० ॥

अनु०—किन्तु धर्म के लिए किए जाने वाले कर्मों में पतिता माता के साथ किसी
प्रकार का संबन्ध न रहे ॥ १० ॥

अधर्माहितान् भोगाननुज्ञाय न वयं चाऽधर्मश्चेत्यभिव्याहृत्याऽधो नाम्यु-
परिजान्वाच्छाद्य त्रिपवणमुदकमुपस्पृशन्नक्षीराक्षारलवणं

भुञ्जानो द्वादशवर्षाणि नाऽगारं प्रविशेत् ॥ ११ ॥

ब्राह्मणस्वहरणम्,

'चण्डालान्त्यस्थियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥

इत्येवमादिकमुदाहरणम् । ये अधर्माहिता भोगास्ताननुज्ञाय परित्यज्य 'न
वयं चाऽधर्मश्चे'ति प्रैषं नूयात् । तस्यार्थः—वयं चाऽधर्मश्च सह न वर्तोमह इति ।
अधो नामीत्यादि (२४.११) गतम् । नात्राऽर्धशणीपक्षो भिक्षार्चयं वा ॥११॥

अनु०—अधर्म से उपलब्ध सुख की वस्तुओं का त्याग कर दे 'इम और अधर्म
साथ नहीं रहेंगे' ऐसा कहकर, नामि से लेकर दुष्टों तक का बल धारण कर प्रतिदिन
तीन सवनों के समय स्नान करे और दूध, मसाला, नमक से वर्धित अन्न का भोजन
करे तथा बारह वर्षतक घर में प्रवेश न करे ॥ ११ ॥

ततस्सिद्धिः ॥ १२ ॥

एतस्य द्वादशवार्षिकस्याऽन्ते सिद्धिः शुद्धिर्भवति ॥ १२ ॥
अनु०—उसके बाद उसकी पाप से शुद्धि हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ सम्प्रयोगस्स्यादायैः ॥ १३ ॥

प्रायश्चित्तोपदेशात् सिन्धुपदेशाच्च सिद्धे पुनर्वचनं 'ज्ञानात्सान्यं तु गच्छ-
ती'त्यस्माऽपवादाद्धर्मम् ॥ १३ ॥

अनु०—इसके बाद वह आशों के साथ सम्पर्क कर सकता है ॥ १३ ॥

एतदेवाऽन्येषामपि पतनीयानाम् ॥ १४ ॥

उक्तव्यतिरिक्तानि यानि पतनीयानि पूर्वमुक्तानि तेषु यत्राऽऽहृत्य प्रायश्चित्तं
'नोक्तं तेषामप्येतदनन्तरोक्तमेव प्रायश्चित्तं त्रैदिवच्यम् । उक्तविषये विकल्प
इत्यन्ये । तत्र ज्ञानाज्ञानकृतौ विकल्पः ॥ १४ ॥

अनु०—यह प्रायश्चित्त दूसरों भी पतनीय कर्मों के लिए करना चाहिए ॥ १४ ॥

गुरुतल्पगामी तु सुषिरां सूर्मिं प्रविश्योभयत

आदीप्याऽभिदहेदारमानम् ॥ १५ ॥

यत्तु गुरुतल्पगामी सोऽन्तः प्रवेशयोग्यां सुषिरां सूर्मिं कृत्वा प्रविशेत् प्रवि-
श्योभयतः पाश्र्वयो र्बहुिमादीपयेत् । आदीप्याऽऽत्मानमभिदहेत् । "स्वलितां
वा सूर्मिं परिवृज्य समाजुया (२५ २.)" इत्यत्रैव क्रियानपि विशेषः ।
अनन्तरोक्तस्य वैकल्पिकस्य निवृत्त्यर्थं वचनम् ॥ १५ ॥

अनु०—गुरुपत्नीगमन करने वाला भीतर प्रवेश करने योग्य खोखली, ढोहे की
बनी खोभूँत में प्रवेश करके दोनों ओर से अग्नि प्रज्वलित कराकर अपने को बला
ढाले ॥ १५ ॥

मिथ्यैतदिति दारीतः ॥ १६ ॥

हारीतस्त्वृषिर्मन्यते—एतदनन्तरोक्तं मरणान्तिकप्रायश्चित्तं मिथथा न कर्तव्य-
मिति ॥ १६ ॥

अनु०—शरीर के अनुसार यह प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए ॥ १६ ॥

कृत इत्यत आह—

यो ह्यात्मानं परं वाऽभिमन्यतेऽभिशस्त एव स भवति ॥ १७ ॥

दिशब्दो हेतौ । यस्मात् य आत्मनं परं वाऽभिमन्यते सारयति सोऽभि-
शस्त एव भवति तत्राहैव भवति । न च पतनीयापनोदनं चिक्रोर्गुरन्वत् पत-

१. अनुक्तं० इति. क० ख० पु०

२. बहुिमिति नास्ति क० छ० पु०

३. न च महापातकस्य ब्रह्महत्या प्रायश्चित्तं भङ्गिद्रुमहतीति क० पुस्तके

नीयं कर्तुमर्हतीति । द्वेषभिधानादभिस्तवचनाच्चाऽन्येषामपि मरणास्तिकानां ब्रह्मणविषये निवृत्तिः ॥ १७ ॥

अनु०—जो अपना या दूसरे का जीवन लेता है वह अभिशप्त हो होता है । १७। किं तर्हि तस्य प्रायश्चित्तमिति ? आह—

एतेनैव विधिनोत्तमादुच्छ्रयासाच्चरेन्नाऽस्याऽस्मिन्नोक्ते प्रत्यापत्तिविद्यते कल्पषं तु निहंथ्यते ॥ १८ ॥

‘अधोनाभ्युपरिजान्बि’ (२८.११.) त्यादि यदनन्तरोक्तमेतेनैव विधिना । शिष्ट गतम् ॥ १८ ॥

अनु०—ऐसा गुह्यतल्पगामी व्यक्ति इसी (शुद्ध ११ की) विधि से अन्तिम स्वस्तक आचरण करे । उसे पाप से शुद्धि इस जीवन में नहीं मिलती । मृत्यु के बाद उसका पाप दूर होता है ॥ १८ ॥

दारव्यतिक्रमो खराजिनं बहिल्लोम परिधाय ‘दारव्यतिक्रमिणे भिक्षा’ मिति सप्ताजाराणि चरेत् । सा वृत्तिः षण्मासान् ॥ १९ ॥

‘यस्तु अन्तरेणैव निमित्तं कौमारान् दारान् परित्यजति स दारव्यतिक्रमी । खरस्य, गर्दभस्याऽजिनं बहिल्लोम परिधाय वसित्वा दारव्यतिक्रमिणे भिक्षां दत्तेति सप्तागाराणि भिक्षां चरेत् ।’ कौमारदारपरित्यागिने भिक्षां दत्तेति वासिष्ठे । ‘सा वृत्तिः षण्मासान् । ततः सिद्धिः ॥ १९ ॥

अनु०—जो विना कारण के पत्नी का परित्याग करता है वह गर्दहे का चमड़ा इस प्रकार धारण करे कि उसके रोएँ बाहर की ओर हो और सात घण्टों में यह कहते हुए भिक्षा माँगे ‘पत्नी का परित्याग करने वाले को भिक्षा दो’ । उसी भिक्षा से छः महीन तक बीकानिर्वाह करते हुए रहे ॥ १९ ॥

खियास्तु भर्तुर्व्यतिक्रमे कृच्छ्रद्वादशारात्राभ्यासस्तावन्तं कालम् ॥ २० ॥

भर्तुर्व्यतिक्रम इति द्वागदसो रेफलोपः । व्यतिक्रमः परित्यागः । या तु खी भर्तारं परित्यज्यन्तरेण निमित्तं, तस्यास्तावन्तं कालं षण्मासान् कृच्छ्रद्वादशारात्राभ्यासः प्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

अनु०—किन्तु यदि पत्नी ने पति को त्याग दिया हो तो वह बारह दिनों का कृच्छ्र व्रत करते हुए उतने ही समय तक (छः मास तक) प्रायश्चिन करे ॥ २० ॥

१. धर्मपञ्चादिकमन्तरेण कौमारान् दारान् इति क० ख० पु०

२. व०ध० कौमारदारव्यतिक्रमिणे इति. ख०पु० कौमारदारपरित्यागिने इति क०पु०

३. षण्मासादूर्ध्वं शुद्धः इति. ग० पु० ‘सा वृत्तिरित्यादि पृथक्पुत्रं च ।

अथ भ्रूणहा स्वाजिनं खराजिनं वा बहिल्लोम परिधाय

पुरुषशिरः प्रतीयानार्थमादाय ॥ २१ ॥

अनु०—वेद वेदाङ्ग के ज्ञाता ब्राह्मण की इत्या करने वाला दुचे का या गदहे का चर्म रोओ को बाहर करके धारण करे और मोहन तथा बल पीने के लिए मनुष्य की खोमड़ी लिए रहे ।

इत्यापास्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रदनेऽष्टाविंशो कण्डिका ॥ २८ ॥

खटाङ्गं दण्डार्थं कर्मनामधेयं प्रब्रुवाणश्चङ्कम्येत को भ्रूणहने भिक्षामिति । ग्रामे प्राणवृत्ति प्रतिलभ्य शून्यागारं वृक्षमूलं वाऽभ्युपाश्रयेन्न हिम आपैः सह सम्प्रयोगो विद्यते' । एतेनैव विधिनोत्तमादुच्छुवासाश्चेत् । नाऽस्यास्मिह्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते । कल्मषं तु निहृण्यते ॥१॥

पहङ्गस्य वेदस्याऽध्येता, तदर्थंषित्, प्रयोगशास्त्रस्य सञ्चाल्यम्यार्थंषित् कर्मणामनुष्ठाताऽनुष्ठापयिता च ब्राह्मणो भ्रूणः । तथा च वौधायनः— 'वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः । एकां शालामधीत्य श्रोत्रियः । अङ्गाध्यायन्तूचानः । कल्याध्याय्यपिकल्पः । सूत्रप्रवचनाप्ययी भ्रूणः' इति । तं यो हतवान् स भ्रूणहा । सः शुनः खरस्य वाऽजिनं बहिल्लोमपरिधाय पुरुषस्य रस्य कस्यचिन्दत्स्य शिरः, प्रतीयानार्थम् । प्रतिधत्त्वर्थानुवादः 'उपसर्गस्य षड्यमनुष्ये बहुल'भित् बाहुलको दीर्घः । पानमेव प्रतीयानम् । पानग्रहणमुपलक्षणम् । भोजनमपि तत्रैव । खटाङ्गं दण्डार्थं, खटवाया अङ्गं खट्वाङ्गमीपादि तदण्डकृत्ये आदाय । 'भ्रूणहाऽस्मोत्थेयं कर्मनिवन्धनमात्मनो नामधेयं प्रब्रुवाणश्चकम्येत इतस्तवश्चेत् । कापालिकतन्त्रप्रसिद्धस्य खटवाङ्गस्य वा ग्रहणम् भिक्षाचरणरले च को भ्रूणने भिक्षां ददातीति चरेत् । चरित्वा ग्रामे प्राणवृत्ति प्राणवानामात्रं प्रतिलभ्य शून्यागारं वृक्षमूलं वा निवासार्थमभ्युपाश्रयेत्—'न हि म आंत्रैः सह सम्प्रयोगो विद्यत'इत्येवंमन्यमानः । किञ्चन्तं कालमेवं चरित्व्यमित्यत आह— एतेनैवेत्यादि । गतम् । श्रोत्रियं वा कर्मसमाप्त (२४. २५.)' मित्यत्र चः श्रोत्रियः 'प्रन्धधारी अर्थज्ञश्च न भवति अनुष्ठापयिता च न भवति तस्य ग्रहणम् ॥१॥

अनु०—दण्डे के ध्यात पर चारणई का पाया लेकर अपने कर्म का नाम लेकर घोषणा करता हुआ यह कहने हुए घूमे कि वेद और वेदाङ्ग के विद्वान् ब्राह्मण को

हस्या करने वाले को कौन भिक्षा देगा ? इस प्रकार गाँव में ही बीबिका निर्वाह करते हुए किसी घरे में वा इधक के नीचे निवास करे और यह जाने कि आर्थों के साथ उसे सम्पर्क की अनुमति नहीं है। इसी विधि से वह अन्तिम श्वास तक आचरण करे। इस लोक में उसकी शुद्धि नहीं होती है। किन्तु मृत्यु के बाद उसका पाप दूर हो जाता है । १ ॥

यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोषफलम् ॥ २ ॥

क्षत्रियं हस्वेत्येवमादिकेऽनुकान्नेऽपि विषये यः प्रमत्तो हन्ति प्रमादेनाऽ बुद्धिपूर्वं हन्ति तस्याऽपि दोषफलं प्राप्तमेव । न तु प्रमादकृतमिति दोषभावः ॥ २ ॥

अनु०—जो प्रमादवश अनजान में हस्या करता है उसका भी उतना ही दोष होता है ॥ २ ॥

सह सङ्कल्पेन भूयः ॥ ३ ॥

सङ्कल्पेन सह वधे कृते भूयः प्रभूततरं भवति । तेन प्रमादकृते लघुप्राय- ध्वित्तम्, बुद्धिपूर्वं तु गुर्विति । यत्पुनः पूर्वमुक्तं 'दोषवच्च कर्माभिसन्धिपूर्वं कृत्वाऽनभिसन्धिपूर्वं वे (२६.७.)' ति तत्र तेपु प्रायश्चित्तेषु विशेषाभावादिद- मुक्तम् ॥ ३ ॥

अनु०—संकल्प के साथ वध करने पर और भी अधिक पाप होता है ॥ ३ ॥

एवमन्येष्वपि दोषवत्सु कर्मसु ॥ ४ ॥

अन्येष्वपि हननव्यतिरिक्तेषु दोषवत्सु कर्मसु एवमेव द्रष्टव्यम्—अबुद्धिपूर्वं कृतेऽप्यो दोषः, बुद्धिपूर्वं महानिति ॥ ४ ॥

अनु०—यही नियम दूसरे दोषयुक्त कर्मों के विषय में भी लागू होता है ॥ ४ ॥

तथा पुण्यक्रियासु ॥ ५ ॥

पुण्यक्रियास्वल्पेप एव न्यायः—अबुद्धिपूर्वैऽल्पं फलम्, बुद्धिपूर्वं महदिति । तथाथा—ब्राह्मणस्वल्पपहृत्य चोरेषु धावत्सु यदृच्छया कश्चिच्छूर आगवत्सान् हंन्यात्, स्वयमेव वा शूरं दृष्ट्वा चोरा अपहृतानि द्रव्याण्युत्सृज्य पलायेरन् तदा शूरस्याऽल्पं पुण्यफलम् । यदा तु बुद्धिपूर्वं स्वयमेव चोरेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वानि स्वामिभ्यो ददाति तदा महदिति । एवं स्वभार्योबुद्धथा परदारगमनेऽ- ल्पम्, अन्यत्र महदिति ॥ ५ ॥

अनु०—उत्तम कर्मों के विषय में भी यही नियम होता है ॥ ५ ॥

टि०—अनजान में उत्तम कर्म करने का पुण्य अल्प होता है और संकल्प के साथ उत्तम कर्म करने का पुण्य अधिक होता है ॥ ५ ॥

परोक्षार्योऽपि ब्राह्मण आयुध नाऽऽददीत ॥ ६ ॥

गुणद्वीपज्ञानं परीक्षा । तया अर्थः प्रयोजनं यस्य सः । एवंभूतोऽपि ब्राह्मण
आयुधं न गृह्णीयात् किं पुनर्हिंसार्थं इत्यपि ह्यर्थः ॥ ६ ॥

अनु०—ब्राह्मण परीक्षा लेने के लिए मी हाथ में बख शस्त्र न ग्रहण करे ॥ ६ ॥
अस्य प्रतिप्रसवः—

यो हिंसायंमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन्
दोष इति पुराणे ॥ ७ ॥

यस्तु हिंसार्थं मारणार्थमभिक्रान्तमभिपतितं हन्ति न तस्मिन् दोषो विद्यत
इति पुराणे श्रुतम् । दोषाभावे हेतुः—यस्मान्मन्युरेव मन्युं स्पृशति न पुनः
पुरुषः पुरुषम् । अत्र वसिष्ठवैधायनो—

‘स्वाध्यायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम् ।

न तेन ध्रूणहा स स्यान्मन्युतं मन्युमुच्छति ॥ इति ॥

मनुः—

‘शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुद्धयते ।

द्विजातीनां च वर्णानां विष्यवे कालकारिते ॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।

स्त्रीविप्राभ्यवपत्नी च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति ॥’ इति ॥

गौतमः—‘प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीते’ति ।

वसिष्ठः—

‘अग्निदो गरुद्वैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।

क्षेत्रदारहरुद्वैव पडते ह्यातवायिनः ॥

आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् ।

स्त्रियांसन्तं जियांसीयान्न तेन ध्रूणहा भवेत् ॥’ इति ॥ ७ ॥

अनु०—जो हिंसा करने के लिए ब्राह्मण करते वाले को मारता है उसमें उसका
क्रोध ही दूसरे व्यक्ति के क्रोध का स्पर्श करता है उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं
होता, ऐसा एक पुराण में कहा गया है ॥ ७ ॥

पतितैरकृतप्रार्थितैरुत्पादितानां पुत्राणामपि पातित्यमस्तीति प्रतिपाद-
यितुं पूर्वपक्षमाह—

अथाऽभिशास्ताः समवसाय चरेयुर्धाम्यमिति सांश्ल्येत्तरे-
यजका इतरेतराध्यापका मिथो विवाहमानाः ॥ ८ ॥

अथशब्दोऽर्थान्तरप्रस्तावं सूचयति । अभिशस्ताः पतिताः । समवसाय चेरु । अवसानं गृहम् । समित्येकोभावे । ग्रामाद्बहिरिकस्मिन् प्रदेशे शुश्रूणि कृत्वा चर्युः । धाम्यं वक्ष्यमाणं वृत्तमिति । सांशित्य संशितां तोक्ष्णां बुद्धि कृत्वा । निश्चित्येत्यर्थः । इतरेतरं याज्यन्तः । इतरेतरमध्यपयन्तः परपरं विवाहसम्बन्धं च कुर्वन्तिश्चर्युः वर्तेरिति ॥ ८ ॥

अनु०—बितने पतिव लोग हो वे सभी गाँव से बाहर घर बनाकर एक साथ रहें और इसे अपनी धर्मसम्पत्त वृत्ति समझें । वे परस्पर एक दूसरे के यज्ञ कर्म करवें, एक दूसरे का अध्यापन करें और आपस में ही विवाह करें ॥ ८ ॥

पुत्रान् सन्निष्पाद्य द्यूयुर्विप्रजताऽस्मदेवं ह्यस्मत्स्वार्थास्त-

म्प्रत्य रत्स्यतेति ॥ ९ ॥

अथ ते पुत्रान् सन्निष्पाद्य द्यूयुः दे पुत्राः अस्मन् अस्मत्तः । विप्रव्रजत विचित्रं प्रकर्षणं च स्नेहमुत्सृज्याऽऽर्यसमीपं गच्छत । एवं ह्यस्मत्सु अस्मात्स्वार्थाः शिशवाः सम्प्रत्यपत्स्यत । 'आशंसायां भूतवच्चेति' भविष्यति लुङ् । सकारात्परो यकारोऽपपाऽश्छान्दसो वा । सम्प्रतिपत्तिं करिष्यन्ति । आर्याणामप्येतदभिनेतं भविष्यति । यस्माद्गामाभिरेव पतनीयं कर्माऽनुष्ठितं न भवद्भिः । न च पतिते-
नोत्पादितस्य पातित्यम्, अन्यत्वात् ॥ ९ ॥

अनु०—यदि उनके पुत्र उत्पन्न हो तो उनसे इस प्रकार कहें कि हमें हर प्रकार से त्याग कर तुम चले जाओ । इस प्रकार आर्य लोग हम पर दोष छोड़कर तुम्हें स्वीकार करेंगे ॥ ९ ॥

एतदेवोपपादयति -

अथाऽपि न सेन्द्रियः पतति ॥ १० ॥

न हि पतितां भवन् सेन्द्रियेण पतति, पुरुष एव पतति, नेन्द्रियं शुक्ल-
मिति । अथापिशब्दावपि चेत्यर्थार्थे ॥ १० ॥

अनु०—क्योंकि मनुष्य अपनी इन्द्रियो के साथ पतित नहीं होता ॥ १० ॥

कथं न सेन्द्रियः पततीत्याह—

तदेतेन वेदितव्यमङ्गहोमोऽपि साङ्गं जनयति ॥ ११ ॥

तदनन्तरोक्तमर्थरूपमेतेन वक्ष्यमाणेन निदर्शनेन वेदितव्यम् । चक्षुराद्यङ्ग-
नोऽपि साङ्गं चक्षुरादिमन्तं जनयति, एवमधिकारविकलः साधिकारं जनयि-
ष्यति । स्त्रिया अपि कारणत्वात् तस्याश्च दोषाभावात् ॥ ११ ॥

अनु०—यह बात इस उदाहरण से समझनी चाहिए कि अज्ञान व्यक्ति भी ऐसे पुत्र को उत्पन्न करता है जो सभी अज्ञानों से पूर्ण होता है ॥ ११ ॥
दूषयति—

मिथ्यैतदिति हारीतः ॥ १२ ॥

एतदन्तवरोक्तमर्थरूपं स्थिया न युक्तमिति हारीतो मन्यते ॥ १२ ॥

अनु०—हारीत के अनुसार यह ठीक नहीं है ॥ १२ ॥

कृत इत्याह—

दधिधानीसधर्मा स्त्री भवति ॥ १३ ॥

दधि धीयते यस्यां सा दधिधानी स्थाली । तया सधर्मा सदृशो स्त्री भवति
कृतः किम् ?

अनु०—स्त्री यद्य के उस स्थाञ्जोग्र की तरह होती है जिसमें दधि रखा
जाता है ॥ १३ ॥

यो हि दधिधान्यामप्रयतं पय आतञ्चय मन्यति न तेन धर्मकृत्यं क्रियेत
एवमशुचि गृहकं यद्विद्वंतै न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते ॥ १४

यो हि पुरुषः दधिधान्यां स्थाल्याम्, अप्रयतं श्वायुं पहतम्, पय आतञ्चय-
क्रायात्त्रनेन संस्कृत्य मन्यति न तेन तदुत्पन्नेन घृतादिना धर्मकृत्यं यागादिकं
क्रियते । एवं पतितसम्बन्धेनाऽशुचि गृहकं स्त्रियां निषिक्तं शोणितेनाकं चन्नि-
वर्तते येन रूपेण निष्पद्यते न तेन सह सम्प्रयोगो विद्यते शिष्टानाम् । अत्र चा-
'शुचि शुक्ल' भित्त' त' दध्यापि न सेन्द्रियः पततो' त्यस्य दूषणम् । न हि धाव-
निकेऽर्थे युक्तयः क्वमन्ते । तथा च समानायासयुत्पत्तौ पुत्र एव पतति न
दुहिता । यथाऽऽह वसिष्ठः—

“पतितोत्पन्नः पतितो भवत्यन्यत्र स्त्रियाः । सा हि परगामिनी तामरिक्था-
सुपेयात्” ॥ इति ॥ १५ ॥

अनु०—जिन प्रकार कोई दधियानी में अयुद्ध दूध को बर और तक मिलाकर
मधे तो उमसे उत्पन्न दधि से कोई यज्ञिय कर्म नहीं किया जा सकता उनी प्रकार
(पतित पुरुष के) अरिक्थि चौर्य से भी पुत्र उत्पन्न होता है उससे किसी प्रकार का
सम्बन्ध नहीं होना चाहिए ।

टि०—आप्तत्व हारीत के इस विचार से सहमत हैं ।

अभीचारानुब्याहारावशुचिकरावपतनीयो ॥ १५ ॥

अभिचारः एवाऽभीचारः ।^{१६} उपसर्गस्य ध्वञ्चोति दीर्घः । अभीचारः इत्ये-

नादिः । अनुव्याहारः शापः तौ ब्राह्मणविषयेऽपि क्रियमाणान्वशुचिकरेविव, न तु पतनीयौ ॥ १५ ॥

अनु०—(किसी ब्राह्मण के विरुद्ध) आमिचारिक क्रिया या शाप का प्रयोग करने पर इनका प्रयोग करने वाला अशुद्ध होता है, पतित नहीं होता ॥ १५ ॥

पतनीयाविति हारीतः ॥ १६ ॥

हारीतस्तु तावपि पतनीयाविति मन्यते ॥ १६ ॥

अनु०—हारीत का मत है कि इन कर्मों से पतन होता है ॥ १६ ॥

पतनीयवृत्तिस्त्वशुचिकराणां द्वादश मासान् द्वादशाऽर्धमासान् द्वादश द्वादशाहान् द्वादश सप्ताहान् द्वादश त्र्यहान् द्वादश द्दहान् द्वादशाहं सप्ताहं त्र्यहं व्यहमेकाहम् ॥ १७ ॥

अशुचिकराणामपि कर्मणां येपामाहत्य प्रायश्चित्तं नोक्तं तेषामपि पतनीयेषु कर्मसु या वृत्तिः प्रायश्चित्तं सैव प्रायश्चित्तिः । कियन्तं कालम् ? द्वादश मासाद्येकाहान्तम् ॥ १७ ॥

अनु०—अशुद्धि उत्पन्न करने वाले अपराधों के लिए भी पतनीय कर्मों का प्रायश्चित्त बारह मास तक, बारह अर्ध मास (पक्ष) तक, अथवा बारह बार बारह दिन, बारह सप्ताह, बारह बार तीन दिन, बारह बार दो दिन अथवा बारह दिन, एक सप्ताह, तीन दिन, दो दिन, अथवा एक दिन तक करे ॥ १७ ॥

किमविशेषेण सर्वेष्वेवाऽशुचिकरेष्वयं कालविकल्पः ? नेत्याह—

इत्यशुचिकरनिर्वेषो यथा कर्माभ्यासः ॥ १८ ॥

इत्येषोऽशुचिकरनिर्वेषो यथा कर्माभ्यासस्तथा वेदितव्यः । बुद्धिपूर्वं सासुवन्द्येभ्यासे च भूयांसं कालम्, विपरीते विपर्यय इति ॥ १८ ॥

॥ इत्यापस्तम्बसूत्र वृत्तौ प्रथमप्रश्ने एकत्रिंशो कण्डिका ॥ २९ ॥

अनु०—इस प्रकार अशुद्धि उत्पन्न करने वाले कर्मों का प्रायश्चित्त कर्म के अनुसार करना चाहिए ॥ १८ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायासु-

ज्वलायां प्रथमप्रश्ने दशमः पटलः ॥ १० ॥

अथैकादशः पटलः

‘न समावृत्ता वपेरन्’ (८. ७.) स्नातस्तु काल’ (१०. ७.) इत्यादिषु प्रस-
क्तस्य स्नानस्य कालसाह—

विद्यया स्नातीत्येके ॥ १ ॥

वेदविद्या विद्या । तथा सम्पन्नः स्नानं कुर्यादित्येके मन्यन्ते । मन्त्रिरित्याह—
‘वेदानधीत्य वेदे वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् ।

अविष्टुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ इति ॥ १ ॥

अनु०—कुल धर्मज्ञो का मत है कि ब्रह्मचारी विद्या का अध्ययन समाप्त करके
स्नान करे । १ ॥

तथा व्रतेनाऽष्टाचत्वारिंशत्परीमाणेन ॥२॥

परिमाणमेव परिमाणम् । छान्दसो दीर्घः। अष्टाचत्वारिंशद्ग्रहणं^{२४} पादून्म्,
अथेते’ (२. १३. १४) त्यादिपूर्वोक्त्याप्युपलक्षणम् । अष्टाचत्वारिंशदिपरिमा-
णेन व्रतेन^{२५} वा सम्पन्नः स्नायात् असम्पन्नोऽपि विद्यया ॥ २ ॥

अनु०—अथवा अड़तालिस वर्ष (छत्तीस या चौबीस वर्ष) का ब्रह्मचर्य पाठन
कर (विद्या से चाहे सम्पन्न हो या न हो) स्नान करे ॥ २ ॥

विद्या व्रतेन चेत्येके ॥ ३ ॥

विद्येति तृतीयैकवचनस्याकारस्य^{२६} ‘सुपां सुलुक्’ इत्यादिना लुक् । विद्यया
व्रतेन चौभाभ्यां सम्पन्नः स्नायदित्येके मन्यन्ते । एवं च “वेदमधीत्य स्नात्य’
न्नित्यत्र वेदमधीत्येत्युपलक्षणम् । अत्र याज्ञवल्क्यः—

‘वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्यभयमेव वा ।

अविष्टुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ॥’ इति ।

१. न० सू० ३. २.

२. पादून्म्, अथेन, त्रिभिर्वा’ इत्येतेषां पूर्वोक्तानामुपलक्षणम् । इति. क० पु०

३. अथ ब्रह्मचर्यंविधिः’ इत्यारभ्य प्रयञ्जितेन समिदाधानमिशाचरणगन्धादिवर्जनादि-
रूपेण । अस्ति च तेषु व्रतशब्दः ‘यथा व्रतेषु समर्थः स्थायानि वक्ष्यामः’ इति ।

इह तु समुदायाभिप्रायमेकवचनम् । तेन वा व्रतेन सम्पन्नस्नायात् । अतम्यज्ञोऽपि
विद्यया । ‘चत्वारि वेदव्रतानी’ तेषां तु ग्रहणमत्र नाऽऽशङ्कनीयम् । यथोक्तं विद्वत्तरे ।
इत्यधिकः पाठो ग० पु०

४. पा० सू० ७. १. २१ ५. आप य० १२. १ ६. याज्ञ० सू० १. ५२

१४ आ० घ०

ॐ अत्र व्रतशब्देनाऽनौन्धनभैक्षाचरणादयो ब्रह्मचारिधर्मा उच्यते । तेषु
हा कालपरिमाणस्य श्रुतत्वात् पारं नीत्वेति युज्यते । दृश्यते च तेषु व्रतशब्दः-
'यथा व्रतेषु समर्थस्थायानि वक्ष्याम इति । न तु सावित्र्यादीनि वेदव्रतान्यु-
च्यन्ते । तेषां तत्त्वदेशाध्ययनशेषतया तदभावेऽभावाद्देवं व्रतानि वेति विकल्पा-
नुपपत्तेः । अतः कालविशेषवच्छिन्नानि व्रतानि वेदमुभयं पारं नीत्वेत्यर्थः ॥३॥

अनु० कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मचारी विद्या का ज्ञान प्राप्त करने तथा
व्रत का समय समाप्त करने के बाद स्नान करे ॥ ३ ॥

तेषु सर्वेषु स्नातकवद्वृत्तिः ॥ ४ ॥

विद्यास्नातको व्रतस्नातक उभयस्नातक इति त्रयः स्नातका उक्ताः तेषु सर्वेषु
स्नातकवत् 'तदहंती'ति वतिः । स्नातकार्हा वृत्तिः पूजा' यत्राऽस्मा अपचिति'
मित्यादिः कार्यौ । न तु व्रतस्नातके न्यूना, उभयस्नातकेऽधिकेति ॥ ४ ॥

अनु०—उपयुक्त तीनों प्रकार से स्नान करने बालों के प्रति स्नातक के समान
व्यवहार करना चाहिए ॥ ४ ॥

यद्यस्येवं तथाऽपि पूजयितुः फलविशेषोऽस्तीत्याह—

समाधिविशेषाच्छ्रुतिशेषाच्च पूजायां फलविशेषः ॥ ५ ॥

कर्तव्येषु कर्मस्ववधानं समाधिः श्रुतिः श्रुतम् ॥ ५ ॥

अनु०—स्नातक की पूजा का फल उसकी विशिष्ट कर्तव्यविष्टा तथा विशेष
अध्ययन के अनुसार ही मिलता है ॥ ५ ॥

अथ स्नातकव्रतानि ॥ ६ ॥

इत उत्तरं स्नातकव्रतान्यधिकृतानि वेदितव्यानि । यद्यपि वक्ष्यमाणेषु का-
निचित् साधारणान्यपि भवन्ति तथाऽपि भूमना स्नातकव्रतान्यधिक्रियन्ते ॥६॥
अनु०—अत्र स्नातक के व्रतों का निर्देश किया जाया ॥ ६ ॥

पूर्वेण ग्रामान्निष्क्रमणप्रवेशनानि शीलयेदुत्तरेण वा ॥ ७ ॥

यदा ग्रामान्निष्क्रममपि ग्रामं वा प्रविशति तदा पूर्वेण द्वारेणोत्तरेण वा
'कुर्यात्, न द्वारान्तरेण । शीलयेदिति वचनाद्यदृच्छया द्वारान्तरेण निष्क्रमणप्रवे-
शनयोरपि न प्रायश्चित्तम् ॥ ७ ॥

• एतद्विद्वान्तर्गतो भोगोऽधिकपाठतया परिगणितः स्र० पुस्तके । ग० पुस्तके
नास्ति पाठः । अन्यत्र तु यथायथमस्ति ।

अनु०—बह गाँव में सामान्यतः पूर्व को ओर से अथवा उत्तर की ओर से प्रवेश करे ७ ॥

सन्ध्योश्च वह्निर्ग्रामादासनं वाग्यतश्च ॥ ८ ॥

अहोरात्रयोः सन्धानं सन्धिः । तो च द्वौ-सायं प्रातश्च । 'सञ्जोत्थिष्या-
ज्योतिषोऽदर्शनात्' इति गौतमः । तयोस्सन्ध्ययोर्ग्रामाद्बहिर्गसीत । वाग्यतश्च
भवेत् । मनुः पुनराह—

^२पूर्वा सन्ध्यां जपस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां नु समासीत सम्यगृक्षविभावनात् ॥' इति

'तिष्ठेत् पूर्वामासीतोत्तराम्, इति गौतमः । एते ब्रह्मचारिविषये । स्नातके
आसनस्य वाङ्निमनस्य चाऽत्र विधानात् ।

अन्ये तु-आसनग्रहणं स्थानस्याऽप्युपलक्षणम्, वाग्यमश्च लौकिक्या वाचो
निवृत्तिः, न सावित्रीजपस्येति वर्णयन्ति ॥ ८ ॥

अनु०—प्रातःकाल तथा सायंकाल सन्ध्या के अवसर्ग पर ग्राम से बाहर बैठे
और मौन रहे ॥ ८ ॥

टि०—'वाग्यतः' का यहाँ यह भी अर्थ लिया गया है कि लौकिक विषयों की चर्चा
न करे ॥ ८ ॥

अहिताग्निविषयेऽस्याऽपवादः—

विप्रतिपेधे श्रुतिलक्षणं वलीयः ॥ ९ ॥

विरोधो विप्रतिपेधः अग्निहोत्रिणो वह्निरासनमग्निहोत्रहोमश्च विरुध्येते ।
तथा च श्रूयते—'समुद्रो वा एष यद्दहो रात्रः' तस्यैते गाथे तोर्थं यत्सन्धी तस्मात्
सन्धौ होनव्यम्" इति । तत्र श्रुतिलक्षणमग्निहोत्रमेव कर्तव्यम्, न स्मार्त्
वह्निरासनम् । तस्य कल्प्यमूलत्वादितरस्य च कष्टमूलत्वादिति । जैमिनिरत्याह—
"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमिति ॥ ९ ॥

अनु०—'अग्निहोत्री स्नातक घर में अग्निहोत्र करे या गाँव से बाहर जाकर बैठे)
इस प्रकार का विरोध उपस्थित होने पर वेद में आदिष्ट (अग्निहोत्र) ही प्रबल माना
जायगा (स्मार्त् नव्य भो बरीयता नहीं ही जायगी) ॥ ९ ॥

सर्वान्नागान्वाससि वर्जयेत् ॥ १० ॥

१. गौ० २. ११ 'सञ्जोत्थिषि' इत्यादि 'गौतम' इत्यन्तं नास्ति छ० पु०

२. म० सू० २. १०१ ३. गौ० घ० २. ११

४. इत्यादि नास्ति. छ० पु० ५. वै सू. १० ३. ३

कुसुम्भादयस्सर्वे रागाः वाससि वर्जनीयाः, न केनचिद्रक्तं वासो विभृया-
दिति ॥ १० ॥

अनु०—सभी प्रकार के रंगीन बल्लो का वर्जन करे ॥ १० ॥

कृष्णं च स्वाभाविकम् ॥ ११ ॥

यद्य स्वभावतः कृष्णं कम्बलादि तदपि न वसीत ॥ ११ ॥

अनु०—स्वभावतः कृष्ण वर्ण के बल्लों का भी वर्जन करे ॥ ११ ॥

अनु०—वासि वासो वसीत ॥ १२ ॥

उद्भासनशीलमुद्भासि उल्बणम् । ततोऽन्यदनुद्भासि । छान्दसो दीर्घः ।
एवंभूतं वासो वसीत आच्छादयेत् ॥ १२ ॥

अनु०—अधिक चमकाले बल्लों का परित्याग करे ॥ १२ ॥

अप्रतिकृष्टं च शक्तिविषये ॥ १३ ॥

प्रतिकृष्टं निकृष्टं जीर्णं मलवत् स्थूलं च । तद्विपरीतमप्रतिकृष्टम् । तादृशं च
वासो वसीत शक्तौ सत्याम् ॥ १३ ॥

अनु०—और यथाशक्ति ऐसे बल्लों का भी वर्जन कर लो भद्रे और गन्दे हो ॥

दिवा च शिरसः प्रावरणं वर्जयेन्मूत्रपुरीषयोः कर्म परिहाय्य ॥ १४ ॥

चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः । दिवा शिरसः प्रावरणं पटादिना न
कुर्यात् । किमविशेषेण ? नेत्याह—मूत्रपुरीषयोः कर्म क्रियां परिहाय्य वर्ज-
यित्वा ॥ १४ ॥

अनु—दिन में मूत्र तथा मद्यत्याग के कर्मों के अवसर को छोड़कर अन्य समय में
शिर न ढँके ॥ १४ ॥

शिरस्तु प्रावृत्य मूत्रपुरीषे कुर्यात् भूम्यां किञ्चिदन्तर्घाय ॥ १५ ॥

दिवा रात्रौ च मूत्रपुरीषे कुर्मन् शिरः प्रावृत्य कुर्यात् । भूम्यां किञ्चिदन्त-
र्घाय कृणादिकम्, न साक्षात् भूम्यासेव । इह कामचारे प्राप्ते 'दिवा च शिरसः
प्रावरणं वर्जये' दित्युक्तम् । तस्य पर्युदासः कृतः—'मूत्रपुरीषयोः कर्म परिहाय्ये'
ति । तत्र मूत्रपुरीषकाले स एव कामचारः स्थितः । अत आरभ्यते—शिरस्तु प्रावृ-
त्येति । एवं तर्हीदमेवाऽस्तु । न पूर्वं पर्युदासः । सोऽप्यवश्यं कर्तव्यः अन्यथा
'शिरस्तु प्रावृते'त्यस्य रात्रौ चरितार्थत्वात् दिवा प्रतिषेध एव स्यात् । गौतमस्तु
रात्रौ सदैव प्रावरणमाह 'न प्रावृत्य शिरोऽहनि पर्येतेत्, प्रावृत्य रात्रौ, मूत्रो-
च्चारे चे'ति ॥ १५ ॥

अनु०—सिर को ढँककर ही तथा पृथ्वी पर कुण्ड (वृण आदि) रलकर ही मूत्र और मल का त्याग करे ॥ १५ ॥

छायायां मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् ॥ १६ ॥

'न चोपजीव्यच्छायासि'ति स्मृत्यन्तरे दर्शनात् यस्यां पथिकादयो विश्रान्म्यन्ति सा गृह्यते । तेन छत्रच्छायादेरप्रतिषेधः मेघच्छायाया अप्यप्रतिषेधः, अवर्जनीयत्वात् ॥ १६ ॥

अनु०—(ईर्षो की) छाया में मल-मूत्र त्याग के कर्म न करे ॥ १६ ॥

स्वां तु छायायामवमेहेत् ॥ १७ ॥

छान्दसस्तुगभावः । द्वितीयाध्रुतेः प्रतिशब्दाध्याहाटः । अवमेहन्तं मूत्र-कर्म । अनुपजीव्यत्वान्नायं पूर्वस्य प्रतिषेधस्य विषय इति प्रतिप्रसवोऽयं न भवति । तेन सति सन्भवे स्वामेव छायां प्रत्यवमेढव्यम् ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु अपनी छाया मूत्रि पर पढ़ रही हो तो उसमें मूत्रत्याग कर्म किया जा सकता है ॥ १७ ॥

'न सोपानमूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ १८ ॥ कृष्टे ॥ १९ ॥ पथि ॥ २० ॥ अप्सु च ॥ २१ ॥ तथा ष्टिवनमैथुनयोः कर्माऽप्यु वर्जयेत् ॥ २२ ॥ अग्निमादित्यमयो ब्राह्मणं गा देवताश्चाऽभिमुखो मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् । २३ स्पष्टानि चत्वारि । ष्टेवनमात्यश्लेष्मादीनामुत्सर्गः । देवताः देवताप्रतिमाः ॥ १८-२३ ॥

अनु०—जूते पहनकर मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ १८ ॥

अनु०—बोते गए खेत में मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ १९ ॥

अनु०—मार्ग के ऊपर मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ २० ॥

अनु०—और न ही बल में मूत्र और मल का त्याग करे ॥ २१ ॥

अनु०—बल में धूकने या मैथुन कर्म करने का भी वर्जन करे ॥ २२ ॥

अनु०—अग्नि, बल, ब्राह्मण, गौ, देव प्रतिमा का और मुल करके मूत्र तथा मल का त्याग न करे ॥ २३ ॥

अशमानं लोट्टमाद्रानौषधिवनस्पतौनूर्ध्वानाच्छिद्य मूत्रपुरीषयोः शुन्धने वर्जयेत् ॥ २४ ॥

फलयाकावसाना ओषधयः । चे पुर्णर्विना फलन्ति ते वनस्पतयः । 'आद्रौ'

१. एतदादी 'कर्म वर्जये'दित्यन्तमें ऋमूत्रतया परिगणितं ख. पुस्तके । सूत्रद्वाराशक-तया छेद. कृतः क० पु० २. दीवन इति. ख० पु०

निति वचनात् शुष्केषु न दोषः । 'उर्ध्वी' निति वचनाद्वात्तादिनिमित्तेन भंगेषु न दोषः । एतेरस्मादिभिर्मूत्रपुरीषयोःशोधनं न कुर्यात् ॥

अनु०—पत्थर के टुकड़े से, मिट्टी के टुकड़े से, (फल देने वाले) वृक्षों तथा वन-
स्त्वियों को तोड़े गये हर पत्तों से शरीर में लगे मूत्र और मल को न पीछे ॥ २४ ॥
अग्निमादित्यमयो ब्राह्मणं गा देवताद्वारं प्रति पादं च शक्तिविषये

नाऽभिप्रसारयति ॥ २५ ॥

शकती सत्यां अन्यादीन्प्रति पादौ न प्रसारयेत् ॥ २५ ॥

अनु०—आग्नि, सूर्य, बल, ब्राह्मण, गौ, देवमन्दिर के द्वार को और यथाशक्ति
पैर न फैलावे ॥ २५ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ २६ ॥

अनु०—इस विषय में यह उद्धरण भः दिया जाता है ॥ २६ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे प्रथमप्रश्ने त्रिंशो कण्डिका ॥ ३० ॥

प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीतोच्चरेद्दक्षिणामुखः ।

उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यात्प्रत्यक्पादावनेजनमिति ॥ १ ॥

उच्चारः पुरीषकर्म । पादावनेजनं पादप्रक्षालनम् । भोजनादिषु चतस्रो
नियम्यन्ते । मनुसु—

"आयुष्यं प्राङ्मुखो मुंक्ते यथास्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो मुञ्क्ते ऋतं मुञ्क्ते उदङ्मुखः" ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यश्च—

"द्विवा सन्ध्यासु कर्णस्थत्रयसूत्र उदङ्मुखः ।

कुर्यान्मूत्रपुरीषे सु रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥" इति ॥ १ ॥

अनु०—पूर्व की ओर मुख करके अन्न का मक्षण करे, तथा दक्षिण की ओर
मुख करके मल त्याग करे, उत्तर की ओर मुख करके मूत्रत्याग करे और पश्चिम की
ओर मुड़कर अपने पैरों को पीचे ॥ १ ॥

आराचचाऽऽवसथान्मूत्रपुरीषे कुर्याद्दक्षिणां दिशं दक्षिणापरां वा ॥ २ ॥

आवसथो गृहम् । तस्य दूरतो मूत्रपुरीषे कुर्यात्, दक्षिणां दिशम् । द्वितीयानि
निर्देशादिभिनिष्क्रम्येति गम्यते । दक्षिणापरा नैर्ऋती ॥ २ ॥

अनु०—निवास स्थान से दूर दक्षिण या दक्षिण-पश्चिम दिशा में जाकर मूत्र और मूत्र का त्याग करे ॥ २ ॥

अस्तमिते च वहिर्ग्रामादारदावसथाद्वा मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत् ॥ ३ ॥
अस्तमित आदित्ये वहिर्ग्रामान्मूत्रपुरीषे न कुर्यात् । तथा अन्तर्ग्रामिण्यपि गृहस्य दूरतो न कुर्यात् । दृष्टार्थोऽयं प्रतिषेधश्चोरव्याघ्रादिशङ्कया । निर्भये देशे नाऽस्ति दोषः ॥ ३ ॥

अनु०—कित्नु सूर्योत्त हो जाने पर ग्राम से बाहर अथवा दूर जाकर मूत्र और मूत्र का त्याग न करे ॥ ३ ॥

टि०—हरदस ने व्याख्या में संकेत किया है कि यह विशेष चोर और व्याघ्र आदि की शंका से किया गया है । जहाँ ऐसी शंका न हो वहाँ दूर जाया जा सकता है ॥३॥

देवताभिधानं चाऽप्रयतः ॥ ४ ॥

देवतानामन्यादीनामभिधानं चाऽप्रयतस्सन् वर्जयेत् । 'अपिधानमित्यपि पाठे एष एवार्थः ॥ ४ ॥

अनु०—जब तक अपवित्र हो, तब तक किसी देवता का नाम न ले ॥ ४ ॥

परुषं चोभयोर्देवतानां राज्ञश्च ॥ ५ ॥

देवतानां राज्ञश्चेत्युभयोः । राज्यपेक्षया द्विवचनम् । परुषं तिन्दां वर्जयेत् ॥ ५ ॥

अनु०—देवताओं तथा राजा के विषय में कोई निन्दापरक वचन भी न करे ॥

ब्राह्मणस्य गौरिति पदोपस्पर्शनं वर्जयेत् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणं गां च पादेन नोपस्पृशेत् । इतिशब्दः प्रकारे । तेन विद्यावयोवृद्धा-
नामत्राक्षणानामपि वर्जनम् ॥ ६ ॥

अनु०—अग्ने चरण से ब्राह्मण, गौ अथवा किसी भी इस प्रकार के सुपुत्र्य वस्तु का स्पर्श न करे ॥ ६ ॥

हस्तेन चाऽकारणात् ॥ ७ ॥

कारणमभ्यङ्गकण्डूयनादि । तेन बिना हस्तेनाऽप्युपस्पर्शनं वर्जयेत् पूर्वोक्ता-
नाम् ॥ ७ ॥

अनु०—कोई विशेष कारण न रहने पर उन्हें हाथ से भी न छुरे ॥ ७ ॥

गोर्दक्षिणानां कुमार्याश्च परीनादान्वर्जयेत् ॥ ८ ॥

गोरदक्षिणाया अपि दक्षिणानामगवामपि हिरण्यादीनां कुमार्याः कन्या-

याश्च दोषान् सतोऽपि न कथयेत् । अध्यात्मप्रकरणे योगाङ्गतया परिवादः प्रति-
पिद्धः । अनन्तरं च वक्ष्यति 'क्रोधादीश्च भूतदाहीयान् वर्जयेदिति । इदं तु
वचनं गवादिषु प्रायश्चित्तातिरेकार्थम् ॥ ८ ॥

अनु०—गौ का, यश की दक्षिण का, किसी कुमारी कन्या का दोष न कहे ॥ ८ ॥

स्पृहतीं च गां नाऽऽचक्षीत ॥ ९ ॥

स्पृहतीं सस्यधान्यादिकं मक्षयन्तीं गां स्वामिने न द्रूयात् ॥ ९ ॥

अनु०—गाय यदि फसल या अन्न खा रही हो तो स्वामी से न कहे ॥ ९ ॥

संसृष्टां च वत्सेनाऽनिमित्ते ॥ १० ॥

या च गौर्वत्सेन संसृज्यते तामपि न त्रयादनिमित्ते-इयं ते गौर्वत्सेन पीयत
इति । 'अनिमित्ते' इति वचनात् 'यस्य हविषे वत्सा अपाकृवा घयेयु' रित्वा-
दिके निमित्ते सति वस्तुनास्ति दोषः ॥ १० ॥

अनु०—यदि गौ बड़ड़े के पास हो (इन्धन से सुलकर दूध पिला रही हो) तो
स्वामी से न कहे, जब तक कोई विशेष निमित्त न हो ॥ १० ॥

नाऽधेनुमधेनुरिति द्रूयात् । धेनुभव्येत्येव द्रूयात् ॥ ११ ॥

या च गौरधेनुः पयस्विनी भवति तामप्यधेनुरिति न द्रूयात् ॥ ११

अनु०—बो गाय दूध न दे रही हो उसे अधेनु न कहे अग्नि ॥ ११ ॥

किं तर्हि धेनुभव्येत्येव द्रूयात्—भविष्यन्ती धेनुर्धेनुभव्या । 'धेनोर्भव्यायां
(सुम् वक्तव्य) इति सुम् न भवति । च्यन्तत्वेनाऽव्ययत्वात् । वक्तव्यत्वे च सति
शब्दनियमोऽयम् । न पुनरधेनुदर्शन एवं वक्तव्यम् ॥ १२ ॥

अनु०—उसे 'धेनुमव्य' कहे ॥ १२ ॥

^३ न भद्रं भद्रमिति द्रूयात् ॥ १३ ॥

यात् भद्रं तत् भद्रमिति न द्रूयात् ॥ १३ ॥

अनु०—बो भद्र ही उमं भद्र न कहे ॥ १३ ॥

किं तु ?

पुण्यं प्रशास्तमित्येव द्रूयात् ॥ १४ ॥

पुण्यं प्रशास्तमित्यनयोऽन्यतरण शब्देन द्रूयात् । प्रशास्तं प्रशस्तम् । छान्द-
सो दीर्घः ॥ १४ ॥

अनु०—अग्नि 'पुण्य' और 'प्रशस्त' कहकर उसका उल्लेख करे ॥ १४ ॥

वत्सतन्तीं च नोपरि गच्छेत् ॥ १५ ॥

वत्सानां बन्धरज्जुर्वत्सवन्ती । तस्या उपरि न गच्छेत् तां न लङ्घयेत् । ब-
त्सग्रहणं गोचातेरुपलक्षणम् ॥ १५ ॥

अनु०—बछड़े के पगड़े के ऊपर पैर रखकर न जावे ॥ १५ ॥

प्रेङ्ख्वावन्तरेण च नाऽसीयात् ॥ १६ ॥

प्रेङ्खी डोलास्तम्भौ । तोरणस्तम्भावित्यन्त्ये । तावन्तरेण नाऽसीयात्—तयो-
र्मध्ये न गच्छेत् ॥ १६ ॥

अनु०—बिन लम्बों के बीच झूला लटक़ाया गया हो उन दोनों के बीच से न
जावे ॥ १६ ॥

नाऽसौ मे सपत्न इति ब्रूयात् यद्यसौ मे सपत्न इति ब्रूयात् द्विपत्नं
भ्रातृव्यं जनयेत् ॥ १७ ॥

असौ देवदत्तो मे सपत्न इति न ब्रूयात् सदसि । किं कारणम् ? यद्यसौ
मे सपत्न इति ब्रूयात्, द्विपत्नं क्रियाशब्दोऽयम्, विद्विषाणं भ्रातृव्यं सपत्नं
जनयेत् 'व्यन् सपत्ने' इति भ्रातृशब्दे व्यन् प्रत्ययः । एवं ह्युक्ते स मन्येत—
नाऽकस्मादयं वृते ननमस्य मयि द्वेषो वर्तते इति । ततश्च तत्पत्नीकारार्थं यत्-
मानस्सपत्न एव जायते इति ॥ १७ ॥

अनु०—सभा में ऐसा न कहे कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, यदि ऐसा कहवा है
कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है तो वह द्रोह कल्ले शत्रु को पैदा कर देता है ॥ १७ ॥

नेन्द्रधनुरिति परस्मै प्रब्रूयात् ॥ १८ ॥

इन्द्रधनुराकाशे पश्यन् परस्मै तेन शब्देन न ब्रूयात् । यद्यवश्यं वक्तव्यं
मणिधनुरिति ब्रूयात् । गौतमीये 'दर्शनात् ॥ १८ ॥

अनु०—इन्द्रधनुष देखने पर उसके विषय में दूसरे व्यक्ति से न कहे ॥ १८ ॥

न पतत. सञ्चक्षीत ॥ १९ ॥

पततः पक्षिणः सङ्गीभूय स्थितान्न सञ्चक्षीत न गणयेत्—इत्यन्त एत इति ।
अपर आह—'पुण्यक्षयेण स्वर्गात्पततः सुकृतिनः परस्मै न सञ्चक्षीत—इत्येतां पि
पवन्तीति न कथयेत् ॥ १९ ॥

अनु०—बब पक्षी एकत्र इए हों तो उनकी तंरगा का गणना न करे ॥ १९ ॥

उद्यन्तमस्तं यस्तं चाऽऽदित्यं दर्शने वर्जयेत् ॥ २० ॥

उदयसमये अस्तमयसमये वा आदित्यं न पश्येत् ।

'मनुस्तु—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन ।

नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गरम् ॥' इति ॥ २० ॥

अनु०—उगते हुए तथा अस्त होते हुए सूर्य का दर्शन न करे ॥ २० ॥

दिवाऽऽदित्यः सत्वानि गोपायति नक्तं चन्द्रमाः । तस्मादमावा-
स्यायां निशायां स्वाधीय आत्मनो गुप्तिमिच्छेत् प्रायत्यब्रह्मचर्यकाले
चर्यया च ॥ २१ ॥

दिवा अहनि । आदित्यः सत्वानि गोपायति प्राणिनो रक्षति, आलोकदा-
नेन । नक्तं रात्री चन्द्रमाः । तस्मादमावास्यायां निशायां रात्री स्वाधीयः। वक्ता-
ररछान्दसः । अन्तिकवाढयोर्नैदासौ । वाढतरं शूशतरं आत्मनो गुप्ति
रक्षणमिच्छेत् । केन प्रकारेण ? प्रायत्यब्रह्मचर्याभ्यां काले चर्यया च । अयं
तावदर्थानुरूपः पाठः । अधीयमानस्तु प्रमादरछान्दसो वा । प्रयतस्य भावः
प्रायत्यं नित्यप्रायत्यादधिकेन प्रायत्येन स्नानादिजेन । ब्रह्मचर्येण मैथुनत्यागेन ।
काले कृतया चर्यया देवार्चनजपादिकया च ॥ २१ ॥

अनु०—दिन में सूर्य ीबों की रक्षा करता है तथा रात्रि में चन्द्रमा । इसलिये
अमावस्या की रात्रि में आत्मनंयम, ब्रह्मचर्य तथा समय के अनुरूप चर्या (देवार्चन
आदि) के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करे ॥ २१ ॥

कस्मात्पुनरस्यां रात्री चन्द्रमा न गोपायतीत्याह—

सह ह्येतां रात्रि सूर्याचन्द्रमसौ वसतः ॥ २२ ॥

एतां रात्रिम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । सर्वमितां रात्रि सूर्याचन्द्रमसौ सह
वसतः । न च सूर्येण सह वसतश्चन्द्रमसः प्रकाशोऽस्ति ॥ २२ ॥

अनु०—क्योंकि उस रात्रि सूर्य और चन्द्रमा एक साथ निवास करते हैं ॥ २२ ॥

न कुसुत्या ग्रामं प्रविशेत् ॥ २३ ॥

कुसुतिः कुमार्गं । तथा ग्रामं न प्रविशेत् ॥ २३ ॥

अनु०—किसी बुरे मार्ग से (अप्रचलित मार्ग से) ग्राम में प्रवेश न करे ॥ २३ ॥

यदि प्रविशे 'न्नमो रुद्राय वास्तोष्वातय' इत्येतामृचं जपेदन्यां वा

रौद्रीम् ॥ २४ ॥

यदि गत्यन्तराभावात् प्रविशेत् 'नमो रुद्राये' त्यादिकासृचं जपेत् । अर्था वा रौद्रीम् 'इमां रुद्राय तवस' इत्यादिकाम् । अत्र वाजसनेयगृह्ये—'वनं प्रवेक्ष्यन्ननुमन्त्रयते 'नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मा सम्पारये' ति । पत्न्यान्-मारोक्ष्यन्ननुमन्त्रयते 'नमो रुद्राय पथिपदे स्वस्ति मा सम्पारये'ति । अपः प्रवेक्ष्यन्तनुमन्त्रयते—'नमो रुद्रायाऽपुपदे स्वस्ति मा सम्पारये'ति । तस्माद्य-त्किञ्चन कर्म कुर्वन् स्यात् सर्वं 'नमो रुद्राये' रंथेव हुर्यात् 'सर्वो ह्येप रुद्र' इति श्रुतेरिति भारद्वाजगृह्येऽव्यस्मिन्विषये क्रियानेव भेदः ॥ २४ ॥

अनु०—यदि कारण वश ऐसे मार्ग से प्रवेश करना पड़े, तो 'नमो रुद्राय वास्तो-ष्पतये' मन्त्र का जप करे, अथवा रुद्र देवता के प्रति उक्त किसी अन्य मन्त्र का जप करे ।

नाऽत्राहुणायोच्छिष्टं प्रयच्छेत् ॥ २५ ॥

अत्राहुणः शूद्रः । "न शूद्रायोच्छिष्टमनुच्छिष्टं वा दद्यादिति वासिष्ठे दर्शनात् । तस्मा उच्छिष्टं न प्रयच्छे"दित्यनाश्रितविषयम् ॥ २५ ॥

अनु०—अपने भोजन का उच्छिष्ट अन्न किसी ऐसे व्यक्ति को न देवे जो ब्राह्मण न हो ॥ २५ ॥

यदि प्रयच्छेद्दन्तान् स्कुप्त्वा तस्मिन्नवधाय प्रयच्छेत् ॥ २६ ॥

इदमाश्रितविषयम् । दन्तान्नखेन स्कुप्त्वा विलिख्य तन्मलं तस्मिन्नुच्छिष्टे-ऽवधाय प्रयच्छेत् । 'स्कुप्त्वे'ति स्कुम्नातेः क्त्वाप्रत्यये छान्दसं भकारस्य चत्वंम् । स्कुम्नोतेर्वा पकार उपजनः ॥ २६ ॥

अनु०—यदि किसी अत्राहुण को अपना उच्छिष्ट अन्न दे तो दाँतों को खरोचकर उनके मल को उस उच्छिष्ट अन्न में रखकर दे ॥ २६ ॥

क्रोधादींश्च भूतदाहीयान्दोषान्वर्जयेत् ॥ २७ ॥

क्रोधादयो भूतदाहीया अध्यात्मपटले (२२.५) न्याख्याताः । तद्वचनं योगि-विषयमित्ययोगिनोऽपि स्मातक्रम्य क्रोधादिनिवृत्त्यर्थमिदं वचनम् । इदमेव तर्ह्यभयार्थमसु—योग्यर्थमयोग्यर्थं च । एवं सिद्धे तद्वचनं क्रोधादिवर्जनस्य योगाङ्गत्वप्रतिपादनार्थम् तेन क्रोधाद्यनुष्ठाने योगसिद्धिर्न भवति । न पुनः स्मातक्रत्रतलोपप्रायश्चित्तमिति ॥ २७ ॥

अनु०—क्रोध आदि जैसे उन दोषों से दूर रहें जो योग की सिद्धि में बाधक होते हैं ।

॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ प्रथमप्रश्ने एकत्रिंशो कण्डिका ॥ ३१ ॥

१. त्रा० ३. ७. ९ नमो रुद्राय वास्तोष्पतये । आयने विद्ववणे । उद्यायने यररा-यणे । आवर्तने निवर्तने । यो गोपायति तन्पु हुवे ॥ इति तमभा ऋक् ॥

२. इमां रुद्राय तवसे कर्पादने क्षयहीराय' इति रुद्राध्यायगता (ते० सं० ४. ५. १०)

३. पार० गृ० ३. १५. ११ ४. व० ष० १८ १४

प्रवचनयुक्तो वर्षाशिरदं मैथुनं वर्जयेत् ॥ १ ॥

प्रवचनमध्यापनम् । तेन युक्तो वर्षासु शरदि च मैथुनं वर्जयेत् ऋषिवाच्यम् ॥ १ ॥
अनु०—अध्यापन करने वाला वर्षों तथा शरद ऋतुओं में मैथुन कर्म से बितर रहे ॥ १ ॥

मिथुनीभूय च न तथा सह सर्वा रात्रि शयीत ॥ २ ॥

मिथुनीभूय मैथुनं कृत्वा तथा भार्यया सह तां रात्रि सर्वां न शयीत ॥ २ ॥
अनु०—यदि पत्नी के साथ मैथुन भी करे तो सम्पूर्ण रात्रि उसके साथ शयन न करे ॥ २ ॥

शयानश्चाऽध्यापनं वर्जयेत् ॥ ३ ॥

द्विधा नक्तं च शयानस्याऽध्यापनप्रतिषेधः । त्वयं तु धारणार्थनयोयान्तत्वं
न दोषः ॥ ३ ॥

अनु०—(दिन न वा रात्रि में) लेटकर न पढ़ावे ॥ ३ ॥

न च तस्यां शय्यायामध्यापयेद्यस्या शयीत ॥ ४ ॥

यस्यां शय्यायां भार्यया सह शयीत रात्रौ तस्यां शय्यायामाचानोऽपि
नाऽध्यापयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—उस शय्या पर भी बैठकर अध्यापन न करे भिन्न पर रात्रि में पत्नी के साथ शयन कला हो ॥ ४ ॥

अनावि स्रगनुलेपणस्त्यात् ॥ ५ ॥

आविर्भूते प्रकाशितं स्रगनुलेपने यत्स एवंभूतो न त्यात् । तत्त्वं पूर्ववत् ॥
अनु०—माछ आदि से सजाकर या छेप आदि धरके अग्ने शरीर को प्रदर्शित न करे ॥ ५ ॥

सदा निशायां दारं प्रत्यलङ्घुर्वीत ॥ ६ ॥

‘दारं प्रकांति बचनादुपगमनार्थमलङ्करणम् । तेन भार्याया अशक्त्यादिना
उपगमनायोन्यत्वे नाऽयं नियमः ॥ ६ ॥

अनु०—रात्रि में अपनी पत्नी के उपगमन के छिप सदेव माछा, दुग्निवत छेप आदि से अग्ना अलङ्करण करे ॥ ६ ॥

सशिरा वमञ्जनमस्तु वर्जयेत् ॥ ७ ॥

वमञ्जनमवमञ्जनम् । ‘वपि भागुरिल्लोपनवाप्योऽपसर्गयो’ रित्यकार-
लोपः । तत्सशिरा वर्जयेत् । सह शिरसा स्नानं न कुर्यात् । अवगाहनविषयः
सर्वे स्नातकञ्चविरिक्ते चरित्वायोः, ननिषिक्काश्च । स्नातकस्य तु नित्यस्नानम-
वगाहनरूपं न भवतीत्याचार्यस्य पक्षः ॥ ७ ॥

अनु०—बल में शिर के साथ सम्पूर्ण शरीर को डुबाकर स्नान न करे ॥ ७ ॥

अस्तिमि ते च स्नानम् ॥ ८ ॥

अस्तमिते आदित्ये सर्वप्रकारं स्नानं वर्जयेत् ॥ ८ ॥

अनु०—सूर्य के अस्त हो जाने पर किसी भी प्रकार का स्नान न करे ॥८॥

पालाशमासनं पाटुके दन्तप्रक्षालनमिति च वर्जयेत् ॥ ९ ॥

पालाशमासनादि वर्जयेत् । दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठम् । इतिशब्दः प्रकारे ।
तेनाऽन्यदपि गृहोपकरणं पालाशं वर्जयेत् ॥ ९ ॥

अनु०—पलाश का आसन या लड़ाऊँ अथवा दावौन अथवा अन्य इस प्रकार
का उपकरण न बनावे ॥९॥

स्तुतिं च गुरोस्समक्षं यथा सस्नातमिति ॥ १० ॥

‘सुस्नात’ मित्यादिकां च स्तुतिं गुरोस्सान्निधी वर्जयेत् ॥ १० ॥

अनु०—गुरु के समक्ष अपनी किसी भी प्रकार की प्रशंसा न करे जैसे इस
प्रकार न कहे कि मैंने अच्छी प्रकार स्नान किया है ॥१०॥

आ निशाया जागरणम् ॥ ११ ॥

निशा रात्रेर्मध्यमो भागः । आ तस्मात् जागृत्यात् न स्वप्यात् ॥ ११ ॥

अनु०—आधी रात के बाद जागते हुए रहना चाहिए ॥११॥

अनध्यायो निशायामन्यत्र घर्मोपदेशाच्छिष्येभ्यः ॥ १२ ॥

निशायामनध्यायः अध्ययनमध्यापने च न कुर्यात् । शिष्येभ्यस्तु घर्मो-
पदेशोऽनुज्ञायते ॥ १२ ॥

अनु०—आधी रात को अध्ययन या अध्यापन न करे । किन्तु शिष्यों को कर्तव्य
के विषय में उपदेश दिया जा सकता है ॥१२॥

मनसा वा स्वयम् ॥ १३ ॥

निशायामनध्यायस्य प्रतिप्रसवः-मनसा वा स्वयं चिन्तयेदिति ॥ १३ ॥

अनु०—अथवा मन में या अपने आप अध्ययन-पारायण किया जा
सकता है ॥१३॥

ऊर्ध्वमर्धरात्रादध्यापनम् ॥ १४ ॥

अयमपि प्रतिप्रसवः । निशायामपि षोडश्या नाडिकाया आरभ्या-
ध्यापनं भवतीति ॥ १४ ॥

अनु०—आधी रात के बाद अध्ययन और अध्यापन किया जा सकता है ॥ १४ ॥

नाऽपररात्रमुत्थायाऽनघ्नाय इति संविशेत् ॥ १५ ॥

रात्रेस्त्वृतीयो भागोऽपररात्रः । ऊर्ध्वमर्धरात्रादुत्थायाऽध्यापयन्पररात्रे न

संविशेत् न शयीत । यद्यपि तस्मिन्प्रम्यादिरनध्यायः प्राप्तो भवति । किं पुनः स्वाध्याये । तथा च मनुः—

“न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माऽधीत्य पुनः स्वयेत् ।” इति ॥ १५ ॥

अनु०—(आधी रात को उठकर तथा उसके बाद अध्ययन, अध्यापन करके) रात्रि के तीसरे भाग में अध्ययन निषिद्ध है ऐसा समझकर फिर शयन न करे ॥ १५ ॥

^२ काममपशयीत ॥ १६ ॥

अनेन स्तम्भाद्युपश्रयणेनाऽऽसीतस्य स्वापोऽनुज्ञायते । श्रिव्सेवायाम् । तत्र रेफलोपरछान्दसः । तथा शकारस्य द्विर्वचनम् ॥ १६ ॥

अनु०—यदि सोना चाँडे तो किसी लंभे आदि का सहारा लेकर बैठे-बैठे सोवे ॥ १६ ॥

मनसा वाऽर्धांयीत ॥ १७ ॥

अयमप्यूर्ध्वमर्धरात्रादुत्थायाऽध्यापयतोऽनध्यायप्राप्तावेवोच्यते । मनसा प्राप्तं प्रदेशमधीयीत स्वयं चिन्तयेत् । उपाश्रित्य वा स्वप्यात् ॥ १७ ॥

अनु०—अथवा मन में ही अध्ययन पारायण करे ॥ १७ ॥

क्षुद्रान् क्षुद्राचरितांश्च देशान्न सेवेत ॥ १८ ॥

क्षुद्रानल्पकान् पुरुषान्न सेवेत । क्षुद्रैर्निपादादिभिरधिष्ठितांश्च देशान्न सेवेत ॥ १८ ॥

अनु०—क्षुद्र बनों के समीप अथवा क्षुद्रबनों से युक्त देश में न जावे ॥ १८ ॥

सभास्समाजांश्च ॥ १९ ॥

सभास्समाजाश्च व्याख्याताः । तान्न सेवेत ॥ १९ ॥

अनु०—सभाओं में तथा मीड के स्थानों पर न जावे ॥ १९ ॥

समाजं चेदगच्छेत्प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयात् ॥ २० ॥

यद्यथात् समाजं गच्छेत् तं प्रदक्षिणीकृत्याऽपेयादपगच्छेत् ॥ २० ॥

अनु०—यदि लोगों के समूह में पहुँच गया हो तो उसकी प्रदक्षिणा करके (अथवा उसे दाहिने हाथ की ओर करके) वहाँ से प्रस्थान करे ॥ २० ॥

नगरप्रवेशनानि च वर्जयेत् ॥ २१ ॥

बहुवचननिर्देशात् बहुकृत्यो नगरं न प्रवेष्टव्यम् । यदाकदाचिद्यादृष्टिचक्रे प्रवेशे न प्रायश्चित्तम् ॥ २१ ॥

अनु०—नगर में प्रवेश का वर्जन करे ॥ २१ ॥

प्रश्नं च न विब्रूयात् ॥ २२ ॥

विविच्य वचनं विवचनं निर्णयः । पृष्टमर्थं न विविच्य त्रयादिदमित्थामिति । दुर्निरूपार्थविषयमिदम् ॥ २२ ॥

अनु०—किसी प्रश्न का सोधे निर्णय के साथ उत्तर न दे ॥ २२ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति ॥ २३ ॥

अपि चाऽस्मिन्नर्थे श्लोकमुदाहरन्ति ॥ २३ ॥

अनु० इस विषय में यह उद्धरण दिया जाता है ॥ २३ ॥

मूलं तूलं वृहति दुर्विवक्तुः प्रजां पशूनायतनं हिनस्ति ।

धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय रुदन् ह मृत्युर्भुवाच प्रश्नम् । इति ॥२४॥
दुर्निरूपमर्थ सहसा निर्णय यो दुर्विवक्ति अत्यथा वर्णयति स दुर्विवक्ता । तस्य दुर्विवक्तुस्तदेव दुर्वचनमेव मूलं तूलं च वृहति । मूलं पिल्लधनम् । तूल-सागामिनी सम्पत् । तदुभयमपि वृहति उपाटयति । इन्तोष्ठयो वकारः । किमेवावदेव ? न, प्रजां पुत्रादिकाम् । पशून् गवादिकाम् । आयतनं गृहं च हिनस्ति । अतो दुर्वचनसम्भवात् प्रश्नमात्रमेव न विन्नयादिति । अत्रेतिहासः—कस्यचिदपेधर्मप्रह्लादः कुमालनञ्चेति द्वौ शिष्यावास्ताम् । तौ कदाचिदरण्यान्महान्तौ समिद्धारावाहृत्य श्रमा ददष्टिपूत एवाचार्यगृहे प्राक्षिपताम् । तयोरेकेनाऽऽक्रान्त आचार्यस्य शिशुः पुत्रो मृतः ततः शिष्यावाहूयाऽऽचार्यः पप्रच्छ—केनायं मारित इति । ताडुभावपि न मयेत्युचतुः । तथा पतितस्य परित्यागम-दुष्टस्य परिग्रहं कुर्मशक्नुवन्नुपिर्मृत्युमाहूय पप्रच्छ—केनायं व्यापादित इति । ततो धर्मसङ्कटे पतितो मृत्यूरुदन्नेव प्रश्नं व्युवाच विविच्य कथितवान् । कथम् ? हे धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय । पृष्टमर्थं चतुर्थी । कुमालनस्य नेदं पतनीयमिति धर्मप्रह्लाद स्वयेदं कृतमिति वक्तव्ये इतरस्य नाऽस्तीत्युक्तम् । तथा पीतरस्यास्तीत्यर्थादुगम्यते । इति रुदन् ह व्युवाचेति । इत्यब्द पेतिहत्वद्योत-नार्थः । प्रह्लादशब्दे हकारात्परो रेफश्छान्दसः ॥ २४ ॥

अनु०—ओ ध्येक कोई गलत निर्णय देता है उसका मूलतापूर्ण निर्णय उसके पूर्वजों की, मांवी समृद्धि की सन्तान, पशु और घर की शानि करता है । मृत्यु ने रोते हुए ऋषि के प्रश्न का उत्तर दिया या धर्मप्रह्लाद न कुमालनाय' ।

टि०—इस पद्य के उच्चारण में एक आख्यान का सन्दर्भ दिया गया है । हरदत्त ने इस आख्यान को इस प्रकार प्रस्तुत किया हैः—किसी ऋषि के धर्मप्रह्लाद और कुमालन दो शिष्य थे । वे दोनों एक दिन वन से बहुत भ्रम करके पर्याप्त इंगन ले आये और उन्हे गुरु के घर में बिना देखे-भाले फेंक दिया । एक लकड़ी के टुकड़े से चोट खाकर गुरु का डोया बच्चा मर गया । दोनों शिष्यों को बुलाकर गुरु ने पूछा किसने

इसे मारा है। उन दोनों ने ही इन्कार किया। पतित समस्त कर क्लृप्तका परित्याग करना चाहिन तथा दोषदान समस्त कर क्लृप्त को खना चाहिये ऐसा निर्णय करने में अन्तर्गम्य ऋषि ने मृत्यु को डुलाकर पूछा 'इन दोनों में किसने इसे नाश है?' वन-संकट में पड़कर रोते हुए मृत्यु ने कहा—'धर्मप्रह्लाद न कुमाब्जनाय।' (अर्थात्, हे धर्मप्रह्लाद, यह दोष कुमाब्ज का नहीं है, किन्तु इसका यह भी अर्थ निकला कि धर्मप्रह्लाद ने नहीं, बल्कि दोष कुमाब्ज का है।

गार्दभं यानमारोहणे विषमारोहणावरोहणानि च वर्जयेत् ॥ २५ ॥
गर्दभयुक्तं यानं गार्दभं शकटादि । आरोह्यो वर्जयेत् नाऽऽरोहेत् । तथा
विषनेपु निम्नोन्तेष्वारोहणमवरोहणं च वर्जयेत् । उन्तेष्वारोहणं नि-
म्नेष्ववरोहणम् ॥ २५ ॥

अनु०—गर्दभे से खँचि जाने वाले यान पर न चढ़े, विषम स्थानों में रथ पर आरोहण तथा रथ से अवरोहण का वर्जन करे ॥ २५ ॥

बाहुभ्यां च नदीतरणम् ॥ २६ ॥

तरणं तरः । बाहुभ्यां च नद्यास्तरणं वर्जयेत् । 'बाहुवभ्यां' मिति वचनात्
प्लवादिना न दीपः ॥ २६ ॥

अनु०—नदी को तैर करके पार करने का वर्जन करे ॥ २६ ॥

नाभं च सांशयिकीम् ॥ २७ ॥

भिद्यते न वेति संग्रहमापन्ना सांशयिकी नौः । जीर्णां नावं वर्जयेत् ।
'नाभा' मिति पष्ठधन्तपाठे, नावां मध्ये सांशयिकी नावं वर्जयेत् ॥ २७ ॥

अनु०—संशय उत्पन्न करने वाली नाव पर न चढ़े ॥ २७ ॥

तृच्छेदनलोष्टुविमर्दनपुवनानि चाऽकारणात् ॥ २८ ॥

तृच्छेदनादि नाऽकारणद्वर्जयेत् न कुर्वाण । तृणच्छेदनत्याग्नि ज्वलनादि
कारणम् । द्वेनस्य कारणं प्रतिशयथादि । इतरच्च मृग्यम् ॥

अनु०—विना कारण पास फाटने, देखा फोड़ने, धूकने का वर्जन करे ॥ २७ ॥

यद्याऽन्यत्परिचक्षते यच्चान्यत्परिचक्षते ॥ २९ ॥

यद्याऽन्यदेवं श्रुत्वाचार्याः परिचक्षते वर्जयन्ति तदप्यक्षकीडादि वर्ज-
येत् । द्विरुक्तिः प्ररनपरिसभामिच्छता ॥ २९ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्ती प्रथमप्रश्ने द्वात्रिंशो कण्डिका ॥ ३२ ॥

अनु०—तथा उन सभी कार्यों को न करे बिनका नियेव आचार्यों ने किया है।

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तावुञ्जलायामेकादशः पटलः

समाप्तः प्रथमः प्रश्नः

अथ द्वितीयः प्रश्नः

प्रथमः पटलः

पाणिग्रहणादधि गृहनेधि नो व्रतम् ॥ १ ॥

पूर्वास्मिन् प्रश्न आद्ययोः प्रायेण ब्रह्मचारिणो घर्मा उक्ताः । इतरेष्वष्टसु सर्वाश्रमाणाम् । एकादशे समावृत्तस्य । इदानीं पाणिग्रहणादारभ्य कर्तव्यानि कर्माण्युच्यन्ते । पाणिर्यस्मिन्नहनि' गृह्यते तत्पाणिग्रहणम्' । अधिदाब्द ऊर्ध्वार्धे वर्तते । तस्मादूर्ध्वं गृहमेहधिनोर्गृहस्थाश्रमवतोः यद्व्रतं नियतं कर्तव्यम्, ज्ञाता-वेकवचनम्, तदुच्यते । 'पाणिग्रहणादधी'ति वचनं 'मायादिरग्निर्दोयादिवै'ति शास्त्रान्तरोक्तो विकल्पो मा भूदिति । 'गृहमेधिनो'रिति द्विवचनमन्यतरमरणे मा भूदिति' । वैश्वदेवं तु विधुरा अपि कुर्वन्ति ॥ १ ॥

अनु०—पाणिग्रहण के बाद पति और पत्नी दोनों गृहस्थाश्रम के कर्मों का सम्पादन करें ।

टि०—इस सूत्र में विवक्षित निगम के अनुसार ऋषिभिश्च अग्नि का आवाहन पाणिग्रहण के समय से ही होगा, दायद अर्थात् सम्पत्ति के विभाजन के समय का विकल्प दृष्टकार को मान्य नहीं है । सूत्र में 'गृहमेधिनोः' शब्द भी द्विवचन है, तात्पर्य यह कि गृहस्थाश्रम के कर्म पति-पत्नी दोनों को ही करने होते हैं । किसी एक के न होने पर ये कर्म नहीं होते, किन्तु वैश्वदेव जैसा कर्म विधुर पुरुष कर सकता है ॥ १ ॥

कालयोर्भोजनम् ॥ २ ॥

कालयोरुभयोरपि भोजनं कर्तव्यम्—सायं प्रातश्च, नाऽन्तरेति परिसङ्ख्ये-यम्, भोजनस्य रागप्राप्तत्वात् । मानवे च स्पष्टमुक्तम्—

“सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितम् ।

नाऽन्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥” इति ।

१. वरिमन् कर्मणि. इति. क० ढ० पु०

२. चतुर्योर्कर्मान्तो विवाहः इत्यधिकं ङ० पु०

३. गी० घ० ५. ७

५. अनेकमार्गस्य एकस्यामपि सर्वां भवत्येव । अनेकाभितस्त्याऽद्विकारस्य विद्यमानत्वाच्छाब्दान्तरत्वाच्च । इत्यधिकं क० पु०

५. वचनमिदं मुद्वितमनुस्मृतिक्षेत्रेषु नाऽस्ति । परं तु बहुषु निश्चयेषु परं मान-वर्तनोपन्यस्तम् ।

१५ आ० घ०

अन्ये तु नियमं मन्यन्ते शक्यौ सत्यां गृहमेधिनोरभयोरपि कालयोरवश्यं भोक्तव्यं प्राणामिहोत्रस्याऽलोपायेति ।
तथा च वीधायनः—

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनरनंस्तु तपश्चरेत् ।

प्राणामिहोत्रलोपेन ह्यवकीर्णा भवेत्तु सः ॥^१ इति ।

^२अन्यत्र प्रायश्चित्तात् । प्रायश्चित्ते तु तदेव विधानमिति ॥ २ ॥

अनु०—केवल दो समयों में भोजन करे (प्रातः तथा सायं)

टि०—जैसा कि हरदत्त ने अपनी व्याख्या में निर्देश किया है यथासंभव के समय अथवा भोजन करना चाहिए, बिससे प्राणानिहोत्र का लोप न होवे । प्राणानिहोत्र करने का नियम भोजन के दोनों समयों में विहित है । इसमें पाँच वायुओं के लिए स्वाहा कहकर भोजन के कवल खाये जाते हैं । केवल दो समय भोजन का नियम विहित होने से यह भी अभिप्रेत है कि दो से अधिक बार भोजन नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

अतुसिञ्चाऽन्नस्य ॥ ३ ॥

सुहितार्थयोगे करणे पष्टी भवति । 'पूर्णगुणसुहितार्थे'ति ज्ञापनात् । अत्रेन तृप्तिं न गच्छेताम् । यावत्तृप्तिं न भोक्तव्यम् ॥ ३ ॥

अनु०—तृप्तिर्यन्त अन्न का भोजन नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

पूर्वसु चोभयोरुपवासः ॥ ४ ॥

पक्षसन्धिः पर्व । इह तु तद्युक्तमहर्गृह्यते । तेषु पूर्वसूभयोर्दैन्यपत्योरुपवासः कर्तव्यः । उपवासो भोजनलोपः ॥ ४ ॥

अनु०—(अमावस्या तथा पूर्णमासी) पर्वों पर पति और पत्नी दोनों ही उपवास रखे ॥ ४ ॥

अविशेषादुभयोरपि कालयोः प्राप्तावाह—

भौपवस्तमेव कालान्तरे भोजनम् ॥ ५ ॥

यत्कालान्तरे एकस्मिन् काले भोजनं तदप्यौ^३पवस्तमेव उपवास एव ।

१. शक्यौ सत्यां नालयोर्वर्जने च प्राणानिहोत्रलोपः । तस्यालोपाय कालयोरवश्यं भोजनं कर्तव्यमिति ६० पुस्तके पाठः ।

२. बी० प० २.७.२४ ३. अयं भागो ४० पुस्तके नास्ति ।

४. पा० सू० २.२.११

५. 'बहु स्तम्भ' इत्यम्नादेवादिकाद्भावे के स्वयंशपि च सति भौपवस्तमिति रूपं, घातनामनेकार्थत्वाद्भोजने इतिरिति च वेदितव्यम् ।

१ 'औपवस्त्वं तूपवासः' निघण्टुः । तदपि दिवा, न रात्रौ; श्रौते तथा दर्शनात्
 २ 'न तस्य सायमश्नीया'दिति । तदिह ३ 'एवमत ऊर्ध्व'मित्यादि गृह्ये यदुक्तं
 तत्रत्य उपवासो व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अनु० - उन विधियो पर केवल एक बार दिनमें भोजन करना भी उशवास कहा
 जाता है ॥ ५ ॥

तृप्तिश्चाऽन्नस्य ॥ ६ ॥

पर्वसु सक्तुद्भुञ्जानो यावत्तृप्तिं भुञ्जीयाताम् ॥ ६ ॥

अनु० - (एक बार भोजन करके उपवास करने पर) दोनों आवृत्ति भोजन
 करे ॥ ६ ॥

यच्चैनयोः प्रियं स्यात्तदेतस्मिन्नहनि भुञ्जीयाताम् ॥ ७ ॥

'एतस्मिन्नहनौ'ति न वक्तव्यम् । प्रकृतत्वात् । यथा 'तृप्तिश्चान्नस्ये' ति पर्वसु
 भवति, एवमिदमपि भविष्यति । किं च 'पर्वसि'ति बहुवचनान्तस्य प्रकृतस्य
 'एतस्मिन्नहनौ'त्येकवचनान्तेन प्रत्यवमशो नाऽतीव समञ्जसः । तस्माद्बयवहि-
 तमपि पाणिग्रहणमहः प्रत्यवमशयते । एतदर्थमेव च गृह्ये 'एतदहर्विजानीयाय-
 दहर्भार्यामावहत' इत्युक्तम् । एतस्मिन् पाणिग्रहणेऽहनि यदेनयोर्दम्पत्योः प्रियं
 तत् भुञ्जीयाताम् । न तु 'नाऽऽस्मार्थमभिरूपमन्नं पाचये' (२.७.४) दिति निपे-
 धस्याऽयं विषय इति । प्रतिसंबत्सरं चैतत्कर्तव्यम् । यथा चैत्रे मासि स्वाती
 कृतबिवाहस्याऽपरस्मिन्नपि संबत्सरे तस्मिन्मासे स्वातावेव कार्यम् । एवं हि
 तदेवाऽह्नरिति भवति । प्रतिमासं तु नक्षत्रागमेऽपि चैत्रादिभेदान्न तदेवेति प्रति-
 पत्तिः । तस्मात् प्रतिसंबत्सरमिदं विवाहनक्षत्रे कर्तव्यम् । यथा राज्ञामभिषेक-
 नक्षत्रमेवं हि गृह्येधिनोर्विवाहनक्षत्रमिति ॥ ७ ॥

अनु० - उन दोनों को जो अन्न प्रिय हो उसका इस दिन को भोजन करें ।

टि० - 'एतस्मिन्नहनौ' के विषय में व्याख्याकार हरदत्त ने आपत्ति उठायी है कि
 यह अनावश्यक है, क्योंकि पूर्ववर्ती सूत्र से पूर्व दिनों का संकेत होता ही है । इन
 दिनों को तृप्तिभर खाने का निर्देश किया जा चुका है, किन्तु 'एतस्मिन् अहनि' का
 एकवचन भी असंगत है । 'एतस्मिन् अहनि' से पाणिग्रहण के दिन से तात्पर्य
 है ॥ ७ ॥

अथश्च शयीयाताम् ॥ ८ ॥

एतस्मिन्नहनि स्थण्डिलशायिनौ स्याताम् ॥ ८ ॥

१. नामलि. का० २. ऋ० २८. २. आप० शी० ३ ३. आप० शू० ७. १७

४ आप० शू० ८. ७ ५. यथा इत्यादिग्रन्थः षः ४० पुरतक्योर्नास्ति ।

अनु०—उस रात्रि को वे दोनों भूमि पर शयन करें ॥ ८ ॥

मैथुनवर्जनं च ॥ ९ ॥

‘मैथुनवर्जनं चैतस्मिन्नहनि कर्तव्यम् ॥ ९ ॥

अनु०—उस रात्रि को मैथुन न करें ॥ ९ ॥

श्वौ भूते स्थालीपाकः ॥ १० ॥

स्थालीपाकश्च कर्तव्योऽपरेद्युः ॥ १० ॥

अनु०—दूसरे दिन स्थालीपाक तैयार करना चाहिए ॥ १० ॥

तस्योपचारः पार्वणेन व्याख्यातः ॥ ११ ॥

तस्य स्थालीपाकस्योपचारः प्रयोगप्रकारः पार्वणेन व्याख्यातः । एतदेव ज्ञापयति—न सामयाचारिकेषु पार्वणातिदेशः प्रवर्तत इति इति । केचित्तु सर्वमेवैतत्पर्वविषयं मन्यन्ते । तेषामुक्तो दोषः । ‘पार्वणेन व्याख्यात’ इति चाऽनुपपन्नम् । न हि स एव तेन व्याख्यातो भवति । ‘श्वो भूते स्थाली पाक’ इति च व्यर्थम् ।^२ ‘उपोपिताभ्यां पर्वसु कार्य’ इति पूर्वमेवोक्तवान् । ‘एतदृष्टर्विजानीया’दिति चास्य प्रयोजनं तत्पक्षे चिन्त्यम्^३ ॥ ११ ॥

अनु०—स्थालीपाक के प्रयोग को विधि पर्वों पर अर्पित किये जाने वाले स्थालीपाक के विवेचन के प्रसंग में बताया गई है ॥ ११ ॥

नित्यं लोक उपदिशन्ति ॥ १२ ॥

लोकें शिष्टाचारसिद्धमेतत्कर्म नित्यं प्रतिसंवत्सरं कर्तव्यमिति शिष्टा उपदिशन्ति ।

अपर आह—वक्ष्यमाणं कर्म शिष्टाचारसिद्धं नित्यं सार्वत्रिकं इति शिष्टा उपदिशन्ति ॥ १२ ॥

अनु०—शिष्टाचार के अनुसार किया जाने वाला यह कर्म प्रतिवर्ष किया जाना चाहिए ।

टि०—दूसरी व्याख्या यह है कि जो कर्म बताये जायेगे वे शिष्टाचार से सिद्ध हैं तथा सभी अगह किये जाते हैं ॥ १२ ॥

यत्र कं चाऽग्निमुपसमाधास्यन् स्यात्तत्र प्राचीरदीचीश्च तिस्रस्तिक्षो रेखा लिखित्वाऽद्भ्रुवोऽध्याऽग्निमुपसमिन्ध्यात् ॥ १३ ॥

१. ‘एतस्मिन्नहनि तत्र कर्तव्यम्’ इति छ० पु०

२. आप० पृ० ७ १७

३. एतस्वारस्यं तु पर्वविषयत्वं एव पर्यायः ।

होमप्रसङ्गादिदमुच्यते—यत्र स्व च गार्ह्यं सामयाचारिके वा कर्मणि गृहे ऽरण्ये वाऽग्निमुपसमाधास्यन् प्रतिष्ठापयिष्यन् स्यात्तत्र पूर्वं प्राचीः प्रागप्रस्तिष्ठो रेत्वा विलिखेत् । तत उदीचीः वदगप्रस्तिष्ठः । एवं तिस्रो लेखा लिखित्वाऽङ्गिर-
बोधेत् । अबोध्याऽग्निं श्रोत्रियागारादाहृत्य प्रतिष्ठय्योपसमिन्व्यदुपसमिन्वीत
क्राष्टैरभिव्यजयेत् । तत्र 'पुरस्तादुदवोपक्रमः, तथापवर्ग' इति परिभाषितम् ।
उपदेशकमात्र प्राच्यः पूर्वं लेखा केवलतोयाः ततश्चोदीच्यः^३ ।

^१प्राचीः पूर्वमुदक्संस्थं दक्षिणारम्भमालिखेत् ।

अधोदीचीः पुरस्संस्थं पश्चिमारम्भमालिखेत् ॥

^२अन्ये तु प्राचिरुदगारम्भं दक्षिणान्तमालिखन्ति ॥ १३ ॥

अनु०—अथ कमी (गृह्य या सामयाचारिक कर्म में) कहीं मी (घर में या
अरण्य में) अग्नि का उपसमाधान करना चाहे, तब उस वेदि पर परिचम से पूर्व
को तथा दक्षिण से उत्तर की ओर तीन-तीन रेखाएँ खींचे, उस पर बल छिड़के और
तब सन्निधूरत्नकर (भोजिप के घर से ज़्यादा हुआ) अग्नि प्रव्यजित करे ॥ १३ ॥

उत्सिच्यैतदुदकमुत्तरेण पूर्वेण वाऽन्यदुपदध्यात् ॥ १४ ॥

एतदवोधेक्षणक्षेपोदकमनेरुत्तरतः पूर्वतो वा उत्सिञ्चेत् । उत्सिच्याऽऽन्यदुदकं

पात्रस्यमुपदध्यात्तत्रैव ॥ १४ ॥

अनु०—अग्नि की वेदी के ऊपर बल छिड़कने के बाद शेष बचे हुए जल को
वेदी के ऊपर या पूर्व की ओर गिरा दे तथा पात्र में दूसरा जल डे ॥ १४ ॥

नित्यमुदधानान्यङ्गिररिक्तानि स्युर्गृहमेधिनोर्ब्रतम् ॥ १५ ॥

गृहे यावन्सुदधानान्युदपात्राणि घटकरकादीनि तानि सदाऽङ्गिररिक्तानि
स्युः । एतदपि गृहमेधिनोर्ब्रतम् । पुनः 'गृहमेधिनो'रिति वचनमस्मिन् कर्मणि
स्वयं कर्तृत्वमेव यथा स्यात् प्रयोजककर्तृत्वं मा भूदिति ।

अन्य आह—पुन 'गृहमेधिनो'रिति वचनात् पूर्वमूत्रं ब्रह्मचारिविषयेऽपि
'सादिन्या समित्सहस्रमादृत्या' (१.२६.१) वित्यादौ भवति । पाके तु स्त्रिया न
भवति । 'उपसमाधास्य'न्तििति लिङ्गस्य विवक्षितत्वात् । आर्याः प्रयता'(२.३.१.)
इत्यादौ भवतीति ॥ १५ ॥

१. आप० ए० १.५ ६

२. एकमेवेदं कर्मलिखा हरणं नाम स्थण्डिलसंस्काररूपम् । ततश्च' इत्यधिक घ. ङ. पु.

३. प्राचीः पूर्वं दक्षिणान्तमुदगारम्भमा लिखेत् । इति ल० च० पु०

४. अन्ये तु प्राचीर्दक्षिणारम्भमालिखन्ति इति च० पु०

अनु०—घर में कौ जल के पात्र हो वे कभी खाली न रहें, यही गृहस्थ तथा उत्सङ्गी पत्नी दोनों का व्रत है ।

टि०—इस सूत्र में 'गृहमेधिनोःव्रतम्' का दुबारा प्रयोग किया गया है, तात्पर्य यह कि घर में जल के पात्रों को भरने को कार्य गृहस्थ तथा उत्सङ्गी पत्नी को करना चाहिये, किसी दूसरे से इन पात्रों को नहीं भरवाना चाहिए । अन्य व्याख्याकार के अनुसार 'गृहमेधिनोः' व्रतम् की इस सूत्र में आहृति का यह अभिप्राय है कि इसके पहले का सूत्र ब्रह्मचारी के भी नियम के अन्तर्गत समझना चाहिए । अग्नि के उप-समाधान का कार्य ली का नहीं होता' सूत्र में 'उपसमाधासन्' पुल्लिङ्ग एकवचन रूप का ही प्रयोग है । १५ ॥

अहन्यसंवेदनम् ॥ १६ ॥

संवेदनं मैथुनं तदहनि न कर्तव्यम् ॥ १६ ॥

अनु०—दिन में मैथुन कर्म न करें ॥ १६ ॥

ऋतौ च सन्निपातो दारेणाऽनुव्रतम् ॥ १७ ॥

रजोदर्शनादारभ्य षोडशांश्वेरात्रा ऋतुः । तत्र च सन्निपातः संयोगो दारेण सह कर्तव्यः । छान्दसमेकवचनम् । 'नित्यं बहुवचनान्तो हि दारशब्दः । अनुव्रतं शास्त्रतो नियमो व्रतं, तदनुरोधेन । तत्र मनुः—

'ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्थलाः ।

चतुर्भित्तिरैस्सार्धमहोभिस्सद्विगर्हितैः ॥

तासामाद्याश्चतसस्तु निन्या एकादशो च या ।

त्रयोदशो च शेपास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः' ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ॥

ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमत्युत्तौ स्नातको द्विजः ।' इति ।

याज्ञवल्क्यस्तु—

'एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् । इति ।

आचार्यस्तु चतुर्थीप्रभृति गमनमाह—'चतुर्थिप्रभृत्यापोडपीशुचरामुत्तरं युग्मां प्रज्ञान्निधेयसस्तुगमनमित्युपदिशन्ति' इति । तद्विद् षोडशसु रात्रिव्या-द्वितस्तिस्सर्वथा वर्ज्याः । चतुर्थ्येकादशो त्रयोदशो चाऽऽचोयणाऽनुज्ञाताः

१. नित्यं बहुवचनान्तो हि दारशब्दः इति नास्ति क० पु०

२. म. सू. ३ ५६, ४७

४. या सू. १. ८०

३. म० सू० ४. १२८

५. आ० १०. ४० ९. १

मनुना निषिद्धाः । इतरासु दशसु युगमासु पुत्रा जायन्ते, स्त्रियोऽयुगमासु । तत्र चोत्तरामुत्तरा' मिति वचनात् पोडश्यां रात्रौ मघादियोगाभावे गच्छतस्सर्वत लच्छटः पुत्रो भवति । चतुर्थ्यामवमः । मध्ये कल्प्यम् । एवं पञ्चदश्यामुच्छ्रष्टा दुहिता । पञ्चम्यामवमा । मध्ये कल्प्यम् । पोडशश्वेव गमनं गर्भहेतुः । तत्रापि प्रथमम् । एवं स्थिते नियमविधिरयं-योग्यत्वे स तृताववश्यं सन्निपतेत्, असन्निपतन् पुत्रोत्पत्तिं निरुन्धातः प्रत्यवेयादिति । तथा च दोपस्मृतिः—

‘ऋतुस्नातां तु यो भार्या सन्निधौ नोपगच्छति ।

तस्या रत्नसि तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥’ इति ।

पुत्रगुणार्थितया पूर्वा पूर्वा वर्जयतो न दोषः । अन्ये तु परिसङ्ख्यां मन्यन्ते—ऋतावेव सन्निपतेन्नाऽन्यत्रेति । तेषाद्गतावनियमादगमनेऽपि दोषाभावाद्दोषस्मरणमनुपपन्नं स्यात् । सर्वथा विधिर्न भवति । रागप्राप्तत्वात्सन्निपान्तस्य ॥ १७ ॥

अनु०—ऋतुकाल मे (स्त्रोदर्शन के समय से मोह्य रात्रियों के समय में) शास्त्र के नियम के अनुसार परनी के साथ मैथुन कर्म में प्रवृत्त होवे ॥ १७ ॥

अन्तरालेऽपि दार एव ॥ १८ ॥

अन्तराल मध्यम् । ऋत्वोरन्तराले मध्येऽपि सन्निपातः स्यात् दार एव सकामे सति । यद्यात्मनो जितेन्द्रियतया न तादृशं पारवश्यम्, तथाऽपि भार्यायामिच्छन्त्यां तद्रक्षणार्थमवश्यं सन्निपतेदिति । वक्ष्यतिच ^{१६}अप्रमत्ता रक्षथ तन्मुनेत' (२.१२६.) मित्यादि । अनुव्रतमित्यनुवृत्तेः प्रतिपिष्टेषु दिनेषु न भवति ॥ १८ ॥

अनु०—शाब्दिक नियम का पालन करते हुए ऋतुकालों के मध्य के समय में भी (सकाम होने पर या पत्नी के इच्छा करने पर मैथुन करे ॥ १८ ॥

ब्राह्मणवचनाच्च संवेशनम् ॥ १९ ॥

यदिदमनन्तरोक्तं संवेशनं तत्र ब्राह्मणवचनं प्रमाणं ‘कामसाविजनितोऽस्मभ्यचामे'ति ॥ १९ ॥

अनु०—ब्राह्मण ग्रन्थ में उक्त वचन के आधार पर मैथुन विहित है ।

१. बौ. घ. ४. १०. २०.

२. बौ. घ. २. २. ३६. द्रष्टव्यम् ।

३. वै. सं. २. ५. १. यावत्प्रवृत्ति संभोगं प्राजुयानेत्यर्थः । अयं स्त्रीभिरित्त्राद् प्राथितो वरः ।

टि०—तैत्तिरीयसंहिता २. ५. १ मे स्थियो द्वारा इन्द्र से यह वर प्राप्त करने का उल्लेख है कि हम सन्तान उत्पत्ति तक संभोग का सुख प्राप्त करें ॥ १९ ॥

श्रीवाससैव सन्निपातस्स्यात् ॥ २० ॥

एवकारो भिन्नक्रमः । स्युषगार्थं वासः श्रीवासः । तेन सन्निपात एव स्यात् । न तेन सुप्रक्षालितेनाऽपि ब्रह्मयज्ञादि कर्त्तव्यमिति यावत् ॥ २० ॥

अनु०—मैथुन के समय 'श्रीवास' ही धारण करें (जो इस अवसर पर पढ़ने के लिए विशिष्ट वस्त्र होता है और बिसका प्रयोग किसी भी स्थिति में धार्मिक कृत्यों के समागमन के समय में नहीं होना चाहिए) ॥ २० ॥

यावत्सन्निपातं चैव सह शय्या ॥ २१ ॥

यावत्सन्निपातमेव दम्पत्योस्सह शयनम् ॥ २१ ॥

अनु०—केवल मैथुन के समय ही पति-पत्नी साथ एक शय्या पर सोवें ॥ २१ ॥

ततो नाम्ना ॥ २२ ॥

ततः पृथक्शयीयाताम् ॥ २२ ॥

अनु०—उसके बाद वे अलग हो चाँय ॥ २२ ॥

उदकोपस्पर्शनम् ॥ २३ ॥

ततो द्वयोरप्युदकोपस्पर्शनं स्नानं कर्तव्यम् । इदृशुवकाले ॥ २३ ॥

अनु०—उसके बाद वे दोनों ही स्नान करें ॥ २३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रदृत्ताबुज्ज्वलायां श्रीहरदत्तविरचितायां

द्वितीयप्रश्ने प्रथमा कण्डिका ॥ १ ॥

अपि वा लेपाप्रक्षाल्याऽऽचम्य प्रोक्षणमङ्गानाम् ॥ १ ॥

अपि वा रेतसो रजसश्च ये लेपास्तानद्भिर्मुदा च प्रक्षाल्याऽऽचम्य अङ्गानां प्रोक्षणं शिरःप्रभृतीनां कर्तव्यम् । रुचितो व्यवस्था । यावना प्रयतो मन्यते ॥ १ ॥

अनु०—अथवा बहर-कही बीर्य या रज लग गया हो उसे मिट्टी या जल से ख़ुश करके वे आचमन करें और अपने शरीर पर जल छिड़कें ॥ १ ॥

सर्ववर्णानां स्वघर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखम् ॥ २ ॥

सर्वेषामेव वर्णानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णां च स्वधर्मा यर्षप्रयुक्ता आध्रमप्रयुक्ता उभयप्रयुक्ता वा तेषामवैगुण्येनाऽऽन्वाद्नुष्ठाने सति परमुच्छ्रष्टं अपरिनिमित्तमक्षयं सुखं स्वर्गाल्यं भवति ॥ २ ॥

१. इदमनुष्ठाने इत्यधिकं छ. च. पुस्तकयोः 'रुचितः' इत्यादिर्मन्योऽपि नास्ति तत्र

एतेन दोषफलपरिवृद्धिरुक्ता ॥ ५ ॥

एतेनैव न्यायेन दुष्टकर्मणफलपरिवृद्धिरप्युक्ता वेदितव्या । तत्रोहेत पठनीयम्-सर्ववर्णानां स्वधर्माननुष्ठाने परम्परिमितं दुःखम् । ततः परिवृत्तौ कर्मफलदोषेण दुष्टां जात्यादिकामद्रव्यान्तामधर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते । तच्चक्रवदुभयोर्दुःख एव वर्तते । यथोपधिवचनसतीनां वीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषाभोव फलहानिरेवमिति ॥ ५ ॥

अनु०—इसी प्रकार (पौषो वनस्पतियों की तरह) पापों की वृद्धि और उनके फल भी कहे गये हैं ॥ ५ ॥

दोषफलपरिवृद्धाबुदाहरणमाह—

स्तेनोऽभिशस्तो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा परस्मिह्यो केषपरिमिते
निरये वृत्ते जायते चण्डालो ब्राह्मणः पौलकसो राजन्यो वैशो

वैश्यः ॥ ६ ॥

स्तेनः सुवर्णचोरः । अभिशस्तो ब्रह्महा स्तेनोऽभिशस्तो वा ब्राह्मणदिरसु-
मित्तल्लौकेऽपरिमिते निरये दोषफलमनुभूय तस्मिन् वृत्ते परिक्षीणे ब्राह्मणश्चण्डालो
जायते । शूद्रात् ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः, राजन्यः, पौलकसः । शूद्रात्क्षत्रियायां
जातः पौलकसः । स एव पौलकसः । प्रज्ञादित्वाद्गूण् । वैश्यो, वैशो जायते^२
वेणुना नर्तको वैशः ॥ ६ ॥

अनु०—चोर, पातकी ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य परलोक में अपने पापों के फल भोगने के बाद फलों के नष्ट होने पर, यदि वे ब्राह्मण रहे हों तो चण्डाल के रूप में क्षत्रिय रहे हों तो पौलकस (शूद्रा से उत्पन्न क्षत्रिय का पुत्र) के रूप में तथा वैश्य रहे हों तो नट के वर्ण में उत्पन्न होते हैं ।

टि०—मनु के अनुसार पौलकस निषाद और क्षत्रिया का पुत्र होता है ॥६॥

एतेनाऽप्ये दोषफलैः कर्मभिः परिवृत्त्वासा दोषफलासु योनिषु

जायन्ते वर्णपरिवृत्तंसायाम् ॥ ७ ॥

वर्णपरिवृत्तंसा वर्णभ्यः प्रच्यवनं तस्यां वर्णपरिवृत्तंसायाम् । यथा ब्राह्मण-
द्वयश्चण्डालाद्या जायन्ते । एतेन प्रकारेण स्तेनाभिशास्ताभ्यां अन्येऽपि दोषफलैः
कर्मभिर्दोषफलासु सुकरादिषु, योनिषु जायन्ते । परिवृत्त्वासाः स्वजातिपरिभ्रष्टा
इत्यर्थः । ते तथाऽवगन्तव्या इति ॥ ७ ॥

१. उभोक्तं व्यासयेन पठनीयम् । इति. घ० पु०

२. वेणुनर्तकः स वैशः । इति घ० पु०

अनु०—इसी प्रकार दूसरे पापी भी अपने पाप कर्मों के कारण बणच्युत होकर कर्मों के दुष्ट फलों से प्राप्त योनियों में उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

यथा चण्डालोपस्पर्शने सम्भाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम् । ८ ।

चण्डालोपस्पर्शने दीपो भवति । तथा सम्भाषायां दर्शने च । उपसम-
स्तमपि चण्डालमहणमभिसम्बध्यते । तत्र सर्वत्र प्रायश्चित्तं वक्ष्यते ॥ ८ ॥

अनु०—बिस प्रकार चाण्डाल की छूना पाप है, उसी प्रकार उससे बोलना और उसे देखना भी पाप होता है, इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है ॥ ८ ॥

अवगाहनमपामुपस्पर्शने ॥९॥ सम्भाषायां ब्राह्मणसम्भाषा ॥१०॥

दर्शने ज्योतिषां दर्शनम् ॥ ११ ॥

उपस्पर्शने सत्यगाहनमपां प्रायश्चित्तम् । ऋजुनि उत्तरे द्वे सूत्रे । अस्मिन्
कर्मप्रशंसाप्रकरणे प्रायश्चित्ताभिधानं स्वकर्मच्युतानां निन्दार्थम् । एवंताम
निन्दितश्चण्डालः यस्य दर्शनेऽपि प्रायश्चित्तं स एव जायते स्वकर्मच्युतो ब्राह्मण
इति ॥ ९-११ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रदृष्टौ हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां

द्वितीयप्रश्ने प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

अनु०—चाण्डाल की छू लेने पर बल में स्पर्श करे । उससे बोलने के बाद ब्राह्मण से संभाषण करे और उसे देख लेने पर आकाश की ज्योतियों की ओर देखकर प्रायश्चित्त करे ॥ ९ ॥

इत्यास्तम्बधर्मसूत्रदृष्टौ उज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने

द्वितीया कण्डिका ॥ २ ॥

अथ द्वितीयः पटलः

आर्याः प्रयता वैश्वदेवेऽन्नसंस्कारः स्युः ॥ १ ॥

आर्यावर्जिकाः । 'आर्याधिष्टिता वा शूद्रा' (२.३.५) इत्युक्तत्र दर्शनात् । प्रयताः स्नानादिना शुद्धाः । वैश्वदेवे गृह्णोधिनीर्भोजनार्थे पाके । गृह्णोधिनी यद्दर्शनीयस्य' (३-१२)ति दर्शनात् । अन्नसंस्कारः स्युः । अन्नं भक्ष्यभोज्यपेयादिकं तत् संस्युः । न न्ययं, नाऽपि स्त्रियः ॥ १ ॥

अन्तः—तीन ठक्वर्णों के आर्षकन (स्नानादि से) पत्तिष होकर वैश्वदेव कर्म में गृहस्य के लिए अन्न पकावें । (गृहस्य स्वयं अन्न न पकावे और न ही लिकां पर कार्य करे) ।

टि०—वैश्वदेव कर्म में इस प्रकार तैयार किये गये मोहन को गृहस्य तथा उसकी पत्नी को खाना होता है ॥ १ ॥

भाषां कासं क्षवघुमित्यग्निमुखोऽन्नं वर्जयेत् ॥ २ ॥

भाषा शब्दोच्चारणम् । कासः कण्ठे घुग्गुराम्बद्धः । क्षवघुः क्षुत्तम् । एतन्नि-
तयमन्नाभिमुखो न कुर्यात् । 'संस्कारः स्यु'रिति बहुवचने प्रकृते 'वर्जये' दि-
कृत्येकवचनं प्रत्येकसुपदेशार्थम् ॥ २ ॥

अनु०—मोहन बनाने वाले का मुख जब तक अन्न की ओर हो, तब तक वह न बोले, न बर्षा और न घूके ॥ २ ॥

केशानङ्गं वासुश्चाऽऽभ्याऽप उपस्पृशेत् ॥ ३ ॥

केशादीनात्मीयानन्यदीयान्वा । आलभ्य स्पृश्या । अप उपस्पृशेत् । नेदं स्ना-
नाम् । किं तर्हि ? स्नानमात्रम् । केशाङ्गमे पूर्वमन्युपस्पर्शनं विहितम् । इदं तु
तत्रोक्तं वैकल्पिकं शकृदाद्युपस्पर्शनं ना भविति ॥ ३ ॥

अनु०—केसों को, शरीर के किसी अंग को अपना बल ही घू लेने के बाद बट
का स्पर्श करे ।

टि०—यहाँ बटस्पर्श से स्नान का अभिप्राय नहीं है, केवल बट को घूने का
वार्थ है ॥ ३ ॥

आर्याधिष्टिता वा शूद्रास्संस्कारः स्युः ॥ ४ ॥

त्रैवर्णिकरिधिष्टिता वा शूद्रास्संस्कारः स्युः । प्रकृत्याऽन्नस्येति गन्धने ॥५॥

अनु०—अथवा शूद्र भी आर्षकन की देखरेख में इस अन्न की तैयार कर
सकते हैं ॥४ ॥

तेषां स एवाऽऽचमनकल्पः ॥ ५ ॥

तेषां शूद्राणामन्नसंस्कारेऽधिकृतानां स एवाऽऽचमनफलपो वेदितव्यः, यस्याऽन्नं पचन्ति । यदि ब्राह्मणस्य, हृदयङ्गमाभिरङ्कि । यदि क्षत्रियस्य, कण्ठ-गाभिः । यदि वैश्यस्य, तालुगाभिः । इन्द्रियोपरस्पर्शनं च भवति ॥ ५ ॥

अनु०—उनके लिए उसी प्रकार कं आचमन का विधान है जिस प्रकार का आचमन उस व्यक्ति के लिए विहित होता है, जिसके लिए वे भस्म का संस्कार करता होता है ॥ ५ ॥

अधिकमहरहः केशश्मश्रूलोमनखवापनम् ॥ ६ ॥

शूद्राः पचन्तः प्रत्यहं केशादि वापयेयुः । इदमेपामाधिकमार्थेभ्यः ॥ ६ ॥
अनु०—यदि इसके बाद भी शूद्र प्रतिदिन भोजन बनाते हों, तो ये प्रतिदिन केशों को, दाढ़ी को, शरीर के बालों को तथा अपने नाखूनों को काटे ॥ ६ ॥

उदकोपस्पर्शनं च सह वाससां ॥ ७ ॥

सहैव वाससा स्नानं शुर्युः । आर्याणां तु परिहितं वासो निधाय कौ पीनाच्छा-
दनमात्रेणाऽपि स्नानं भवति । शूद्राणामपि पाकाद्यन्त्रे । तथा च मनुः—

‘न वासोभिस्सहाऽन्नं नाऽविज्ञाते जलाशये ।’ इति ॥ ७ ॥

अनु०—वे अपने बलों को पढ़ने हुए ही स्नान करें ।

टि०—समान्यतः कौपीन धारण करके स्नान किया जाता था, शूद्र भी भोजन बनाने के प्रसंग को छोड़कर साधारणतः कौपीन धारण करके स्नान करता था, केवल इसी प्रसंग में शूद्र मात्र के लिए बस्त्रों सहित स्नान करने का नियम बताया गया है ॥ ७ ॥

अपि वाऽष्टमौष्वेव पर्वसु वा वपरेत् ॥ ८ ॥

यदि वाऽष्टमौष्वेव वपरेत् केशादीन् पर्वस्वेव वा । न प्रत्यहम् । ‘वपरे’ ।
त्रिति अन्तर्भावितपर्यर्थः । वापयेरन्नित्यर्थः । तथा च ‘लोमनखवापन’ मिति पूर्वत्र निश्चयुक्तः ॥ ८ ॥

अनु०—अथवा प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तिथि को या पर्वों पर (अमावस्या तथा पौर्णमासी को) केश-श्मश्रु, लोम का बपन कराये तथा नाखूनों को कटवाये ॥ ९ ॥

परोक्षमन्नं संस्कृतमग्नावधिश्रित्याऽङ्किः प्रोक्षेत्तद्देवपवित्रमित्याचक्षते ।

यदि शत्रुः परोक्षमन्नं संस्कर्त्युः आर्चनधिष्ठिताः । तदा तत्परोक्षमन्नं संस्कृतं स्वयमग्नावधिश्रयेत् । आर्धिश्रित्याऽङ्किः प्रोक्षेत् । तद्देवमृतमन्नं देव-
पवित्रमित्याचक्षते । देवानामपि तत्पवित्र किं पुनर्मनुष्याणामिति ॥ ९ ॥

अनु०—यदि द्यौं ने बिना आर्यबन के निरीक्षण के परोक्ष में अन्न तैयार किया हो तो गृहस्य स्वयं उस अन्न को अग्नि पर रखे, उस पर बल छिड़के। इस प्रकार उस अन्न को भी देवताओं को अर्पित किये जाने योग्य कहा जाता है ॥९॥

सिद्धेऽन्ने तिष्ठन् भूतमिति स्वामिने प्रद्रूयात् ॥ १० ॥

सिद्धे पक्वेऽन्ने तिष्ठन् पाचकोऽधिष्ठाता वा भूतमिति प्रद्रूयात् । कर्मै ? यस्य तदन्नं तस्मै स्वामिने । भूतं निष्पन्नमित्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०—अन्न पक जाने पर पकाने वाला गृहस्य के सामने उपस्थित होकर कहे कि बन गया ('भूतम्') ॥१० ॥

तत्सुभूतं विराहन्नं तन्मा क्षायीति प्रतिवचनः ॥ ११ ॥

तत्सुभूतमित्यादि प्रतिवचनो मन्त्रः । तदन्नं सुभूतं सुनिष्पन्नम् । विराट् विराजः साधनम् । अन्नमशनम् । तच्च मा क्षायि क्षीर्णं मा भूदित्यर्थः ॥ ११ ॥

अनु०—तब गृहस्य उत्तर दे: 'बढ़ सन्धक् बनाया गया मौबन बिराज का साधन है, बढ़ मुझे क्षीण न करे ॥' ११ ॥

गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य होमा बलयश्च स्वर्गपुष्टिसंयुक्ताः ॥ १२ ॥

गृहमेधिनो यदशनीयं पक्वमपक्कं वा उपस्थितं तस्यैकदेशेन होमा बलयश्च वक्ष्यमाणाः कर्तव्याः । स्वर्गः पुष्टिश्च तेषां फलमिति ॥ १२ ॥

अनु०—बो अन्न गृहस्य और उसकी पानी को खाना होता है, उसका होम तथा बलि कर्म स्वर्ग का सुख तथा समृद्धि प्रदान करता है ॥१२ ॥

तेषां मन्त्राणामुपयोगे द्वादशाहमघरशय्या ऋतुचर्यं क्षारलवणवर्जनं

च ॥ १३ ॥

तेषां होमानां बलानां च ये मन्त्रास्तेषामुपयोगे । उपयोगो नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम् । तत्र द्वादशाहमघरशय्या स्यण्डिलशायित्वम् । ऋतुचर्यं मैथुनवर्जनम् 'क्षारलवणवर्जनं च भवति । उपयोक्तुरेव प्रवृत्तम्, अध्ययनादित्यात् । अन्ये तु पत्न्या अपीच्छन्ति । उपयोगः प्रथमयोगः तत्र च पत्न्या अपि सहाऽधिकार इति वदन्तः ॥ १३ ॥

अनु० - होम तथा बलि कर्मों के लिये प्रयुक्त बेदिक मन्त्रों को सीसते नमप गृहस्य बारह दिन तक भूमि पर शयन करे, मैथुन न करे, मसजिदार तथा नमकीन मौबन न करे ।

१. तथा च शीषापनः—'तेषां प्रत्ने द्वादशरात्रं' मित्यादि इत्यधिकं छ. पुस्तके ।

२. क्षारपदार्थः भाव. च. २. १५. १४. सूत्रे द्रव्यम् ।

टि०—कुछ लोग यह नियम पत्नी के लिए भी विहित करते हैं तथा 'उपभोग' का अर्थ पहली बार मन्वी के प्रयोग से लेते हैं उनके अभ्यास से नहीं ॥१३॥

उत्तमस्यैकारात्रमुपवासः ॥ १४ ॥

उत्तमस्य 'उत्तमेन वैहायस (२.४.८.) मिति वक्ष्यमाणस्य' 'धे भूताः प्रच-
रन्ती' त्यस्य एकारात्रमुपवासः कर्तव्यः ॥ १४ ॥

अनु०—अन्तिम बलिदानो भो पढ़ने के बाद एक एक दिन तथा एक रात्रि उपवास करे ।

बलीनां तस्य तस्य देशे संस्कारो हस्तेन परिमृज्याऽऽवोक्ष्य न्युष्य पश्चा-
त्परियेचनम् ॥ १५ ॥

बलीनां मध्ये तस्य तस्य बलेदेशे संस्कारः कर्तव्यः । कः पुनरसौ ? हस्तेन परिमार्जनमवोक्षणं च । तं कृत्वा बलिं निर्बपति । न्युष्य पश्चात् परियेचनं कर्तव्यम् । उपदेशब्रह्मादेव सिद्ध पद्मार्द्रहणं मध्ये गन्धमाल्यादिदातार्यमि-
त्याहुः । 'तम्यतस्ये'तिवचनं सत्यपि सम्भवे सकृदेव परिमार्जनमवोक्षणं च मा-
भूत् । एकस्मिन्देशे समवेतानामपि पृथक्पृथग्यथा स्यादिति ॥ १५ ॥

अनु०—प्रथम बलि के लिए अलग-अलग रथान शय से साफ कर, शय की नीचे बिड़े हुए बल छिड़ककर बलियों को रखे और उसके बाद भी उसके चारो ओर बल छिड़के ।

टि०—परचात् घन्ट से यह भी तास्यं लिया जाता है कि इन दोनों कर्मों के बीच गन्ध, माल्य आदि भी अर्पित करे ॥१५॥

औपासने पचने वा पङ्भिराद्यैः प्रतिमन्त्रं हस्तेन जुहुयात् ॥ १६ ॥

यत्र पच्यते स पचनोऽग्निः । औपासनवतामौपासने, धियुरस्य पचन इति व्यवस्थितो विकल्पः । अन्ये तु-तुल्यविकल्पं मन्यन्ते पङ्भिराद्यैः २'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्स्वाहा, भ्रुवाय भीमाय स्वाहा, भ्रुव-
क्षितये स्वाहा, अच्युतक्षितये स्वाहेत्येते । एते हि मन्त्रपाठे पठिताः प्राग्वि-
वाहमन्त्रेभ्यः विशिष्टनियमसापेक्षग्रहणत्वान्नैस्सह न गृह्यन्ते । केचित् सौविष्ट-
कृतमपि सप्तमं जुह्वति 'अग्नये विष्टकृते स्वाहे'ति औपघहविष्केषु तस्य सर्वत्र प्रवृत्तिरिति वदन्तः । अन्ये तु सोमाय स्वाहेति न पठन्ति । सौविष्टकृतं पठं
पठन्ति । हस्तग्रहणं द्रव्योद्दिनिवृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

१. ये भूताः प्रचरन्ति दिशा नक्तं बलिमिच्छन्तो वितुदस्य प्रेष्याः । तेभ्यो बलि
पुष्टिकामो हरामि मयि पुष्टिं युष्टिपतिर्दधातु ॥ इति मन्त्रः । (वै. १०. ६७,)

२. आप० मन्त्रप्रश्ने० १. १

अनु०—वैश्वदेव बलि को रसोई की अग्नि में डाले अथवा पवित्र गृह्य अग्नि में अर्पित करे प्रत्येक बार नारायणीय उग्रनिषद के) प्रथम छः (अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा भ्रुवाय भौमाय स्वाहा, प्रुवञ्चितये स्वाहा, अच्युताञ्चितये स्वाहा) मन्त्रों द्वारा प्रत्येक मन्त्र पर अपने हाथ से हवन करे ।

टि०—कुछ लोग 'अग्नये स्विष्टकृतये स्वाहा इस सातवें मन्त्र से भी बलि हवन का विधान करते हैं, कुछ लोग 'सोमाय स्वाहा' मन्त्र नहीं पढ़ते हैं और स्विष्टकृत के मन्त्र को छठे मन्त्र के रूप में पढ़ते हैं । हाथ से होम करने का निर्देश द्यों आदि के प्रयोग का निषेध करता है ॥१६॥

उभयतःपरिषेचनं यथा पुरस्तात् ॥ १७ ॥

उभयतः । पुरस्तादुपरिष्ठाच्च पारिषेचनं कर्तव्यम् । कथम् ? यथा पुरस्तात् उक्तं गृह्ये 'अदितेऽनुमन्यस्वे'त्यादि, 'अन्वमू'स्थाः प्रासावीरिति मन्त्रसन्नाम' इति च । सामयाचारिकेषु पार्यगेनाविदेशो न प्रवर्तत इति ह्यापितत्वाद्दाम्नाप्रवि धिरयम् । अन्ये तु परिसह्यां मन्यन्ते-परिषेचनमेव वैश्वदेवे, साऽन्यत्तन्त्र- भिति ॥ १७ ॥

अनु०—बलियों को अर्पित करने से पहले तथा उसके बाद में भी पहले की तरह ही चारों ओर जल छिड़के ॥१७॥

एवं बलीना देशे देशे समवेतानां सकृत्सकृदन्ते परिषेचनम् ॥१८ ॥

यथा पण्णामाहुतीनां परिषेचनं तन्त्रम्, विभवात् । एवं बलयोःपि ये एकस्मिन् देशे समवेता 'उत्तरैर्ब्रह्मसदन' (४.२.४) इत्यादयस्तेषां यदन्ते परि- षेचनं प्राप्तं 'पश्चात्परिषेचन' मित्यनेन विहितं तत्सर्वान्ते सकृत्कर्तव्यम् न प्र- त्येकं शृथगिति । असत्यस्मिन् सूत्रे पूर्वत्र 'तस्य तस्ये' वि वचनाशया परिमार्जे- नमयोक्षणं च प्रत्येकं पृथक्पृथग्भवति तथा परिषेचनमपि स्यात् । अत्र चोप- देशादेव य एकदेशास्था बलयस्तेषामेव सकृदन्ते परिषेचनं, न यादृच्छकसम- वेतानाम् । तेन यद्दृश्यगारस्योत्तरपूर्वदेशशब्दादेशः, तथापि कामलिङ्गस्य पृथक्परिषेचनं भवति ॥ १८ ॥

अनु०—इसी प्रकार भलग-अङ्ग अर्पित की जाने वाली बलियों के एक साथ एक ही स्थान पर अर्पित करने पर केवल एक ही बार अनु० में बल का परिषेचन किया जाता है ॥ १८ ॥

सति सूपसंसृष्टेन कार्याः ॥ १९ ॥

सति सूपे तत्संसृष्टा बलयः कार्यः । अन्ये त्वन्यैरपि व्यञ्जनेसंसर्गमिच्छन्ति । तथा च बौधायनः^१ 'काममितरेऽप्यायतनेऽप्यिति । एष एव व्यञ्जनानां संस्कारः । 'सूत्रस्यापि—व्यञ्जनेसुष्टूपसंसृष्टेनाऽग्नेन बलयः कार्यास्सिति सम्भव इत्यर्थः' इति ॥ १९ ॥

अनु०—सूप तैयार किये जाने पर बलि में भी उसे संयुक्त करना चाहिए ॥ १९ ॥

अपरैणाऽग्निं सप्तमाष्टमाभ्यामुदगपवर्गम् ॥ २० ॥

अपरैणाऽग्निमग्नेः पञ्चात् । सप्तमाष्टमाभ्यां 'धर्माय स्वाहा, अधर्माय स्वाहे' स्येताभ्यां बलिहरणं कर्तव्यम् । उदगपवर्गम् । न प्रागपवर्गम् ॥ २० ॥

अनु०—अग्नि के पीछे सातवें और आठवें मन्त्रों से दो बलियाँ रखी जायें दूसरी बलि को पहली बलि के उचर में अर्पित किया जाय ।

टि०—प्रथम छः बलियाँ अग्नि में अर्पित की जाती हैं तथा देवपचन बलि कइलाती हैं, उसके बाद की बलियाँ भूमि पर ही अर्पित की जाती हैं । अग्नि के पीछे से तारगर्भ है अग्नि के पूर्व क्योंकि यजमान अग्नि के परिचम पूर्वामिष्टुल वैठा होता है ॥ २० ॥

उदधानसन्निधौ नवमेन ॥ २१ ॥

उदकं यत्र धीयते तदुदधानं' मणिकाल्यम् । तस्य सन्निधौ नवमेन' अद्वयः स्वाहे' त्यनेन ॥ २१ ॥

अनु०—नवें मन्त्र से बल के लिए ढी बाने वाली बलि उस पात्र के निकट अर्पित की जाय किन पात्र में शुद्ध कार्य के लिए बल रखा जाता है ॥ २१ ॥

मध्येऽगारस्य दशमैकादशाभ्यां प्रागपवर्गम् ॥ २२ ॥

दशमैकादशाभ्यां 'ओपधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा, रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाह' त्येताभ्यां अगारस्य मध्ये प्रागपवर्गं कर्तव्यम् ॥ २२ ॥

अनुः—दसवें तथा ग्यारहवें मन्त्रों से ('ओपधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा,' 'रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा') घर के मध्य में दो बलियाँ अर्पित की जाती हैं जिनमें दूसरी बलि पहली से पूर्व की ओर रखी जाती है ॥ २२ ॥

उत्तरपूर्वे देशेऽगारस्योत्तरैश्चतुर्भिः ॥ २३ ॥

१. बौ० य० १. ८. ?

२. यूपस्यापि । व्यञ्जनैरूपेण च सुष्टुटेन बलयः इति. क० छ० पु०

३. न स्य विधिगृह्ये वातुनिर्माणविधौ (आप. य. १७. ९.) द्रष्टव्यः ।

१६ आ० घ०

अगारस्य य उत्तरपूर्वो देशस्तत्रोत्तरैश्चतुर्भिः 'गृह्याभ्यः स्वाहा, अवसानेभ्यः स्वाहा, अवसानपतिभ्यः स्वाहा, सर्वभूतेभ्यः स्वाहे'त्येतैः प्रागपवर्गमित्येव २३ अनु०—चार मन्त्रों से (गृह्याभ्यः स्वाहा, अवसानेभ्यः स्वाहा, अवसानपतिभ्यः स्वाहा, सर्वभूतेभ्यः स्वाहा) घर के उत्तर-पूर्व भाग में बलिथों अर्पित की जाती है, जिनमें दूसरी बलि अपने से पूर्ववर्ती बलि के पूर्व में रखी जाती है ॥ २३ ॥ इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने तृतीया कण्डिका ॥ ३ ॥

शय्यादेशो कामलिङ्गेन ॥ १ ॥

शय्यादेशे 'कामाय स्वाहे'त्यनेन ॥ १ ॥

अनु०—शय्या के निकट एक बलि 'कामाय स्वाहा' मन्त्र से अर्पित की जाय ॥ १ ॥

'देहत्यामन्तरिक्षलिङ्गेन ॥ २ ॥

देहली द्वारस्याऽधस्तादारु । तस्याऽधोवेदिकेत्यन्ये । अन्तर्द्वारस्य च प्रहणम् । तत्रान्तरिक्षलिङ्गेन 'अन्तरिक्षाय स्वाहे' त्यनेन ॥ २ ॥

अनु०—'अन्तरिक्षाय स्वाहा' मन्त्र से देहली के ऊपर एक बलि दी जाय ॥ २ ॥

उत्तरेणाऽपिघान्याम् ॥ ३ ॥

येनाऽपिधीयते द्वारं साऽपिधानी कवाटम् । तदर्गलमित्यन्ये । तत्रोत्तरेण मन्त्रेण 'यदेजति जगति यच्च चेष्टति नाम्नो भागो यन्नाम्ने स्वाहे'त्यनेन ॥३॥

अनु०—उसके आगे के ('यदेजति जगति यच्च चेष्टति नाम्नो भागो यन्नाम्ने स्वाहा') मन्त्र से एक बलि द्वार के किवाड़ के पास अर्पित की जाय ॥ ३ ॥

उत्तरैर्वहसदने ॥ ४ ॥

अगारस्येत्यनुवृत्तेः तत्र यो ब्रह्मसदनाख्यो देशः चास्तुविद्याप्रसिद्धो 'माये-अगारस्य । तत्रोत्तरैशादंभिः 'शुधिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा, द्विये स्वाहा, सूर्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहेत्येतैः प्रागपवर्गमित्येव ।

अपर आह—ब्रह्मा यत्र सदिति गाह्येषु कर्मसु अपेक्षिणतो ब्रह्मसदनं तत्रोत्तम।

अनु०—आगे के दस मन्त्रों ('शुधिव्यै स्वाहा, अन्तरिक्षाय स्वाहा, द्विये स्वाहा, सूर्याय स्वाहा, चन्द्रमसे स्वाहा, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, बृहस्पतये स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा) से घर के ब्रह्मसदन नामक स्थान पर बलिथों अर्पित करे, जिनमें प्रत्येक बलि अपने से पहले की बलि के पूर्व रखी जाय ।

१. देहिन्यामिति पाठः क० पुस्तके ।

२. मध्येऽगारस्येत्यतः तस्य देशस्योपयुक्तत्वात् इत्यधिकः ख० पुस्तके ।

टि०—ब्रह्मसदन के विषय में यह व्याख्या दी गई है कि यह वह स्थान होता है जहाँ गृह्य कर्मों के सम्पादन के समय ब्रह्मा बैठता है, अर्थात् पवित्र अग्नि के दक्षिण की ओर । कुछ लोगों के अनुसार यह घर के मध्य का भाग है ॥ ४ ॥

दक्षिणतः पितृलिङ्गेन प्राचीनावीत्यवाचीनपाणिः कुर्यात् ॥ ५ ॥

अनन्तराणां बलीनां दक्षिणतः पितृलिङ्गेन 'स्वधा पितृभ्य' इत्यनेन चलि कुर्यात्, प्राचीनावीत्यवाचीनपाणिश्च भूत्वा दक्षिणं पाणिमुत्तानं कृत्वा अङ्गुष्ठत-
र्जन्योरन्तरालेन ॥ ५ ॥

अनु०—दक्षिण की ओर 'स्वधा पितृभ्यः' मन्त्र से प्राचीनावीती होकर (यशोपवीत की दाहिने कन्धे के ऊपर से तथा बाँये कन्ध के नीचे से धारण करे) तथा दाहिनी हथेली को ऊपर की ओर उठाये हुए बलि अर्पित करे ॥ ५ ॥

रौद्र उत्तरो यथा देवताभ्यः ॥ ६ ॥

पितृचलेरुत्तरो रौद्रबलिः कर्त्तव्यः । यथा देवताभ्यः तथा, प्राचीनावीत्यवा-
चीनपाणिरिति नाऽनुवर्तत इत्यर्थः । नमो रुद्राय पशुपतये स्वाहेति मन्त्रः ।
अत्र यद्यपि पशुपतिलिङ्गप्यस्ति, तथापि तद्द्रुस्यैव विशेषणमिति रौद्र इति
व्यपदेशो नाऽनुपपन्नः । देवतास्मरणमपि रुद्रायेत्येव कुर्वन्ति । रुद्राय पशुपतय
इत्यन्ये । केचित्तु—उत्तरो मन्त्रो रौद्रः न पशुपतिदेवत्य इत्याचक्षते । तेषां देशः
प्राग्वोदग्वा पित्र्यात् ॥ ६ ॥

अनु०—पितृबलि के उत्तर में ('नमो रुद्राय पशुपतये स्वाहा' मन्त्र से) रुद्र के लिए उसी विधि से बलि अर्पित की जाय, जिस विधि से दूसरे देवों के लिए की जाती है ।

टि०—तात्पर्य यह कि प्राचीनबोती न होवे और न ही दाहिने हाथ की हथेली को उठान करे ॥ ६ ॥

तयोर्नाना परिषेचनं घर्मभेदात् ॥ ७ ॥

तयोर्नन्तरोक्तयोर्बल्योरेकस्मिन् देशे समवेतयोरपि नाना पृथक् परिषेचनं
कर्त्तव्यम् । कुतः ? घर्मभेदात् । पित्र्यस्याऽप्रदक्षिणं परिषेचनं कर्त्तव्यम् । इतरस्य
देवत्वत्प्रदक्षिणमिति ॥ ७ ॥

अनु०—इन दो बलियों के लिए धारम्भ तथा अन्त का बल से परिषेचन का
कर्म अलग-अलग किया जाता है, क्योंकि दोनों के लिए अलग-अलग नियम है ।

टि०—यदि इन बलियों को एक स्थान पर साथ-साथ किया जाय तब भी अलग-
अलग परिषेचन किया जाता है ॥ ७ ॥

नक्तमेवोत्तमेन वैहायसम् ॥ ८ ॥

उत्तमेन 'ये भूताः प्रचरन्ति नक्तं बलिमिच्छन्तो विबुदस्य प्रेष्याः । तेभ्यो बलिं पुष्टिकामो ह्यरामि मयि पुष्टिं पुष्टिपतिर्दधातु स्वाहे' 'त्यनेन वैहायसं बलिं दद्यात् । तच्च नक्तमेव । 'वैहायसमिति वचनाद्वाकाश एव बलिर्हृत्क्षेप्यः, न छदिच्छते देशे । तथाच वीधायनः—^२'अथाऽऽकाश उरक्षिपति ये भूताः प्रचरन्ती'ति ।

अपर आह—एवकारो भिन्नक्रमः । नक्तमुत्तमेनैव बलिरिति तत्र दत्यन्त-राणां रात्रौ निवृत्तिः । अन्ये तु-ऊर्ध्वेन दिवा बलिं हरन्ति दिवा बलिमिच्छन्ता इति । आरवलायनके तथा दर्शनात्^३ दिवाचारिभ्य इति दिवा । नक्तं चारिभ्य इति (बलिमाकाशे उरक्षिपे) नक्तंमिति । तथा च मनुः—

“दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तं चारिभ्य एव च ।” इति ॥ ८ ॥

अनु०—रात्रि को अन्तिम मन्त्र का पाठ करते हुए आकाश में भूतो के लिए बलि फेंकनी चाहिए ।

टि०—रात्रि से यहाँ सायं भोजन के पूर्व से तात्पर्य है । अन्य व्यासपाकार के अनुसार इस सूत्र में 'एवं' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि इसके अतिरिक्त कोई और बलि रात्रि को नहीं दी जाती । कुछ लोग मन्त्र में परिवर्तन करके उसका प्रयोग करने का विधान करते हैं ॥ ८ ॥

य एतानव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च ॥ ९ ॥

य एताननन्तरोक्ताग् होमाद् बलीश्च । अव्यग्रः समाहितमना भूत्वा यथो-पदेशमुपदेशानतिक्रमेण कुरुते । य इति वचनात्स्येति पूर्वं गम्यते । तस्य नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च 'स्वर्गपुष्टिसंयुक्ता' इति यत्न पूर्वमुक्तं तस्याऽर्थवादात्तादृक्त्वा मा भूदिति पुनर्वचनम् । पुष्टिरस्वर्गो नित्यविवेक भयतः, न प्रवक्षेरपि कर्मान्तरैर्याध-नमिति ॥ ९ ॥

अनु०—जो गृहस्थ समाहित चित्त होकर इन बलियो और होमो को निदिग् नियम के अनुसार अर्पित करता है वह नित्य ही स्वर्ग तथा समृद्धि प्राप्त करता है ॥९॥

अग्रं च देयम् ॥ १० ॥

बलिहरणानन्तरं अग्रं च देयं भिक्षवे ॥ १० ॥

अनु०—बलिहरण के बाद भोजन से कुछ अंग भिक्षुक को देना चाहिए । १० ॥

१. अत्र "अग्नये स्वाहा" इत्यादिकाः 'ये भूताः प्रचरन्ति' इत्यन्ताः मन्त्राः एषा-नि काण्डाख्यतेतिरीगमन्त्रपाठस्याऽऽदेशे महानारायणोर्गनिपटि च पठिताः । (महाना १७)
२. 'बी० ए०' १. ८.

३. आः १० ॥ १. २. २. ५. म० २५० ३. १०

अतिथीनेवाऽप्रे भोजयेत् ॥ ११ ॥

अतिथीन्वक्ष्यति । तानेवाप्रे भोजयेत् न स्वयं सह गुञ्जीत पूर्वं वा । एव-
मतिथिव्यतिरिक्तानन्यानापि भोजयितव्यान् पश्चादेव भोजयेत् ॥ ११ ॥
अनु०—सक्ते पहले अतिथियों की भोजन करावे ॥ ११ ॥

वालान्वृद्धानो गस्रस्वन्धाङ्गीश्चान्तर्वन्तीः ॥ १२ ॥

ये च गृहवर्तिनो बालादयः तानप्यग्र एव भोजयेत् । अन्तर्वन्तीरित्येव
सिद्धे स्त्रीग्रहणं स्वस्त्रादीनामपि ग्रहणार्थम् । अन्तर्वन्तीग्रहणं 'सर्वत्र पूजार्थम् ॥
अनु०—उसके बाद बालकों, बूढ़ों, रोगियों को, सन्ध्या की स्त्रियों को तथा
गर्भवती स्त्रियों को भोजन करावे ॥ १२ ॥

काले स्वामिनावन्नार्थिनं न प्रत्याचक्षीयाताम् ॥ १३ ॥

काले वैश्वदेवान्ते अन्नार्थमुपस्थितं स्वामिनौ गृहपती न प्रत्याचक्षीयाताम्
अवश्यं तस्मै किञ्चिद्द्वेयमिति ॥ १३ ॥

अनु०—(वैश्वदेव बलि के समय) गृहस्वामी तथा गृहस्वामिनी से मोक्षन की
याचना करने वाले को लौटाना नहीं चाहिए (उसे कुछ न कुछ भोजन अवश्य
देना चाहिए) ॥ १३ ॥

अभावे किं कर्तव्यम् ? तत्राह—

^१अभावे भूमिरुदकं तुणानि कल्याणी वागित्येतामि वै सतोऽगारे न

क्षीयन्ते कदाचनेति ॥ १४ ॥

भूमिरुपवेशनयेत्या । उदकं पादप्रक्षालनादियोग्यम् । तुणानि शयनासन-
यौग्यानि । कल्याणी वाक् स्वागतमायुष्मते, इहाऽऽस्त्यतामित्यदिका । एतानि
भूम्यादीनि । सतोऽगारे सतस्सत्पुहयस्य निर्धनस्याऽपि गृहे कदाचिदपि न
क्षीयन्ते । वैशब्दः प्रसिद्धौ । अत एव तैरुपचारः कर्तव्यः । इतिशब्दप्रयोगादेवं
धर्मज्ञा उपदिशन्तीति ॥ १४ ॥

अनु०—यदि भोजन का अभाव हो एवं भी सज्जनों के घर में बैठने योग्य
भूमि, पादप्रक्षालनादि के योग्य बाल, शयन-आसन के योग्य तुण, स्वागत तथा
स्नेह के वचन—इन सबका कभी अभाव नहीं होता ॥ १४ ॥

एव वृत्तावनन्तलोकौ भवतः ॥ १५ ॥

यौ गृहमेधिनौ विवाहादारभ्य आन्तादिवंशुतौ भवतः तथोरन्ता लोका

१. सर्वपूर्वाय इति घ० च० पु० २. तुणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सत्त्वा
एतान्यपि सर्वां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ इति मनुः ॥

भवन्ति । ज्योतिष्टोमादिभ्योऽपि कतिपयदिनसाध्येभ्यो दुष्करमेतदन्ताद्भू-
तम् ॥ १५ ॥

अनु०—इस प्रकार आचरण करने वाले पति और पत्नी अनेक लोक प्राप्त
करते हैं ॥ १५ ॥

ब्राह्मणायाऽनघीयानायासनमुदकमन्नमिति देयं न प्रत्युत्तिष्ठेत् ॥ १६ ॥
यद्यनघीयानो ब्राह्मणोऽतिथिर्धर्मोणाऽऽगच्छेत् तदा तस्मै आसनादिकं
देयम् । प्रत्युत्थानं तु न कर्त्तव्यम् । अन्नादेव ज्ञायते-अधीयाने प्रत्युत्थेय-
मिति ॥ १६ ॥

अनु०—जो ब्राह्मण वेदाध्ययन से सम्पन्न न हो उसे बैठने का स्थान, कल तथा
अन्न देना चाहिए, किन्तु उसके आने पर उठकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शन
न करे ॥ १६ ॥

अभिवादनार्थैवोत्तिष्ठेदभिवाद्याश्चेत् ॥ १७ ॥

यदि पुनरसौ अनघीयानोऽपि 'दशवर्षं पौरसख्य' (१. १४. १२.) मित्या-
दिनाऽभिवाचो भवति तदा अभिवादनार्थैवात्तिष्ठेत् ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु ऐसा व्यक्ति भी किसी कारण से अभिवादनार्थ हो तो उठकर
उसका अभिवादन करना चाहिए ॥ १७ ॥

राजन्यवैश्यौ च ॥ १८ ॥

अधीयानावपि राजन्यवैश्यौ न प्रत्युत्तिष्ठेत् ब्राह्मणः । आसनादिकं तु देय-
मिति ॥ १८ ॥

अनु०—ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के आने पर उठकर सम्मान न
प्रदर्शित करे ॥ १८ ॥

'शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुञ्ज्यात् ॥ १९ ॥

यदि शूद्रो द्विजातिं प्रत्यतिथिरागच्छति तदा तमुदकाहरणादौ कर्मणि नियु-
ञ्ज्यात् नियुञ्जीत ॥ १९ ॥

अनु०—यदि अतिथि के रूप में कोई शूद्र ब्राह्मण के यहाँ आवे तो उसे कोई
कार्य करने के लिए सौंपना चाहिए ॥ १९ ॥

अयाऽस्मै दद्यात् ॥ २० ॥

अथ तस्मिन् दृष्टे भोजनं दद्यात् ॥ २० ॥

अनु०—उस कार्य के करने पर शूद्र अग्न्यागत को भोजन प्रदान करे ॥ २० ॥

दासा वा राजकुलादाहृत्याऽतिथिवच्छूद्रं पूजयेयुः ॥ २१ ॥

अथवा येऽस्य गृहमेधिनो दासाः ते राजकुलादाहन्य तं शूद्रमतिथिवत्पू-
येयुः । अत एव ज्ञायते—शूद्राणामतिथीनां पूजार्थं ब्रीह्यादिकं राज्ञा ग्रामे ग्रामे
स्थापयितव्यमिति ॥ २१ ॥

अनु०—अथवा उस ब्राह्मण के दास राजकुल से अन्न माँगकर ले आवें और
उसके द्वारा उस अग्यागत शूद्र का अतिथि के योग्य सत्कार करें ॥ २१ ॥

नित्यमुत्तरं वासः कार्यम् ॥ २२ ॥

उपासने गुरुणा' (१.१५.१) मित्यादिना केयुचित्कालेषु यज्ञोपवीतं विहि-
तम् । इह तु प्रकरणान्त गृहस्थस्य नित्यमुत्तरं वासो धार्यमित्युच्यते ॥ २२ ॥

अनु०—गृहस्थ सदैव वस्त्र को बाँट कन्धे से ऊपर तथा दाहिने कक्ष से नीचे
लपेट कर धारण करें ॥ २२ ॥

अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थे ॥ २३ ॥

अपि वा सूत्रमेव सर्वेषामुपवीतकृत्ये भवति, न वास एवेति नियमः ।
तथा च मनुः—

'कार्पासमुपवीतं स्याद्विभ्रस्योर्ध्वधृतं त्रिवृदिति' ॥ २३ ॥

अनु०—अथवा वस्त्र के स्थान पर उपवीत के लिए सूत्र ही धारण करें ॥ २३ ॥

यत्र भुज्यते तत्समूह्य निहृत्याऽवोक्ष्य तं देशममत्रेभ्यो लेपान्
सङ्कृष्याऽद्भिः संसृज्योत्तरतः शुचौ देशे रुद्राय निनयेदेवं

वास्तु शिवं भवति ॥ २४ ॥

यत्र स्थाने भुज्यते तत् समूह्य समूहन्या तत्रत्यमुच्छिष्टादिकं राशीकृत्य
निहरेदन्यतः । निहृत्य तं देशमवोक्ष्य । अवोक्ष्य ततोऽमत्रेभ्यः येषु पाकः कृतः
तान्यमत्रापि तेभ्योऽन्नलेपान् व्यञ्जानलेपांश्च संकृष्य काष्ठादिनाऽवकृष्य अद्भि-
स्संसृजेत् । संसृज्य गृहस्थोत्तरतः शुचौ देशे रुद्रायेदमस्त्विति निनयेत् । एवं
कृते वास्तु शिवं समृद्धं भवतीति ॥ २४ ॥

अनु०—जहाँ भोजन करे उस स्थान को झाड़ू से झाड़कर उच्छिष्ट आदि को
एकत्र करके दूर फेंक दे, फिर उस स्थान पर हथेली को नीचे किये हुए जल छिड़के ।
जिन पात्रों में भोजन बनाया गया हो उनसे अन्न के लेप को काष्ठ के टुकड़े आदि से
खुरचकर उसे जल से धोवे तथा उनसे निकले हुए अन्न के अंश को लेकर घर से

१. म० श्लु २. ४४

२. एतदन्तरं बोधायनस्तु—शौचं सूत्रं वा त्रिविधव्यहोपवीतम् इति, (१. ८. ५)

इत्याधिकः पाठः च० ५०

उत्तर एक खण्ड स्थान पर रुद्र के त्रिष्टु बलि अर्पित करे, इस प्रकार उसका घर समृद्ध होगा ॥ २४ ॥

ब्राह्मण आचार्यः स्मर्यते तु ॥ २५ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमश्च । ब्राह्मण एव सर्वेषामाचार्यः स्मर्यते धर्मशास्त्रेषु । इहाऽपि वक्ष्यति 'स्वकर्म ब्राह्मणस्ये' (२.१०.४.) त्यादि । अनुवाद्दोऽयमापदि कल्पान्तरं वक्तुम् ॥ २५ ॥

अनु०—स्मृतिषो में कहा गया है कि केवल ब्राह्मण ही आचार्य हो सकता है ॥ २५ ॥

तदाह—

आपादि ब्राह्मणेन राजन्त्ये वैश्ये वाऽध्ययनम् ॥ २६ ॥

कर्तव्यमित्यध्याहार्यम् । ब्राह्मणस्याऽध्यापयितुरलाभ आपात् । तत्राऽऽपदि ब्राह्मणेन राजन्त्ये वैश्ये वाऽध्ययनं कर्तव्यम् । न त्वनधीयानेन स्थातव्यम् । 'ब्राह्मणेने'ति वचनाद्वाजग्यवैश्ययोर्नाऽयमनुकल्पः ॥ २६ ॥

अनु०—आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य से विद्याप्ययन कर सकता है ॥ २६ ॥

अनुगमनं च पश्चात् ॥ २७ ॥

अनुगमनं च पृष्टतः कर्तव्यं यावदध्ययनम् । पश्चाद्पृष्टहणं लज्जाद्रिना किय-
त्यपि पादर्वे गतिर्माभूदिति । सर्वशुश्रूषाप्राप्तद्वे नियमः—ब्राह्मणस्याऽनुगमनमेव
शुश्रूषेति । तथा च गौतमः—'अनुगमनं शुश्रूषेति ॥ २७ ॥

अन०—शिष्य रहते समय उस क्षत्रिय या वैश्य गुरु के पीछे-पीछे
भी चले । २७ ॥

तत ऊर्ध्वं ब्राह्मण एवाऽग्ने गतौ रयात् ॥ २८ ॥

ततोऽध्ययनादूर्ध्वं समाप्तेऽध्ययने ब्राह्मण एवामतो गच्छेत् ॥ २८ ॥

अनु०—अध्ययन समाप्त होने के बाद यह ब्राह्मण ही अपने क्षत्रिय या वैश्य
गुरु के आगे-आगे चलेगा ॥ २८ ॥

इत्यापस्तम्बर्मसूत्रेत्ताबुज्यलायां द्वितीयप्रश्ने चतुर्थी कण्डिका ॥२॥

सर्वविद्यानामप्युपनिषदामुपाकृत्याऽनध्ययनं तदाहः ॥ १ ॥

कर्मणि पठौ । सर्वविद्या अत्रविद्या अथुपनिषद् उपाकृत्याप्येनुमारोच्य

सद्देहनध्ययनं तस्मिन्नहन्ध्ययनं न कर्तव्यम् । उपनिषद्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । ब्राह्मणा आयाता, वासिष्ठोऽप्यायात इतिवन् ॥ १ ॥

अनु०—समी विद्याओं और उपनिषद् का अध्ययन प्रारम्भ करने के बाद उस दिन अध्ययन न करे ॥ १ ॥

अधीत्य चाऽविप्रक्रमणं सद्यः ॥ २ ॥

अधीत्य 'वेदमधीत्य न्नास्य' नित्यवसरे आचार्यसकाशाद् सद्यो विप्रक्रमणं न कर्तव्यं नाऽप्रगन्तव्यम् प्रायेण सकारात्परमिकारमधीयते । तत्रात्येप एवार्थः । इकारस्तु छान्दसोऽपपाठो वा' ॥ २ ॥

अनु०—अध्ययन समाप्त करने के बाद गुरु के समीप से तत्काल नहीं चल देना चाहिए ॥ २ ॥

यदि त्वरेत गुरोः समीक्षायां स्वाध्यायमधीत्य कामं गच्छेदेवमुभयोः

शिवं भवति ॥ ३ ॥

यदि कार्यवशात् गन्तुं त्वरेत तदा गुरोराचार्यस्य समीक्षायां सन्दर्शने संश्रये स्वाध्यायं प्रश्नावरमधीत्य यथाकामं गच्छेत् । एवं कृते उभयोः शिष्याचार्ययोः शिवं भवतीति ॥ ३ ॥

अनु०—यदि (किसी कार्य से) जाने की जरूरी हो तो आचार्य के सामने अपने स्वाध्याय का अध्ययन करके अपनी इच्छानुसार जावे । ऐसा करने पर शिष्य और आचार्य दोनों का शुभ होता है ॥ ३ ॥

समावृत्तं चेदाचार्योऽभ्यागच्छेत्तमभिमुखोऽभ्यागम्य तस्योपसङ्गुह्य न वीभत्समान उदकमुपस्पृशेत् पुरस्कृत्योपस्थाप्य यथोपदेशं पूजयेत् ४

समावृत्तं चेत् शिष्यं कृतदारभाचार्योऽभ्यागच्छेत् अतिधिर्मेण । तमभिमुखोऽभ्यागम्य । तस्योपसंगुह्य । कर्मणि पठौ । तमुपसंगुह्य । यद्यपि तस्य चाण्डालादिपशुः सम्भाव्यते, तथापि न वीभत्समान उदकमुपस्पृशेत् न स्नायात् । उपसंग्रहणे वा धूलिचूसरौ पादौ स्पृष्ट्वा न वीभत्समान उदकमुपस्पृशेत् । ततस्तं पुरस्कृत्य गृहप्रवेशे अग्ने कृत्वा । पूजासाधनान्युपस्थाप्य यथोपदेशं गृह्लोकेन मार्गेण मधुपर्कणं पूजयेत् । पूजाविधानं गृह्लोकेऽभ्यागम्यनुवाद् आसनादिषु विशेषं चक्षुम् ॥ ४ ॥

अनु०—समावृत्तन के बाद यदि पहले के आचार्य घर आवें तो उनकी ओर बढ़ कर अगवानी करे, उनके चरणों को ग्रहण करे, उसके बाद घुणा का भाव

प्रदर्शित करते हुए स्नान न करे । उन्हें आगे करके घर में प्रवेश करे और सत्कार की वस्तुएँ जुटाकर उपदिष्ट विधि के अनुसार उनका पूजन करे ।

टि०—इदत्त ने ध्याव्या में बह स्पष्ट किया है कि यदि आचार्य का चण्डाल द्वारा स्पृष्ट होना शक हो अथवा उनके चरण धूलिधूसरित हो, तब भी उनके चरणों को बिना घृणा प्रदर्शित किए हुए स्पर्श करे ॥ ४ ॥

तमाह—

आसने शयने भक्ष्ये भोज्ये वाससि वा सन्निहिते निहीनतरवृत्तिः
स्यात् ॥ ५ ॥

सन्निहित आचार्ये तस्मिन्नेव गृहे अपघरकादिकं प्रविष्टे आसनादियु निहीनतरवृत्तः स्यात् । तरप्निर्देशात् नीच आसने गुणतोऽपि निरुष्ट आसीत् । एवं शयनादिव्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

अनु०—यदि गुरु समीप में उपस्थित हो तो स्वयं उनकी अपेक्षा हीन असन, शय्या, भक्ष्य तथा भोज्य पदार्थ एवं बल धारण करे ॥ ५ ॥

तिष्ठन् सव्येन पाणिनाऽनुगृह्याचार्यं माचमयेत् ॥ ६ ॥

तिष्ठन्निति प्रह उच्यते, स्थानयोगात् । न हि साक्षात्तिष्ठन्नाचमयितुं प्रभवति । सव्येन पाणिना करकाद्रिकमनुगृह्याऽथस्ताद्गृहीत्वा इतरेण द्वारमवमुदयेत्यर्थसिद्धत्वाद्नुष्ठम् । एवं कृत्वाऽऽचार्यंमाचमयेत् स्वयमेव शिष्यः । एवं हि स'सम्मतो भवति । आचार्ये प्रकृते पुनराचार्यमहणमातिष्यदन्त्रात्याचार्यमाचमयन्नेवमेवाचमयेदिति ॥ ६ ॥

अनु०—सुक कर लवे होकर अपना बाया हाथ ब्रह्मपात्र के नीचे रखे तथा दूसरे हाथ से उसका मुख मुझाकर गुरु को आचमन के लिए बल प्रदान करे ॥ ६ ॥

अन्यं वा समुदेतम् ॥ ७ ॥

याशब्दः समुच्चये । अन्यमप्येवमंवाचमयेत् । स चेत् समुदेतः पुलशीलवृत्तविद्यावयोभिरुपेतो भवति ॥ ७ ॥

अनु०—इसी प्रकार अन्य अतिथियों को भी जो सभी उत्तम गुणों से सम्पन्न हों, आचमन के लिए बल प्रदान करे ॥ ७ ॥

स्थानासनचक्रमणस्मिन्तेष्वनुचिकीर्षन् ॥ ८ ॥

व्यवहितमपि स्यादित्यपेक्ष्यते । चिकीर्षया कर्णे लक्ष्यते । स्थानादिप्याचार्यस्य पश्चाद्भाषो ग्यात् । न पूर्यंभाषो । न युगपद्भाषो ॥ ८ ॥

अनु०—(गुरु के) उठने, बैठने, चलने और मुस्काने पर (गुरु के) बाद में उठे, बैठे, चले और मुस्कराये ॥ ८ ॥

सन्निहिते मूत्रपुरीषवातकर्माच्चैर्भाषाहास'टोवनदन्तस्कवननिःशृङ्खण-
अश्लेषणतालननिष्ठयानीति ॥ ९ ॥

धातुकर्म अपानवायोरुत्सर्गः । उच्चैर्भाषा महता स्वनेन सम्भाषणं केना-
ऽपि । हासो हसनम् । प्रीषनं श्लेष्मादिनिरसनम् दन्तस्वलनं दन्तमलाकर्ष-
णम् । परस्परघट्टनमित्यन्ये । निःशृङ्खणं नासिकामलनिस्सारणम् । अश्लेषणं
अश्लेषः । छान्दसो ह्रस्वः । तालनं हस्तयोरारफालनम् । निष्ठयमङ्गुलिस्फोट-
नम् । इतिशब्दादन्यदपि रौरासनादिकम् । वर्जयेदित्यपेक्ष्यते । एतानि मूत्र-
कर्मादीन्याचार्यस्य सन्निधौ न कुर्यादिति ॥ ९ ॥

अनु०—गुरु के निकट होने पर मूत्र या मल का त्याग न करे, अपानवायु न
छोड़े, ऊँची आवाज में न बोले, हँसे नहीं, धूके नहीं, अपने दातों को न साफ करे,
छिनके नहीं, मौड़े देढ़ी न करे, ताली न बजावे और न अँगुलियों को चटकवावे ॥९॥

दारे प्रजायां चोपस्पर्शनभाषा विसम्भपूर्वाः परिवर्जयेत् ॥ १० ॥

उपस्पर्शनमालिङ्गनाघ्राणादि । भाषाः सम्भाषाश्चाटुप्रभृतयः । एता अव्या-
चार्ये सन्निहिते^२ दारप्रजाविष्ये विसर्चं न कुर्यात् । ज्वरादिपरीक्षार्यां न
दोषः ॥ १० ॥

अनु०—स्वपनी पत्नी और बच्चों का आलिङ्गन, चुम्बन तथा उनसे मधुर भाषण
भी गुरु के निकट रहने पर न करे ॥ १० ॥

वाक्येन वाक्यस्य प्रतिघातमाचार्यस्य वर्जयेच्छ्रेयसां च ॥ ११ ॥

आचार्यवच्यस्य समीचीनस्येतरस्य वा आत्मीयेन वाक्येन तादृशेन प्रति-
घातं न कुर्यात् । श्रेयसां च अन्येषामपि प्रशस्तराणां वाक्यं वाक्येन न प्र-
तिहन्यात् ॥ ११ ॥

अनु०—गुरु के किसी वाक्य का अपने वाक्य से खण्डन न करे और दूसरे
भी श्रेष्ठ जनों के वचनों को न काटे ॥ ११ ॥

सर्वभूतपरीवादाक्रोशांश्च ॥ १२ ॥

सर्वेषां भूतानां तिरस्चामपि । परीवादाच्च दोषवादान् । आक्रोशान् अश्लो-
खवादांश्च वर्जयेत् । परीवादस्य पुनःपुनर्वचनमतिशयेन वर्जनार्थम् ॥ १२ ॥

अनु०—सभी प्राणियों में किसी का भी दोष न कहे और न किसी पर अगना
आक्रोश व्यक्त करे ॥ १२ ॥

विद्यया च विद्यानाम् ॥ १३ ॥

विद्यया च विद्यानां परीधादक्रोशान् वर्जयेत् । शग्भेद एव श्रोत्रमुत्तः अन्ये श्रधणकटुका इति परीधादाः । तैत्तिरीयकमुच्छिष्टशाला, 'याज्ञवल्क्यादीनि ब्राह्मणानीदानीतनानि इत्याद्यामोशः ॥ १३ ॥

अनु०—किंसी विद्या के साथ गुलना करके दूसरी विद्याओं को हीन न बतावे ॥ १३ ॥

यया विद्यया न विरोचेत् पुनराचार्यमपेत्य नियमेन साधयेत् ॥ १४ ॥

यया विद्ययाऽधीतया श्रुतया वा न विरोचेत् न यशस्वी स्यात्, तामित्यर्थाद्ग्रन्थते । तां विद्यां पुनस्साधयेत् । यथा सम्यक् सिद्धा भवति तथा इयान् । कथम् ? आचार्यं तमेवा^{न्यं} वा उपेत्य उपसद्य । नियमेनाऽपूर्वोपिगमे विद्यार्थस्य यो नियम उक्तः तेन ह्युश्रयादिना ॥ १४ ॥

अनु०—यदि वह पहले पढ़ी गयी विद्या की किसी शाला में निष्ठात न हुआ हो उस विद्या की शाला का पुनः गुरु के समीप चार अथवन करे तथा नियमों का पालन भी पूर्ववत् करे ॥ १४ ॥

अस्मिन्विषयेऽध्यापयितुनियमः—

उत्तारणाद्योत्सर्जनादध्यापयितुनियमो लोमसंहरणं मांसं श्राद्धं

मैशुमिति वर्जयेत् ॥ १५ ॥

लोमसंहरणं लोमचापनम् । इदमनाहितान्निविषयम् श्राहितान्नेस्तु 'अस्य त्यशो लोमानि चापयत इति याजसनेयकम्" इति ॥ १५ ॥

अनु०—उपाकरण से लेकर उत्सर्जन तक अर्थापन करने वाला इन नियमों का पालन करे—घरीर के पेशों को न काटे, मांस भाद के अन्न का भक्षण न करे, मिथुन न करे ॥ १५ ॥

ऋत्वे वा जायाम् ॥ १६ ॥

यत्तुफाले वा जायामुपेयात् । स्त्रीणाद्युत्तुदिनानि पोढरा । सत्र भयः यत् ऋत्त्व्यः । 'भये छन्दसोति यत्प्रत्यये' 'ऋत्त्व्ययात्त्व्ये'ति सूत्रेण यणादेर्गो निपातितः । ऋत्त्व्य इति रूपसिद्धिः । अत्र यलोपदेशान्दसः । चातुर्मास्येषु प्रयुक्तम्- 'ऋत्वे वा जायाम्, नोपर्यात्ते' इति यथा ॥ १६ ॥

१. याश्वल्क्यादि ब्राह्मणादीदानीत्तनम् इति० क० ७० ७

२. अन्यं वा इति नाहित च० ७ ३. आर० भो० ४. १. ५.

४. पा० सू० ४. ४. ११०

५. पा० सू० ६. १. १०५

६. आप भो० ८. ४. ६. ७

अनु०—अथवा ऋतुकाल में पानी के साथ मैथुन करे ॥ १६ ॥

यथागमं शिष्येभ्यो विद्यासम्प्रदाने नियमेषु च युक्तः स्यादेवं वर्तमानः
पूर्वापरान् सम्बन्धानात्मानं च क्षेमे युनक्ति ॥ १७ ॥

यंन प्रकारेणाऽऽगमः पाठार्थयोः तथैव शिष्येभ्यो निर्मत्सरेण विद्या सम्प्र-
देया । एवंभूते विद्यासम्प्रदाने युक्तो वहितः स्यात् । ये च गृहस्थस्य नियमोऽ-
ध्यापनेऽन्यत्र च, तेष्वपि युक्तः स्यात् । एवं युक्तो वर्तमानः पूर्वान् पितृपिता-
महप्रपितामहान् अपरांश्च पुत्रपौत्रनप्तान् । सम्बन्धान् । कर्मणि घञ् । सम्ब-
न्धिनः पुरुषान् । आत्मानं च क्षेमे अभये स्थाने नाकस्य ष्टे । युनक्ति स्थाप-
यति ॥ १७ ॥

अनु०—विद्या प्रदान करते समय इस प्रकार सावधान होकर विद्या प्रदान करे
कि शिष्य को पाठ और अर्थ का बोध हो जाय, तथा अध्यापन के समय गृहस्थ के
विहित नियमों का कड़ाई से पालन करे, जो इस प्रकार आचरण करता है वह स्वयं
स्वर्ग का सुख प्राप्त करता है तथा उसके वंशज और पूर्वज भी कल्याण के भागी
होते हैं ॥ १७ ॥

मनसा वाचा प्राणेन चक्षुषा श्रोत्रेण त्वविच्छिनोदरारम्भणानास्त्रावान्
परीवृञ्जानोऽमृतरवाय कल्पते ॥ १८ ॥

यैः पुरुष आस्त्राव्यते वहिराकृष्यते । ते आस्त्रावाः शब्दादयो विषयाः । ते
विशेष्यन्ते त्वकिच्छिनोदरारम्भणात् आरभ्यन्ते^२ आलम्ब्यन्त इत्यारम्भणाः ।
तत्र त्वगालम्बनाः स्रक्चन्द्रनादयः । शिश्नालम्बनाः स्युपभोगादयः । उदराल-
म्बना भक्ष्यभोज्यादयः । उपलक्षणं त्वगादिग्रहणम् । एवंभूतानास्त्रावान् मन-
आदिभिः पञ्चभिरिन्द्रियैः परिवृञ्जानस्सर्वतो वर्जयन् अमृतत्वाय भोक्षाय
कल्पते । तत्र वागिति रसनेन्द्रियमाह । प्राण इति घ्राणम् ॥ १८ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने पञ्चमी कण्ठिका ॥ ५ ॥

अनु०—जो मन से, वाणी से, प्राण से, नेत्रों, कानों, त्वक्का, शिश्न, उदर से
विषयों के उपभोग का पूरी तरह परिवर्जन करता है वह मोक्ष प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तविरचित्वायामुञ्जबलायां
द्वितीयप्रश्ने द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

१. विहितः इति क० ड० पु०

२. आलम्ब्यन्ते इति च० ए०

३. अभक्ष्या अभोज्यादयः इति० क० च० पु०

अथ तृतीयः पटलः

जात्याचारसंशये धर्मार्थमागतमग्निमुपसमाधाय जातिमाचारं च पृच्छेत् ॥ १ ॥

अविज्ञात पूर्वो यो धर्मार्थमध्ययनार्थमागच्छेत् उपसीदेत् 'उपसन्नोऽस्मि भगवन्, मैत्रेण चक्षुषा पश्य, शिवेव मनसाऽनुगृहाण, प्रसीद् मामश्यापयति । तस्य जात्याचारसंशयः सति । अग्निमुपसमाधाय 'यत्र क्वाप्रमित्याशय्यदुपस्था (२.२.१४.) दित्यन्तं कृत्या । तत्सन्निधौ जातिमाचारं च पृच्छेत्- 'क्वित्रोऽसि सीस्य, किमाचारश्चासीति ॥ १ ॥

अनु०—अध्ययन के लिये आये हुए व्यक्ति की जाति और आचार के विषय में शङ्का हो तो अग्नि के उपसमाधान की विधि के अनुसार अग्नि प्रज्वलित करे और उसके उसके जाति और आचार के विषय में प्रश्न करे ॥ १ ॥

साधुतां चेत्प्रतिजानीतेऽग्निरपद्रष्टा वायुरुपश्रोताऽऽदित्योऽऽनुहयाता

साधुतां चेत्प्रतिजानीते साध्वस्मा अस्तु वितथ एष एनस इत्युक्त्वा शास्तुं प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

स चेत्साधुतां प्रतिजानीते—साधुजन्माऽस्मि, असुष्य पुत्रोऽसुष्य पोत्रोऽसुष्य नप्ता, साध्याचारश्चास्मि, पित्र्यो 'पानेपि, शिक्षिताचारश्चास्मि, सम्यक्चार्यतिपि' विधिवलेन तु वाल्य एव 'स द्विष्टां गतिं गतः, एतमात्केवलमन घातयेद् इति, तत्रोऽ'ग्निरुपद्रष्टे'त्यादिकं मन्त्रमुक्त्वा शास्तुं शासितुमप्यापयितुं धर्माश्रोपदेष्टुं प्रतिपद्येत उपक्रमेत ॥ २ ॥

अनु०—यदि षट् अपने को उत्तम बुद्ध का तथा उत्तम आचार वाक्य बतावे तो गुरु इस प्रकार कहे समीप से देखने वाला अग्नि, मुननेवाला वायु—तथा आशिश इसकी साधुता के साक्षी हो, इसे ब्रह्मण प्रदान करें, इसके पाप को शान्त करें और ऐसा नरकर अप्यापन में प्रवृत्त हो ॥ २ ॥

पद्मग्रहान्ते 'अतिथीनेवापि भोजये'दित्युक्तम् । तत्प्रकारं धत्तुं तस्याऽय्यर-कर्तव्यतामनेनाऽऽह—

अग्निरिव ज्वलन्प्रतिधिरम्यागच्छति ॥ ३ ॥

अतिधिर्गुं हानम्यागच्छन्नित्ये ज्वलन्नभ्यागच्छति । तस्माद्दसौ भोजना-दिभिरवश्यं तर्पयितव्यः । निराशनु गतो गृहान् ददेदिति ॥ ३ ॥

अनु०—अतिपि अग्नि की तरह ज्वलता हुआ पर में आवा दे ॥ ३ ॥

१. उपनविषि० इति० प० ४० पु० २. तपे० गदाः इति क० ष० पु०

इदानीमतिथिलक्षणं वक्तुं तदुपयोगिश्रोत्रियलक्षणमाह—

धर्मेण वेदानामेकैकांशालामधीत्य श्रोत्रियो भवति ॥ ४ ॥

विद्यार्थस्य यो नियमः स धर्मः । तेन वेदानां यां काञ्चन शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवति । पुरुषस्य हि प्रतिवेदमेकैकांशाला भवति । या पूर्वेः परिगृहीताऽध्ययनानुष्ठानाभ्यां सा प्रतिवेदं स्वशाखा । तामधीत्य श्रोत्रियो भवति, न तु प्रतिवेदमेकैकामधीत्य श्रोत्रियो भवतीति । लोकविरोधात् । लोके हि यां कांचनैकांशालामधीयानः श्रोत्रिय इति प्रसिद्धः ॥ ४ ॥

अनु०—बो (ब्रह्मचर्यं के) नियमों का पालन करते हुए वेद की किसी एक शाखा का पूरी तरह अध्ययन करता है वह श्रोत्रिय कहलाता है ॥ ४ ॥
अतिथिलक्षणमाह—

स्वधर्मयुक्तं कृत्स्नमभ्यागच्छति धर्मपुरस्कारो नाऽन्यप्रयोजनः
सोऽतिथिर्भवति ॥ ५ ॥

आदितो यच्छूद्रो द्रष्टव्यः । अन्ते स इति दर्शनात् । मध्ये च श्रोत्रियलक्षणोपदेशात् । तदुपजीवनेन सूत्रं योज्यम् । यः श्रोत्रियः स्वधर्मयुक्तं स्वधर्मनिरतं कुटुम्बिनं भार्यया सह वसन्तं गृहस्थम् । आश्रमात्तरनिरासार्थमिद्रमुत्तम् । न हि ते पचमाना भवन्ति । भिक्षुवो हि ते । अभ्यागच्छति उद्दिश्याऽऽगच्छति । धर्मपुरस्कारः^१ आचार्याद्यर्थं भिक्षुणं धर्मः तं पुरस्करोतीति धर्मपुरस्कारः । कर्मण्यण् । धर्मप्रयोजनः नान्यप्रयोजनः । य एवंभूत एवंभूतमुद्दिश्याऽऽगच्छति नान्येच्छया सोऽतिथिरिति ।^२ बौधायनस्तु श्रान्तोऽदृष्टपूर्वः केवलमन्वर्थी नाऽन्यप्रयोजनसोतिथिर्भवति । अथ वा सर्ववर्णानामन्यतमः काले यथोपपन्नः सर्वेषामतिथीनां श्रेष्ठोऽतिथिर्भवती^३ति ॥ ५ ॥

अनु०—बो व्यक्ति अपने धर्म में निरत रहने वाले गृहस्थ के यहाँ केवल धर्म के प्रयोजन से बाता है, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं वह अतिथि होता है ॥ ५ ॥

तस्य पूजायां शान्तिः स्वर्गश्च ॥ ६ ॥

तरथातिथेः पूजायां कृतायां शान्तिरुपद्रवाणामिह भवति । प्रेत्य च स्वर्गलाभः ॥ ६ ॥

अनु०—ऐसे व्यक्ति का सत्कार करने से उपद्रवों की शान्ति होती है तथा स्वर्ग का फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

तमभिमुखोऽभ्यागम्य यथावयस्समत्य तस्यासनमाहारयेत् ॥ ७ ॥

१. एतदादि ११ सूत्रार्थं यावदेकीकृतम् छ० पु २ नालप्रयोजनः इति क० पु
२. आचार्यस्यायं इति० घ० द० पु ४. एतदादि ११ सूत्रे निवेशितं छ० पु

समतिथिभिर्मुखोऽभ्यागच्छेत् । अभ्यागम्य यथावयः वयसोऽनुत्सुं प्र-
त्युत्थानाभिधादनादिना समेयान् सङ्गच्छेत् । समेत्य च तत्यासनमाहार्येव
निष्यादिभिः । अभावे स्वयमाहरेत् ॥ ७ ॥

अनु०—येसे अतिथि की उठकर अगवानो करे, उसको अवरथा के अनुसार
उसका आदर करे, उससे मिले और उसके लिए आसन ले आवे ॥ ७ ॥

शक्तिविषये नाऽबहुपादमासनं भवतीत्येके ॥ ८ ॥

शक्तौ सत्यां अबहुपादमासनं न देयम् । किं तु बहुपादमेव षोढादिकमि-
त्येके मन्यन्ते । स्वमतं त्वबहुपादमपोति ॥ ८ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का कथन है कि यदि सम्भव हो तो अतिथि का आसन
अनेक पावो वाला होवे ॥ ८ ॥

तस्य पादौ प्रक्षालयेच्छूद्रं भिथुनावित्येके ॥ ९ ॥

द्वौ शूद्रौ तस्य पादौ प्रक्षालयेतामित्येके मन्यन्ते । दासवत् इदम् ॥ ९ ॥

अनु०—उसके चरणों को धोवे । कुछ आचार्यों का कथन है कि अतिथि के पैरों
को दो शूद्र धोवें ॥ ९ ॥

अत्र विशेषः—

अन्यतरोऽभिषेचने स्यात् ॥ १० ॥

अभिषेचनं कर्कादिनि लज्जावसेकः । तमेकः कुर्यात् । इतरः प्रश्ना-
नम् ॥ १० ॥

अनु०—उनमें से एक शूद्र गिरावे (दुसरा पैर धोवे) ॥ १० ॥

तस्योदकमाहारयेदमृण्मयेनेत्येके ॥ ११ ॥

मृण्मयेन पात्रेण तस्योदकमाहर्तव्यमित्येके मन्यन्ते । स्वमनं तु सो-
सेन ॥ ११ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का अभिमत है कि अतिथि के लिए मिट्टी के बर्तार
शूद्र लावे । ११ ॥

नोदकमाहारयेदसमावृतः ॥ १२ ॥

यदा असमावृतो ब्रह्मचारी आचार्येनैपितः स्वयमेव याऽतिथिरभ्या-
सदा नासायुदकमाहारयेत् नासायुदकाहरणाय प्रयोजकः । नागमा उदय
व्यामति ॥ १२ ॥

अनु०—दिन्दि बिन अतिथि का समावहन न हुआ हो उस अतिथि के लिए
शूद्र न लावे ॥ १२ ॥

अध्ययनसांवृत्तिश्चात्राऽधिका ॥ १३ ॥

अत्र असमावृत्तेऽतिथौ अध्ययनसंवृत्तिश्चाधिका इतरस्मादतिथेः । अध्ययनस्य सह निष्पादनमध्ययनसंवृत्तिः । यः प्रदेशस्तरसाऽऽगाच्छति स तेन सह कियन्तश्चित्कालं वक्तव्य इति । प्रसिद्धे तु पाठे पूर्वपदान्तरस्य समोऽकारस्य छान्दसो दीर्घः ॥ १३ ॥

अनु०—इस प्रकार के असमावाहृत अतिथि के आने पर अन्य अतिथियों की अपेक्षा अधिक समय तक उसके साथ स्वाध्याय की आवृत्ति करे ॥ १३ ॥

सान्त्वयित्वा तर्पयेदसैर्भक्ष्यै रद्भि रवराध्यैनेति ॥ १४ ॥

ततः पदप्रशालनस्य समध्ययनस्य वाऽनन्तरमतिथिं प्रियवचनेन सान्त्वयेत् । सान्त्वयित्वा गव्यादिभोरसैः फलादिभिश्च भक्ष्यैरन्ततोऽङ्कुरपि तावत्तर्पयेत् तृप्तिं कुर्यात् । 'अवराध्यैनेति जघन्यकल्पतां सूचयति । अध्यन्तत इत्यर्थः । इतिशब्दादेवमादिभिरन्यैरपि ॥ १४ ॥

अन०—अतिथि के साथ सौहार्द पूर्वक संभाषण करे, दूध या अन्य पेय पदार्थों से उसे संष्ट करे, खाद्य पदार्थ से तृप्त करे और क्रम से कम जल ही प्रदान करे ॥ १४ ॥

५ श्रावसयं दद्यादुपरिशय्यामुपस्तरणमुपधानं सावस्तरणमभ्यञ्जनं

SS चेति ॥ १५ ॥

पुरु आवसयो विश्रामस्थानम् । उपरिशय्या खट्वा । उपस्तरणं तूलिका । उपशय्यामुपवर्हणम् । अवस्तरणमुपरिपटः । तत्सहितमुपधानमुपस्तरणं च । अभ्यवेधं पादयोः तैलं घृतं वा । एतत्सर्वं दद्यात् । भोजनात्मोगूर्ध्वं वा अपेक्षिते काले । इतिशब्दादन्यदप्यपेक्षितम् ॥ १५ ॥

अनु०—अतिथि को रहने के लिए स्थान दे, शय्या, चटाई, तकिया, चादर, अञ्जन के प्रयत्न आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करे ॥ १५ ॥

असंस्कार्तारमाहूय व्रीहीन् यवान्वा तदर्थाभिवर्षेत् ॥ १६ ॥

तः पचति तमन्नसंस्कार्तारमाहूय तदर्थानतिथ्यर्थान् व्रीहीन् यवान्वा निर्वर्षेत् । लामः । य दद्यात्—अमुष्मै पचति । व्रीहियवग्रहणमुपलक्षणम् । इदं भुक्तवस्तु अर्थात्पुपरियते द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

का फल ३०—(सभी के मोहन कर लेने के बाद अतिथि के आने पर) रसोई बनाने ल'की बुलाकर अतिथि का भोजन बनाने के लिए जो या चावल प्रदान करे ॥ १६ ॥

भोजनकाले त्वाह—

उद्धृतान्यन्नाग्नयेक्षेतेदं भूया रेइदरेमिति ॥ १७ ॥

यावन्तो भोक्तास्त्वावद्वा अन्नान्युद्भृत्य पृथक्पात्रेषु कृत्वा स्वयं संविभागे कृत्वा तान्यन्नान्यवेक्षेत-किमिदं भूयः प्रभूतमिदं वेति । विचारे प्लुतः । "पूर्वं तु भाषया"मित्येतदुपक्षिप्तं छान्दसोऽयं प्रयोग इति ॥ १७ ॥

अनु०—(यदि अतिथि के आने पर भोजन तैयार हो तो) वह स्वयं भोजन का अंश यह कहते हुए निकाले कि यह अंश अधिक है या यह अंश ॥ १७ ॥

भूय उद्धरेत्येव ब्रूयात् ॥ १८ ॥

एवमवेक्ष्याऽतिथ्यर्थं भूय उद्धरेत्येव ब्रूयात् ॥ १८ ॥

अनु०—(अतिथि के लिए) अधिक अंश निकालो, इस प्रकार कहे ॥ १८ ॥

द्विषन्दिपतो वा नान्नमश्नोयाद्दोषेण वा मीमांसमानस्य

मीमांसितस्य वा ॥ १९ ॥

यं स्वयमतिथिं द्विषन्भवति यो घाऽऽत्मानं द्वेष्टि यो घाऽऽत्मानं दोषेण मीमांसते आत्मनि स्तोत्रादिदोषं सम्भावयति । यो वा दोषेण मीमांसितः यत्र लौकिका दोषं सम्भावयन्ति, तस्याऽस्य सर्वयान्नं नाश्नोयात् ॥ १९ ॥

अनु०—शुद्धता रखने वाला उस व्यक्ति का अन्न न खावे जिससे शुद्धता हो, अथवा जो व्यक्ति अतिथि से द्वेष रखता हो उस व्यक्ति का अन्न अतिथि न खावे । किसी प्रकार का दोष लगाने वाले गृहस्थ का अथवा जिस गृहस्थ के विषय में किसी पाप या अपराध की आशंका हो उसका अन्न अतिथि न खावे ॥ १९ ॥
तत्र हेतुः—

पाप्मानं हि स तस्य भक्षयतीति विज्ञायते ॥ २० ॥

यः एवंविधस्याऽन्नमश्नति, स तस्य पाप्मानमेव भक्षयतीति विज्ञायते २०
इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रग्रन्थौ द्वितीयप्रश्ने पृष्ठी कण्डिका ॥ ६ ॥

अनु०—क्योंकि जो व्यक्ति इस प्रकार के व्यक्ति का अन्न खाता है वह उसके पापों का ही भक्षण करता है, ऐसा (वेद में) कहा गया है ॥ २० ॥

स एष प्रजापत्यः कुटुम्बिनो यज्ञो नित्यप्रततः ॥ १ ॥

स एषोऽभिहितो मनुष्ययज्ञः प्रजापत्यः प्रजापतिना दृष्टः, तदैक्यो वा । कुटुम्बिनो नित्यप्रततो, यज्ञः नाऽग्निष्टोमादियत् काश्चाचिन्कः ॥ १ ॥

अनु०—यह अतिथि सत्कार गृहस्थों के लिए नित्य किया जाने वाला प्रजापत्य यज्ञ होता है ॥ १ ॥

अनु०—(अतिथि को दिया गया) दूध से युक्त अन्न अग्निहोम का फल उत्पन्न करता है, घृतमिश्रित भोजन उक्थय का फल प्रदान करता है मधु से युक्त भोजन अतिरात्र यज्ञ का फल देता है, मांस से युक्त भोजन द्वादशह यज्ञ का फल देता है, अन्न और जल अनेक सन्तानों तथा दीर्घ जीवन को प्रदान करता है ॥ ४ ॥

प्रिया अप्रियाश्चातिथियः स्वर्गं लोकं गमयन्तीति विज्ञायते ॥ ५ ॥

प्रियाः प्रसिद्धाः अप्रिया उदासीनाः, द्विपत्नो निपिद्धत्वान् ॥ ५ ॥

अनु०—अतिथि चाहे प्रिय हों या अप्रिय हों सत्कार करने पर स्वर्ग को ही पहुँचाते हैं ॥ ५ ॥

स यत्प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति ददाति सवनान्येव तानि भवन्ति ॥ ६ ॥

त्रिषु कालेषु दीयमानान्यन्तानि अस्य यज्ञस्य प्रातस्सवनादीनि त्रीणि भवन्ति । तस्मात्सर्वेषु कालेषु दातव्यमिति ॥ ६ ॥

अनु०—वह जो प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल भोजन देता है वह (इस प्राजापत्य यज्ञ का) तीन सवन होता है ॥ ६ ॥

यदनुत्तिष्ठत्युदवस्यत्येव तत् ॥ ७ ॥

यत् गन्तुमुत्तिष्ठन्तमतिथिमनूत्सिष्ठति तदुदवस्यत्येव^३ उदवसानीया साऽस्य यज्ञस्येति । प्रायेणोच्छदं न पठन्ति । केशलमनुशब्दमेव पठन्ति । तत्राप्यर्थः स एव ॥ ७ ॥

अनु०—जो जाने के लिए उठे हुए अतिथि के पीछे उठता है वह उदवसनीया इष्टि का प्रतीक है ॥ ७ ॥

यत्सान्त्वयति सा दक्षिणा प्रशंसा ॥ ८ ॥

यत् सान्त्वयति प्रशंसति सा प्रशंसा दक्षिणा ॥ ८ ॥

अनु०—अतिथि से मधुर भाषण करना ही (यज्ञ को) दक्षिणा है ॥ ८ ॥

यत्संसाधयति ते विष्णुक्रमाः ॥ ९ ॥

संसाधनमनुव्रजनम् ॥ ९ ॥

अनु०—जब वह प्रस्थान करते हुए अतिथि के पीछे चलता है तब उसके पग विष्णुक्रम ही होते हैं ॥ ९ ॥

यदुपावर्तते सोऽवभृथः ॥ १० ॥

१. सवनपदार्थः १. २५. १४. (पृ० १४७) सूत्रे दिव्यव्यां विद्वतः

२. उदवसानीया नाम यज्ञसमाप्तौ क्रियमाणोष्टिः । उदवसाय क्रियते इत्युदवसानीया

३. दशपूर्णमासयोर्ब्रह्मानकर्तव्यतया विदित्वाः (आप० शी० ४. १४. ६.) पदप्रक्षेपाः

४. 'वारुणेनैकपाष्टेनावभृथमभवन्ति' इति विहितसोमयागस्यान्ते क्रियमाणस्त-
दङ्गमूल इति विरोधोऽवभृथः

उपावर्तनं अनुब्रज्य प्रत्यावर्तनम् ॥ १० ॥

अनु०—बच बह अतिथि को पहुँचाकर लौटता है तब बह यह के अन्त में किया जाने वाला अवश्य स्नान ही होता है ॥१०॥

इति ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

इति ब्राह्मणमित्यस्य सर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

अनु०—इत प्रकार एक ब्राह्मण अतिथि का सत्कार करे (क्षत्रिय, क्षत्रिय अतिथि का तथा वैश्य, वैश्य अतिथि का सत्कार करे) ॥ ११ ॥

राजानं चेदतिथिरभ्यागच्छेच्छ्रेयसीमस्मै पूजामात्मनः कारयेत् ॥ १२ ॥

‘राजा अभिषिक्तः क्षत्रियः । सोऽतिथयेऽभ्यागताय आत्मनोऽपि सकाशात् श्रेयसीं पूजां कारयेत् पुरोहितेन ॥ १२ ॥

अनु०—यदि कोई अतिथि राजा के समीप आवे तो राजा अपनी अपेक्षा उसके लिए अधिक पूजा करावे ॥ १२ ॥

आहितार्गिनं चेदतिथिरभ्यागच्छेत्स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात्—त्रात्य ववाऽ

दात्सीरिति, त्रात्योदकमिति, त्रात्य तर्पयंस्त्विति ॥ १३ ॥

यद्यदिहाग्निमुद्दिश्यातिथिरागच्छेत्, तत एनमतिथिं स्वयमेवाभिमुख उपसर्पेत् अत्र स्वयमिति वचनादनाहिताग्निरन्येन शिष्यादिना कारयन्त्वपि न दुष्यति । तमभ्युदेत्य ब्रूयात्—त्रात्य ववात्सीरिति कुशलप्रश्नः । त्रते साधुर्ब्रूत्यः स एव त्रात्य इति पूजनाभिधानम् । क्व पूर्वस्यां रात्र्यामुपितवानसीति । ‘त्रात्योदक’ मिल्युदकदानम् । ‘त्रात्य तर्पयंस्त्विति गोरसादिभिस्तर्पणम् । अनुस्वारसकारौ छान्दसी । क्रियाभेदात्प्रतिमन्त्रमिति शब्दः । एतत्सर्वेषु कालेषु कर्तव्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—यदि किसी अग्निहोत्री के यहाँ अतिथि आवे तो वह स्वयं उसकी अगवानी करे, और कहे । ह त्रात्य (अपने मत का पालन करने वाले), (पिछली रात्रि) तुमने कहीं निवास किया ? फिर ‘हे त्रात्य, यह उदक है, त्रात्य, तृप्त होइय’ ऐसा कहकर अब, दूध, रस आदि प्रदान करे ॥ १३ ॥

पुराऽग्निहोत्रस्य होमाद्गुपाशु जपेत्—त्रात्य यथा ते मनस्तथाऽस्त्विति, त्रात्य यथा ते वशस्तथाऽस्त्विति, त्रात्य यथा ते प्रियं तथाऽस्त्विति, १४ ॥

त्रात्य यथा ते निकामस्तथाऽस्त्विति ॥ १४ ॥

स यदि होमकालेऽध्यासीत्, तदा पुरा होमादपरेणामि दर्भेषु सादयित्वा

१. राजेश्वरानभिर्गणकानाचक्रते इत्यैतरेयब्राह्मणम् । ऐ० ब्रा० ८. १४. ६

व्रात्य तथा ते मन' इत्यादिमन्त्रानुपांशु जपेत् ब्रूयात् । तत्र प्रतिमन्त्रमिति शब्द-
प्रयोगादर्थभेदाच्चतुर्णां विकल्पः । समुच्चय इत्यन्ये । अत्र चाऽध्वर्युर्युजमानो वा
यो' होता स जयेत् । तवो जुहुयात् ॥ १४ ॥

अनु०—(यदि अतिथि अग्निहोत्र होम के समय भी उपस्थित हो तो) तो
अग्निहोत्र होम करने से पहले उसे अग्नि के उत्तर में बैठाकर इस प्रकार जप करे—
व्रात्य, वैसा ही हो जैसा तुम्हारा मन चाहता है, हे व्रात्य, वैसा ही हो जैसी तुम्हारी
इच्छा है, हे व्रात्य, वैसा ही हो, जैसा तुम्हारे प्रिय है, हे व्रात्य, यह पूर्णतः तुम्हारी
इच्छा के अनुरूप होवे ॥ १४ ॥

यस्योद्धृतेष्वहुतेष्वग्निष्वतिथिरभ्यागच्छेत्स्त्रयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात्—ब्रा-
त्याऽतिसृज होष्यामीत्यतिसृष्टेन होतव्यमनतिसृष्टश्रेजुहुयादोपं

ब्राह्मणमाह ॥ १५ ॥

उद्धृतेष्विति बहुवचनं सभ्यावसथ्यापक्षेम् । यस्य तु द्रयोऽन्नयः, तस्यापि ।
अहुतेष्वित्यनेन सामानाधिकरण्यात् होमोऽपि त्रिष्वपि भवति । तेनाऽऽहवनी-
यहोमानन्तरमतिथावागतेऽपि त्रिषु होमो न कृत इति वक्ष्यमाणो विधिर्भवत्येव
कः पुनरसौ ? स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् । व्रात्याऽतिसृज, अनुजानीहि होष्या-
मीति । तवो जुहुधीत्यतिसृजेत् । अति सृष्टेन होतव्यम् । यदि पुनरनतिसृष्टो-
ऽन्नसृजावो जुहुयात्, तस्य दोषमाथर्वणकानां ब्राह्मणवाक्यमाह । तदत्र न
पठितं तत्र प्रत्येतव्यम् । अत्र पक्षे स्वयं होमो नियतः ॥ १५ ॥

अनु०—यदि अतिथि उस समय आने लव अग्निर्घो रल तो दो गण्ड हो किन्तु
उनमें हवन न किया गया हो, तो अग्निहोत्री स्वयं अतिथि की अगवांनी करे और
कहे, व्रात्य, मुझे आज्ञा दीजिए, मैं हवन करना चाहता हूँ, वव अतिथि की आज्ञा
प्राप्त कर हवन करे । यदि वह बिना आज्ञा लिए हवन करता है तो दोष होता है ऐसा
एक ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है ॥ १५ ॥

एकरात्रं चेदतिथीन्वासयेत्पाथिवौलोकानभिजयति द्वितीययाऽऽत्तरि-
क्ष्यांस्तृतीयया दिव्यांश्चतुर्थ्यां परावतो लोकानपरिमिताभिरपरिमि-
तौल्लोकानभिजयतीति विज्ञायते ॥ १६ ॥

य एकां रात्रिमतिथीन् गृहे वासयति, स पृथिव्यां भवान् लोकानभिजयति ।
द्वितीयया रात्र्या आन्तरिक्ष्यान् । तृतीयया दिव्यान् । चतुर्थ्यां परावतः सुलस्य

१. अग्निहोत्रहवनकर्ता होता

२. नास्तीदं वाक्यं ष० पक्षके

परा मात्रा येषु लोकेषु तानभिजयति । अपरिमिताभीरात्रिभरपरिमितात् लो-
कानिति विज्ञायते ब्राह्मणं भवति ॥ १६ ॥

अनु०—जो व्यक्ति अतिथि एक रात्रि अपने घर में ठहराता है वह धृष्वी के सुखी
को प्राप्त करता है, जो दूसरी रात्रि ठहराता है वह भन्तरिष्ठ लोकों को जीतता है,
तीसरी रात्रि ठहराने वाला स्वर्गाय लोकों को प्राप्त करता है और चौथी रात्रि ठहराने
वाला असीम आनन्द का लोक जीत लेता है अनेक रात्रियों तक अतिथि को ठहराने
से असीम सुखी की प्राप्ति होती ऐसा (वेद में) कहा गया है ॥ १६ ॥

असमुदेतश्चेदतिथिब्रुवाण आगच्छेदासनमुदकमन्नं श्रोत्रियाय ददामीत्येव
दद्यादेवमस्य समृद्धं भवति ॥ १७ ॥

विद्यादिभीरहितोऽसमुदेतः । स चेदतिथिरिति ब्रुवाण आगच्छेत्तदा तस्मै
आसनादिकं श्रोत्रियायैव ददामीत्येवं मनसि कृत्वा दद्यात् । एवं ददतोऽस्य
सद्दानं समृद्धं भवति श्रोत्रियायैव दत्तं भवति ॥ १७ ॥

इति द्वितीयप्रश्ने सप्तमी कण्डिका ॥ ७ ॥

अनु०—यदि कोई विद्याविहीन व्यक्ति अतिथि कहलाने का दौग करता हुआ
आता है, तो श्रोत्रिय के लिए आसन, बल और अन्न देता हूँ ऐसा संकल्प करते
हूए ये वस्तुएँ प्रदान करें । इस प्रकार उसके दान का पुण्य अधिक बढ़ जाता है,
कैसे कि वे वस्तुएँ किसी वेद के विद्वान् श्रोत्रिय को ही अर्पित की गईं हो ॥ १७ ॥

इत्यापस्वस्वधर्मसूत्रधृत्तौ हरदत्तमिश्रविचितायामु-

ज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः पटलः

येन कृतावसथः स्यादतिथिनं तं प्रत्युत्तिष्ठेत्प्रत्यवरोहेद्वा पुरस्ताच्चेदभि-
वादितः ॥ १ ॥

येन गृहस्थेनाऽतिथिः कृतावसथः स्यात् कृतावासः दत्तावासः स्यात् ।
द्वितीययान्तरिदश्यान्त्यादिवचनात् द्वितीयादिष्वहसु तं प्रति न प्रत्युत्तिष्ठेत् ।
नाऽध्यासनात् प्रत्यवरोहेत् । स चैत्तरिमन्नइति पूर्वमेवाभिवाचितः । अनभि-
वादिते तु अभिवादनार्थं प्रत्युत्तिष्ठेत्, प्रत्यवरोहेच्च ॥ १ ॥

अनु०—(बन अतिथि एक से अधिक दिन ठहरे तो) जिस गृहस्थ ने अतिथि
को ठहराया हो उसने यदि प्रथम दिन अतिथि का अभिवादन कर लिया हो तो
दूसरे दिन या उसके बाद के दिन उस अतिथि का अभिवादन करने के लिए अपने
आसन से न तो उठे और न उतरे ॥ १ ॥

शेषभोज्यतिथीनां स्यात् ॥ २ ॥

‘अतिथिनेवाग्रे भोजये’ (२.३.११.) दित्येव सिद्धे वचनमिदं प्रमादाद्यन्न
दत्तमतिथये, तन्न भुञ्जीतेत्येवमर्थम् ॥ २ ॥

अनु०—अतिथियो को भोजन कराने के बाद ही भोजन करे ॥ २ ॥

न रसान् गृहे भुञ्जीताऽनवशेषमतिथिभ्यः ॥ ३ ॥

आगामिभ्योऽतिथिभ्यो यथा न किञ्चित् गृहेऽवशिष्यते, तथा गव्यादयो
रसान् न भोज्याः । सद्यस्सम्पादयितुमशक्यत्वात्प्रसानाम् ॥ ३ ॥

अनु०—घर में रखे हुए दूध आदि रसवाले पदार्थों को पूरी तरह न समाप्त
कर बाले जिससे अतिथि के लिए कुछ शेष न रह जाय (अपि तु अतिथि के आने
की सम्भावना करके ऐसी वस्तुएँ घर में बचाकर रखना चाहिए ॥ ३ ॥

नाऽऽत्मार्थमभिरूपमन्नं पाचयेत् ॥ ४ ॥

आत्मानमुद्दिश्याऽभिरूपमन्नं स्वाद्गुपादि न पाचयेत् ॥ ४ ॥

अनु०—केवल अपने खाने के लिए स्वाद्गुपक पकवान न बनवाये ॥ ४ ॥

गोमधुपर्कान्ते वेदाध्यायः ॥ ५ ॥

साङ्गस्य वेदस्याऽध्येता वेदाध्यायः । सोऽतिथिमधुपर्कमहति; गां च दक्षि-
णाम् ॥ ५ ॥

१. कृतावासः दत्तावासः इति क. पु०

अनु०—अज्ञो सहित सम्पूर्ण वेद का अध्येता अतिपि गो को दक्षिणा तथा मधुपर्क प्राप्त करने का अधिकारी होता है ॥५॥

आचार्य ऋत्विक्स्नातको राजा वा धर्मयुक्तः ॥ ६ ॥

अवेदाध्याया अप्याचार्यादयो गोमधुपर्कर्हाः । अत एव ज्ञायते—एकदेशा-
ध्यायिनाथयूत्विगाचार्यो भवत इति । धर्मयुक्त इति राज्ञो विशेषणम् । काश-
ज्जःसमुच्चये ॥ ६ ॥

अनु०—इसी प्रकार आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक और धर्म का आचरण करने वाला राजा गो की दक्षिणा और मधुपर्क के अधिकारी होते हैं ॥ ६ ॥

आचार्यायतिवेजे श्वशुराय राज्ञ इति परिसंवत्सरादुपतिष्ठद्भ्यो

गौर्मधुपर्कंश्च ॥ ७ ॥

एतत् गृहो व्याख्यातम् । गौरत्र दक्षिणाऽधिका विधीयते ॥ ७ ॥

अनु०—आचार्य, ऋत्विज्, श्वशुर, राजा के लिए उनके एक वर्ष के अन्तर पर आने पर गो तथा मधुपर्क अर्पित किया जाता है ॥ ७ ॥

कोऽसौ मधुपर्क इत्यत आह—

दधिमधुसंसृष्टं मधुपर्कः पयो वा मधुसंसृष्टम् ॥ ८ ॥

^३गृहोक्त्याऽनुवादोऽयमुत्तरविवक्षया ॥ ८ ॥

अनु०—मधुपर्क मधुमिश्रित दधि का हो अथवा मधु से युक्त दूध का हो ॥८॥

अभाव उदकम् ॥ ९ ॥

दधिपयसोरलाभ उदकमपि देयम् । मधुसंसृष्टमित्येके । नेत्यन्ये, पूर्वत्र
पुनर्मधुसंसृष्टप्रहणादिति ॥ ९ ॥

अनु०—इन वस्तुओं का अभाव होने पर बल का भी मधुपर्क दिया जा सकता है (कुछ आचार्यों के अनुसार बल भी मधु से युक्त होना चाहिए) ॥ ९ ॥

वेदाध्याय इत्यत्र विवक्षितं वेदमाह—

पडङ्गो वेदः ॥ १० ॥

पड्भिरङ्गैर्युक्तोऽत्र वेदो गृह्यत इति ॥ १० ॥

अनु०—वेद छः अङ्गों से युक्त है ॥ १० ॥

कानि वान्यङ्गानीत्यत आह—

छन्दःकल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शीक्षा च्छन्दोविचित्रिः ॥ १ ॥

१. आप० पृ० १२. १९

२. 'दधिमेष्वति संसृष्य—विवृतमेके घृतं च । पाकमेके घानास्तकृद्भ्यः' इति
गृह्ये उक्तम्

छन्दो वेदः । तत्कल्पयति प्रविशालं शास्त्रान्तराधीतेन न्यायप्राप्तेन चाऽङ्गक-
लापेनोपेतस्य कर्मणः प्रयोगकल्पनयोपस्कुरुत इति छन्दः-कल्पः-कल्पः कल्पसूत्राणि ।
व्याकरण अर्धविशेषमाश्रित्य पदमन्वाचक्षणं पदपदार्थप्रतिपादनेन वेदत्वोप-
कारकं विद्यास्थानम् । सूर्यादीनि ज्योतीष्वपि कृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं ज्योतिषम् ।
आदिष्टद्वयभावे यत्नः कार्यः । तदल्पध्ययनोपयोगिनमनुष्ठानोपयोगिनं च काल-
विशेषं प्रतिपादयदुपकारकम् । निरुक्तमपि व्याकरणस्यैव कात्स्न्यम् । शिक्षा-
वर्णानां स्थानप्रयत्नादिकमध्ययनकाले कर्मणि च मन्त्राणामुच्चारणप्रकारं शिक्षय-
तीति । पृषोदरादित्वादीर्घः । गायत्र्यादीनि छन्दांसि यया विचीयन्ते विविच्य
ज्ञायन्ते, सा छन्दोविचिन्तिः । एतान्यङ्गानि अङ्गसंस्तवादङ्गत्वम् ।

‘मुखं व्याकरणं तस्य ज्योतिषं नेत्रमुच्यते ।

निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचिन्तिः पदे ।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते ॥ इति ॥

उपकारकत्वाच्च ॥ ११ ॥

अनु०—(वेद के छः अङ्ग हैं): कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त शिक्षा, तथा
छन्दोविचिन्ति ।

टि०—शिक्षा में वर्णों के स्थान, प्रयत्न, प्रयत्न, उच्चारण काल का विचार किया
जाता है । छन्दोविचिन्ति में गायत्री आदि छन्दों का विवेचन किया जाता है ॥ ११ ॥

उक्त उपकार, अत्र चोदयति—

शब्दार्थरम्भणानां तु कर्मणां समाम्नायसमाधौ वेदशब्दस्तत्र सङ्ख्या

विप्रतिपिद्धा ॥ १२ ॥

शब्दार्थतया यान्यारभ्यन्ते न प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरतया, तानि शब्दार्थर-
म्भणानि कर्माणि वैदिकान्यग्निहोत्रादीनि । तेषां समाम्नाय उपदेशः । तस्य
समाप्ती स यावता ग्रन्थज्ञातेन समाप्तोऽनुष्ठानपर्यन्तो भवति, तत्र वेदशब्दो
वर्तते । वेदयति धर्मं विदन्त्यनेनेति वा धर्ममिति । न च मन्त्राह्वणमात्रेणाऽ
नुष्ठानपर्यन्त उपदेशो भवति । किं तु कल्पसूत्रैरपि सह । ततश्च तेषामपि वेदत्व-
रूप एवानुप्रवेशात् पञ्चैवाऽङ्गानि । तत्र पटसंख्या विप्रतिपिद्धेति ॥ १२ ॥

अनु०—यदि प्रायश्च आदि प्रमाणों के द्वारा गोचर न होने वाले शब्द के अर्थ
से गृहीत (अग्निहोत्र आदि) कर्मों का उपदेश बर्हा पूरा होता है उतने सम्पूर्ण
ग्रन्थ समूह के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया जाता है तब इस प्रकार (कल्पसूत्रो
के वेद का ही अभिन्न अंश सिद्ध होने पर) वेद के अङ्गों को संख्या विप्रतिपिद्ध हो
जायगी अर्थात् छः अङ्गों के स्थान पर केवल पाँच अंग ही होंगे ॥ १२ ॥

परिहरति—

अङ्गानां तु प्रधानैरव्यपदेश इति न्यायवित्समयः ॥ १३ ॥

अङ्गान्येव कल्पसूत्राणि न वेदद्वारूपाणि । पौरुषेयतया स्मरणात् । कतिपयान्येव हि तेषु ब्राह्मणवाक्यानि, भूविष्टानि । स्ववाक्यानि अङ्गानां च तेषां प्रधानवाचिभिरशब्दैः छन्दो वेदो ब्राह्मणमित्यादिभिर्व्यपदेशो न न्याय्य इति न्यायविदां सिद्धान्तः । ताविमौ पूर्वपक्षसिद्धान्तौ 'कल्पसूत्राधिकरणे स्पष्टं द्रष्टव्यौ । यत्तुं न मन्त्रब्राह्मणमात्रेण पूर्णं उपदेश इति । नैप स्थाणोरपरप्राधो यदेनमन्थो न पश्यतीति, पुरुषापराधस्स भवति । इदं तु भवानाचष्टाम्—कल्पसूत्रकाराणामियं प्रयोगकल्पना कुतस्येति । न्यायोपवृंहिताभ्यां मन्त्रब्राह्मणाभ्यामिति वक्तव्यम् । नाऽन्या गतिः । एवं सति भवानपि यततां साहसस्यामिति । ततो मन्त्रब्राह्मणाभ्यामेव पूर्णमवभोत्स्यत इति ॥ १३ ॥

अनु०—(इसका उत्तर यह है कि) कल्पसूत्र अङ्ग ही है वेदस्वरूप नहीं है और उनके लिए प्रमुख (वेद ब्राह्मण आदि) रचनाओं के नाम का व्यवहार नहीं होगा, ऐसा मीमांसा के पण्डितों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है ॥ १३ ॥

अतिथि निराकृत्य यत्र गते भोजने स्मरेत्ततो विरम्योपोष्य ॥ १४ ॥

अतिथिमागतं केनचित्प्रकारेण निराकृत्य भोजने प्रवृत्तो यत्र गते यद्भवस्थानात्रे भोजने स्मरेत्—धिष्यया स निराकृत इति, तत्रैव भोजनाद्विरम्य तस्मिन्नहन्त्युपोष्य ॥ १४ ॥

अनु०—यदि भोजन करते समय उसे किसी अक्षिपि को विना सत्कार किये लौटा देने का स्मरण हो तो भोजन करना छोड़कर उपवास करे ॥ १४ ॥

इत्यापत्तम्बधर्मसूत्रे उज्वलोपेते द्वितीयप्रश्नेऽष्टमी कण्डिका ॥ ८ ॥

श्वो भूते यथामानसं तर्पयित्वा संसाधयेत् ॥ १ ॥

अपरेद्युस्तमन्विव्य यथामानसं यथेच्छं तर्पयित्वा संसाधयेत् गच्छन्तमनुव्रजेत् ॥ १ ॥

अनु०—दूसरे दिन उस अतिथि को ढूँढ कर इच्छानुसार उसे भोजन आदि से वृत्त करके उसके प्रस्थान करते समय उसके साथ जावे ॥ १ ॥

आ कुत इत्यस आह—

यानवन्तमा यातात् ॥ २ ॥

१. ५० मी० १. ३. १. कल्पसूत्राणां बौधायनापरस्तम्भादिप्रणीतानां यत्र साक्षाद्वेदलिनिराकरणं क्रियते किन्तु वेदमूलत्वेनैव प्रामाण्यं श्याव्यते । तत् कल्पसूत्राधिकरणम् ।

स चेदतिथिर्यानिवान् भवति, तमा तस्याऽऽरोहणादनुव्रजेत् ॥ २ ॥

अनु०—यदि अतिथि के पास कोई यान हो तो जहाँ वह यान पर चढ़े उस स्थान तक पहुँचाने जाना चाहिए ॥ २ ॥

यावन्नाऽनुजानोयादितरः ॥ ३ ॥

इतरो यानरहितो यावन्नाऽनुजानोयात् गच्छेत्, तं तावदनुव्रजेत् ॥ ३ ॥
अनु०—किसी दूसरे अतिथि के साथ उस समय तक चले जब तक वह अतिथि उसे वापस लौटने के लिए नहीं कहता ॥ ३ ॥

अप्रतीभायां सीम्नो निवर्तते ॥ ४ ॥

यदि तस्याऽऽन्यपरतयाऽनुज्ञायां प्रतीभा वृद्धिर्न जायते, तत्सीम्नि प्राप्तायां ततो निवर्तते । प्रतेदीर्घश्छान्दस् । 'संसाधये' दित्यादि सर्वातिथिसाधारणम् । न निराकृतमात्रविययम् ॥ ४ ॥

अनु०—यदि अतिथि उसे लौटने के लिए कहने का ध्यान न रखे तो गाँव की सीमा तक पहुँचाकर लौटना चाहिए ॥ ४ ॥

सर्वान्वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीता श्वचण्डालेभ्यः ॥ ५ ॥

वैश्वदेवान्ते भोजनार्थमुपस्थितान् सर्वानेव भागिनः कुर्वीताऽश्वचण्डालेभ्यः । अभिविधावाकारः । तेभ्योऽपि किञ्चिद्देयम् । तथा च मनुः—

“शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।

वयसां च क्रिमीणां च शनकैर्निवपेद्भुवि ॥ इति ॥ ५ ॥

अनु०—वैश्वदेव कर्म की समाप्ति पर बौ भी अन्न की याचना करते हुए भाँवे उन्हें कुछ भ्रंश प्रदान करे, कुत्तों और चाण्डालों के भी उपस्थित होने पर उन्हें भोजन भ्रंश प्रदान करे ॥ ५ ॥

नाऽनर्हद्भ्यो दद्यादित्येके ॥ ६ ॥

अनर्हद्भ्यश्चण्डालाद्विभ्यो न दद्यादित्येके मन्यते । तत्र दानेऽभ्युदयः ।

अदाने न प्रत्यवायः ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि (चाण्डाल आदि जैसे) अशोभ्य पात्रों को कुछ भी न देवे ॥ ६ ॥

उपेतः स्त्रीणामनुपेतस्य चोच्छिष्टं वर्जयेत् ॥ ७ ॥

उपेतः कृतोपनयनोऽसमावृत्तः । स स्त्रीणामनुपेतस्य चोच्छिष्टं वर्जयेत् न भुञ्जीत । एवं सति समावृत्तस्योच्छिष्टं भुञ्जानस्य न दोषः स्यात् । एवं वहिं उपेत आन्तान् कृत्वद्वारोऽकृत्वद्वाराश्च स्त्रीणामनुपेतस्य चोच्छिष्टं वर्जयेत् । इवमप्युपेतस्य

यस्य कस्यचिदपि यदुच्छिष्टं तद्भोजने न दोषः स्यात् । पितृव्येष्टस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोक्तव्यम्—(१. ४. ११) इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति-पितुरेव भ्रातुरेवेति । यद्येवं सूत्रमेवदमनर्थकम् । तस्मादेव नियमान्दन्वन्नाऽप्रसङ्गात् । इदं तर्हि प्रयोजनम्-यदा पिताऽनुपेतः पुत्रस्तु प्रायश्चित्तं कृत्वा कृतोपनयनः तदा तं प्रति पितुरुपेतस्योच्छिष्टं प्रतिपिच्यते । एवं ज्येष्ठेऽपि द्रष्टव्यम् । एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । उक्तं हि 'धर्मविप्रतिपत्तावभोज्य (१. ४. १२) इति । 'तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च बर्जये' (१. १. ३३) इति च । तथा स्त्रीणामित्येतत् किमर्थम् ? नातुरुच्छिष्टप्रतिपेधार्यम् । कथं प्रसङ्गः ? 'भातरि पितर्याचार्यवच्छुश्रूषे' (१. १४. ५.) इति वचनात्, 'यदुच्छिष्टं प्राश्नाति ह्यविरुच्छिष्टमेव त' (१. ४. १, २) इत्याचार्योच्छिष्टस्य हविष्ट्वेन संस्तवाच्च । 'एवमपि 'पितृव्येष्टस्ये' त्यत्र पितुर्ग्रहणादेव सिद्धम् । तस्मात् केपु चिज्जनपदैषु भार्यायाऽनुपेतेन च सह भोजनमाचरन्ति । तथा च दौघायनः—^२'यानि दक्षिणतस्तानि न्याख्यास्यामः । तथैतदनुपेतेन सह भोजनं स्त्रिया सह भोजन'मिति । तस्य दुराचारस्वमनेन प्रतिपाद्यते ॥ ७ ॥

अनु०—बिस न्यक्ति का उपनयन संस्कार हो लुका हो वह स्त्रियों का तथा अनुपेत (बिसबा उपनयन न हुआ हो) न्यक्ति के बूठे भोजन को न खात्रे ॥ ७ ॥

सर्वाण्युदकपूर्वाणि दानानि ॥ ८ ॥

'सर्वाणी'ति वचनात् भिक्षाप्युदकपूर्वमेव दद्या ॥ ८ ॥

अनु०—सब प्रकार का दान देने से पहले बल गिराना चाहिए ॥ ८ ॥

यथाश्रुति विहारे ॥ ९ ॥

विहारे यज्ञकर्मणि यानि दानानि दक्षिणादीनि, तानि यथाश्रुत्वेव । नोदकपूर्वाणि ॥ ९ ॥

अनु०—किन्तु यश कर्म के समय की दक्षिणा वेद में विहित नियम के अनुसार देनी चाहिए ॥ ९ ॥

ये नित्या भाक्तिकास्तेषामनुपुरोधेन संविभागो विहितः ॥ १० ॥

ये नित्या भाक्तिकाः भक्तार्हाः कर्मकरादयः तेषामुपुरोधो यथा न भवति तथा वैश्वदेवान्ते अभ्यागतेभ्यः संविभागः कर्तव्यः ॥ १० ॥

अनु०—भोजन का विभाग इस प्रकार करना चाहिए कि जो (दास आदि) प्रतिदिन भोजन करते हो वे बद्धित न रह जाँय ॥ १० ॥

काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम् ॥ ११ ॥

१. नैवदपि सारम् । 'पितृव्येष्टस्य च' इत्यत्रपितृग्रहणादेव तस्या अप्रसक्तो, इति०
२. वी० घ० १. १. १८, १९

दासो भूत्वा यः कर्म करोति स दासकर्मकरः तं आत्माद्युपरोधे नापि नोप
रुन्ध्यात् । किं पुनरागतार्थं तं नोपरुन्ध्यादिति' ॥ ११ ॥

अनु०—इच्छानुसार स्वयं, पत्नी को या पुत्र के भोजन में उपरोध हो जाने दे,
किन्तु सेवा कर्म करने वाले दास के भोजन में विघ्न न होने देना चाहिए ॥ ११ ॥

तथा चऽऽत्मनोऽनुपरोधं कुर्याद्यथा कर्मसु समर्थं स्यात् ॥ १२ ॥

कर्मसु अग्निहोत्रादिषु आर्जनेषु च यथा स्वयं समर्थो भवति तथाऽऽत्मानं
नोपरुन्ध्यात् कुटुम्बी ॥ १२ ॥

अनु०—अपने भोजन में भी इतना उपरोध नहीं करना चाहिए कि धार्मिक कर्म
के सम्पादन में भी असमर्थ हो जाय ॥ १२ ॥

अथाऽप्युदाहरन्ति—

२'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशाऽऽरुण्यवासिनः । द्वात्रिंशत्तं गृहस्थस्यऽ
परिमितं ब्रह्मचारिणः ॥ आहिताग्निरनडवांश्च ब्रह्मचारी च ते
त्रयः । अश्नन्त एव सिध्यन्ति नैषां सिद्धिरनश्नता'मिति ॥

अथैतस्मिन्नात्मानं नोपरुन्ध्यादिति विषये 'श्लोकाबुदाहरन्ति । मुनेः स-
न्यासिनः । भक्ष्या अष्टौ ग्रासाः आरुण्यकारेण । अरुण्यवासी वानप्रस्थः । तस्य
षोडश । द्वात्रिंशत् ग्रासाः गृहस्थस्य । प्रथमार्थं द्वितीया । ब्रह्मचारिणस्तु विद्यार्थ-
स्य नैष्ठिकस्य च ग्रासनियमो नास्ति । द्वितीयेन श्लोकेनाहिताग्निविषये 'काल-
योर्भोजन' (२. १. २.) सित्ययमपि नियमो नास्तीति' प्रतिपाद्यते । अनडुद्-
ग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । ब्रह्मचारिग्रहणं दृढार्थम् । सिध्यन्ति स्वकार्यक्षमा भवन्ति?३
इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे नवमो कण्डिका ॥

अनु०—(इत विषय में ये दो श्लोक भी उद्धृत किये जाते हैं) मुनि आठ
ग्रास भोजन करे, वानप्रस्थ सोलह ग्रास भोजन करे, गृहस्थ बचीस ग्रास खावे और
ब्रह्मचारी इच्छानुसार भोजन करे । अग्निहोत्री, वैल और ब्रह्मचारी ये तीनों ही भोजन
करने पर ही अपना कार्य कर पाते हैं, अतएव बिना भोजन किए ये अपना कार्य नहीं
कर पाते हैं ॥ १३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रयुक्ती हरदत्तविरचितायामुज्ज्वलायां
द्वितीयप्रश्ने चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

१. 'अतस्तं केवलं कर्मकरं नोपरुन्ध्यात् इत्यधिकः पाठः क० पुस्तके ।

२. एतच्छ्लोकद्वयानन्तरं गृहस्थो ब्रह्मचारी वा योऽनश्नन् मुतपश्चरेत् । प्रागाग्नि-
होत्रलोकेन अक्कीर्णो भवेत्तु सः । इत्यधिकसूत्रभागो च० पुस्तके

३. श्लोकात् इति च० पु
४. प्रतिपादयितुम् इति पु० क०

अथ पञ्चमः पटलः

भिक्षणे निमित्तमाचार्यो विवाहो यज्ञो मातापित्रोर्बुभूयाऽहंतश्च नियम-
विलोपः ॥ १ ॥

भिक्षणं याचनम् । तत्राऽऽचार्यादयो निमित्तम् । बुभूयां भर्तुमिच्छा । अहं-
तो विद्यादिमतोऽग्निहोत्रादिनियमे योग्यस्याऽभावेन लोपः ॥ १ ॥

अनु०—भिक्षा माँगने के विहित निमित्त हैं । आचार्य के लिए दक्षिणा, विवाह,
यज्ञ, माता तथा पिता के भरण-पोषण की इच्छा, तथा विद्या आदि से सम्पन्न योग्य
व्यक्ति के नियम का अर्थ के अभाव में लोप होने की संभावना ॥ १ ॥

तत्र गुणान् समीक्ष्य यथाशक्ति देयम् ॥ २ ॥
सर्वभूते भिक्षुणे याचतः श्रुतवृत्तादिकान् गुणान् समीक्ष्य शक्यतुल्यम-
वश्यं देयम् । अदाने 'प्रत्यवेयात्' । गौतमस्तु निमित्तान्तरमप्याह—^२'गुर्वर्थनि-
वेशीपघार्थदृत्तिशीणयद्यमाणायनध्वंसयोगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो वदि-
वेदि । भिक्षमाणेषु कृतान्नमितरेष्विति । वैश्वजितो विश्वजिद्यागस्य कर्ता
सर्वस्वदक्षिणः ॥ २ ॥

अनु०—याचक के गुणों के ऊपर मही प्रकार विचार करके अपनी शक्ति के
अनुसार भिक्षा देनी चाहिए ॥ २ ॥

^५इन्द्रियप्रीत्यर्थस्य तु भिक्षणमनिमित्तम् ॥ ३ ॥

इन्द्रियद्वारा आत्मनः प्रीतिरिन्द्रियप्रीतिः । वामर्थयमानो यो भिक्षते स्वक्व-
न्दनादि तन्मूलं वा । तद्विक्षणं नियमेन दानस्य निमित्तं न भवति ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु अपनी इन्द्रियों को सुख के लिए भिक्षा माँगना अनुचित है ॥३॥
न तदाद्रियेत ॥ ४ ॥

तस्मान् न तदाद्रियेत । अदानेऽपि न प्रत्ययवायः । विवाहोऽपि द्वितीयो न

१. प्रत्ययायात् इति० क० घ० पु० २. गी० ५. २१, २२

३. विश्वजिवाऽऽतिरात्रेण सर्वपृष्टेन सर्वस्वदक्षिणेन यजेत' इत्यनेन विहितेन योगो-
नेष्ट्या तत्र दत्तसर्वस्वदक्षिण इत्यर्थः

४. इदमुत्तरं च सूत्रमेकीकृतं च० पु० । इन्द्रियमनिमित्तम् ॥ ४ ॥ तस्मान्न तदा-
द्रियेने

॥ ५ ॥ इति तच्छब्दवदितं भिन्नपुत्रतया च पठितं क० पुत्रके

निमित्तं सत्यां प्रथमायां धर्मप्रज्ञासम्पन्नायाम् । तदर्थमिदं वचनम् । अन्वत्र प्राप्त्यभावात् ॥ ४ ॥

अनु०—इस प्रयोजन से शिक्षा मांगने वाले के ऊपर ध्यान नहीं देना चाहिए ॥ ४ ॥

स्वकर्म ब्राह्मणस्याऽध्ययनमध्यापनं यज्ञो यालनं दानं प्रतिग्रहणं दायार्घ्यं सिलोञ्छः ॥ ५ ॥

‘सर्ववर्णानां स्वधर्मोऽनुष्ठान (२.२.२) इत्युक्तम् । तेऽमी स्वधर्मो उच्यन्ते-पुत्राय दीयत इति दायः । तमादत्त इति दायार्घ्यः । तस्य भावो दायार्घ्यम्, दायस्वीकारः । क्षेत्रादिषु पतितानि मखरीभूतानि ततश्च्युतानि वा धान्यानि सिलशब्दस्यार्थः । तेषामुञ्छनमंगुलीभिर्नखैर्वाऽऽदानं सिलोञ्छः । एतान्यध्ययनादीन्यष्टौ ब्राह्मणस्य स्वकर्म । तेष्वध्ययनधनदानानि द्विजातिसामान्येन कर्तव्यतया नियम्यन्ते । इतराण्यर्थितया द्रव्यार्जने प्रवृत्तस्योपायान्तरानिवृत्त्यर्थान्युपदिश्यन्ते—अध्यापनादिभिरेव द्रव्यमार्जयेन्न चौयादिभिरिति’ ॥ ५ ॥

अनु०—ब्राह्मण के धर्मसम्मत कर्म ये हैं । अस्यन, अयापन, यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना, धन को उत्तराधिकार तथा खेतों में अन्न के कणों को बीनना ॥ ५ ॥

अथच्चाऽपरिगृहीतम् ॥ ६ ॥

यच्चाऽन्यत् केनाप्यपरिगृहीतमारण्यमूलफलदि तेनापि । लोवेदिति प्रकरणान् गम्यते । एतेन निधिव्यार्याख्यातः ॥ ६ ॥

अनु०—उन अन्य वस्तुओं को भी जो किसी ब्यक्ति की न होवे ग्रहण करके लीविका निर्वाह कर सकता है ॥ ६ ॥

एतान्येव क्षत्रियस्याऽध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाय्य

दण्डपुद्गलधिकान्ति ॥ ७ ॥

एतान्येव क्षत्रियस्याऽपि स्वकर्म । अध्यापनादीनि व्रीणि वर्जयित्वा । दण्डलब्धं युद्धलब्धं चाऽधिकम् ॥ ७ ॥

अनु०—अध्यापन, यज्ञ करना, दान ग्रहण करना इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष वे ही कर्म क्षत्रिय के लिए भी विहित हैं किन्तु उसके दण्ड देना तथा युद्ध काल में अधिक कर्म होते हैं ॥ ७ ॥

क्षत्रियवह्वैश्वस्य दण्डपुद्गलं कृपिगोरस्यवणिज्याऽधिकम् ॥ ८ ॥

१. एतदादिष्वन्युदयोका विषया मानवेषु (१.८७-९१) श्लोकेषु प्ररक्ष्याः ।

गोरक्ष्यं गवां रक्षणम् । भावे ण्यत्प्रत्ययः । वणिजो भावो वणिज्या क्रयविक्रयव्यवहारः, कुसीदं च । “दूतवणिग्भ्यां चेंति यत्प्रत्ययः ॥ ८ ॥
अतु०—वैश्य के धर्मविहित कर्म वे ही होते हैं जो क्षत्रिय के, केवल वैश्य के लिए दण्ड और युद्ध का कर्म अर्हित होता है तथा खेती, पशुपालन तथा व्यापार का कर्म अतिरिक्त होता है ॥ ८ ॥

नाऽनूचानमृत्विजं वृणीते न पणमाणम् ॥ ९ ॥

साङ्गस्य वेदस्याऽध्येता प्रवक्ता चाऽनूचानः । अतादृशशृत्विजं न वृणीते नऽप्येतावद्देयमिति परिभाषणम् ॥ ९ ॥

अतु०—किसी ऐसे व्यक्ति का ऋत्विज के रूप में वरण न करे जो वेदों के ज्ञान से सम्मनन न हो और न ही किसी ऐसे व्यक्ति को ऋत्विज् बनावे जो दक्षिणा का लोभी हो । पहले ही दक्षिणा के विषय में माँग पेश करता हो ॥ ९ ॥

अयाज्योऽनघोयानः ॥ १० ॥

अनर्थाववेदं न याजयेत् तदानीमपेक्षितं मन्त्रं यथाशक्ति वाचयन् ॥ १० ॥
अतु०—ऋत्विज् वेद का अध्ययन न करने वाले यजमान से यज्ञ का अनुष्ठान न करावे ॥ १० ॥

क्षत्रियस्य युद्धं स्वकर्मेत्युक्तम् । तत्कथं कर्तव्यमित्यत आह—

युद्धे तद्योगा यथोपायमुपदिशन्ति तथा प्रतिपत्तथ्यम् ॥ ११ ॥

युद्धविषये तथा प्रतिपत्तव्यं यथा तद्योग उपायमुपदिशन्ति तस्मिन् युद्ध-कर्मणि युद्धशास्त्रे वा वेपामभियोगः ते तद्योगाः ॥ ११ ॥

अतु०—युद्ध में क्षत्रिय उस प्रकार आचरण करे जैसा युद्ध में निष्णात लोग उपदेश देते हैं ॥ ११ ॥

न्यस्तायुधप्रकीर्णकेशप्राञ्जलिपराङ्मावृत्तानामार्या वधं परिचक्षते ॥ १२ ॥

न्यस्तायुधः त्यक्तयुधः । प्रकीर्णकेशः केशानपि नियन्तुमक्षमः । प्राञ्जलिः कृताञ्जलिः । पराङ्मावृत्तः पराङ्मुखः । सर्व एते भोलाः । एतेषां युद्धे वधमार्या-स्तन्तो गर्हन्ते । परिगणनादन्येषां वधे न दोषः । तथा च गौतमः—“न दोषो हिंसायामाह्व’ इति । न्यस्तायुधः प्रकीर्णकेशः इति विसर्जनीयं केचित्पठन्ति । सोऽपपाठः । पराङ्मावृत्त इति हकाररछान्दसः ॥ १२ ॥

अतु०—बिन्दोने हथियार डाल दिये हो, जो अस्तव्यस्त केशों के साथ दोनो

हाय बौद्धकर दया की मील मांगते हैं। अथवा जो युद्धक्षेत्र से डरकर भाग रहे हों, उनके बंध का आयों ने निषेध किया है ॥ १२ ॥

शास्त्रैरधिगतानामिन्द्रियदोर्वल्याद्विप्रतिपन्नानां शास्ता निर्वेषमुप-
दिशेद्यथाकर्म यथोक्तम् ॥ १३ ॥

यथाशास्त्रं गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृताः शास्त्रैरधिगताः तेषामिन्द्रि-
यदोर्वल्यात् अजितेन्द्रियतया विप्रतिपन्नानां स्वकर्मतश्च्युतानां निषिद्धेषु च
प्रवृत्तानाम् । शास्ता शासिता आचार्यादिः । निर्वेषं प्रायश्चित्तमुपदिशेत् । यथा-
कर्म कर्मानुरूपम् । यथोक्त धर्मशास्त्रेषु ॥ १३ ॥

अनु०—शास्त्रों के अनुसार संस्कार से किन्तु इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण
अपने कर्म से प्रष्ट हो जाने वाले व्यक्तियों के लिए आचार्य आदि उपदेशक उनके
कर्म के अनुसार तथा शास्त्र के विधान के आधार पर प्रायश्चित्त का निर्देश
करें ॥ १३ ॥

तस्य चेच्छास्त्रमतिप्रवर्तन राजानं गमयेत् ॥ १४ ॥

तस्य चेच्छासितुः शास्त्रं शासनं अतिप्रवर्तेन् न तत्र तिष्ठेयुः राजानं गम-
येत्—एवमसौ करोतीति ॥ १४ ॥

अनु०—यदि ये व्यक्ति उपदेश देने वाले आचार्य के वचनों का पालन न करें
तो उन्हें राजा के समीप पहुँचावे ॥ १४ ॥

राजा पुरोहितं धर्मार्थंकुशलम् ॥ १५ ॥

स राजा धर्मशास्त्रेष्वर्थशास्त्रेषु कुशलं च पुरोहितं गमयेत्—विनोयताम-
साविति ॥ १५ ॥

अनु०—राजा उन्हें अपने पुरोहित के समीप भेजे, जो धर्मों का अर्थ समझने
में दक्ष हो ॥ १५ ॥

स ब्राह्मणानियुञ्ज्यात् ॥ १६ ॥

स पुरोहितः ब्राह्मणाद्भेदतिक्रमणकारिणः प्रापिताः तान्नियुञ्ज्यात् अनुरु-
पेषु प्रायश्चित्तेषु नियुञ्जेति ॥ १६ ॥

अनु०—यदि नियम का अतिक्रमण करते वाले ब्राह्मण हों, तो पुरोहित उनके
लिए प्रायश्चित्त का निर्देश करे ॥ १६ ॥

अथ यदि ते तत्रापि न तिष्ठेयुः, तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

वलविरोपेण' वधदास्यवर्जं नियमैरुपशोपयेत् ॥ १७ ॥

वतत्ताम्रियमैरुपवासादिभिरुपशोषयेत् । बलविशेषेण बलानुरूपम् । वध-
दास्यवर्जं वधन्ताडनादि, वधं दास्यं च वर्जयित्वा सर्वमन्यत् वधयनादिकं
बलानुरूपं कारयेत् याचते मन्येरन् चरेत् प्रायश्चित्तमिति ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु भी वे धर्म के मार्ग पर न आवें तो उनकी शक्ति के अनुसार
उन्हें उपवास आदि नियमों से पीड़ित करे, किन्तु वध न करे और न दास का
कर्म करावे ॥ १७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्ममूत्र उल्लखोपेते द्वितीयप्रश्ने दशमो कण्डिका ॥ १० ॥

एवं ब्राह्मणविषये उक्तम् । इतरेयामाह—

इतरेषा वर्णानामा प्राणविप्रयोगात् समवेक्ष्य तेषां कर्माणि राजा
दण्डं प्रणयेत् ॥ १ ॥

इतरेषां ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां वर्णानां राजा पुरोहितोक्तं दण्डं स्वयमेव प्रण-
येत् तेषां कर्माणि समवेक्ष्य तदनुसूपमा प्राणविप्रयोगात् । अभिविधावाकारः ॥

अनु०—यदि अपराधी ब्राह्मण वर्ण के व्यतिरिक्त अन्य वर्ण का हो, तो राजा कर्म
के अनुसार पुरोहित द्वारा बताया गया दण्ड स्वयं ही देवे और मृत्यु का दण्ड भी दे
सकता है ॥ १ ॥

न च सन्देहे दण्डं कुर्यात् ॥ २ ॥

अपराधसन्देहे राजा दण्डं न कुर्यात् ॥ २ ॥

अनु०—किन्तु सन्देह होने पर राजा दण्ड न दे ॥ २ ॥

किन्तु—

सुविचितं विचित्र्या देवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यत ॥ ३ ॥

आ देवप्रदनेभ्यः साक्षिप्रश्नादिभिः शपथान्ते, सुविचितं यथा भवति
तथा विचित्र्य निरूप्य । राजा दण्डाय प्रतिपद्येत उपक्रमेत ॥ ३ ॥

अनु०—किन्तु साक्षियों के आधार पर, प्रश्न करके तथा शपथ दिलाकर राजा
असराय पर विचार कर दण्ड दे ॥ ३ ॥

एवं कुर्वतः पल्लभाह—

एवंवृत्तां राजोभौ लोकान्भियजयति ॥ ४ ॥

एवंभूतं वृत्ं यस्य स एवंवृत्तः । अत्र मनुः—

“अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।

अयशो महद्वाप्नोति त्रेत्यं स्वर्गाच्च हीयते ॥” इति ॥ ४ ॥

अनु०— इस प्रकार कर्तव्य करने वाला राबा दोनों लोकों को प्राप्त करता है ॥४॥
गच्छतां प्रतिगच्छतां च पथि समावाये केन कस्मै पन्था देय इत्यत आह—

राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनाऽऽसेत्स्य ॥ ५ ॥

राजा अभिषिक्तः । स यदि ब्राह्मणेन समेतो न भवति, तदा तस्य पन्था दातव्यः । क्षत्रियैरप्यनभिषिक्तैः एतदर्थमेव चेदं वचनम् । अन्यत्र 'वर्णव्यापसां चै' (२.११.८) ति वक्ष्यमाणेनैव सिद्धम् ॥ ५ ॥

अनु०— यदि ब्राह्मण मार्ग पर न आता हो तो वह मार्ग राबा का होता है (अर्थात् राबा केवल ब्राह्मण के लिए मार्ग छोड़ता है, दूसरे सभी राबा के उसी मार्ग पर आने पर उस मार्ग के किनारे इट जाते हैं ॥ ५ ॥

समेस्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ ६ ॥

आपदि शिव्यभूतब्राह्मणविषयमिदम् । शिव्यभूतेनाऽपि ब्राह्मणेन समेत्य सस्यैव राज्ञा पन्था देय इति ॥ ६ ॥

अनु०— किन्तु यदि मार्ग में ब्राह्मण आता हो तो वह मार्ग ब्राह्मण का हो होता है ॥ ६ ॥

'यानस्य भाराभिनिहितस्याऽऽतुरस्य स्त्रिया इति सर्वैर्दातव्यः' ॥ ७ ॥

यानं शकटादि । भाराभिनिहितो भाराक्रान्तः । आतुरो व्याधितः । स्त्रिया यथाः कस्याश्चिदपि । एतेभ्यस्सर्वैरेव वर्णैः पन्था दातव्यः । इतिशब्दात् स्थ विरवाल्कलकृशादिभ्यश्च ॥ ७ ॥

अनु०— बीसषाले यान, रोगी, स्त्री के लिए (तथा वृद्ध, दुर्बल, बाल के लिए) सभी वर्णों के लोग रास्ता छोड़ दें ॥ ७ ॥

वर्णज्यायसां चेतैरेवर्णैः ॥ ८ ॥

वर्णेनोत्कृष्टा वर्णज्यायांसः । तेषां चेतैरस्पष्टैर्वर्णैर्ब्राह्मणैश्च दातव्यः ॥ ८ ॥

अनु०— दूसरे वर्णों के लोग अपने से भेद वर्ण के व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़े ॥ ८

अशिष्टपतितमत्तोन्मत्तानामात्मस्वस्त्ययनार्थेन सर्वैरेव दातव्यः ॥ ९ ॥

अशिष्टो मूर्खः । अन्ये प्रसिद्धाः । एतेषां सर्वैरेयंजातीयैरुत्कृष्टैरस्पष्टैर्वर्णैर्ब्राह्मणैश्च । आत्मस्यस्त्ययनार्थेन स्वस्त्ययनमात्मव्राणम् । तेन प्रयोजनेन तदर्थम्,

१. रदस्य भारा इति ष० पु०

२. अन्यस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः स्थियः पन्था भारवशस्य पन्थाः । राशः पन्था ब्राह्मणेनाऽऽसेत्स्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः ॥ इति महाभारते वनपर्वणि ।

न त्वदृष्टार्थमिति । अत्र कौटिल्येन देयस्य पथः प्रमाणमुक्तम्—“पञ्चारत्नी रथ-
पथश्चत्वारो हस्तिपथो द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्याणा’मिति ॥ ९ ॥

अनु०—सूत्रं, पतित, शराबी, पागल के लिए अपने ही कुशल के हित सभी
व्यक्ति मार्ग छोड़ दें ॥ ९ ॥

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १० ॥

धर्मचर्यया स्वधर्मानुष्ठानेन जघन्यो वर्णः शूद्रादिः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते
वैश्यादिकं प्राप्नोति । जातिपरिवृत्तौ जन्मनः परिवर्तने । शूद्रो वैश्यो जायते ।
तत्रापि स्वधर्मनिष्ठः क्षत्रियो जायते । तत्रापि स्वधर्मपरो ब्राह्मण इति । एवं
क्षत्रियवैश्ययोरपि द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥

अनु०—अपने धर्म का सतत पालन करने पर निम्न वर्ण के व्यक्ति (शूद्र आदि)
उत्तरोत्तर अगले जन्मों में अपने वर्ण की अपेक्षा श्रेष्ठ वर्ण में जन्म प्राप्त करते हैं और
इस प्रकार उनकी जाति का परिवर्तन होता है ॥ १० ॥

अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जाति-
परिवृत्तौ । ११ ॥

पूर्वेण गम् । महापातक्यतिरिक्ताधर्मानुष्ठानविषयमेतत् । महापातकेषु
‘तेनोऽभिशास्त’ (२२६) इत्यादिना नीचजातिप्राप्तेरुत्स्वात् ॥ ११ ॥

अनु०—अधर्म का आचरण करने पर श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति अगले जन्म में उत्तरो-
त्तर अपने से हीन वर्ण में उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनकी जाति का परिवर्तन
होता है ॥ ११ ॥

धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽप्यां कुर्वीत ॥ १२ ॥

श्रोतेषु गार्होपु स्मार्तेषु च कर्मसु श्रद्धा शक्तिश्च धर्मसम्पत्तिः । प्रजासम्पत्तिः
पुत्रवस्त्वम् । एवंभूते दारे सति नान्याम् । ‘दारे’ इति प्रकृते अन्यामिति स्त्रीलि-
ङ्गनिर्देशाद्द्वारार्थाङ्गार्यामिति गम्यते । नान्यां भार्यां कुर्वीत नोऽदृष्टेत् ॥ १२ ॥

अनु०—यदि पत्नी (श्रौत, शूद्र, स्पर्श) धर्मों में श्रद्धा रखने वाली तथा पुत्र
उत्पन्न करने में नक्षम हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए ॥ १२ ॥

अन्यतराभावे कार्यो प्रागग्न्याधेयात् ॥ १३ ॥

धर्मप्रजयोरन्यतरस्याऽभावे कार्यो उद्गाहा । तत्रापि प्रागग्न्याधेयान् नोर्ध्व-
माधानात् । एतद्धर्ममेवेदं वचनम् । उभयसम्पत्तौ न कार्येत्युक्ते अन्यतराभावे

१. कौ० अ० २. ४-२२. ‘पञ्चारत्नय’ इति अर्धशास्त्रपुस्तकेषु मुद्रितेषु । परन्तु
पञ्चारत्नः इत्येवाऽनुवागे ग्रन्थान्तरेष्वपि ।

कार्यत्वस्यांशस्य प्राप्तत्वात् । ददा चाऽन्यतराभावे कार्यो तदा का शङ्का उभयाभावे कार्येति ॥ १३ ॥

अनु०—यदि पत्नी इन दोनों में किसी एक के सम्पत्तन में अस्मर्य होवे, वो अग्निरोष की अग्नि प्रवृत्त करने से पहले ही वह दूसरी पत्नी ग्रहण करे ॥ १३ ॥
प्रागन्याधेयादित्यत्र हेतुः—

श्राधाने हि सती कर्मभिस्संबध्यते येषामेतदङ्गम् ॥ १४ ॥

हि यस्मात् आधाने सती विद्यमाना सहान्विता कर्मभिरसम्बध्यते अधिक्रियते । कैः ? येषामग्निहोत्रादीनामेतद्दाधानमङ्गमुपकारकम् । तैः । अत्र 'दारे सती'ति वचनात् मृते तस्मिन्प्रागूर्ध्वं वाऽऽधानात् सत्यामपि पुत्रसम्पत्तौ धर्मसम्पत्त्यर्थं दारग्रहणं भवत्येव । तथा च मनुः—

२४ "भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीन्त्यकर्मणि ।

पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥" इति ।

याज्ञवल्क्योऽपि—

२५ "आहरेद्विधिवदारनग्नीध्रैर्वाऽविलम्बयन् ।" इति ।

न हि वाचनिकेऽर्थे युक्तयः क्कमन्ते । तेनेतत्र चोदनीयम्-यजमानः पूवमन्वारम्भणीयया संस्कृतो न तस्यायं संस्कारः पुनरापादयितुं शक्यः । धा च भार्या आधानात्परमूढा सा च पूर्वमसंस्कृता, न तस्या दर्शपूर्णमासादिव्यधिकारः । स कथं तथा तैर्यदुमर्हतीति । अन्वारम्भणीयान्यथ संस्कृतं यदि संयोगवदुभयनिष्ठः तदा भार्यानाशे नश्यतीति तस्य पुनस्संस्कारोऽपि नाऽनुपपन्नः । यानि च नाऽन्वारम्भणीयामपेक्ष्यन्ते स्मार्तानि गार्ह्याणि च तैरधिकारस्तस्याऽप्यविरुद्धः ।

ननु च प्रागन्याधानात् कर्मभिरसम्बध्यते गार्हस्मावैथ, तत्किमुच्यते । आधाने हि सती कर्मभिरसम्बध्यत इति ? सत्यम्, अस्मादेव च हेतुनिर्देशान्दवसीयते—प्रागाधानात् सत्यामपि धर्मसम्पत्तौ प्रजासम्पत्तौ च रागान्यस्य कदाचिदारग्रहणे नाऽतीव दोष इति । अथ यस्याहितान्तेभार्या सत्येव कर्मण्यथ-

१. आधानस्याऽनारम्याधीतत्वात् कृत्वद्भ्रत्वाभावेत्यथ पूर्वदंने तृतीयाध्याये स्थपितत्वात् अथाङ्गपदमुपकारकरतया विवृणोति । सम्भवति हि स्वनिपादादवनीयाद्यग्निस्मर्पणद्वाराऽऽधानमग्निहोत्रादिक्रान्नामुपकारकम् ॥

२. म० स्मृ० ५. १६८

३. या० स्मृ० १. ८६ () एतत्पु० द्वांगवती भागो नारित प० ४० पुस्तक्योः-

इधाना अगता वा भवति पुत्राश्च मृता अनुत्पन्ना वा तस्य कथम् ? । यद्येषा युक्तिः 'धर्मप्रजासम्पन्न' इति कर्मभिरसम्बध्यत इति च, तदा कृतव्यो विवाहः । (न च 'प्रागन्याधेया' द्विरस्य विरोधः । अन्यतराभावे कार्यत्वस्यैव स शेषः । न पुनरुभयाभावे कार्यत्वस्य । भारद्वाजसूत्रे तु यद्यप्यविशेषेणाऽहिताग्नेदौरानुज्ञा प्रतीयते—'अथ यद्याहिताग्निः पुनर्दारिक्रियां कुर्वति यद्यग्नीध्रोत्सृजेत् कौत्सिका-स्तम्पथेरेन तस्य पुनरन्याधेयं कुर्वतियाश्सरथ्यः, पुनराधनमित्याहखनः, पुनरन्याधेयमित्यौडुलोमि,रिति । तथापि तस्याप्ययमेव विषयः ॥ १४ ॥

अनु०—न्यौक अग्निहोय को अग्नि के आधान के समय बी पत्नी रहती है वह उन धार्मिक कर्मों से संबद्ध हो जाती है बिनका अग अग्निहोत्र अग्नि का आधान कर्म होता है ॥ १४ ॥

सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत् ॥ १५ ॥

कन्यागोत्रसेव गोत्रं यस्य(तस्मै कन्या न देया । यथा-हारीताय हारीतीं, वास्त्याय वात्सीमित्यादि ॥ १५ ॥

अनु०—अपने ही गोत्र वाले पुरुष से अपनी पुत्री का विवाह न करे ॥१५॥

मातुश्च योनिस्त्वन्धेभ्यः ॥ १६ ॥

मातुर्योनिस्त्वन्धः कन्या मातुलादयः । चकारात् पितुरन्वेवम् । तेभ्यः असगोत्रेभ्योऽपि न देवा कन्या । अत्र मनुः—

'असपिण्डा च या मातुस्सगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मण्यमैथुनी ॥

व्यासः—

^१ःत्नात्वा समुद्रहेत्वन्यां सर्वाणां लक्षणान्विताम् ।

यवोयसीं भ्रातृमतीमसगोत्रां प्रयन्तः ॥

मातुस्सगोत्रामप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि ।

जन्मनाम्नोरधिधाने नोद्भेदविविशङ्कितः ॥

मातुस्सपिण्डा यत्नेन वर्जनीया द्विजातिभिः ॥ इति ।'

१. म ३ ५.

२. दारकर्मण्यमैथुनी इत्येव मेधातिथ्यादिभिः पाठोऽङ्गीकृतः । कुर्यदकंभद्वल्यु 'कर्मणि मैथुने' इति ।

३. एतदङ्गीकृतानि वचनानि तेषु तेषु मुद्रितपुस्तकेषु नैवोपलभ्यन्ते ।

सुमन्तुः—

‘पितृपत्न्यरसर्वा मातरस्तद्भ्रातरौ मातुल्याः तत्सुता मातुलसुतास्तस्मात्ता नोपयन्तव्या’ इति ॥ १६ ॥

अनु०—अथवा एसे पुत्र को भी कन्या न प्रदान करे जो मातृ पक्षा से (छः पीढ़ी के भीतर) संबद्ध हो अथवा पिता के पक्षा से संबद्ध हो ॥ १६ ॥

टि०—हरदत्त ने अपनी व्याख्या में मनु, व्यास, गौतम, शङ्ख, बल्लिष्ठ, शरीर, पैठीनसि, याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद, शांतातप, बौधायन और सुमन्तु के विचारों को उद्धृत किया है ॥१६॥

ब्राह्मे विवाहे बन्धुशीलक्षणसम्पन्नश्रुतारोग्याणि वृष्वा प्रजां सहृत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेच्छक्तिविषयेणाऽलकृत्य ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा दृष्टो ब्राह्मः । तस्मिन् विवाहे वरस्य कन्यादोम् वृष्वा परोक्ष्य प्रजां दुहितरं सहृत्वकर्मभ्यः सहकृतव्यानि यानि कर्माणि तेभ्यः, तानि कर्तुम्, प्रतिपादयेत् दद्यात् । शक्तिविषयेण विभक्तिप्रतिरूपोऽयं निपातो यथाशक्तोत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः । यथाशक्त्यलकृत्य दद्यादित्येष ब्राह्मो विवाहः । प्रजासहृत्वकर्मभ्यः इति पाठे प्रजार्थं सहृत्वकर्मार्थं चेति ॥ १७ ॥

अनु०—ब्राह्मविवाह में वर के कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या, स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा की उत्पत्ति तथा एक साथ धर्म धर्म करने के प्रयोजन से वन्या प्रदान करे ॥ १७ ॥

आपं दुहितुमते मिथुनौ गावौ देवौ ॥ १८ ॥

ऋषिभिर्दृष्टे विवाहे मिथुनौ गावौ श्लोगवो पुंगवश्च दुहितुमते देवौ । एष आपर्षः ॥ १८ ॥

अनु०—आर्षविवाह में वर कन्या के पिता को दो गौ (गाय तथा बेल) प्रदान करे १८॥

देवे यज्ञतन्त्र ऋत्विजे प्रतिपादयेत् ॥ १९ ॥

देवेर्दृष्टे विवाहे यज्ञतन्त्रे वितते ऋत्विजे कर्म कुर्वते कन्यां दद्यात् । एष देवो विवाहः ॥ १९ ॥

अनु०—देव विवाह में पिता कन्या को ऋषिों ऐसे ऋत्विज्को प्रदान करे जो भोतयज्ञ करा रहा हो ॥१९॥

मिथः कामास्तावर्तते स गान्धर्वः ॥ २० ॥

यत्र कन्यावरौ रहसि कामात् मिथः परस्परं रागात् सांवर्तते मिथुनी भवतः स गान्धर्वो विवाहः । समो दीर्घः पूर्ववत् । अत्र संयोगोत्तरकाले विवाह-संस्कारः कर्तव्यः ॥ २० ॥

अनु०—जब कन्या और वर परस्पर प्रेम से संयोग करते हैं तो वह गान्धर्व विवाह होता है ॥२०॥

इत्यापरतम्यधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकादशी कण्डिका ॥ १४ ॥

शक्तिविषयेण द्रव्याणि दत्त्वाऽऽवहेरन् स आसुरः ॥ १ ॥

यत्र विवाहे कन्यावते यथाशक्ति द्रव्याणि दत्त्वाऽऽवहेरन् कन्यां स आसुरः । 'चित्तेनाऽऽनतिबीमतामासुर' इति गौतमः । तेन कन्यायै गृहक्षेत्रा-भरणादिदानेन विवाहो नाऽऽसुरः ॥ १ ॥

अनु०—जब वर कन्या के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धन प्रदान कर विवाह करे तो वह आसुर विवाह कहलाता है ॥ १ ॥

दुहितृमतः प्रोर्थायत्वाऽऽवहेरन् स राक्षसः ॥ २ ॥

दुहितृमत कन्यावतः पित्रादीन् प्रोधयित्वा प्रमथ्य यत्राऽऽवहेरन् स राक्ष-सो विवाहः ।

^{१६}इत्या भिक्षया च शीर्षाणि रुदती रुदद्भ्यो हरेत् स राक्षस' इत्याश्वला-यनः । अत्रापि विवाहसंस्कारः कर्तव्यः । द्वौ चाऽपरो विवाहौ शास्त्रान्तरं पक्षौ । तत्राऽऽश्वलायनः—^{१७}रुह धर्मं चरतमिति प्राजापत्यः । सुप्तं प्रमत्तां चाऽपहरेत् स पंशाच' इति । ताविद् पृथङ्मोक्षौ ब्राह्मराक्षसयोस्तन्तभावादिति ॥ २ ॥

अनु०—कन्या पक्ष बालों को परास्त करके यदि वर कन्या का अपहरण करे तो वह राक्षस विवाह कहलाता है ॥ २ ॥

तेषां त्रय आद्याः प्रशस्ताः पूर्वं पूर्वं श्रेयान् ॥ ३ ॥

तेषां विवाहानां मध्ये आद्यान्वयो ब्राह्मार्पेद्या प्रशस्ताः । तत्रापि पूर्वः पूर्वो-ऽविशयेन प्रशस्त इति ॥ ३ ॥

अनु०—इनमें से आरम्भ के तीन प्रकार के विवाह (ब्राह्म, आर्ष, देव) प्रशस्त होते हैं और उनमें भी पूर्ववर्ती अपने बाद वाले से अधिक प्रशस्त होता है । (देव विवाह से आर्ष और आर्ष से मी ब्राह्म विवाह उत्तम होता है । ३ ॥

यथायुक्तो विवाहस्तथा युक्ता प्रजा भवति ॥ ४ ॥

प्रशस्ते विवाहे जाता प्रजाऽपि प्रशस्ता भवति । निन्दिते निन्दिता तत्र मनुः—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्विधानुपूर्वशः ।

ब्रह्मवर्चसिनः पुत्रा जायन्ते शिशुसम्मताः ॥

रूपसत्त्वगुणापेता धनवन्तो यशस्विनः ।

पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शवं समाः ॥

इत्तरेषु च शिशुेषु नृशंसानृत्ववादिनः ।

जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मसमुच्छ्रिताः ॥

प्रजापत्येन सह ब्राह्माद्याश्चत्वारो ब्राह्मणस्य । गान्धर्वराक्षसो शत्रियस्य । आसुरं तु वैश्यगृह्योः । पैनाचो न कस्यचिदपि ॥ ४ ॥

अनु०—सन्तान के गुण भी विवाह के गुण के अनुसार ही होते हैं ॥ ४ ॥

पाणिसमूहं ब्राह्मणस्य नाऽप्रोक्षितमभितिष्ठेत् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणस्य पाणिना समूहनुपलितं सम्यष्टं वा भूप्रदेशमप्रोक्षितं ऽनाभितिष्ठेत् नाधितिष्ठेत् । प्रोक्ष्यैवाऽधितिष्ठेदिति ॥ ५ ॥

अनु०—ब्राह्मण के द्वारा हाथ से छुए गये स्थान पर जल छिड़के बिना न बैठे ॥ ५ ॥

अग्निं ब्राह्मणं चाऽन्तरेण नाऽतिक्रामेत् ॥ ६ ॥

अग्नेर्ब्राह्मणस्य च मध्ये न गच्छेत् ॥ ६ ॥

अनु०—अग्नि और ब्राह्मण के बीच न जाये ॥ ६ ॥

ब्राह्मणांश्च ॥ ७ ॥

अन्तरेण नाऽतिक्रामेदित्येव । ब्राह्मणानां च मध्ये न गच्छेत् ॥ ७ ॥

अनु०—ब्राह्मणों के बीच से होकर न जाये ॥ ७ ॥

अनुज्ञाप्य वाऽतिक्रामेत् ॥ ८ ॥

स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अनु०—किसी अनुमति प्राप्त करके उनके बीच से होकर जाया जा सकता है ॥ ८ ॥

अग्निमप्यत्र न युगपद्वारयीत ॥ ९ ॥

अग्निमुद्वेक्ष्य न युगपद्वारयेत् ॥ ९ ॥

अनु०—एक ही साथ अग्नि और जल लेकर न चले ॥ ९ ॥

नानाप्रीनां च सन्निपातं वर्जयेत् ॥ १० ॥

पृथगवस्थितानामप्रीनानामकेत्र समावपनं वर्जयेत् न कुर्यात् । अगनावग्निं न प्रक्षिपेदित्यन्वे' ॥ १० ॥

अनु०—भिन्न-भिन्न स्थानों पर बलती हुई अग्नियों को एक स्थान पर इकट्ठा न करे ॥ १० ॥

प्रतिमुखमग्निमाल्हियमाणं नाऽप्रतिष्ठितं भूमौ प्रदक्षिणीकुर्यात् ॥ ११ ॥

यदाऽस्य गच्छतः प्रतिमुखमग्निराह्वियते तदा न तं प्रदक्षिणीकुर्यात् स चेद्भूमौ प्रतिष्ठितो न भवति । प्रतिष्ठिते त्वग्नौ दृष्टे प्रदक्षिणीकुर्यादिति ॥ ११ ॥

अनु०—जाते समय यदि आगे से अग्नि लाई जा रही हो, तो जब तक वह अग्नि भूमि पर न रख दी जाय तब तक उसको दाहिने हाथ की ओर करके न चले ॥ ११ ॥

पृष्ठश्चाऽऽत्मनः पाणी न संश्लेषयेत् ॥ १२ ॥

स्वयं पृष्ठभागे स्वपाणिद्वयं न संश्लेषयेन्न बध्नीयात् ॥ १२ ॥

अनु०—पीठ की ओर अपने दोनों हाथों को जोड़कर न रखे ॥ १२ ॥

स्वपन्नभिनिम्नक्तो नाश्वत्वात् वाग्यतो रात्रिमासीत श्वोभूत उदक-
मुस्पृश्य वाचं विसृजेत् ॥ १५ ॥

२३ सुप्ते यस्मिन्नरातमेति सुप्ते यस्मिन्दुदेति च ।

अंशुमानभिनिम्नक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ॥

स्वपन्नभिनिम्नक्तो नाश्वानमुञ्जानस्तूष्णीं भूतो रात्रिं सर्वांमासीत न शयोत ।
अथाऽपरेद्यः उदकमुपस्पृश्य प्रातः स्नात्वा वाचं विसृजेत् । अयमन्य निर्वेषः ॥

अनु०—यदि सोते रहने पर घूर्य अस्त हो जाय तो बिना भोजन किए हुए,
मीन रहकर बैठे हुए ही रात्रि व्यतीत करे । दूसरे दिन स्नान करे और फिर स्नान
कर बोले ॥ १३ ॥

स्वपन्नभ्युदितो नाश्वान्वाग्यतोऽह्स्तिष्ठेत् ॥ १४ ॥

पूर्वेण गतम् । 'उदकमुपस्पृश्य वाचं विसृजेदिति चात्राऽपेक्ष्यते । तत्राऽ-
स्तमिते स्नानप्रतिषेधात् सायमेव स्नात्वा वाचं विसृज्य सन्ध्यामुपासीत ॥ १४ ॥

१. एतदनन्तर-विनाबचनम् । आवापवचने सति कुर्यात् । इत्यधिकः पाठः घ० पु०

२. अमरको० ब्र० सुयोदयकाले यः स्वपिति सोऽभ्युदितः । सूर्यास्तकाले यः
स्वपिति सोऽभिनिम्नक्तः ।

अनु०—यदि सोते रहने पर ही सूर्योदय हो जाय तो उस दिन उपवास करते हुए सौन रहकर दिनभर खड़ा रहे ॥ १४ ॥

आत्मितोः प्राणमायच्छेदित्येके ॥ १५ ॥

यावद्द्वानां ग्लानिर्भवति तावत्प्राणमायच्छेत् प्राणवायुमाह्वय धारयेत् । प्राणायामं कुर्यादित्येके मन्यन्ते । शक्त्यपेक्षो विकल्पः ।

तत्र मनुः—

सव्याहृतौ सप्राणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामस उच्यते ॥' इति ।

एवमावर्तयेद्यावद्ग्लानिः ॥ १५ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि उस समय तक प्राणायाम करे जब तक यकान न हो जाय ॥ १५ ॥

स्वप्नं वा पापकं दृष्ट्वा ॥ १६ ॥

पापकस्वप्नो दुस्वप्नः सर्कटास्कन्दनादिः तं च दृष्ट्वा ॥ १६ ॥

अनु०—बुरा स्वप्न देखने पर भी उस समय तक प्राणायाम करे जब तक श्रंग यक न जाय ॥ १६ ॥

अर्थं वा सिसाधयिपन् ॥ १७ ॥

अर्थः प्रयोजनम् । तच्च दृष्टमदृष्टं वा साधयितुमिच्छन् ॥ १७ ॥

अनु०—अथवा किसी प्रयोजन को सिद्ध करने की इच्छा हो तब भी उस समय तक प्राणायाम करे जब तक क्लान्त न हो जाय ॥ १७ ॥

नियमातिक्रमे चाऽन्यस्मिन् ॥ १८ ॥

नियमानां 'उदङ्मुखो मूत्रं कुर्यादि' (१. ३१. १) त्वेवमादीनामतिक्रमे च आत्मितोः प्राणमायच्छेदिति सर्वत्र शेषः ॥ १८ ॥

अनु०—अथवा किसी अन्य नियम का अतिक्रमण करने पर भी उस समय तक प्राणायाम करे जब तक यह यक न जाय ॥ १८ ॥

दोषफलसंशये न तत् कर्तव्यम् ॥ १९ ॥

यस्मिन् कर्मणि कृते पक्षे दोषः फलं सम्भाव्यते न तत् कुर्यात्, यथा समये देशे एकाकिनो गमनमिति ॥ १९ ॥

१. सर्वेष्वदर्थपुस्तकेषु मनुवचनानेनैवोक्तमित्यस्मिन् । न कुत्रापि नु मुद्रित मनुस्मृतिपुस्तकेषु एवम्व्यते । नौपायनपरमं पक्षे ४. १. २८ तुल्यम्व्यते ।

२. सिसाधयिषुः, इति० प० ३०

अनु०—यदि किसी कर्म के फल दोषपूर्ण होने की आशंका हो तो उस कर्म को नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

एवमध्यायानध्याये ॥ २० ॥

संशय इत्युपसमस्तमध्यपेक्ष्यते । अध्यायोऽनध्याय इति संशयेऽप्येवं न तत् कर्तव्यमिति । 'सन्धाधनुस्तन्नि' (१.९.२०) इत्युदाहरणम् । पूर्वस्यैवाऽयं प्रश्नः ॥ २० ॥

अनु०—यदि अध्ययन करने और न करने के विषय में शङ्का हो तो भी उसे नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥

न संशये प्रत्यक्षवद्व्रयात् ॥ २१ ॥

संशयितमर्थमात्मनोऽज्ञानपरिहाराय प्रत्यक्षवत् निश्चितवन्न द्रयात् ॥

अनु०—किसी संशय युक्त विषय को प्रत्यक्ष के समान स्पष्ट नहीं कहना चाहिए ॥ २१ ॥

अभिनिक्रान्म्युदितकुन्निखस्यावदाग्रदिधिषुदिधिपूपतिपर्याहितपरीष्टपरिवित्तपरिवित्तपरिविदानेषु चोत्तरोत्तरस्मिन्नशुचिकरनिर्वेषो गरीयान् गरीयान् ॥ २२ ॥

आद्यौ द्वौ गतौ । कुन्लो कृष्णनखः । श्यावा दन्ता यस्य स श्यावदन् विवर्णदन्तः । 'विभाषा श्यावाशोकाभ्यामि' ति द्वादेशः तस्य नलोप-इछान्त्सः । ज्येष्ठायामनूढार्यां पूर्वं कनीयस्या बोधा अप्रदिधिषुः । पञ्चादित-रस्या बोधा दिधिपूपतिः । ज्येष्ठे अकृताधाने कृताधानः कनिष्ठः पर्याधाता । ज्येष्ठः पर्याहितः । ज्येष्ठे अकृतसोमयागे कृतसोमयागः कनिष्ठः परियग्रा । ज्येष्ठः परीष्टः । अकृताविवाहं ज्येष्ठे कृताविवाहः कनिष्ठः 'परिवेत्तेति प्रसिद्धः । ज्येष्ठः 'परिवित्तः । 'ज्येष्ठस्य भार्यामुपयच्छमानः परिवित्तः । यमिन्नगृहीत-भागे वा कनिष्ठो भागं गृह्णाति स ज्येष्ठः परिवित्तः । कनिष्ठः परिविदानः । चकारः पर्याधातृप्रभृतीनां समुच्चयार्थः । एतेष्वभिनिक्रान्म्युदितेषु यो च उत्तर-स्तस्मिन्स्तिन्द्वादशमासादिरशुचिकरनिर्वेषो यः पूर्वमुक्तः तत्र तत्र गरीयान्

१. पा० सू० ५. ४. ११४

२. सरिवित्त इति प्रसिद्धः इति० ख० ड० च० पुस्तकेष्वपगतः ।

३. परिवित्तः इति ख० च० पुस्तकयो. पाठः । अत्र बोधायनवर्मसूत्रव्याख्या २. १. ३. द्रष्टव्या ।

४. ज्येष्ठे चाग्रहीतभागे कनिष्ठो भागं गृह्णाति स परिविदानः । परिवित्त इत्यप । इत्येव पाठो ५० पुस्तके ।

भवति । पूर्वत्र पूर्वत्र लघीयान् । अभिनिष्ठुक्ताभ्युदितयोरनन्तरोक्तं प्रायश्चित्त-
द्वयमपि विकल्पेन भवति ॥ २२ ॥

अनु०—सूर्यास्त के समय सोने वाले, सूर्योदय के समय सोने वाले, काले माखूनों वाले, काले दौंती वाले, बड़ी बहन के अविवाहिता रहते छोटी बहन से विवाह करने वाले, किसी ऐसी स्त्री से जिसकी छोटी बहन पहले विवाहित हो, विवाह करने वाले, बड़े भाई के श्वश्रु अग्नि प्रस्वलित करने से पहले ही श्वश्रु अग्नि का आधान करने वाले छोटे भाई, ऐसे व्यक्ति का जिसके छोटे भ्राता ने पहले ही पवित्र श्वश्रु अग्नि का आधान किया हो, बड़े भाई के सोमयज्ञ करने से पहले ही सोमयज्ञ करने वाले, जिस व्यक्ति का छोटा भ्राता उससे पहले सोमयज्ञ कर चुका हो, जिस बड़े भाई को अपनी पैतृक सम्पत्ति का अंश अपने छोटे भाई के बाद मिला हो या जिसने छोटे भाई का विवाह हो जाने के बाद विवाह किया हो, जिस छोटे भाई ने अपने बड़े भाई के पहले ही अपना अंश प्राप्त किया हो—इन सभी व्यक्तियों के लिए वे ही प्रायश्चित्त हो जो अपवित्रता के लिए किए जाते हैं और क्रमशः दोषों के लिए उचरोत्तर कठिन प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ २२ ॥

तच्च लिङ्गं चरित्वोद्धार्यमित्येके ॥ २३ ॥

यसिम्ब कौनल्यादिके लिङ्गे यत् प्रायश्चित्तमुक्तं तच्चरित्वा तत कौनल्या-
दिकं लिङ्गमुद्धरेदित्येके मन्यन्ते । अन्यद्वाऽहित्वाग्निभ्य इति स्मृत्यन्तरम् ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने द्वादशी कण्डिका ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ लोगों का मत है कि प्रायश्चित्त कर लेने के बाद प्रायश्चित्त के कारण की दूर कर देना चाहिए ॥ २३ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रधृतौ हरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वलायां
द्वितीयप्रश्ने पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः पटलः

सवर्णापूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तुं गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिस्सम्बन्धः ॥ १ ॥

सवर्णा चाऽसावपूर्वा च शास्त्रविहिता चेति कर्मधारयः । सवर्णा सजातीया, ब्राह्मणतय ब्राह्मणीत्यादि । अपूर्वा । अनन्यपूर्वा अन्यस्मा अदत्ता, न विद्यते पूर्वं पतिरस्या इति । शास्त्रविहिता शास्त्रोक्तेन विवाहसंस्कारेण संस्कृता 'सगोत्राव दुहितरं न प्रयच्छे' (२.११.१५) दित्यादिशास्त्रानुगुणा वा । एवम्भूतायां भार्यायां यथर्तुं गृह्योचेन ऋतुगमनकल्पेन गच्छतो ये पुत्रा जायन्ते तेषां 'स्वकर्म ब्राह्मणस्ये' (२.१०.४) त्यादिना पूर्वमुक्तैः कर्मभिस्सम्बन्धो भवति । (गच्छथ इति धकारोऽपपाठः) ॥ १ ॥

अनु०—समान वर्ण वाली को छोड़कर किसी अन्य पुरुष के अधीन उत्सकी पत्नी के रूप में न रही हो तथा शास्त्रोक्त विधि से बिसका विवाह किया गया हो (अथवा जिसमें शास्त्रोक्त सभी गुण विद्यमान हों) उसका ऋतुकाल के नियम के अनुसार अभिगमन करने वाले पुरुष के पुत्रों को ही (अन्य वर्ण के लिए विहित) कर्म करने का अधिकार है ॥ १ ॥

दायेन चाऽव्यतिक्रमश्चोभयोः ॥ २ ॥

उभयोर्मातापित्रोर्दायेन च तेषां सम्बन्धो भवति अव्यतिक्रमश्च । च इति चेदर्थे । अव्यतिक्रमश्चेत्, यदि ते मातरं पितरं च न व्यतिक्रमेयुः । व्यतिक्रमे तु दायहानिरिति ।

अपर आह—'उभयोरपि दायेन तेषां व्यतिक्रमो न वर्तव्यः । अवश्यं देयो दायस्तेभ्य इति ॥ २ ॥

अनु०—तथा ऐसे ही पुत्र माता और पिता के दाय का अथवाही हो सकते हैं ।

टि०—अन्य व्याख्याकार के अनुसार माता पिता ऐसे पुत्रों को दाय विभाग के समय उपेक्षित न करें, अवश्य अंश प्रदान करें ॥ २ ॥

पूर्ववर्षायामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः ॥ ३ ॥

अन्येन पाणिग्रहणेन तद्वती पूर्ववती । असंस्कृता विवाहसंस्काररहिता । वर्णान्तरं ब्राह्मणोः क्षत्रियादिः । तेषु पूर्ववत्यादिषु मैथुने सति दोषो भवति । कस्य ? तयोरेव मिथुनीभवतोः ॥ ३ ॥

अनु०—दूसरे व्यक्ति से विवाहित, विवाह संस्काररहित, भिन्न वर्ण वाली स्त्रियो से मैथुन करने पर दोनों को ही दोष होता है ॥ ३ ॥

तत्राऽपि दोषवान् पुत्र एव ॥ ४ ॥

तत्रेति सप्तम्याखंलु 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्त' इति । ताभ्यामुभाभ्यामपि पुत्र एवाऽतिशयेन दोषवान् । तत्र पूर्ववत्यामुत्पत्नी कुण्डगोलक्री

“पत्यो जीवति कुण्डस्यान्मृते भर्तारि गोलक' इति ।

असंस्कृतायामुत्पन्नस्य नामान्तरं नास्ति । किं तु दुष्टत्वमेव । वर्णान्तरे तु जात्यन्तरम् । तत्र गौतमः—

‘अतुलोमाः पुत्रनन्तरैकान्तरव्यन्तरासु जलारसवर्णान्वद्योत्र निपाददौष्यन्तपारशवाः । प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवक्षस्तृवैदेहकचण्डाला' इति । एवकारो दुहितृनिवृत्त्यर्थः । तथा च वसिष्ठ—

‘पवितेनोत्पादितः पवितो भवत्यन्यत्र खियारसा हि परगामिनी तामरि-
कथामुपेयादिति । “खीरत्नं दुष्कुलादपी'ति मनुः ॥ ४ ॥

अनु०—उन दोनों के सयोग से उत्पन्न पुत्र दोषयुक्त होता ही है ॥ ४ ॥

पुत्रेभ्यो दायभागं वक्ष्यन् अन्यस्य भार्यायामन्येनोत्पादितः किमुत्पादयितुः ?
अहोरिवत् क्षेत्रिण इति विचारे निर्णयमाह—

उत्पादयितुः पुत्र इति हि ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

अनु०—एक ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है कि पुत्र उत्पन्न करने वाले पुरुष का होता है ॥ ५ ॥

न केवलं ब्राह्मणमेव । वैदिककाथा अप्यत्रोदाहरन्तीत्याह—
अथाप्युदाहरन्ति—

इदानीमेवाहं 'जनकः स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा ।

यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमद्भ्रवन् ।

रेतोवाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने ।

तस्माद्भार्या रक्षन्ति विभ्यन्तः पररेतसः ।

अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबोजानि वाप्सुः ।

जनयितुः पुत्रो भवति साम्प्रयाये मोघं वेत्ता कुर्वते तन्तुमेतमिति ॥ ६ ॥

() कुण्डलान्तर्गतो भागो नास्ति ष० ऊ० पुस्तकयोः ।

१. पा० सू० ५. ३. १४ २ म० स्मृ० ३. १७४

३. गौ० घ० ४. १६-१७, ४. ष० घ० १३. ६. मुद्रितव० घ० कौशेयु

पाठमेदो दृश्यते । ५. य० स्मृ० २. २३८

६. 'जनक' इति सङ्ख्यन्ततया षट्तरं बी० घ० ७. २. ३४-३६

जनयितुः पुत्रः क्षेत्रिणो वेति विवादे पराजितस्य क्षेत्रिणो वचनम् एतावन्तं कालमहं जनको मन्यमानः इदानीमेव खोणामोष्यामि परपुरुषसंसर्गं न सहे । कदा इदानीम् ? यदा यमस्य सादने पितृलोकं जनयितुः पुत्रो भवति पुत्रकृत्यं परलोकगतस्य जनयितुरेव न क्षेत्रिण इत्यनुवचनं धर्मज्ञाः । उक्त एवार्थः क्विञ्चिद्विशेषणोच्यते—रेतोधाः बीजप्रदः पुत्रं नयति पुत्रदत्तं पिण्डादिकमात्मानं नयति प्रापयति । परेत्य मृत्वा । यमसादने धमल्लोके । तस्मात्कारणात् भार्यां रक्षन्ति पररेतसो विभ्यन्तः । विभ्यतः छान्दसो नुम् । अतो श्रूयमव्यप्रमत्ता अवहित्ता भूत्वा एतं तन्तुं प्रजासन्तानं रक्षथ । लोडर्थे लट् । रक्षतेऽर्थः । किमर्थम् ? वः युष्माकम् क्षेत्रे परबीजानि पररेतांसि मा वाप्सुः । व्यत्ययेनाऽयं कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । मा वाप्सत इमानि मा भूवन् । भोग्येऽन् । कथमिति ? (अपर आह—परशब्दाञ्जसो लृच् । परे पुरुषाः वः क्षेत्रे बीजानि मा वाप्सुरिति ।) यस्मात् साम्पराये परलोकं जनयितुरेव पुत्रकृतं भवति वेत्ता परिणता क्षेत्रो तु एतं तन्तुं मीचं निष्कयोजनं कुर्वते आत्मसात्करोति । इतिशब्दो गाथासमाप्तौ । एतच्च क्षेत्रिणोऽनुज्ञामन्तरेण पुत्रोत्पादनविषयम् । यदा तु क्षेत्रं वन्धो रणो वा प्रार्थयते मम क्षेत्रे पुत्रमुत्पादयेति, यदा वा सन्तानक्षये विधवां नियुञ्जते यथा विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे सत्यवती व्यासेन । तदुत्पन्नः पुत्र उभयोरपि पुत्रो भवति—बीजिनः क्षेत्रिणश्च । व्याधुष्यायणश्च स भवति । तथावाचार्य एवाह—

“अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पद्यितः सुतः ।

उभयोरप्यसौ रित्रयो पिण्डदाता च धर्मतः ॥” इति ।

नारदांशपि—

‘व्याधुष्यायणको ददाद्वाभ्यां पिण्डोदके पृथक् ।

रित्रथार्थं समादद्याद्बीजक्षेत्रत्रयतोस्तथा ॥’ इति ॥ ६ ॥

अनु०—इस विशय में विभलिखव गाथा भी उद्धृत का जाती है: अरने को पहले पिता रुमहाकर मै अपनी पत्नियो के साथ दूसरे पुरुष के तसर्ग को सहन नही करता हूँ, क्योकि पितृलोक में जाने पर पुत्र उत्पन्न करने वाले का ही होता है ऐसा कहा गया है मृत्यु के बाद वीर्य देने वाला पिता पुत्र को लेकर यम के घर जाता है, इसलिये भोग दूसरे व्यक्तियों के वीर्य पडने की आशका से पत्नियों की सावधानी से निगरानी करते है ।

() एतदुत्पन्नान्वर्गतो मगः स्वच० पुस्तकयोरेवास्ति । तत्र ‘कथमिति’ इति नास्ति ।

१. ‘भाषाया लब्धा’ इति ख० च० पु० २. व्यास० श्लो० १. ९. ७.

३. यो० स्मृ० २. १३०.

६. नार० स्मृ० १३. ४३

दानग्रहणेन विक्रयोऽपि गृह्यते, त्यागसामान्यात् । क्रयधर्म इति च प्रति-
ग्रहस्याऽपि ग्रहणम् । धर्मग्रहणात् स्वीकारसामान्याच्च । अपत्यस्य दानप्रतिग्रह-
कथविक्रया न कर्तव्याः । द्वादशविधेषु पुत्रेषु दत्तक्रीतयोरपि पुत्रयोर्मन्वादिभिः
पठितत्वात्त्रास्यं सामान्येन प्रतिषेधः । किं तर्हि? ज्येष्ठपुत्रविषयः, एकपुत्रविषयः
स्त्रीविषयो वा । तथा च वसिष्ठः-

‘न ज्येष्ठं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा । न त्वेकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा स
हि सन्तानाय पूर्वेषाम् । न स्त्री पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्राऽनुज्ञानाद्भुतः ।
पुत्रं प्रतिग्रह्णीष्यत् बन्धूनाह्वय राज्ञे निवेद्य निवेशनस्य मध्ये अग्निमुपसमाधाय
सम्परिस्तीर्य व्याहृतीभिर्दुःत्वाऽदूरवान्धवं सन्निहृष्टमेव प्रतिगृह्णीया’ इति ।
विदधजिति च सर्वस्वदाने गवादिवदपत्यं न देयमिति । विक्रयस्तु सर्वत्र
निषिद्धः । तत्र उपपातकेषु याज्ञवल्क्य आह-

‘नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां वैव विक्रयः ।’ इति ।

बह्वृचब्राह्मणेऽपि शुनश्शोपालयाने दृश्यते-‘स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाचे’
त्यादि । पुत्रप्रकरणे अपत्यशब्दोपादानमपि ज्येष्ठपुत्रविषयत्वस्य लिङ्गम् । न पत-
न्यनेनेत्यपत्यमिति ।

ऋणभारिमन् सन्तवत्यमृतत्वं च गच्छति ।

‘पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम् ॥’ इति ॥ १० ॥

अनन् पुत्र को दान दत्ते या दान लेने का अथवा उसे वेचने और खरीदने का
नियम विहित नहीं है ॥ १० ॥

विवाहे दुहितृमते दानं काम्यं धर्मार्थं श्रूयते तस्माद्दुहितृमते-
ऽतिरथं शतं देयं तन्मिथुपाकुर्यादिति तस्यां क्रयशब्दस्स्तुतिमात्रं
धर्मोद्धि सम्बन्ध ॥ ११ ॥

आर्षे विवाहे दुहितृमते दानं क्वचिद्देवे श्रूयते । तस्माद्दुहितृमते रथेनाधिक-
गवां शतं देयम् । तच्च दुहितृमान् मिथुया कुर्यात् । मिथ्या कुर्यात् । ‘मादेवानां
मिथुयाऽकर्मोपधेय’ इति दृश्यते । मिथुया कुर्यादिति कोऽर्थः बरायैव पुनर्दे-
द्यादिति । तदानं काम्यं कामनिमित्तम् । ‘यथा युक्तो विवाहस्तथायुक्ता प्रजा
भवतीति’(२. १०. ४) ऋषितुल्याः पुत्रा यथा स्युरिति तत्रश्च धर्मार्थं न प्रजाधर्म
विक्रयार्थम् । यस्तु तस्यां विवाहक्रियायां ऋणशब्दः क्वचित् स्मृतौ दृश्यते स
संतुतिमात्रम्ः द्रव्यप्रसारसाम्यात् । न मुख्यक्रयत्वप्रतिपादनार्थम् । कुतः? हि

यस्मात् धर्मादेव हेतोः सम्यग्धो दम्पत्योरिति । अपौ दुहितृमते मिथुनौ गावौ देयावित्यत्रान्येष एव न्यायः ।

अत्र मनुः—

‘यासां नाऽऽददत्ते शुलकं ज्ञातयो न स विक्रयः ।

अर्हणं तल्लुमारीणामानुशंस्यं च केवलम् ॥’ इति ।

एतच्च सर्वं दानं क्रयधर्मश्चाऽपत्यस्य न विद्यत’ इत्यस्य व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं कर्तव्यमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

अनु०—विवाह के समय कन्या के पिता को अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए तथा धर्म के पालन के लिए कोई दान देने का नियम मुना जाता है, इसलिये कन्या के पिता को ही गाएँ तथा एक रथ प्रदान करे और कन्या का पिता पुनः उस दान को दर को ही वापस कर दे । ऐसे विवाहों में ‘क्रय’ शब्द का बेल लक्षणिक अर्थ लिया जाता है (क्रय विक्रय नहीं होता), क्यं कि धर्म के पालन के लिए ही (पति-पत्नी का) सम्बन्ध होता है ॥ ११ ॥

अथ दायविभागः—

एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा ॥ १२ ॥

अनु०—अपने ज्येष्ठ पुत्र को कोई एक विशेषधन से सन्तुष्ट करके ॥ १२ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रदने त्रयोदशी कण्डिका ॥ १३ ॥

अथ दायविभागः—

जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमृमत्त पतितं च परिहाप्य ॥ १ ॥

एकेन प्रधानेन वेनचिद्धनेन गवादिना ज्येष्ठं पुत्रं तोषयित्वा दृतं कृत्वा जीवतन्नेव पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् । सममात्मना परस्परं च तेषाम् । सामान्याभिधानात् क्रमागतं स्वयमार्जितं च क्लीबादीन् वर्जयित्वा । क्लीबादिग्रहणं ज्ञात्यन्यादीनामप्युपलक्षणम् । यथाह मनुः—

२ ‘अनंशो क्लीबपतितौ ज्ञात्यन्धर्वाधरी तथा ।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रयाः ॥’ इति ।

अन्धादीनां पुत्रसद्भावे तेऽप्यंशहराः । एवमुन्मत्तपतितौ^३ निवृत्ते निमित्ते

१. म० मृ० ३. ५४ २. ‘अनंशो’ इति ड० पु० म० मृ० ९. २०१

३. वृत्तनिमित्ते क्लीबादयस्तु न भतंभ्याः, इति ड० पु० उन्मत्तपतितौ निवृत्तनिमित्तौ० इति च० पु०

कलीबादयस्तु न भर्तव्याः । अत्र विभागकालः स्मृत्यन्तरवशाद्ग्राह्यः । तत्र नारदः—

“मातुर्निवृत्ते रजसी प्रत्तासु भगिनीषु च ।

निवृत्ते चापि मरणास्पित्युपरतस्थे ॥” इति ।

यद्वा पुत्राणां पृथक्पृथक् धर्मानुष्ठाने शक्तिश्रद्धे भवतः सोऽपि कालः । ‘तस्माद्धर्म्यां पृथक्क्रये’ति^१ दर्शनादिति । ‘जीवन्नि’तिवचनं जीवन्नेवाऽवश्यं पुत्रात् विभजेत् एष धर्म इति प्रतिपादनाय । अन्यथा तदनर्थकम् । अजीवतोऽप्रसङ्गात् । स्मृत्यन्तरेषु स्वयमाजिते पितुरिच्छया विपमविभागो दर्शितः । न स धर्म्य इत्याचार्यस्य पक्षः । भार्याया अचंशो न दर्शितः । आत्मनः एवांशस्तस्या अपीति मन्वते । बक्ष्यति च ‘जायापत्योर्न विभागो विद्यते’ (२. १४. १६) इति ।

केचित्तु पितुर्द्वांशवित्याहुः । ‘द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिते’ति दर्शनात् । अयमप्याचार्यस्य पक्षो न भवति । यथा पुत्राणामेकैक एवांशस्त-भार्याणां तथा पितुरपीति । यद्वा पुत्राणामेवांशसाम्यं आत्मनस्तथाधिक्येऽपि न दोषः ।

तत्र हारीतः—

‘पिता ह्याग्रयणः पुत्रा इतरे ग्रहाः यद्याग्रयणः स्मृत्वेदुपदरयेद्वा इतरेभ्यो

गृह्णीयादिति

विभागादूर्ध्वं पित्रोर्जीविनाभावे पुत्रभागोभ्यो ग्राह्यमित्युक्तं भवति । इति जीवद्विभागः ॥ १ ॥

अनु०—अपत्ने जीवनकाल में ही पुत्रों में दाय का समान विभाजन करे किन्तु नपुंसक, पगल और पातकी पुत्रों को दाय का अंश न देवे ॥ १ ॥

अथ मृते कुटुम्बिनि तद्धनस्य गतिमाह—

पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः ॥ २ ॥

‘पुत्राभावे’ इति वचनात् सत्सु पुत्रेषु व एव गृह्णीयुरविशेषात्समम् । तत्र नारदीये विशेषः—

^२‘यच्छिष्टं प्रीतिदायेभ्यो इत्वारणं पैतृकं च यत् ।

धानृषित्ताद्रिभक्तव्यमृणी स्यादन्यथा पिता ॥’ इति ॥

कात्यायनस्तु—

^३‘आत्रा पितृव्यमानृभ्यां दृदुन्नार्थमूर्णं कृतम् ।

विभागकाले देवं तद्विधियभिरस्वर्गमेव तु ॥ इति ॥

१. नार० स्म० १३. ३ २. म० स्म० ९. १११ वचनात् इति. क० प० पुस्तकयोः

३. ना० स्म० १३. ३२

४. कात्यायनीयस्तुतौ नास्ति.

अत्र याज्ञवल्क्यः—

“पितुरुर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरे’ इति ।
तदत्र नोकं पुत्रैरेव सह वृत्तिरस्या इति ।

तथा च मनुः—

“पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।

पुत्रस्तु स्थविरीभावे न स्त्री स्वातःत्रयमर्हति ॥” इति ।

एवं मातुरप्यभावे तद्धनं भर्तृकुललब्धं स्वयमार्जितं च तत्पुत्रा अप्रत्ताश्च
दुहितरस्समं गृह्णीयुः ।

‘स्त्रीधनं तदपत्यात्तां दुहिता च तदंशिनी ।

अप्रत्ता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥ इति बृहस्पतिः । पितृ-
कुललब्धं चाऽप्रत्ता एव दुहितरः ।

“मातुस्तु यौतकं यत्स्यात् कुमारीभाग एव सः ।’ इति मनुः ।

अथाऽप्रत्ता दुहितरः पुत्राश्च जननी तदा ।

‘जनन्या संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ॥

भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः । इति मानवसेव ।

अत्र व्यासः—

“असंस्कृतास्तु ये तत्र पितृकादेव ते धनात् ।

संस्कार्यां ध्रातृभिर्व्यष्टैः कन्यकाश्च यथाविधि ॥” इति ।

अत्र क्रमविवाहे बृहस्पतिः—

● प्रह्लाक्षत्रियविद्वद्धूरा विप्रात्पद्मास्त्वनुकमात् ।

चतुस्त्रिद्वयेकभागेन भजेयुस्ते यथाक्रमम् ॥

क्षत्रजास्त्रिद्वयेकभागा विड्जौ तु द्वयेकभागिनौ ।’ इति ।

मानवे च स्पष्टमुक्तम्—

“सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा प्रविभज्य तु ।

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मावित् ॥

चतुरांशान् हरेद्विप्रः त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः ।

वैश्यापुत्रो हरेव्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ इति ।

१. या० स्म० २. १२३ २. म० स्म० १. ३. वी० ध० २. २. ४३

३. मुद्रितबृहस्पतिस्मृतौ नेदं वचनमुपलभ्यते । परन्तु ‘जनन्यां संस्थितायां’ (१. ११२.) इतिश्लोकव्याख्यावसरे कुल्लूकभट्टेनेदं वचनं बृहस्पतिवचनत्वेनैवोदाहृतम् ।

४. सा न मातृकम्, इति ड० पु० पु० ५. म० स्म० ६. ३३१. ८. ६. म० स्म० १. ११२

७. ● एतच्छिह्नाङ्कितानि वचनानि मुद्रितवचनप्रत्येषु नोपलभ्यन्ते ।

८. म० स्म० ७. १५२. १५३

यस्य तु न्नाहणी वन्ध्या मृता वा तत्र क्षत्रियादिसुवाल्लिङ्गैकभागाः । यस्य
त्वैकस्थामेव पुत्रस्ता सर्वं हरेत् शूद्रापुत्रवर्जम् ।
यथाह देवलः—

अतुलोन्येकपुत्रस्तु पितुस्सर्वस्वभाग्भवेत् ।
निपाद एकपुत्रस्तु विप्रत्यस्य तृतीयभाक् ॥
द्वौ सपिण्डसकुल्यो वा स्वधादाता तु तं हरेत्' इति ।
निपादः पारशवः । क्षेत्रविषये बृहस्पतिः—

अन प्रतिग्रहभूदया क्षत्रियादिसुताय वै ।
यद्यथस्य पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥
शूद्र्यां द्विजातिसिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति ।
सजतावापुन्यात्सर्वमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति ॥
ज्ञानवल्क्यः—

जातो हि दास्यां शूद्रेण कास्रतोऽशहरो भवेत् ।
मृते पितरि कुर्युस्त भ्रातरस्सर्वभागिनम् ॥' इति ।
भार्याविषये विष्णुः—

अमातरः पुत्रभागानुसारतो भागहारिण्य' इति । अत्र,
औरसः पुत्रिकाबीजक्षेत्रजौ पुत्रिकासुतः ।
पुनर्भवश्च कानीनस्सहोढो गूढसम्भवः ।
दत्तः क्रीतसययंदत्तः कृत्रिमश्चाऽपविद्धकः ।
यत्र वचचोत्पादितश्च पुत्राल्या दश पञ्च च ।
अन्तेनैव क्रमेणैषां पूर्वाभावे परः परः ।
पिण्डदोऽशहरश्चेति प्रायेण स्मृतिषु स्थिता ।

औरसो धर्मपत्नीजः । 'सवर्णापूर्वशास्त्रविहिताया' मिति पूर्वसुक्तः । गौतमः
ति । 'पितोत्पृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्नि प्रजापतिं चेट्रास्मर्द्धमपत्यमिति संवाचे'

दृहरपतिः—

'एक एवौरसः पित्र्ये धने स्वामी प्रकीर्तितः ।
तत्तुल्या पुत्रिका प्रोक्ता भर्तेन्यास्त्वपरे स्मृताः ॥' इति ।

मनुः—

पुत्रिकायां कुलायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्यान् श्रेष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यः—

‘अपत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरयसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ।
अयमेक एवोत्पादयितु र्धाजः, क्षेत्रजस्तु क्षेत्रिणः ।

बृहस्पतिः—

‘पत्रोऽथ पुत्रिकापुत्रस्वर्गप्राप्तिकराबुभौ ।
रिक्थे पिण्डाम्बदाने च समौ सम्परिकीर्तितौ ॥’ इति ।

काश्यपः—

‘सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः ।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥
उदकं स्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका ।
अग्नि परिगता या च पुनर्भूसवा च या’ ॥

कात्यायनः—

‘स्त्रीवं विहाय पतितं या पुनर्लभते पतिम् ।
तस्यां पौनर्भवो जातः व्यक्तमुत्पादकस्य सः ॥ इति ।

मनुः—

‘पितृवैशमनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवः ॥’ इति ।

नारदः—

‘कानीनश्च सहोदश्च गूढायां यश्च जायते ।
तेषां वोढा पिता ज्ञेयस्ते च भागहराः पितुः’ इति ॥

वसिष्ठः—

‘अप्रज्ञा दुहिता यस्य पुत्र विन्देत तुल्यतः ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥’ इति ।
अनूढायामेव मृतायां मातरि मातामहस्य पुत्रः । अन्यथा वोढुः ।

मनुः—

‘या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञातापि वा सती ।
वोढुस्स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ।
‘उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्यचित् ।
स गृहे गूढ उत्पन्नतस्य स्यादस्य तल्पजः ॥
दत्तः पूर्वमेवोक्तः । पैठीनसिः—‘अथ दत्तक्रीतकृत्रिमपुत्रिकापुत्राः परपरि-
प्रद्रेण न्यार्षेयेण जाताः ते असंगतकुलीनाद्यामुष्यायणा भवन्तीति ।

१. या० स्मृ० २. १२७ २. म० स्मृ० १. १७२. ३. ना० स्मृ० १३. ४

४. व० स्मृ० १७. २५ ५. म० स्मृ० ६. १७३ ६. क० स्मृ० १. १७०

मनुः-

‘ध्रातृणामेकजातानामेकश्रेयुत्रवान् भवेत् ।
 सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुर्ब्रवीत् ॥
 ‘क्रीणीयाद्यत्स्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकान् ।
 स क्रीतकःसुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ।
 ‘मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
 आत्मानं पश्येद्यस्य रथं दत्तस्तु स स्मृतः ॥ इति ।
 ‘सदृशं तु प्रकृवातां गुणदोषविवर्जितम् ।
 पुत्रं पुत्रगुणैर्धुक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः ॥
 ‘मातापितृभ्यामुत्पन्नं तयोरन्यतरेण वा ।
 यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविष्टः स उच्यते ॥ इति ।

सर्वे एते समानजातीयाः,

‘सजातोयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु नया विधिः ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनात् ।

विष्णुः-‘यत्र स्वचनोत्सादितस्तु द्वादशः, इति ।

याज्ञवल्क्यः-

‘पिण्डद्वोऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः ।’ इति

मनुः-

‘श्रेयसः श्रेयसोऽभावे पापीयान् रिक्त्यमर्हति ।’ इति ।

‘क्रमादेते प्रवर्तन्ते मृते पितरि तद्धने ।

नारदः-

‘ज्यायसो ज्यायसोऽभावे जघन्यस्तद्ववानुयात् ॥’ इति ।

देवलः-

‘सर्वे ह्यनौरसस्यैते पुत्रा दाचहराः स्मृताः ।

औरसे पुनरुपन्ने तेषु व्यैष्ट्यं न तिष्ठति ।

तेषां सर्वर्णा ये पुत्रास्ते वृतीयांशभागिनः ।

दोषास्तमुपजीवेयुर्ग्रासाच्छादनसम्भृताः ॥’ इति ।

१. म० स्मृ० १. १८२ २. म० स्मृ० १. १७४ ३. म० स्मृ० १. १७७,

४. म० म० स्मृ० १. १६९ ५. म० स्मृ० १. १७१ ६. या० स्मृ० २. १२३

७. या० स्मृ० २. १२२ ८. म० स्मृ० १. १८४ ९. ना० स्मृ० १२. ४९

मनुः—

‘पष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन् दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥’ इति ।

बृहस्पतिः—

‘क्षेत्रजाद्यासुवास्त्वन्वे पञ्चपट्सप्तभागिनः’ इति ।

हारीतः—

‘विभज्यमाण एकविंशं कानोनाय दद्याद्विंशं पौनर्भवयैकोनविंशं व्यामु-
ष्याणयाऽष्टादशं क्षेत्रजाय सप्तदशं पुत्रिकापुत्रायेतरानौरसाये’ति ।

वसिष्ठः—

२‘पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्निति प्रकम्य ‘तस्मिन्नेत्यतिगृह्येते औरस इत्यथते चतु-
र्थभागभागि’ति ।

एवमेतेषु शास्त्रेषु विद्यमानेषु यदाचार्येण पूर्वमुक्तं ‘तेषां कर्मभिस्सम्बन्धो
दायेनाऽव्यतिक्रमश्चोभयो’रिति तद्धर्मपत्नीजे पुत्रे सति क्षेत्रजादीनां समांशह-
रत्वप्रतिषेधपरं वेदितव्यम् ।

अथाऽविभाज्यम् ।

अत्र मनुः—

३‘अनुपत्नम् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपाजयेत् ।
स्वयमर्हति लब्धं तन्नाऽकामो दातुमर्हती’ ति ।

काल्यायनः—

‘नाऽविद्यानां तु वैद्येन देयं विद्याधनात् क्वचित् ।
समं विद्याधनानां तु देयं वैद्येन तद्धनम् ॥
परभक्तप्रदानेन प्राप्तविद्यो यदाऽन्यतः ।

तथा प्राप्तं तु विधिना विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥’ इति ।

व्यासः—

‘पितामहपितृभ्यां च दत्तं मात्रा च यद्भवेत् ।
तस्य तन्नाऽपहर्तव्यं शौर्यं ह्येव तथैव च ॥’ इति ।

याज्ञवल्क्यः—

४‘क्षमाद्भ्यगतं द्रव्यं हृतमप्युद्धरेत् यः ।
दायादेभ्यो न तद्द्याद्विद्यया लब्धमेव च ॥
पत्न्यौ जीवति यस्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन् दयादा भजमानाः पतन्ति ते ॥’

१. म० सू० ९. १३४ २. व० घ० १५. ६. ९ ३. म० म० ९. २०८

४. शौर्यं विद्याधनं तथा इति. ५० पु० शौर्यं भागधनं तथा इति ड० पु०

५. या० सू० २-११९

व्यास —

‘साधारणं समाश्रित्य यत्किञ्चिद्वाहनानुधम् ।
शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तय भागिनः ॥
तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः ॥’

इति पुत्रदायविभागः । तदभावे तु मृतस्य यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः, स
किम् ? ‘दायं हरेते’ति (१४. ५.) वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः ।

‘ऋषभाजश्चतुर्याद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

सप्तमः पिण्डदातैषां सापिण्ड्यं साप्तपूरुषम् ॥’

इति सपिण्डलक्षणम् । तेषु यो यः प्रत्यासन्नस्स स गृह्णीयादिति । भार्या तु
रिक्थप्राहिणस्सपिण्डाद्या रक्षेयुः, न तु दायग्रहणमित्याचार्यस्य पक्षः । श्रूयते
हि—^३‘तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादोः’ इति ।

मनुरपि —

^४‘अनिन्द्रिया अदायादाः स्त्रियो नित्यमिति श्रुति’रिति
अत्र सपिण्डाद्यभावे बृहस्पतिः—

‘अन्यत्र ब्राह्मणात्किं तु राजा धर्मपरायणः ।

तत्स्त्रीणां जीयनं दद्यादेप दायविधिस्मृतः ॥

अत्रार्थं तण्डुलप्रथमपराह्णे तु सेन्धनम् ।

वसनं त्रिपणक्रीतं देयमेकं त्रिमासतः ॥

एतावदेव सार्ध्वीनां चोदितं विधवाधानम् ।

वसनस्याऽशनस्यैव तथैव रजकस्य च ॥

धनं व्यपोह्य तच्छिष्टं दायदानां प्रकल्पयेत् ।

^५धूमावसानिकं ग्राह्यं सभार्यां स्नाततः परा ।

वसनाशनवासांसि विगणस्य धवे मृते ॥’ इति ।

व्यासः—

‘द्विपाहस्रः परो दायः स्त्रियै देयो धनस्य तु ।

यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममाप्नुयात् ॥’ इति ।

पणानां द्वे सहस्रे परिमाणमस्य द्विपाहस्रः । एष परो दायः स्त्रिया नाधिक
इति । एतत् प्रभूते धने, ज्ञातव्यञ्च न रक्षेयुरिति शङ्कायाम् । एवं ^५‘पत्नी दुही-

१. मास्यपु० अ० १८ श्लो० २९ २. तै० सं० ६. ५ ८

३. म० स्मृ० ९. १८ निरिन्द्रिया हामन्त्राश्च क्षिप्रयोऽष्टवमिति श्रुतिः, इति मुद्रित-
पुस्तकपाठः । बोधायनसूत्रे तु प्रायस्कं वदति (३. २. ४७) पाठः ।

४. धूमावसानिकं भाव्यं तन्धारां स्नानगतपरा । इति ङ धूमावसानिकं इति. घ० पु.
५. वा स्मृ० २. १३८

तरञ्चे' त्यादीनि याति पत्या द्वाद्यप्राप्तिपराणि तान्येवमेव द्रष्टव्यानि । गौतमस्तु पुत्राभावे पत्याससपिण्डादिभिस्समांशमाह-^१ पिण्डगोत्रपिसम्बन्धा रिक्थं भजेरन् । स्त्री चाऽनपत्यस्वे' ति । अर्थार्थः-अनपत्यस्य रिक्थं पिण्डसम्बन्धात्सपिण्डाः प्रत्यासत्तिक्रमेण भजेरन् । तदभावे गोत्रसम्बन्धात्सगोत्राः । तदभावे ऋपिसम्बन्धात्समानप्रवराः स्त्री च पत्नी च । (अत्र स्त्रियाः पृथङ्निर्देशात् च शब्दाच्च यदा सपिण्डा भजेरन् तदा स्त्री सह तैरेकमंशं दृह्यायात् । ततश्च 'पितुरुर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरे'दिति सपिण्डादिभिस्सहस्रहणमुक्तमिति । वयमप्येतमेव पक्षं रोचयामहे) । अत्र पितरि भ्रातरि सोदर्ये च जोचति सोदर्यो भ्राताः गृह्णीयादित्येके मन्यन्ते ।

तथा च शङ्ख—

अपुत्रस्य स्वर्ग्यात्स्य द्रव्यं भ्रातृगामि, तदभावे मातापितरौ लभेयातां, पत्नी वा ऽवेषु'ति ।

देवलः—

‘ततो दायमपुत्रस्य विभजरेन् सहोदराः ।

कुल्या दुहितरो वापि धियमाणः पिताऽपि च ॥

सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम् ॥’ इति ।

याज्ञवल्क्यः—

‘संस्तृष्टिनस्तु संस्तृष्टी सोदर्यस्य तु सोदरः ।

दद्यान्नाऽपहरेच्चांशं जातस्य च मतस्य च ॥

अन्योदर्यस्तु संस्तृष्टां नाऽन्योदर्यर्धनं हरेत् ।

असंसृष्टयपि चाऽऽद्यात्सोदर्यो नान्यमातृजः ॥’ इति ।

अत्र सोदर्य इति विशेषचनात् ‘पत्नी दुहितरञ्चे'त्यत्र भ्रातृग्रहणं भिन्नोदरविपर्ययमिति । प्रत्यासत्त्यतश्चायात् ‘पितृवेत्याचार्यस्य पक्षः । तदभावे सोदर्यः, तदभावे सपुत्रः, तदभावे भिन्नोदराः, तदभावे पितृव्य इत्यादि द्रष्टव्यम् । मात्रादयोऽपि स्त्रियो जीवनमात्रं लभेरन्निति ॥ २ ॥

अनु०-पुत्र के न होने पर निरुद्धतम सर्पिण्ड संबंधी दायका अधिकारी होता है ।

टि०—इदञ्च ने अपनी व्याख्या में दूसरे सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों के मतों का उद्धरण दिया है । आपस्तम्ब के इस सूत्र से स्पष्ट है कि पुत्रहीन व्यक्ति की मृत्यु पर उत्तरी वित्तवा पत्नी दाय की अधिकारिणी नहीं होती थी । वीधापयन का भी मत ऐसा ही है ।

१. गौ० ध० २८. २१. २२

() कुण्डलान्तर्गतो भागः च पुस्तकैऽधिकपाठतया परिगणितः ।

२. या०स्मृ० २. १३८. १३९ ३. पितृवेति वयम् इति च०पु.

तदभाव आचार्यं आचार्याभावेऽस्ते राप्ती हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु
वोपयोजयेत् ॥ ३ ॥

सपिण्डाभावे आचार्यो दायं हरेत् । तस्याऽप्यभावे अस्तेवासी हरेत् ।
हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु तडागालननद्विपययोजयेत् । वाशब्दान् स्वयं वा
उपयुञ्जीत ॥ ३ ॥

अनु० सपिण्ड का अभाव होने पर दाय का अधिकार आचार्य होता है,
आचार्य के भी न होने पर उसका शिष्य उस दाय को ग्रहण कर मृतव्यक्ति के नाम से
धार्मिककर्मों में उस धन को लगावे अथवा स्वयं ही उस धन का उपयोग करे ॥ ३ ॥

दुहिता वा ॥ ४ ॥

दुहिता वा दायं हरेत् । पुत्राभाव इत्येके । अनन्तरोक्ते विषय इत्यन्ये ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा (पुत्र न होने पर) पुत्री दाय को ग्रहण करे ॥ ४ ॥

सर्वाभावे राजा दायं हरेत् ॥ ५ ॥

सर्वग्रहणान् बन्धूनां सगोत्राणां चाऽऽप्यभावे ॥ ५ ॥

अनु०—सभी बन्धु बांधवों के न होने पर राजा दाय ग्रहण करे ॥ ५ ॥

ज्येष्ठो दायान् इत्येके ॥ ६ ॥

एके मर्यन्ते ज्येष्ठ एव पुत्रो दायहरः । इतरे तु तसुपजीवेयुः । सोऽपि तान्
पितृषु परिपालयेदिति । तथा च गौतमः सर्वं वा पूर्वजस्येतान् विभूयात्यि-
शृवदिति ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी होता है
(दूसरे पुत्र उसके अधीन रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं) ॥ ६ ॥

देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य ॥ ७ ॥

क्वचिद्देशे सुवर्णादि ज्येष्ठस्य भाग इत्याहुः । भूमौ जातं भौमं धान्यं कृष्णं
मायादि कृष्णाग्रसमित्यन्ये ॥ ७ ॥

अनु०—कुछ देशों में स्वर्ण, काले रंग के गाय-बैल तथा पृथ्वी से उतरान्न काले
रंग के अनाज ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त होने हैं ॥ ७ ॥

रथः पितुः परिमाण्डं च गृहे ॥ ८ ॥

रथः पितुरंशः गृहे च यत् परिमाण्डमुपकरणं पीठादि तदपि ॥ ८ ॥

अनु०—रथ और घर में जो भी काठ के उपकरण होते हैं वे सभी पिता के अंश
हैं ॥ ८ ॥

अलङ्कारो भार्यायाः ज्ञातिधनं चेत्येके ॥ ९ ॥

भार्यायास्तु धृतोऽलङ्कारोऽशः, ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यश्च यल्लब्धं धनं तच्चे-
त्येवमेके मन्यन्ते ॥ ९ ॥ *

अनु०—कुल धर्मज्ञो के अनुसार आशूषण तथा अपने इन्धु वाग्धवो से प्राप्त धन
पत्नी का अपना अंश होता है ॥ ९ ॥

तच्छौचैर्विप्रतिषिद्धम् ॥ १० ॥

ज्येष्ठो दायद इति यदुकं तच्छौचैर्विच्छिद्यम् ॥ १० ॥

अनु०—(ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी हो) यह शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध
क्रिया गया है ॥ १० ॥

येन विरुद्धं तद्दर्शयति—

“मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभज” दित्यविशेषेण श्रूयते ॥ ११ ॥

पुत्रेभ्य इति बहुवचननिर्देशाद्विशेषेण भ्रवणम् ॥ ११ ॥

अनु०—स्योकि यह वेद (वै० संहिता ३.१.६) में छोड़े मैदमाव प्रदर्शित किए
बिना कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रों में दाय का विभाजन किया ॥ ११ ॥

अत्र चोद्यम्—

अथापि^२ “तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं घनेन निरवसाययन्ती” त्येक-
वच्छ्रूयते ॥ १२ ॥

अथापि ननु चेत्यर्थः । ज्येष्ठं पुत्रं घनेन निरवसाययन्ति पृथक्पूर्वार्त्तात्वेकव-
दपि श्रूयते । यथा एक एव ज्येष्ठो दायदः तदनुरूपमपि श्रूयते इति ॥ १२ ॥

अनु०—किन्तु वेद में एक ज्येष्ठ पुत्र ही दाय का अधिकारी हो इस नियम के
अनुरूप उक्ति भी पाई जाती है कि लोग ज्येष्ठ पुत्र को दाय का अधिक भ्रंश देकर
उसके साथ विशेषता प्रदर्शित करते हैं ॥ १२ ॥

परिहरति—

अथापि नित्यानुवादमविधिमार्हुर्यायविदो यथा तस्मादजावयः
पशूनां सहचरन्तीति । तस्मात् स्नातकस्य मुखं रेफायतीव । तस्मात्
वस्तश्च श्रोत्रियश्च स्त्रीकामतमाविति ॥ १३ ॥

* एतच्चिह्नानन्तरं यतोऽपि नानुवाद ॥१॥सप्तम्॥ इत्यधिकपाठो दृश्यते छ. पुस्तके

१. मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् स नामानैदिष्टं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभञ्जत् इति
(वै० सं० ३. १. ९) तैत्तिरीयधृतो भूयते । तत्र पुत्रेभ्य इत्यविशेषणैव विभागः भूतः ।
न नु ज्येष्ठरम विशेषोऽभिहित इत्यर्थः । ‘नामानैदिष्टः’ इति मनुपुत्रस्य कस्यचिज्जान ।

अस्यैव नामाग इती संज्ञा । अस्य कथा भागवते (१. ४.) अनुत्तरेया ।
२. तत्रैव तैत्तिरीयधृतो (वै. सं. २. ५. २.)

अथापीति परिहारोपक्रमे । पशूनां मध्ये अजात्राऽवयश्च जातिभेदेऽपिसह-
चरन्ति । रेफा शोभा । इह तु तद्व्यभेदोपचारः । ततः स्यप् । स्नातकस्य मुखं
कुण्डलादिना शोभते । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । श्रोत्रियस्य स्त्रीकामतमत्वमा-
चार्यकुले चिरकालं ब्रह्मचारिवासात् । यद्येवानि वाक्यानि दृष्टान्तमात्रमनवद-
न्ति न किञ्चिद्विदधति तस्मात् 'ज्येष्ठं पुत्र'मित्यादिकमप्यविधिरिति न्यायविद
आहुः । न केवलमयमेवानुवादः, किं तर्हि 'मनुः पुत्रेभ्य' इत्ययमप्यनुवाद
एव ॥ १३ ॥

अनु०—इस स्थिति में परिहार यह है कि जो बात नित्य अर्थात् तस्य हो उसके
कथन की न्यायवेत्ता नियम नहीं मानते जैसे 'पशुओं के बीच ककरी और भेड़ें एक-
साथ चरती हैं, स्नातक का मुख कुण्डल आदि से सुशोभित होता है, वेदों का अत्येता
श्रोत्रिय और बकरा कायुक्तता अधिक प्रकट करता है' ॥ १३ ॥

सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः ॥ १४ ॥

हिशब्दो हेतौ । यस्मादेवाऽनुवादौ न कस्याचिद्विधायकौ तस्माद्ये धर्मयुक्ताः
पुत्रास्सर्वे एते भागिनाः ॥ १४ ॥

अनु०—इस कारण धर्म का आचरण करने वाले सभी पुत्र दाय के भागी
होते हैं ॥ १४ ॥

यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीत ॥ १५ ॥

यस्तु ज्येष्ठोऽप्यधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति विनियुक्ते तमभागं कुर्वीत
जीवद्विभागे पिता भागं न दद्यात् । ऊर्ध्वं विभागे 'पितुभ्रातरः । अपिशब्दात्
किमुतान्वनिति ज्येष्ठस्य प्राधान्यं ह्याप्यते ॥ १५ ॥

अनु०—किन्तु जो धन को अधर्म के कार्यों में व्यय करता है उस पुत्र को ज्येष्ठ
होने पर भी दाय के भाग से वञ्चित कर देना चाहिए ॥ १५ ॥

जीवन् पुत्रेभ्य इत्यनेन दम्पत्योस्सहभावो दर्शितः । तत्र कारणमाह—

जायापत्योर्न विभागो विद्यते ॥ १६ ॥

स्पष्टम् ॥ १६ ॥

अनु०—पति और पत्नी में किसी प्रकार का विभाग नहीं होता, क्योंकि ॥ १६ ॥
करमात् ?

पाणिग्रहणाद्वि सहत्वं कर्मसु ॥ १७ ॥

कर्माधं द्रव्यम् । जायापत्य न पृथक्कर्मस्वधिकारः । किं तर्हि ? सहभावेन
—यस्त्वया धर्मश्च कर्तव्यस्सोऽनया सह'ति वचनात् । तत्र किं पृथक् द्रव्य-
णेति ॥ १७ ॥

१. विभागोऽपि भ्रातरः इति. च०पु० २. इत्यत्र भार्याया भागो न दर्शितः इति घ०पु०

२० आ० ध०

अनु०—विवाह के समय से ही वे सभी कर्मों में एक साथ होते हैं ॥ १७ ॥

‘तथा पुण्यफलेषु ॥ १८ ॥

पुण्यफलेषु स्वर्गादिष्वपि तथा सहत्वमेव ।^२ विचि ज्योतिरजरमारभेता’
मित्यादिभ्यो मन्त्रलिङ्गेभ्यः ॥ १८ ॥

अनु०—इसी प्रकार पुण्यों के फल में भी वे मिलकर अधिकारी होते हैं ॥ १८ ॥

द्रव्यपरिग्रहेषु च ॥ १९ ॥

द्रव्यपरिग्रहेषु च द्रव्यार्जनेष्वपि तथा सहत्वमेव । तत्र पतिरार्जयति,
जाया गृहे निर्वहतीति योगक्षेत्राबुभयायत्ताविति द्रव्यपरिग्रहेऽपि सहत्वम् ।
अनु०—घन के उपार्जन में भी व एक साथ होते हैं ॥ १९ ॥

एतदेवोपपादयति—

न हि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति ॥ २० ॥

हि यस्मान् भर्तुर्विप्रवासे सति नैमित्तिके ‘छिन्दस्पाणि दद्याद्दित्वादिके
दाने कृते भार्याया न स्तेयमुपदिशन्ति धर्मज्ञाः । यदि भर्तुरेव द्रव्यं त्यात् स्या-
देव स्तेयम् । नैमित्तिके दान इति वचनात् व्ययान्तरे स्तेयं भवत्येव । एतदेव
द्रव्यसाधारण्येऽपि दम्पत्योर्वैपम्यं—यत् पतियथेष्टं विनियुङ्क्ते जाया त्वेताव-
देवेति । न च पत्युस्वयमाजितस्य विनियोगे जायाया अनुमत्यपेक्षा, स्वतन्त्र-
त्यात् । स्वतन्त्रो ह्यसौ गृहे, यथा राजा राष्ट्रे । अत एव भार्यायास्तेयशङ्का,
न भर्तुः ॥ २० ॥

अनु०—क्योंकि पति के कहीं बाहर जाने पर यदि पत्नी किसी अवसर पर
उचित दान करती है तो उसे चोरी नहीं माना जाता ॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने चतुर्दशी कण्डिका ॥ १४ ॥

एतेन देशकुलधर्मा ध्याख्याताः ॥ १ ॥

‘ज्येष्ठो दाय्याद्’ (२. १४. १६.) इत्यादिकं शास्त्रविप्रतिषेधाद्प्रमाणमित्यु-
क्तम् । एतेन देशधर्माः कुलधर्माश्च व्याख्याताः । शास्त्रविप्रतिषिद्धा मातुलसुता-
परिणयनादयोऽप्रमाणं विपरीताः प्रमाणमिति ।

गौतमोऽप्याह—

^३‘देशकुलधर्माश्चाऽऽन्नायैरविरुद्धाः प्रमाण’मिति ॥ १ ॥

१. इदमग्रिमं च सूत्रमेकतया लिखितं क० पु० । २. तै० ब्रा० ३. ७. ५. ११

३. गौ० घ० ११. २०

अनु०—इस विवेचन द्वारा विशिष्ट देशों और कुलों के धर्मों को व्याख्या की गयी है ॥ १ ॥

मातुश्च योनिस्त्वन्धेभ्यः पितुश्चाऽऽसप्तमाद्यावता वा सम्बन्धो ज्ञायते तेषां प्रेतेषूदकोपस्पर्शनं गर्भान् परिहाप्याऽऽपरिसंवत्सरान् ॥

मातुर्योनिस्त्वन्धा मातुलादयः । पितुश्चासप्तमान् पुरुषान् सम्बन्धास्सपिण्डायः । पृथ्वस्त्रेयादयश्च तेभ्य आग्भ्याऽऽसप्तमादित्यन्वयः । यावता वान्तरेण ज्ञायते स्मर्यते जन्मना नाम्ना वाऽपुण्याऽयमस्मृतृदस्थस्य वंश्य एवंनमेति । सम्बन्धो तथा च मनुः—

‘‘सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।

समानोदकभावस्तु जन्मनाग्नोरवेदने ॥’’ इति ।

य एवंभूताः पुरुषास्तेषां प्रेतेषु मृतेषु उदकोपस्पर्शनं मरणनिमित्तं स्नानं कर्त्तव्यम् । गर्भान् बालान् अपरिसंवत्सरानपरिपूर्णसंवत्सरान् परिहाप्य वर्जयित्वा । बालेषु मृतेषु स्नानं न कर्त्तव्यमिति ॥ २ ॥

अनु०—माता के रक्त संबन्ध वाले (माया आदि) और पिता के सातवें पुरुष के पूर्व तक अथवा जहाँ तक संबन्ध का पता हो वहाँ तक के निकट संबन्धियों के मरने पर स्नान करे, किन्तु उन बालकों के मरने पर स्नान का नियम नहीं है जिनका एक वर्ष न पूरा हुआ हो ॥ २ ॥

मातापित्ररावेव तेषु ॥ ३ ॥

बालेषु मृतेषु मातापित्ररावेवोदकस्पर्शनं कुर्याताम् ॥ ३ ॥

अनु०—उनकी (अर्थात् एक वर्ष से कम आयु के बालकों की मृत्यु पर) माता-पिता ही स्नान करें ॥ ३ ॥

हर्तारश्च ॥ ४ ॥

ये च तान् बालान् हरन्त्व तेऽप्युदकोपस्पर्शनं कुर्युरिति । एवमाचार्यस्य पक्षः ॥ ४ ॥

अनु०—तथा बालक के मृत शरीर को उठाकर ले जाने वाले स्नान करें ॥ ४ ॥

भार्याया परमगुरुसंस्थाया चाकालभोजनम् । ५ ॥

भार्या पत्नी । परमगुरुयः आचार्यमातापितरः । संस्था मरणम् । भार्यायां संस्थितायां परमगुरुणां च संस्थायां सत्वां न केवलमुदकोपस्पर्शनं, किं तर्हि ? अपरेशुः आ तस्मात्कालान् अभोजनं च ॥ ५ ॥

अनु०—पत्नी, आचार्य, माता या पिता की मृत्यु पर (स्नान के अतिरिक्त) दूसरे दिन उसी समय तक उपवास करे ॥ ५ ॥

किं च—

आतुरव्यञ्जनानि कुर्वीरन् ॥ ६ ॥

आतुरत्वं व्यज्यते यैस्तानि च कुर्वीरन् भार्यादिमरणे ॥ ६ ॥

अनु०—(पत्नी आदि की मृत्यु पर) शोक के चिह्नों को भी धारण करे ॥ ६ ॥
कानि पुनस्तानि ?

केशान्प्रकीर्य पांसूनोभ्यै कवाससो दक्षिणामुखास्सकृदुपमज्ज्योत्तीर्यो-
पविशन्त्येवं त्रिः ॥ ७ ॥

* प्रकीर्य केशान् पांसूना वपन्ति । ओष्य एकवाससः अनुत्तरीयाः । दक्षिणा-
मुखाः दक्षिणां दिशं निरीक्षमाणाः सकृदुपमज्ज्य उदकादुत्तीर्य तीर उपविशन्ति
दक्षिणामुखा एव ॥ ७ ॥

अनु०—केशों को बिलरकर, धूल लपेटकर, एक बल धारण करे (उत्तरीय न
धारण करे) दक्षिण दिशा की ओर मुख करके बैठे, नदी में प्रवेश करके मृत व्यक्ति
के लिए एक बार बल की झंझलि दे, फिर तीर पर आकर (दक्षिण की ओर मुख करके)
बैठे ॥ ७ ॥

एवं त्रिः ॥ ८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण त्रिरुपमज्ज्योपविशेयुः ॥ ८ ॥

अनु०—इस प्रकार तीन बार करे ।

तत्प्रत्ययमुदकमुत्सिच्याऽप्रतीक्षा ग्राममेत्य यत्स्थिय आहुस्तत्कुर्वन्ति ॥ ९ ॥

ततः तत्प्रत्ययं तेषां मृतानां भार्यादीनां यथा प्रत्ययो भवति—मलामुदकं
दत्तमिति, तथोदकमुत्सिञ्चन्ति । त्रिरित्यनुवृत्तेभिः । आचारात्पिथ्यत्वाच्च
वाससा तिलमिश्रं हस्ताभ्यां । भारद्वाजाय यज्ञशर्मणे एतत्तिलोदकं ददामीति,
प्रयोगः । उत्सिच्या प्रतीक्षाः पृष्ठतोऽनिरीक्षमाणा ग्राममेत्य गृहं प्रविश्य ।
अनेन वह्निरिदं कर्मैति गम्यते । यत्तत्र मृतवपिये स्त्रियः कर्तव्यमित्याहुः तत्कु-
र्वन्ति अन्युपस्पर्शनगवालम्भनादीनि । एतत्प्रथमेऽह्नि । द्वितीयादि प्वहरहर-
ञ्जलिनैकोत्तरवृद्धिरैकादशहरिति पितृमेध उक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

अनु०—इस प्रकार बल प्रदान करे कि मृत व्यक्ति को यह स्पष्ट हो जाय कि
मुझको बल दिया गया है (तीन बार बल प्रदान करे) और तब वे लोग पीछे न देखते
हुए गाँव की लौटें और तब जो कुछ कर्म स्त्रियों बतलावें उन कर्मों को करे ॥ ९ ॥

इतरेषु चैतदेवैक उपदिशन्ति ॥ १० ॥

‘आकालमभोजन’ (२.१५, १) मित्यादि यदुक्तं तदितरेषु भार्यादिभ्योऽ
न्येष्वपि सपिण्डेषु मृतेषु कर्तव्यमित्येके आचार्या उपदिशन्ति ॥ १० ॥३१

अतु०—कुछ धर्मों का मत है कि दूसरे सपिण्डों की मृत्यु पर भी इन्हीं
क्रियाओं को करना चाहिए ॥ १० ॥

शुचीन्मन्त्रवतस्सर्वकृत्येषु भोजयेत् ॥ ११ ॥

एकान्तेऽपि विधिप्रतिषेधानुसारिणः शुचयः, तान् । मन्त्रवतः ‘अधीतवेदान्
सर्वकृत्येषु औतेषु गार्ह्येषु स्मार्तेषु च कर्मसु देवेषु पित्र्येषु मानुषेषु च भोजयेत् ।
’अन्ते ‘ततो ब्राह्मणभोजन’मिति स्मृत्यन्तरे दर्शनात् ॥ ११ ॥

अतु०—सभी (भौत, गार्ह्य, स्मार्त) कर्मों में पवित्र, वेदों के ज्ञान से सम्पन्न
ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ११ ॥

देशतः कालतः शौचतः सम्यक्प्रतिगृह्णातु इति दानानि प्रति-
पादयति ॥ १२ ॥

सप्तम्यर्थे तसिल् । देशः प्रयागादिः । कालः सूर्यग्रहणादिः । ‘शौकं कृच्छ्रा-
दिपरिसमाप्तिः सम्यक् समीचीनः प्रतिग्रहीता ‘तुल्यगुणेषु वयोवृद्धश्रेया’
नित्यादि । एतेषु दानानि देयान्यवश्यं प्रतिपादयति दद्यादिति ? २

अतु०—उचित स्थान पर, उचित समय पर, (कृच्छ्र आदि की समाप्ति जैसे)
पवित्र अवसरों पर योग्य व्यक्तियों को ही दान देना चाहिए ॥ १२ ॥

यस्याऽनौ न क्रियते यस्य चाऽग्र न दीयते न तद्भोक्तव्यम् ॥ १३ ॥
यस्याऽन्नस्यैकदेशः अन्नौ न क्रियते न हूयते ‘यस्माद्भोद्भृत्याऽन्नं न दीयते
न तद्भोक्तव्यम् ॥ १३ ॥

* एतदन्तरं—

ब्राह्मणधैतस्मिन् कालेऽमास्यान् केशश्मश्रूणि वा वापयते ॥ ११ ॥

अमास्याः प्रधानाः । स्वधमन्यत् ॥ ११ ॥ सगृह्णात् न वा वपेत् ॥ १२ ॥

पूर्वापवादोऽयम् । अमात्येष्वपि गुरुकुलात् समाहृत्वाः स्नातकाः न केशादि वाप-
येत् ॥ १२ ॥

न विहारिण इत्यन्ये ॥ १३ ॥

विहारिणो बालाः । तेऽपि न ॥ १३ ॥ इत्यधिकं घ० पुस्तके०

१. ‘अधीतावित्पृथवेदान्’ इति. ७० पु० २. ‘अन्तन्तः’ इति. ७० पु०

३. शौचं कृच्छ्रादि इति. ७ च० पु०

४. ‘यस्य ब्राह्मणस्यान्नं न दीयते’ इति क० च पुस्तकयोरधिकम् ।

अनु०—बिस अन्न में से अग्नि में हवन नहीं किया गया है अपवा बिसमें से निकाल कर अतिथि को पहले नहीं दिया गया है उस अन्न को नहीं खाना चाहिए १३
न क्षारलवणहोमो विद्यते ॥ १४ ॥

यत् भक्ष्यमाणं पश्यतो लालोत्पद्यते तत् क्षारं गुडं भरीचिलिकुचादि ।
क्षारलवणसंसृष्टं न होतव्यम् ॥ १४ ॥

अनु०—नमकीन पदार्थ तथा नमक से युक्त अन्न का अग्नि में हवन नहीं किया जाता है ॥ १४ ॥

तथाऽवरात्रसंसृष्टस्य च ॥ १५ ॥

अवरात्रं कुडुत्थादि । तत्संसृष्टस्याप्यन्नस्य होमो न विद्यते ॥ १५ ॥

अनु०—विगड़े हुए अन्न के साथ मिले हुए भोजन का हवन नहीं किया जाता है ॥ १५ ॥

अथ यस्यैवविषमेव भोज्यसुपस्थितं तस्य कथं होमः ? तत्राह—

अहविष्यस्य होम उदाचीनमुष्णं भस्माऽपोह्य तस्मि

ञ्जुहुयात्तदधुतमहुतं चानौ भवति ॥ १६ ॥

औपासनात् पचनाद्वा ऽग्नेरुदीचीनमुष्णं भस्माऽपोह्य तस्मिन् भस्मानि जुहुयात् वैश्वदेवमन्त्रैः । एषोऽहविष्यस्य होमः । तदेवं क्रियमाणं हुतं च भवति हवनार्थनिवृत्तेः । अहुतं चाऽग्नौ भवति । भस्मान्नात्त्वादिति । अत्र वीषा-
यनः—

‘अथ यद्येवदेवान्नं स्यादुत्तरतो भस्ममिश्रानङ्गारान्निरूह्य तेषु जुहुयादिति ।

’अपर आह—यान्यहविष्याणि व्यञ्जनान्यहरहर्भोज्यानि तेषामेव संस्कार-
स्तकृच्च होमोऽमन्त्रक इति ॥ १६ ॥

अनु०—यदि हवन न करने योग्य अन्न का हवन करना ही पड़े तो अग्नि के उत्तरी भाग से गरम भस्म लेकर उसी में अन्न को होम करे । इस प्रकार का हवन अग्नि में हवन नहीं होता ॥ १६ ॥

उत्तरे द्वे सूत्रे स्पष्टे—

न खी जुहुयात् ॥ १७ ॥

१. 'गुडसुषाब्धिकुचादि' इति ङ० पु०

२. क्षारलवण, कृत्रिमलवणमिति कुल्लुकः । तिलमुद्राहते शैब्यं सस्ये गोधूमक्रोद-
वी । घान्यकं देवधान्यं च द्यमोधान्यं तथैक्षवम् । स्विक्षधान्यं तथा ऽप्यमूलं
क्षारगणस्मृतः ॥ इति निर्णयतिन्वी । ३. तस्य कथं भोजनम् ! इति घ० पु०

४. वीषा० गृ० ५. अपरे मन्यन्ते 'इति. घ० पु०

अनु०—स्त्री अन्न वा अग्नि में हवन न करे ॥ १७ ॥

नाऽनुपेतः ॥ १८ ॥

अनु०—बिस बालक का उपनयन संस्कार नहीं हुआ है वह भी अग्नि में हवन न करे ॥ १८ ॥

आन्नप्राशनाद्गर्भा नाऽप्रयता भवन्ति ॥ १९ ॥

अन्नप्राशनात्प्राक् गर्भा वाला नाऽप्रयता भवन्ति रजस्बलाद्विस्पर्शनेऽपि ।
गौसमस्तु अपां मार्जनादिकमिच्छति । यथाह 'अन्यत्राऽपां मार्जनप्रधावना-
वोधक्षणेभ्यः' ॥ १९ ॥

अनु०—अन्नप्राशन संस्कार होने से पहले बच्चे अपवित्र नहीं होते ॥ १९ ॥

आ परिसंवत्सरादित्येके ॥ २० ॥

यात्रत् संवत्सरो न परिपूर्यते तावन्नाप्रयता गर्भा इत्येके मन्यते ॥ २० ॥
अनु०—कुछ वर्षों का मत है कि एक वर्ष के होने से पहले बच्चे अपवित्र
नहीं होते ।

यावता वा दिशो न प्रजानीयुः ॥ २१ ॥

याद्यद्विन्धिभागज्ञानं नाऽस्ति तावन्नाऽप्रयता भवन्ति ॥ २१ ॥

अनु०—अथवा वे उस समय तक अपवित्र नहीं होते जब तक उन्हें दिशाओं
का ज्ञान न हो जाय ॥ २१ ॥

^३ओपनयनादित्यपरम् ॥ २२ ॥

उपयनादर्वाक् नाऽप्रयता गर्भा इत्यपरदर्शनम् ॥ २२ ॥

अनु०—दूसरा मत यह है कि बालक उस समय तक अपवित्र नहीं होते जब तक
उपनयन संस्कार नहीं हो जाता ॥ २२ ॥

अत्रोपपत्तिः—

अत्र ह्यधिकारश्शास्त्रैर्भवति ॥ २३ ॥

हि यस्मादत्रोपनयने सति विधिनिर्द्देशशास्त्रै रधिकारो भवति ॥ २३ ॥

अनु०—उपनयन संस्कार के समय ही बालक वेद के नियमों के अनुसार धार्मिक
कृत्य करने का अधिकारी हो जाता है । २३ ॥

सा निष्ठा ॥ २४ ॥

उपनयनमपि पराशुशततच्छुद्धस्य निष्ठाशुद्धसमानाधिकरण्यात् खोलि-
ङ्गता । सा निष्ठा तदुपनयनमवसानमधिकारस्येति ॥ २४ ॥

१. गौ, १.६ 'अपमानं' इति मैसूरुसंस्कृतः २. ओपनयनादित्येके इति घ०

३. घ० पुस्तके 'भवतीति' इति विकरणात् 'सर्वं पठित्वा' इति करणो 'देवी' इति व्याख्ययताम् ।

अनु०—वही संस्कार वह सीमा है वहाँ से धार्मिक कृत्य करने का अधिकार आरम्भ होता है ॥ २४ ॥

स्मृतिश्च ॥ २५ ॥

अभिन्नर्थे स्मृतिरपि भवति—उताऽब्रह्मचारी यथोपपादमूत्रपुरीषौ भवति नाऽस्याऽचमकलयो विद्यते इति ‘प्रागुपनयन्तात्कामचारवाद्भक्षे’ इति गौतमः ॥ २५ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने पञ्चदशी कण्डिका ॥ १५ ॥

अनु०—स्मृति का भी यही मत है ॥ २५ ॥

इति आपस्तम्बधर्मसूत्रदृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायामु-

ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने षष्ठः पटलः ॥ ६ ॥



अथ सप्तमः पटलः

सह देवमनुष्या अस्मिँल्लोके पुरा बभूवुः । अथ देवाः कर्मभिर्दिवं
जगमुरहीयन्त मनुष्याः । तेषां ये तथा कर्माण्यारभन्ते सह देवैर्ब्रह्मणा
चाऽमुष्मिन् लोके भवन्ति । अथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच ।
'प्रजानिश्श्रेयसाय च ॥ १ ॥

श्राद्धविधित्सया तस्य प्ररोचनार्थोऽयमर्थवाद्दः । पुरा किल देवाश्च मनु-
ष्याश्चाऽस्मिन्नेव लोके सहैव बभूवुः । अथ तं सहभाषमसहमाना देवाः कर्मभि
श्रौतेस्मार्तैर्गोष्ठैश्च यथाबद्धुणोष्टैर्दिवं जग्मुः । मनुष्यास्तु तथा कर्तुमसमर्था
अहीयन्त हीना अभवन् इहैव लोके स्थिताः । यत एवं कर्मणां सामर्थ्यम् अत
इदानीमपि तेषां मनुष्याणां मध्ये चे तथा कर्माण्यारभन्ते कुर्वन्ति यथारभन्त
देवाः, ते देवैः ब्रह्मणा च सहामुष्मिन् लोके भवन्ति त्रिविष्टपे सोदन्ते' । अथै-
वंहीनामनुष्यान् दृष्ट्वा मनुर्वैवश्वतः श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्द्व्यमानमेतत्कर्म
प्रोवाच । किमर्थम् ? प्रजानिःश्रेयसाय, तादर्थ्ये चतुर्थी । प्रजानां निश्श्रेयसा-
र्थम् । निश्श्रेयसाचेति पाठे छान्दसो यकारत्व चकारः ।

अपर आह-छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः । प्रजानिश्श्रेयसं चाऽस्य कर्मणः फल-
मिति ॥ १ ॥

अनु०—आदिकाल में मनुष्य और देवता एकसाथ इस लोक में रहते थे ।
देवताओं ने अपने उत्तम (यश) कर्मों के प्रभाव से स्वर्ग प्राप्त किया और मनुष्य
यहीं पड़े रह गए । जो मनुष्य देवताओं की तरह ही यश कर्म करते हैं वे मनुषु के
बाद स्वर्ग में देवों तथा ब्रह्म के साथ निवास करते हैं । मनु ने मनुष्यों को भाद
कर्म की विधि समझायी । यह कर्म प्रबाओं के निःश्रेयस् के लिए किया
जाता है । १ ॥

तत्र पितरो देवता ब्राह्मणास्त्वाहवनीयार्थे ॥ २ ॥

तत्र श्राद्धकर्मणि पितरः पितृपितामहप्रपितामहाःश्वृताः । ब्राह्मणान्तु भुञ्जाना
आहवनीयार्थे आहवनीकृत्ये वेदितव्याः । त्रीणि श्राद्धे करणानि-होमो, ब्राह्म-
णभोजनं, पिण्डदानं चेति । अत्र भोजनस्य 'प्रधानत्वव्यापनार्थोऽय-
मर्थवाद्दः ॥ २ ॥

१. प्रबानिश्श्रेयसाय च इति धृषकसूत्रं च०पु० २. माति भादविधित्सया इति इ०पु०

३. एवंविधान् इति ल०पु० स्तके टिप्पणीपाठः । एवं हीयमानान् इति च०पु०

४. 'प्रधानत्वत्वं' इति च०पु०

अनु०—इस कर्म में पितृगण देवता होते हैं तथा जिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है वे आहवनीय अग्नि के प्रतीक होते हैं ॥ २ ॥

मासि मासि कार्यम् ॥ ३ ॥

तदिदं कर्म मासे मासे कर्तव्यम् । वीप्सावचनाद्यावज्जीविकोऽध्यसः ।
अनु०—यह श्राद्धकर्म प्रत्येक मास में करना चाहिए ॥ ३ ॥

अपरपक्षस्याऽपराह्लुः श्रेयान् ॥ ४ ॥

अपरपक्षस्य यान्यहानि तेष्वपराहः प्रशस्ततरः ॥ ४ ॥

अनु०—मास के दूसरे पक्ष में दोपहर के बाद का समय श्राद्धकर्म के लिए श्रेयस्कर होता है ॥ ४ ॥

तथाऽपरपक्षस्य जघन्यान्यहानि ॥ ५ ॥

यस्यैव पक्षस्य यान्यहानि पञ्चदश' तेषामुत्तरसुत्तरं प्रशस्ततरम् ॥ ५ ॥

अनु०—मास के दूसरे पक्ष के अन्तिम दिन अधिक श्रेयस्कर समझे जाते हैं ॥ ५ ॥

सर्वेष्वेवाऽपरपक्षस्याऽहसु क्रियमाणे पितृनु प्रीणाति । कर्तुंस्तु कालाभिनियमात्फलविशेषः ॥ ६ ॥

सर्वेष्वेवाहसु पितृणां वृत्तिरविशिष्टा । यस्तु कर्ता प्रतिपदादिके काले नियमेन श्राद्धं करोति सर्वेषु मासेषु प्रतिपद्येव द्वितीयायामेवेत्यादि तस्य कर्तुंस्तस्मात्कालाभिनियमात् फलविशेषो भवति ॥ ६ ॥

अनु०—मास के उत्तर पक्ष में किसी भी दिन को अर्पित किया गया भाद पितरों को सन्तुष्ट करता है । किन्तु समय के नियम के अनुसार वह कर्म भाद करने वाले के लिए विशिष्ट फल उत्पन्न करता है ॥ ६ ॥
कोऽत्सावित्याह—

प्रथमंऽहनि क्रियमाणे स्त्रीप्रायमपत्ये जायते ॥ ७ ॥

यः प्रतिपदि नियमेन श्राद्धं करोति तस्यापत्ये प्रजासन्ताने स्त्रीप्रायं जायते । प्रायेण स्त्रियो जायन्ते ॥ ७ ॥

अनु०—यदि उत्तर पक्ष के प्रथम दिन को भाद किया जागा है तो भादकृतां की सन्तान प्रायः पुत्रियाँ होंगी ॥ ७ ॥

द्वितीये स्तेनाः ॥ ८ ॥

जायन्ते चोराः पुत्राः ॥ ८ ॥

अनु०—यदि दूसरे दिन को श्राद्ध किया जाता है तो ऽत्र प्रायः चोर होते हैं ॥ ८ ॥

‘तृतीये ब्रह्मवर्चसिनः ॥ ९ ॥

‘त्रताध्ययनसम्पत्तिर्ब्रह्मवर्चसम् ॥

अनु०—यदि तीसरे दिन श्राद्धकर्म किया जाता है तो जो पुत्र उत्पन्न होंगे वे वेदाध्ययन के व्रत का पालन करने वाले ब्रह्मतेज से युक्त होंगे ॥ ९ ॥

चतुर्थे क्षुद्रपशुमान् ॥ १० ॥

क्षुद्राः पशवोऽजाव्यादयः तद्वान् कर्ता भवति । इतरत्राप्येकवचने कर्तुर्वादी द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

अनु०—चौथे दिन श्राद्ध कर्म करने वाले छोटे पशुओं (भेड़-बकरी) से सम्पन्न होता है ॥ १० ॥

पञ्चमे पुमांसो बह्वपत्यो न चाऽनपत्यः प्रमीयते ॥ ११ ॥

पुमांस एव भवन्ति, बह्वश्च भवन्ति, न चाऽनपत्यः प्रमीयते जीवत्स्वेव पुत्रेषु सन्निहितेषु च स्वयं म्रियते । न तेषु मृत्यु, न देशान्तरं गतेषु, नाऽपि स्वयं देशान्तरं गत इति ॥ ११ ॥

अनु०—पाँचवें दिन श्राद्धकर्म करने वाले जो पुत्र ही उत्पन्न होते हैं वह अनेक पुत्रों का पिता होता है और पुत्रहीन बनकर नहीं मरता ॥ ११ ॥

षष्ठेऽध्वशीलोऽश्वशीलश्च ॥ १२ ॥

अध्वशीलः पान्थः । अश्वशीलः कितवः ॥ १२ ॥

अनु०—छठे दिन श्राद्ध करने वाला प्रायः देवाद्यन करने वाला तथा सुभारी होता है ॥ १२ ॥

सप्तमे कर्पे राद्धिः ॥ १३ ॥

कर्पः कृपिः । राद्धिः सिद्धिः ॥ १३ ॥

अनु०—सातवें दिन श्राद्ध कर्म करने से कृपि में वृद्धि होती है ॥ १३ ॥

अष्टमे पुष्टिः ॥ १४ ॥

१. तृतीये क्षुद्रपशुमान् कर्ता भवति ॥ चतुर्थे ब्रह्मवर्चसिनः ।

२. व्रताध्ययनसम्पत्तिर्ब्रह्मवर्चसम् । आपस्तम्बस्तु तृतीयचतुर्थयोर्निपरीतफलमाह—

तृतीये ब्रह्मवर्चसिनः । चतुर्थे क्षुद्रपशुमान् ॥ इति पाठो ध पुस्तके ।

३. कर्तुरनुवादः, इति ष० पु० ।

४. बह्वश्च भवन्ति, भव्याः रूपविद्यादिभिरशोभमाना भवन्ति-इति ष० ङ० पु० ।

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

अनु०—आठवें दिन श्राद्ध कर्म करने से समृद्धि होती है ॥ १४ ॥

नवम एकलुराः ॥ १५ ॥

अश्वत्थः ॥ १५ ॥

अनु०—नवें दिन श्राद्ध करने से एक लुर वाले पशुओं बोझों आदि की वृद्धि होती है ॥ १५ ॥

दशमे व्यवहारे राद्धिः ॥ १६ ॥

व्यवहारी वाणिज्यम्, शास्त्रपरिज्ञानं वा ॥ १६ ॥

अनु०—दसवें दिन श्राद्ध करने से व्यापार में उन्नति होती है ॥ १६ ॥

एकादशे कृष्णायसं त्रपुसीसम् ॥ १७ ॥

कृष्णमयः कृष्णायसम् । त्रपुसीसे लोहविशेषी ॥ १७ ॥

अनु०—ग्यारहवें दिन श्राद्ध करने से लोहे और त्रपुस की सम्पत्ति बढ़ती है ॥ १७ ॥

द्वादशे पशुमान् ॥ १८ ॥

द्वादश्यां वहवः पशवो भवन्ति ॥ १८ ॥

अनु०—बारहवें दिन श्राद्ध करने वाजा अनेक पशुओं का स्वामो होता है ॥ १८ ॥

त्रयोदशे बहुपुत्रो बहुमित्रो दर्शनीयापत्यो युवमारिणस्तु भवन्ति ॥ १९ ॥

त्रयोदश्यां वहवः पुत्रा मित्राणि च भवन्ति । अपत्यानि च दर्शनीयानि भवन्ति । किं तु ते पुत्रा युवमारिणः युवान एव त्रियन्ते' ॥ १९ ॥

अनु०—तेरहवें दिन श्राद्ध करने से अनेक पुत्र तथा अनेक मित्र मिलते हैं । भाद-
कर्वा के पुत्र सुन्दर होते हैं, किन्तु उसके पुत्र अल्पायु में ही मर जाते हैं ॥ १९ ॥

चतुर्दश आयुधे राद्धिः ॥ २० ॥

संत्रामे जयः ॥ २० ॥

अनु०—चौदहवें दिन श्राद्ध करने पर युद्ध में सफलता मिलती है ॥ २० ॥

पञ्चदशे पुष्टिः ॥ २१ ॥

स्पष्टम् ॥ २१ ॥

अनु०—पन्द्रहवें दिन श्राद्ध करने पर समृद्धि का फल मिलता है २१ ॥

तत्र द्रव्याणि तिलमापा त्रीहियवा आपो मूलफलानि च ॥ २२ ॥

तत्र श्राद्धे तिलादीनि द्रव्याणि यथायथमवश्यमुपयोञ्चानि ॥ २२ ॥

अनु०—श्राद्ध में अपिब की बाने वाली बस्तुएँ हैं तिल, माष, ब्रीहि, जौ, बज्र, मूत्र और फल ॥ २२ ॥

स्नेहवति त्वेवाऽन्ने तीव्रतरा पितृणां प्रीतिर्द्वा-

धीयांसं च कालम् ॥ २३ ॥

यद्वा तद्वा अन्नं भवतु स्नेहवति तु तस्मिन्नाज्यादिभिरुपसिक्के पितृणां तीव्र-
तरा प्रकृष्टतरा प्रीतिर्भवति । सा च द्राघीयांसं च कालमनुवर्तते ॥ २३ ॥

अनु०—विक्रान्ते पदार्थों से युक्त अन्न से पितृगणों की और अधिक तथा दीर्घकाल तक सन्तुष्टि होती है ॥ २३ ॥

तथा धर्माहृतेन द्रव्येण तीर्थे प्रतिपन्नेन ॥ २४ ॥

धर्माल्लित यद्द्रव्यं पात्रे च प्रतिपादितं तेनाऽपि तथा तीव्रतरा पितृणां
प्रीतिर्द्वाधीयांसं च कालमिति ॥ २४ ॥

अनु०—इसी प्रकार धर्मपूर्वक उपाक्षित घन योग्य व्यक्ति को दान दिया जावा है तो अधिक तथा दीर्घकाल तक सन्तुष्टि होती है ॥ २४ ॥

संवत्सरं गव्येन प्रीतिः ॥ २५ ॥

उत्तरत्र मांसग्रहणाद्विहापि मांसस्य ग्रहणम् । गव्येन मांसेन संवत्सरं पितृणां
प्रीतिर्भवत् ॥ २५ ॥

अनु०—गो का मांस एक वर्ष तक सन्तुष्टि देता है ॥ २५ ॥

भूयांसमतो माहिषेण ॥ २६ ॥

माहिषेण मांसेन, अतः संवत्सरात् भूयांस बहुतरं कालं पितृणां प्रीतिर्भ-
वति ॥ २६ ॥

अनु०—भैंस का मांस उससे भी अधिक समय तक सन्तुष्टि देता है ॥ २६ ॥

एतेन ग्राम्यारण्यानां पशूनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम् ॥ २७ ॥

एतेन माहिषेण मांसेनाऽन्येषामपि ग्राम्याणामजादीनामारण्यानां च शशा-
दीनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम्—पितृणां प्रीतिकरमिति । मेध्यग्रहणं प्रतिपिद्धाना
मा भूदिति ॥ २७ ॥

अनु०—इस नियम से दूसरे पाञ्चू तथा जंगली पशुओं का मांस पितरों को
अपिब करना उनके लिए सन्तुष्टि देने वाळा समझना चाहिए ॥ २७ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने पौडशी कण्डिका ॥ १६ ॥

खड्गोपस्तरणे खड्गमांसिनाऽऽनन्त्यं कालम् ॥ १ ॥

खड्गचर्मोपस्तरणेष्वासनेपूपविष्टेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्तेन खड्गमांसिनाऽनन्ते कालं प्रीतिर्भवति । आनन्त्यमिति पाठे स्वार्थे ष्यब् ॥ १ ॥

अनु०—खड्ग (गौंडे) के चमड़े के ऊपर बैठे हुए ब्राह्मणों को अर्पित किया गया खड्ग का मांस अनन्तकाल तक पितरों को सन्तुष्टि प्रदान करता है ॥ १ ॥

तथा शतवलेमंत्स्यस्य मांसेन ॥ २ ॥

शतवलिर्वहुशल्यको रोहिवाह्यः ॥ २ ॥

अनु०—इसी प्रकार शतवलि नाम के मछली के मांस से भी अनन्त काल तक पितरों को वृत्ति होती है ॥ २ ॥

वाघ्राणसस्य च ॥ ३ ॥

व्याख्यातो वाघ्राणसः । तस्य मांसिनाऽऽनन्त्यं कालं प्रीतिर्भवति ॥ ३ ॥

अनु०—वाघ्राणस नाम के पक्षी के मांस से भी अनन्तकाल तक पितरों को वृत्ति होती है ॥ ३ ॥

प्रयतः प्रसन्नमनास्सृपो मोजयेद्ब्राह्मणान् ग्रह्यविदो

योनिगोत्रमन्धान्तेवास्यसम्बन्धान् ॥ ४ ॥

प्रयतः स्नानाचमनादिना शुद्धः प्रसन्नमनाः अर्घ्याहुलभनाः । सृष्टः उत्साहवान् । 'सृष्टश्चेद्ब्राह्मणवधे हत्वाऽपींतिदर्शनात् । 'वृत्तिसर्गातायनेषु क्रमः' इत्यत्र च सर्गं उत्साहः । एवंभूतो ब्राह्मणान् भोजयेत् । क्रीदशान् ? ब्रह्मविदः आत्मविदः । योन्यादिभिरसम्बन्धान् योनिसम्बन्धा मातुलादयः । गोत्रसम्बन्धाः सगोत्राः । मन्त्रसम्बन्धा ऋत्विजो याज्याश्च । अन्तेवासिसम्बन्धाः दिशाप्या आचार्याश्च ॥ ४ ॥

अनु०—यदित्र होकर, प्रसन्न मन से, उत्साहपूर्वक वेदज्ञ ब्राह्मणों को, जो विवाह सम्बन्ध, रक्तसम्बन्ध, यजमान-पुरोहित सम्बन्ध या रूढ़ शिष्य सम्बन्ध से सम्बन्धित न हों, भोजन करावे ॥ ४ ॥

गुणहान्यां तु परेषां समुदेतः सोदर्योऽपि भोजयितव्यः ॥ ५ ॥

यदि परे योनिगोत्रादिभिरसम्बन्धा वृत्तादिगुणहीना एव लभ्यन्ते, तदा समुदेतो विद्यावृत्तादिभिर्भुक्तः सोदर्योऽपि भोजयितव्यः किमुत मातुलादय इत्यपिशब्दस्याऽर्थः ॥ ५ ॥

अनु०—यदि दूसरे (अर्थात् विवाह, रक्त, मन्त्र, विद्याभयन के सम्बन्ध में न

अने वाले) ब्राह्मणों में गुणों का अभाव हो तो गुणत्रय सहोदर भाई को भी भोजन कराया जा सकता है ॥ ५ ॥

एतेनाज्ज्नेवासिनो व्याख्याताः ॥ ६ ॥

एतेन सोदयेण अन्तेवासिनः बहुवचननिर्देशात् पूर्वत्र निर्दिष्टा योन्या-
दिभिस्सम्बन्धास्सर्वे एव व्याख्याताः—अन्येषामभावे समुदेता भोजयितव्या इति ।

अत्र मतः—

^१ 'एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हृदयकव्यधीः ।

अनुकल्पस्तु विज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥

^२ मातामहं मातुलं च स्वस्रायं शशुर गुरुम् ।

दीहित्र^३ विट्पतिं वन्द्यमुत्स्विग्याज्या च भोजयेत् ॥ इति ॥६॥

अनु०—इस नियम से (सहोदर भाई के साथ ही साथ) दूसरे सम्बन्धी और अन्तेवासी भी भोजन कराये जाने योग्य होते हैं ॥ ६ ॥

अथाप्युदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सवन्यिनो न भोल्या इत्यस्मिन्नर्थे धर्मज्ञा वचनमुदाहरन्ति ॥७॥

अनु०—इस सम्बन्ध में ये वचन उद्धृत किये जाते हैं : ॥ ७ ॥

सम्भोजनी ताम पिशाचमिक्षा नैपा पितृन् गच्छति नोऽथ देवान् ।
इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्सा ॥ ८ ॥

परस्परं सुञ्जतेऽस्यामिति सम्भोजनी । अधिकरणे ल्युट् । नामिदमस्याः
पिशाचमिक्षायाः । नैपा पितृन् गच्छति नाऽपि देवान् । किं तु क्षीणपुण्या पर-
लोकप्रयोजनरहिता सती इहैव चरति लोके यथा गीर्भतवत्सा गृहाभ्यन्तर एव
चरति न वहिर्गच्छति तद्वदेतन् ॥ ८ ॥

अनु०—(पञ्च में) भोजन करने वाले से सम्बद्ध व्यक्तियों को जो भोजन कराया जाता है वह भोजन पिशाचों को ही मिलता है । वह अन्न न तो पित्तों के पास पहुँचता है और न देवत.ओं के पास । वह भोजन पुण्यफल से विहीन होकर इसी लोक में उसी प्रकार भटकता है जिस प्रकार बछड़े के लो जाने पर गौ गोशाले के भीतर ही दूँदती हुई घूमती हो (बाहर न जा पाती हो) ॥ ८ ॥

तद्वयाचष्टे—

इहैव सम्भुञ्जतीति दक्षिणा कुलात्कुलं विनश्यतीति ॥ ९ ॥

सम्भुञ्जती परस्परभोजनस्य निमित्तभूता दक्षिणा श्राद्धे दानक्रिया गृह्यात्
गृहं गत्वा इहैव लोके नश्यतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनु०—सम्बन्धियों को दिया गया भोजन तथा दान इसी लोक में एक कुल से दूसरे कुल में जाकर नष्ट होता है ॥ ९ ॥

अथ बहुषु तुल्यगुणेषूपस्थितेषु कः परिग्राह्यः ?

तुल्यगुणेषु वयोवृद्धः श्रेयान्द्रव्यकृशश्चेत्सन् ॥ १० ॥

यों वयसा बृद्धरस तावद्ग्राह्यः । तत्रापि यो द्रव्येण कृशः ईप्सन् लिप्समानश्च भवति स ग्राह्यः । अद्रव्यकृशोऽपि अदृष्टोऽपि, द्वयोस्तु समवाये यथारुचीति ॥ १० ॥

अनु०—यदि निम्नलिख लोको में सभी के गुण समान हों तो उनमें जो ब्राह्मण अवस्था की दृष्टि से वृद्ध तथा जो निर्धन और भोजन करने के इच्छुक हों उन्हें भोजन के लिए बुलाना चाहिए ॥ १० ॥

पूर्वेद्युर्निवेदनम् ॥ ११ ॥

श्राद्धदिनात्पूर्वेषुरेव ब्राह्मणेभ्यो निवेदयितव्यम्—यः श्राद्धं भविता तत्र भवताऽऽहवनीयार्थं प्रसादः कर्तव्य इति ॥ ११ ॥

अनु०—श्राद्धकर्म से एक दिन पहले भोजन के लिए ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना चाहिए ॥ ११ ॥

अपरेद्युर्द्वितीयम् ॥ १२ ॥

अपरेद्युः श्राद्धदिने द्वितीयं निवेदनं कर्तव्यमद्य श्राद्धमिति ॥ १२ ॥

अनु०—दूसरे दिन दुबारा निमन्त्रण दिया जाता है ॥ १२ ॥

तृतीयमामन्त्रणम् ॥ १३ ॥

आमन्त्रणमाह्वानं भोजनकाले सिद्धमागम्यतामिति तत्तृतीयं भवति ॥ १३ ॥

अनु०—उसी दिन (भोजन तैयार हो जाने पर, भोजन के समय) तीसरा निमन्त्रण दिया जाता है ॥ १३ ॥

त्रिःप्रायमेके श्राद्धमुपदिशन्ति ॥ १४ ॥

न केवलं निवेदनमेव त्रिर्भवति । किं तर्हि यच्च यावच्च श्राद्धे तत्सर्वं त्रिरावर्त्यमित्येके मन्यन्ते । अत्र पक्षे होमभोजनपिण्डानामप्याद्युत्तिस्तस्मिन्नेवाऽपराद्धे ॥ १४ ॥

अनु०—कुछ धर्मज्ञों का मत है कि श्राद्ध में प्रत्येक कर्म तीन बार किया जाना चाहिए ॥ १४ ॥

यथाप्रथममेवं द्वितीयं तृतीयं च ॥ १५ ॥

येन प्रकारेण प्रथमश्राद्धं तथैव द्वितीयं तृतीयं च कर्तव्यम् ॥ १५ ॥

१. यद्वा वयो वृद्धो ग्राह्योऽद्रव्यकृशोऽपि । द्रव्यकृशोऽप्यवृद्धोऽपीति इति पाठः च०पु०

अनु०—बिस प्रकार प्रथम श्राद्ध के समय कर्म किये जाँय उसी विधि से दूसरे और तीसरे बार भी उन कर्मों की आवृत्ति की जाय ॥ १५ ॥

सर्वेषु वृत्तेषु सर्वतस्समवदाय शेषस्यग्रास वराह्यं प्राशनीयाद्यथोक्तम् ॥ १६ ॥

सर्वेषु श्राद्धेषु त्रिष्वपि वृत्तेषु समाप्तेषु सर्वतस्त्रयाणां श्राद्धानां य ओदनशेषतस्समवदाय ग्रासवराह्यं प्राशनीयात् यथोक्तं गृह्ये 'उत्तरेण यजुषा शेषस्य ग्रासवराह्यं प्राशनीया' इति । तत्र प्रयोगः 'पूर्वद्युनिवेदनम् । तद्वत् परेद्युः प्रातर्भोजनकाले आमन्त्रणं-सिद्धमागम्यतामिति । ततो होमादिपिण्डनिधानान्तमेकैकमपवृज्य ततः सर्वतस्समवदाय ग्रासावराह्यस्य^३ 'प्राणे निविष्टे' इति प्राशनमिति ॥ १६ ॥

अनु०—जब सभी श्राद्धों में (तीन बार) कर्म कर लिए जाँय तब सभी तीनों श्राद्धों से ब्यक्त लेकर एक छोटे ग्रास भर अन्न ग्राह्ययुक्त में बतलायी गई विधि के अनुसार खाए ॥ १६ ॥

उदीच्यवृत्तिस्त्वासनगतानां हस्तेषुदपात्रानयनम् ॥ १७ ॥

'प्रागुदञ्चौ विमजते हंसः क्षीरोदकं यथा ।

विदुषां शब्दसिद्धयर्थं सा नः पातु शरावती ॥'

इति वैयाकरणः । तस्याः शरावत्या उदकोर्बतिं उदीच्याः । तेषां द्युत्तिराचार आसनेषूपविष्टानां ब्राह्मणानां हस्तेषुदपात्रादर्थ्यपात्रादाद्याऽर्घ्यदानमिति । 'पितरिदं तेऽर्घ्यम्, पितामहेदं तेऽर्घ्यं, प्रपितामहेदं तेऽर्घ्यमिति मन्त्रा आश्वलायनके' यद्यद्युदीच्यवृत्तिरित्युक्तं, तथापि प्रकरणसामर्थ्यात् सर्वेषामपि भवति ॥ १७ ॥

अनु०—उत्तर के लोगों में यह प्रथा है कि वे आसन पर बैठे हुए ब्राह्मणों के हाथ में बलपात्र से जल लेकर रखते हैं ॥ १७ ॥

'उदधिप्रयतामग्नौ च क्रियता' मित्यामन्वयते ॥ १८ ॥

होमकाल 'उदधिप्रयतामग्नौ च क्रियतामि' त्यनेन मन्त्रेण ब्राह्मणानामन्वयते । मन्त्रे 'अधीष्टे चे' ति लोटप्रत्ययः ॥ १८ ॥

१. आ० प० ग० २१. ९ २. पूर्वद्युर्नवावरेभ्यो निवेदनं, इति च० पु० ।

३. 'प्राणे निविष्टोऽमृतं जुहोमि ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वय' इति मन्त्र ।

४. 'अद्युमै रक्षया नम इति शुशोकेन प्रकारेणार्घ्यं दद्यात्' ततस्तिहात् भाद्रमूर्धो विकिरेत्, इति अधिकः पाठो घ० ङ० पुस्तकयोः ।

५. आश्व० ग० ४. ८ ३. ।

६. पा० सू० ३. ३. ११६ () कुण्डलान्वर्गतो भागः य० पुस्तक एवास्ति ।

२१ आ० घ०

अनु०—होम के समय (जो ब्राह्मणों को भोजन कराने के ढींक पहले किया जाता है) 'उद्भिन्नयतामनौ च क्रियताम्' मन्त्र से ब्राह्मणों को अभिमन्त्रित किया जाता है। (मन्त्र का अर्थ है कि (रस सिद्ध अन्न से अद्य निकालने कां तथा अन्न में हवन करने की आप लोग अनुमति प्रदान करें) । १८ ॥

'काममुद्भिन्नयतां काममग्नौ च क्रियता'मित्यतिसृष्ट उद्धरेज्जुहुयाच्च ॥ १९ ॥

अथ ब्राह्मणाः काममुद्भिन्नयतां काममग्नौ च क्रियतामित्यतिसृष्टंयुः अनुजा-
नीयुः । तश्चातिसृष्ट उद्धरेज्जुहुयाच्च । उद्धरण नाम ब्राह्मणार्थं पक्वाद्भाद्वान्य-
स्मिन् पात्रे पृथक्करणम् । तत्सूत्रकारेण ज्ञापितमष्टावश्राद्धे ॥ १९ ॥

अनु०—(ब्राह्मणों के) 'अपनी इन्डा से अन्न को निकाल कर उसका हवन करो' ('काममुद्भिन्नयतां काममग्नौ च क्रियताम्' (इस प्रकार अनुमति देने पर) अन्न को अलग निकाले और हवन करे ॥ १९ ॥

स्वभिरपरपात्रैश्च श्राद्धस्य दर्शनं परिचक्षते ॥ २० ॥

(स्वभिरिति बहुवचनत् आमसूकरादीनां तादृशानां ग्रहणम् ।) अप-
पात्राः पतितादयः, प्रतिलोभादयश्च । तैः श्राद्धस्य दर्शनं परिचक्षते गर्हन्ते
शिष्याः । अतो यथा ते न पश्येयुस्तथा' परिश्रिते कर्तव्यमिति ॥ २० ॥

अनु०—कुत्से और गडित आदि अरपात्र यदि श्राद्ध कर्म देलने हैं तो उस
श्राद्ध कर्म को निन्दित माना जाता है ॥ २० ॥

शिवत्रशिषिषिषिष्टः परतल्पगाम्यायुवोयपुत्रशूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्या-
मित्येते श्राद्धे भुञ्जानाः पंक्तिपूषणा भवन्ति ॥ २१ ॥

'शिवत्रशिवत्री श्वेतकुट्टो । शिषिषिष्टः खलतिः । विष्टशोक इत्यन्त्रे । परतल्प-
गामी यः परतल्पं गत्वा अकृतप्रायश्चित्तः तस्य ग्रहणम् । आयुधोयपुत्रः क्षत्रिय-
शृत्तिमाश्रितो य आयुषेन जीवति ब्राह्मणः तस्य पुत्रः । शूद्रेण 'ब्राह्मण्यामुत्पन्न
इचण्डालः । न तस्य प्रसङ्गः । 'श्राह्मणान् ब्रह्मविद्' इत्युक्तत्वात् । तस्मादेवं व्या-
ख्येयम्—कर्मविवाहे यः शत्रूणां पूर्वमुत्पाद्य पश्चात् ब्राह्मण्यामुत्पादयति तस्य पुत्रः
शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यामिति । स हि पिता शत्रुः सम्पन्नः । श्रूयते हि 'तञ्जाया
जाया भवति यदस्यां जायते पुनरि' ति । स्मर्यते च—

१० यदुच्यते द्विजातानां शूद्राहारपरिग्रहः ।

न तन्मम मत्वं यस्मात्तत्राऽयं जायते स्वयम् ॥' इति ।

१. 'परिश्रितेन' इति. क० च० पु० । २. शिवत्री० म शिवत्री कुशी० इति व० पु० ।

३. ऐ० वा० उ. ३. १३. ४. था० लु० १. ५७.

‘एते शिवत्रयादयः श्राद्धे भुञ्जानाः पण्डित्क दूषयन्ति । अतस्ते न भोज्या इति ॥ २१ ॥

अनु०—इवेत कुट्ट के रोगी, गंजे तिर बाला, दूसरे की पत्नी से मैथुन करने वाला, क्षत्रिय का कर्म करने वाले ब्राह्मण का पुत्र, ऐसे ब्राह्मण का ब्राह्मणो से उत्तम पुत्र जो पहले शूद्रा पत्नी से विवाह करके शूद्र बन गया हो श्राद्ध न भोजन करने पर पण्डितों को दूषित करते हैं ॥ २१ ॥

त्रिमधुच्छिनुवर्णाच्छिणाचिकेतश्चतुर्मेघः पञ्चासिज्येष्टसामिको वेदाध्यायनूचामपुत्रः श्रोत्रिय इत्येते श्राद्धे भुञ्जानाः पण्डक्तिपावना भवन्ति ॥२१॥

‘मधुघाता ऋतायत’ :त्येय तृचः त्रिमधुः । तत्र हि प्रस्यूचं त्रयो मधुशब्दाः । इह तु तदध्यायी पुरुषस्त्रिमधुः । त्रिसुपर्णः ‘चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा’ इत्यादिकस्तृचो बाह्वृचः । अन्ये तु तैत्तिरीयके ‘ब्रह्ममेतु मा’ मित्यादयः त्रयोऽनुषाका इत्याहुः । तत्र हि ‘य इमं त्रिसुपर्णमयाचितं ब्राह्मणाय दद्यादिति श्रूयते ‘आसहस्रान् पण्डक्ति पुनन्तो’ति च । पूर्ववत्सुरूपे श्रुतिः । त्रिणाचिकेतः नाचिकेताग्निर्वह्नीषु शाखासु विधीयते तैत्तिरीयके, कठवह्नीषु, शतपथे च । तं यो वेद् मन्त्रब्राह्मणेन सह स त्रिणाचिकेतः नाचिकेताग्नेस्त्रिभेदेत्यन्ये । विरजातुकाध्यायीत्यन्ये, प्राणापानेत्यादि । चतुर्मेघः अश्वमेधः, सर्वमेधः, पुरुषमेधः, पितृमेध इति चत्वारो मेघाः । तदध्यायी चतुर्मेघः । चतुर्णां यज्ञानामाहर्तव्यन्ये । पञ्चाग्निः

१. इतः पूर्वं इष्वह्नीयतिः वृषकी धृद्रकन्या अदत्ता रक्षत्वला च वृषली तस्याः पतिः निषिद्धद्रव्यविक्रैश्च तिलकम्बलसविक्रैश्च । राजन्त्ययः राक्षसकाष्ठात् श्रुति वेतनं गृह्णाति स राजभृत्यः ॥ ब्राह्मण्याग्नेवोत्सन्नसन् यस्योत्पादयिता सन्दिग्धः स तदुत्सन्न एवेति । शिषिषिषिषादयः श्राद्धे भुञ्जानाः, इति पाठो घ. पुस्तके ।

२. मधु बाता ऋताय, मधु नक्तमुतोपसि, मधुमाद्यो वनस्पतिः (तै. सं ४. २.

६.) इति तिलः श्रुचः त्रिमधुः ।

३. चतुष्कपर्दा युवतिः, एकसुपर्णस्तमुद्रम्, सुपर्ण विप्राः, इति तिलः श्रुचः (ऋ. सं. ८. ६. १६.)

४. ब्रह्ममेतु माम्, ब्रह्ममेधवा, ब्रह्ममेधवा. तै. आ. (महानारायणोऽग्निषदि.) (३८, ३१, ४०) इति त्रयोऽनुवाकः त्रिसुपर्णः ।

५. तैत्तिरीयके. ब्राह्मणे तृतीयाष्टके एकादशे प्रपाठक आम्नातः । कठोरनिपदि प्रयमादित्रिषु बल्धीषु, शतपथे ।

६. नाचिकेताग्नेस्त्रिभेदेत्यन्ये, इति. च. पु.

७. प्राणाननव्यानोदानसनाना मे शुधन्तां ज्योतिरह विरबा विराम्मा भूयानं स्वाहा. (तै. आ. (महाना.) १५.) इत्यादिः विरवानुवाकः ।

सभ्यावसथाभ्यां सह । 'पञ्चानां काठकान्नीनामध्येता वा । ज्येष्ठसाम तलवकारिणां प्रसिद्धं उदु त्यं, चित्रमित्येतयोर्गीतम् । तद्वायतीति ज्येष्ठसमागः । ज्येष्ठसामिक इति पाठे व्रीह्यादित्वात् ठन् । वेदाध्यायी स्वाध्यायपरः । अनुचानुत्रः त्रैविद्यपुत्रः । श्रोत्रिय इत्यपि पठन्ति । तदादरार्थं द्रष्टव्यम् । एते श्राद्धे सुज्जानाः पङ्क्तिं शोधयन्ति । वेदाध्यायीत्यस्याऽनन्तरमिति शब्दं पठन्ति । सोऽपपाठः । एतेन पञ्चान्नीत्यविभक्तिः कपाठो व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अनु०—'मधुवाता ऋतायते' आदि तीन-तीन बार मध शब्द से युक्त वेद की तीन ऋचाओं का अध्ययन करने वाला, तीन बार सुपर्ण शब्द से युक्त वेद के अंश का ज्ञान रखने वाला, तीन बार नाचिकेत अर्घन का चयन करने वाला, (अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध) चार यज्ञों पर उपयोग में आने वाले मन्त्रों का ज्ञान रखने वाला, पाँच अग्नियों को प्रव्वलित रखने वाला, ज्येष्ठ साम का ज्ञाता, दैनिक अध्यवसाय करने वाला, अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद का अध्यापन करने में समर्थ ब्राह्मण का पुत्र, तीन विद्याओं के ज्ञाता का पुत्र तथा श्रोत्रिय—ये श्राद्ध में खाने पर पंक्ति को पवित्र करते हैं ॥ २२ ॥

न च नक्तं श्राद्धं कुर्वीत ॥ २३ ॥

श्राद्धकर्मण्यारब्धे कारणाद्विलम्बे मध्ये यदादित्योऽस्तमियात् तदा श्राद्ध-शेषं न कुर्वीत, अपरेद्युर्दि वैव कुर्वीतिति ॥ २३ ॥

अनु०—श्राद्ध का कोई कर्म रात्रि को न करे ॥ २३ ॥

आरब्धे चाऽभोजनमासमापनात् (अन्यत्र राहुदर्शनात्) ॥ २४ ॥

पूर्वेद्युर्निवेदनप्रभृत्यापिण्डनिधानान्मन्त्रे कर्तुर्भोजनप्रतिषेधः । अनन्तरमन्यत्र राहुदर्शनादिति पठन्ति । 'न च नक्त' मित्यस्यापवादः राहुदर्शने नक्तमपि कुर्वीतिति । इदीन्द्र्यास्त्वेतत्प्रायेण न पठन्ति । तथा च पूर्वैर्न व्याख्यातम् । प्रत्युत 'न च नक्त'मित्येतत् सोमग्रहणविषयमिति व्याख्यातम् । पठ्यमानं तु न च नक्तमित्यस्यानन्तरं पठितुं युक्तम् ॥ २४ ॥

इत्यापगतम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने सप्तदशी कण्डिका ॥ १७ ॥

अनु०—श्राद्ध कर्म आरम्भ करने के बाद जब तक वह समाप्त न हो जाय तब तक भोजन न करे (रात्रि में चन्द्र ग्रहण हो तो उसे श्राद्ध कर्म के लिए अपवाद समझना चाहिए ॥ २४ ॥

इति आपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रचिन्तायामु-

ञ्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥

१. सावित्र, नाचिकेत, चालुक्येन, वैश्वख्येन, एणकेतुकाख्याः पञ्च चयनविधेयाः तैत्तिरीयब्राह्मणे ३ यादृके दशमदिगु त्रिगु (काठके. १. २. ३) षपाठकेषु समन्वया आग्नाताः पञ्चानयः । छान्दोग्योपनिषद्याग्नातपञ्चाग्निनिविद्याध्यायी पञ्चान्गिरिति मनो (२. १८५) मेधातियः ।

अथाऽष्टमः पटलः

विलयन मथित पिण्याक मधु मांस च वर्जयेत् ॥ १ ॥

विलयनं नवनीतमलम् । दस्य दूनी हस्तादिना मन्थनमात्रं न जलेन
मिश्रणं तन्मथितम् तथा च नैघण्टुकाः—

तर्कं ह्युद्दिष्टमथितं पादान्मवर्धाम्बु निर्जलमि' ति ।

यन्त्रपोडितानां तिलानां कल्कः पिण्याकम् । मधुमांसे प्रसिद्धे मांसमप्रति-
पिद्धमपि । एतद्विलयनादिकं वर्जयेत् ॥ १ ॥

अनु०—नवनीत, हाथ से मथा गया दधि, पीसे गए तिलों का पिण्ड, मधु
और मांस का वर्जन करना चाहिए ॥ १ ॥

कृष्णधान्यं शूद्राद्यं ये चान्येऽनाश्वसम्मताः ॥ २ ॥

कृष्णधान्यं^२ मापादि। न कृष्णा ग्रीहयः । शूद्रान्नं पक्वमपकं च । ये चान्येऽ-
नाश्वत्वेनाभोल्यत्वेन सम्मताः तांश्च वर्जयेत् ॥ २ ॥

अनु०—काले रंग के उद्दद आदि अन्न, शूद्र द्वारा दिया गया पका हुआ या
कच्चा अन्न अथवा दूसरे किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दिया गया अन्न, किसीका अन्न
खाने योग्य नहीं माना जाता, वर्जित है ॥ २ ॥

^३अहविलयमनृतं क्रोधं येन च क्रोधयेत् ॥ ३ ॥

अहविलयं क्रोत्रवादि अनृतं मिथ्यावचनम् । क्रोधः क्रोपः येन च कृतेनो-
क्तेन वा परं क्रोधयेत्, तच्च वर्जयेत् ॥ ३ ॥

अनु०—(क्रोदो आदि) यह मैं न दिया जाने योग्य अन्न, असत्यवचन, क्रोध
तथा दूसरे को कुण्ठित करने वाले वचन का वर्जन करे ॥ ३ ॥

स्मृतिमिच्छन् यशो मेधां स्वर्गं पुष्टिं द्वादशैतानि वर्जयेत् ॥ ४ ॥

स्मृतिरधिगतस्य स्मरणम् । यशः ल्यातिः । मेधा प्रज्ञा । द्वादशैतानि विलय-
नादीनि वर्जयेत् स्मृत्यादिकमिच्छन् । पुनर्वर्जयेदिति गुणार्थोऽनुवाचः स्मृत्या-
दिकं फल विधातुम् । द्वादशैतानीति वचनं विलयनादेरपि परिग्रहार्थम्, अहवि-
ष्यादिकमेवानन्तरीकृतं सा प्राहीदिति ॥ ४ ॥

१. अम'को. २. का. वै. ५३.

२. कुडरथादि इति घ. च. पुस्तकयोः, कृष्णकुडरथादि, इति ड. पु.

३. 'अहविलय'मित्यादि 'वर्जये' दित्यन्वयमेकग्रहं कः पुस्तके परम् ।

अनु०—उत्तम स्थिति, यश, बुद्धिमत्ता, स्वर्गीय सुख और समृद्धि की इच्छा रखने वाला इन चारही वस्तुओं और कर्मों का वर्जन करे ॥ ४ ॥

अधोनाभ्युपरि जान्वाच्छाद्य त्रिपवणमुदकमुपस्पृशन्नग्निपक्वृत्तिरच्छायोपगतस्थानासनिकस्संवत्सरमेतद्व्रतं चरेदेतदष्टाचत्वारिंशत्सम्मितमित्याचक्षते ॥ ५ ॥

अधोनाभ्युपरि जान्वाच्छाद्येति व्याख्यातम् (१. २४. ११) त्रिपवणं त्रिपुसर्वनेषु प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति उदकमुपस्पृशन् स्नानं कुर्वन् । अन्नग्निपक्व-युत्तिः, दृत्तिः शरीरयात्रा, सा अग्निपक्वेन न कार्या । अग्निग्रहणात् कालपक्व-स्याऽऽन्नादेरदोषः । अच्छाद्योपगतः द्वायामनुपगच्छन् । स्थानासनिकः स्थाना-सतवान् । दिवास्थानं रात्रावासनं न कदा चिच्छयनम् । एतत् 'विलयनं मथितं' मित्यारभ्याऽनन्तरमुक्तं संवत्सरं व्रतं चरेत् । एतद्व्रतमष्टाचत्वारिंशद्वर्ष साध्येन ब्रह्मचारिव्रतेन सम्मितं सदृशं यावत्स्य फलं तावदस्यापीत्याचक्षते धर्मज्ञाः । न केवलं स्मृत्यादिकमेव प्रयोजनमिति ।

अपर आह—'विलयनं मथितं' मित्यादिकं व्रतान्तरं स्मृत्यादिकामस्य । 'अधोनाभी' त्यादिकं पु सस्मितं व्रतमिति । एतच्च ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य च भवति ।

तथा च वौधायनः—

'अष्टाचत्वारिंशत्सम्मितमित्याचक्षते तस्य सङ्क्षेपः संवत्सरः । तं संवत्सर-मनुव्याख्यास्यामः—स यदि ब्रह्मचारी स्यान्नियमेव प्रतिपद्येत । अथ यद्यपि ब्रह्मचारी स्यात् केशशस्त्रश्लोमनखानि वापयित्वा तीर्थं गत्वा स्नात्वे'-त्यादि ॥ ५ ॥

अनु०—ऐसा वर धारण करे जो नाभि से नीचे से लेकर शुरुवे के ऊपर तक पहुँचता हो, प्रातःकाल, मध्याह्न तथा सन्ध्या समय स्नान करे, ऐसा अन्न खाये जो अग्नि पर न पकाया गया हो, कभी छाया में न रहे, दिन में खड़ा रहे, रात्रि की बेटे रहे, इस व्रत को एक वर्ष तक करे । धर्मज्ञों का बचन है कि इस व्रत का उतना ही फल होता है जितना अङ्गुलिसे कर्प तक निरन्तर ब्रह्मचर्य का फल होता है ॥५॥

नित्यश्चाद्धम् ॥ ६ ॥

अथाऽहरहः कर्तव्यं श्राद्धमुच्यते । तत्त नित्यश्राद्धमिति नाम ॥ ६ ॥

अनु०—अव नित्य श्राद्ध की विधि का विवेचन किया जाता है । ६ ॥

१. नैदमद्योपलम्बमानवौधायनीये धर्मेषु उपलभ्यते ।

वहिर्यामाच्छुचयः शुचौ देशे संस्कुर्वन्ति ॥ ७ ॥

तत्रित्यश्राद्धं वहिर्यामाच्छुचयं तस्याऽन्नसंस्कारः शुचौ देशे अन्नं संस्कुर्वन्ति । शुचय इति वचनमाधिक्यार्थम् । आर्याः प्रयत्ना इति पूर्वमेव प्रायत्स्य चिह्नित्वात् ॥ ७ ॥

अनु०— गौं से बाहर पवित्र स्थान पर पवित्र व्यक्ति इस प्रयोजन से अन्न पकाते हैं ॥ ७ ॥

तत्र नवानि द्रव्याणि ॥ ८ ॥

तत्र नित्यश्राद्धे द्रव्याणि नवान्येव ग्राह्याणि ॥ ८ ॥

कानि पुनस्तानि ?

अनु०— नित्य श्राद्ध में नौ द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं ॥ ८ ॥

यैरन्नं संस्क्रियते येषु च भुज्यते ॥ ९ ॥

यैर्भाण्डैरन्नं संस्क्रियते येषु च कार्यादियु सुज्यते तानि नवानीति ॥ ९ ॥

अनु०— उन्हीं से अन्न तैयार किया जाता है और उन्हीं पात्रों में अन्न खाना जाता है ॥ ९ ॥

तानि च भुक्तवद्भ्यो दद्यात् ॥ १० ॥

तानि भाण्डानि कांत्यादीनि च भुक्तवद्भ्यो ग्राहणेभ्यो दद्यात् । एवं प्रत्यहम् ॥ १० ॥

अनु०— उन पात्रों को भोजन करने वाले ब्राह्मणों को दे देना चाहिए ॥ १० ॥

समुदेतांश्च भोजयेत् ॥ ११ ॥

समुदेतवचनं गुणाधिक्यार्थम् ॥ ११ ॥

अनु०— सभी उचम गुणों से युक्त ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ११ ॥

न चाऽतद्गुणायोच्छृष्टं प्रयच्छेत् ॥ १२ ॥

भाण्डेषु यत् भुक्तशिष्टं तदिहोच्छिष्टम् । तदप्यतद्गुणाय भुक्तवतां चै गुणास्त्रहिताय न दद्यात् तद्गुणायैव दद्यादिति ॥ १२ ॥

अनु०— उस अन्न का जो अंश पात्रों में शेष बचा हो उसे किसी ऐसे ब्राह्मण को न खिलावे जो गुणों में उन ब्राह्मणों से हीन हो ॥ १२ ॥

एवं संवत्सरम् ॥ १३ ॥

एकमेतन्नित्यश्राद्धं संवत्सरं कर्तव्यमहरहः ॥ १३ ॥

अनु०— इस प्रकार एक वर्ष तक प्रतिदिन श्राद्ध करे ॥ १३ ॥

१. तदन्नामे एताति भुक्तवद्भ्यो ददाति तच्छिष्टानि भादे भुक्तवद्भ्य एव दद्यात् । इत्यधिकं घ० पुस्तके ।

तेवामुत्तमं लोहेनाजेन कार्यम् ॥ १४ ॥

तेषां संवत्सरस्याऽङ्घ्रां उत्तममहस्समाप्तिदिनम् । लोहेन लोहितवर्णेन अजेन
श्राद्धं कर्तव्यम् । दृश्यते चाप्यन्यत्राऽस्मिन्नर्थे लोहशब्दः—‘लोहस्तूपरो भवत्य-
प्यतूपरः कृष्णसारङ्गो लोहितसारङ्गो वै’ति । चमकेषु च भवति रक्ष्यासं च मे
लोहं च म’ इति ॥ १४ ॥

अनु०—इनमें अन्तिम आद लाल रंग के बकरे की बलि के साथ करे ॥ १४ ॥

मानं च कारयेत्प्रतिच्छन्नम् ॥ १५ ॥

मानं धिष्ण्व वेदिका । दृश्यते हि भिनोतेरस्मिन्नर्थे प्रयोगः अत्रेणाऽऽनीध्रं
चतुर उपपन्नार्थं विभितं विभिन्वन्ति पुरस्तादुन्नतं पश्चाच्चिनुतमि’ति । स एवा-
यमुपसर्गरहितस्य प्रयोगः । तं मानं कारयेत् कर्मकरैः, प्रतिच्छन्नं च तद्भवति
तिरस्कारिण्यादिना । इदमपि ग्रामाद्बहिरेव ॥ १५ ॥

अनु०—छिपाकर (तथा गाँव से बाहर) एक वेदी धनबाचे ॥ १५ ॥

तस्योत्तरार्धे ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १६ ॥

तस्य मानस्योत्तरस्मिन्नर्थे ब्राह्मणा भोजयितव्याः ॥ १६ ॥

अनु०—उसके उत्तर के आगे भाग में ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ १६ ॥

उभयान्पश्यति ब्राह्मणांश्च भुञ्जानान्माने च पितृनित्युपदिशन्ति ॥ १७ ॥
तस्यैवं कृतरथ कर्मणो महिम्ना उभयान् पश्यति, कांश्च कांश्च ब्राह्मणांन्भु-
ञ्जानान् तस्मिन्नेव च माने पितृन् यथा ब्राह्मणान् भुञ्जानान् प्रत्यक्षेण पश्यति
तथा माने समागतान् पितृनपि प्रत्यक्षेण पश्यतीत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः ॥ १७ ॥

अनु०—धर्मज्ञों का कथन है कि इस प्रकार वह भोजन करते हुए ब्राह्मणों को
तथा उस वेदी पर बैठे हुए पितरों को—दोनों को ही देखता है ॥ १७ ॥

कृताकृतमत ऊर्ध्वम् ॥ १८ ॥

अत ऊर्ध्वं मासिश्राद्धं क्रियताम्, मा वा कारि । अक्षणेऽपि न प्रत्यवाय
इति ॥ १८ ॥

अनु०—उसके बाद प्रत्येक मास में श्राद्ध करे अथवा बिल्कुल ही श्राद्ध न
करे ॥ १८ ॥

श्राद्धेन तृप्ति निवेदयन्ते पितरः ॥ १९ ॥

हि यस्मादन्त्येऽहनि यद्दर्शनमुपगच्छन्ति, तच्छ्राद्धेन तृप्तिं हि वेदयन्ते ज्ञा-
पयन्ति कर्तारम् । तस्मात् तत् कृताकृतमिति ॥ १९ ॥

१. लोहेन इति घ. पु.

२. वै सं. ४, ७. ५. “अनाधिष्णु सभोपसा”
इत्याद्या एकादशतुवाकाः चमका इत्युच्यन्ते ‘वने’ शुन्दयतितात् ।

अनु०—अन्तिम दिन वैदी पर उपस्थित हो कर पितृगण भाद्र से वृत्त होने की सूचना देते हैं ॥ १९ ॥

अथ पुष्टिकामस्य प्रयोगस्तिष्येणेत्यादिरुच्छिष्टं दद्युर्त्विन्त एकः ।

तिष्येण पुष्टिकामः ॥ २० ॥

अनु०—बो समृद्धि चाहता हो वह तिष्य नक्षत्र में—॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्नेऽष्टादशी कण्डिका ॥ १८ ॥

गौरसर्वश्रणा चूर्णानि कारयित्वा तैः पाणिपादं प्रक्षाल्य मुखं कर्णौ प्राश्य च यद्वातो नाऽतिवाति तदासनोऽजिनं वस्तस्य प्रथमः कल्पो वायतो दक्षिणामुखो भुञ्जीत ॥ १ ॥

पुष्टिकामः पुरुषो वक्ष्यमाणं प्रयोगं कुर्यात् । तिष्येण “नक्षत्रे च छुपी त्यधिकरणे तृतीया । तिष्ये नक्षत्रे गौराणां सर्पपाणां चूर्णानि कर्मकरैः कारयेत् । कारयित्वा तच्चूर्णैः पाणी पादौ प्रक्षाल्य मुखं कर्णौ च प्रक्षाल्य चूर्णशेषं प्राश्नीयात् । प्रास्येदिति पाठे प्रास्येत् विकिरेत् । एतावत् प्रवित्तिष्यं विशेषकृत्यम् । परं तु प्रत्यहं कर्तव्यम् । प्राश्य च यद्वासनं वातो नातिवाति अधो नातीत्य वाति तदासनस्तादृशासनः भुञ्जीतेति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । तत्र वस्ताजिनमासन स्यादिति मुख्य कल्पः । वायतो दक्षिणां द्दिशमभिमुखो भुञ्जीत ॥ १ ॥

अनु०—सफेद सरसो पित्तवाकर उसे हाथो, पैरो, कानों तथा मुँह के ऊपर पोतवाये और शेष चूर्ण को खावे । यदि वायु तेज न बहवी हो तो सुरबाप दक्षिण की ओर मुख करके किसी आसन पर बैठ कर खाए और यथासंभव आसन बकरे का चर्म होवे ॥ १ ॥

अनायुष्यं त्वैवंमुखस्य भोजनं मातुरित्युपदिशन्ति ॥ २ ॥

यदेवंमुखस्य दक्षिणामुखस्य भोजनं तत् भोक्तुर्यां माता तस्या अनायुष्यमना युष्यधर्ममिति धर्मज्ञा उपदिशन्ति । तस्मान्मातृमता नैतद्ब्रतं कार्यमिति ॥ २ ॥

अनु०—किन्तु शास्त्रशो का कथन है कि जो व्यक्ति इस भाद्र में इस प्रकार दक्षिण की ओर मुख करके भोजन करता है उसकी माता की आयु कम हो जाती है ॥ २ ॥

औदुम्बरश्रमसः सुवर्णनाभः प्रशास्तः ॥ ३ ॥

चतु भक्षणे । यत्र चम्यते स चमसो भोजनपात्रम् । औदुम्बरस्ताम्रमयः सुवर्णेन मध्येऽलंकृतस्तस्य प्रशास्तः प्रशस्तो भोजने ॥ ३ ॥

अनु०—इस अवसर पर प्रयोग किया जाने वाला चमस ताँबे का हो और उसका मध्य भाग सोने से अलंकृत हो, इस प्रकार का चमस भोजन के समय उचम होता है ॥ ३ ॥

नचाऽन्येनाऽपि भोक्तव्यम् ॥ ४ ॥

नचान्यनोपि कर्तुः पित्रापि तत्र पत्रे भोक्तव्यम् । अपिथ्यात्वार्थानुवादी । भोक्तव्य इति पुंलिङ्गपाठेऽप्येव एवार्थः ॥ ४ ॥

अनु०—उसमें कोई दूसरा व्यक्ति भी भोजन न करे ॥ ४ ॥

यावदग्रासं सन्नयन्नस्कन्दयन्नाऽपजिहीताऽपजिहीत वा कृत्स्नं ग्रासं ग्रसति सहाङ्गुष्ठम् ॥ ५ ॥

यावदेव सकृत् ग्रसितुं शक्यं तावदेव सन्नयन् पिण्डोक्तवन् । अस्कन्दयन् भूमावन्लेपानपातयन् कृत्स्न ग्रासं प्रसीतेत्यन्वयः । सहाङ्गुष्ठमास्येऽपि ग्रासप्रवेशो यथाङ्गुष्ठोऽप्यनुप्रविशति तथा सर्वानेव ग्रासानुक्तेन प्रकारेण ग्रसति प्रसवो मध्ये क्रियान्तरविधिः—नाऽपजिहीत भोजनपात्रं सन्व्येन पाणिना न चिसुञ्चेत् । अपजिहीत वा विनुञ्चेद्वा । किमर्थमदिन् यावता न प्रकारान्तरं सम्भवति, सत्यं, 'प्रक्रमान्तु नियम्यत' इति न्यायेन य एव प्रकारः प्रथमे भोजने स एवाऽऽन्तादनुष्ठातव्य इत्येवार्थमिदम् ॥ ५ ॥

अनु०—जितना ग्रास एक बार में खा सके उतने अन्न का पिण्ड बनावे, उसमें से थोड़ा भी अन्न भूमि पर न गिरने दे, भोजन पात्र को बाएँ हाथ से न छोड़े, अथवा उसे बाएँ हाथ से छोड़ भी सकता है । उस सम्पूर्ण ग्रास को अगूठे की मुल में ढालते हुए एक ही बार में निगल आवे ॥ ५ ॥

न च मुखशब्दं कुर्यात् ॥ ६ ॥

भोजनदशायानिदम् । एवमुत्तरम् ॥ ६ ॥

अनु०—ऐसा करते समय मुख से किसी प्रकार का शब्द न करे ॥ ६ ॥

पाणिं च नाऽन्नघ्नूयात् ॥ ७ ॥

पाणिरत्र दक्षिणः ॥ ७ ॥

अनु०—खाते समय अपने दाहिने हाथ को न हिलावे ॥ ७ ॥

आचम्य चोर्ध्वौ पाणौ धारयेदाप्रोदकीभावात् ॥ ८ ॥

भुक्त्वाऽऽचम्य पाणी ऊर्ध्वौ धारयेन् यावन् प्रगतोदकीं शुष्कोदकी भवतः ॥ ८ ॥

अनु०—खा लेने के बाद आचमन कर अपने हाथों को तत्र तक उपर उठाने रखे जब तक हाथों में लगा बल न बूझ जाय ॥ ८ ॥

ततोऽग्निमुपस्पृशेत् ॥ ९ ॥

मुक्त्वा नियमोनाग्निरुपस्पृशेत् ॥ ९ ॥

अनु०—उसके बाद अग्नि का स्पर्श करे ॥ ९ ॥

दिवाच न भुञ्जीताऽन्यमूलफलेभ्यः ॥ १० ॥

मूलाग्नि कन्दाः । फलान्यात्रादीनि । तेभ्योऽन्यदिवा न भुञ्जीत । तद्गक्षणे न दोषः ॥ १० ॥

अनु०—इन श्राद्ध के करते समय दिन में मूल और फल के अतिरिक्त कुछ भी न खाए ॥ १० ॥

स्थालीपाकानुदेश्यानि च वर्जयेत् ॥ ११ ॥

'तेन सर्पिष्मता ब्राह्मणं भोजये' दित्यादौ ब्राह्मणो भूत्वा न भुञ्जीत अनुदे-
श्यानि च पितृभ्यो देवताभ्यश्च सङ्कल्पितानि च न भुञ्जीत ॥ ११ ॥

अनु०—स्थालीपाक का तथा पितृगण या देवों के लिए संकल्पित अन्न का भोजन न करे ॥ ११ ॥

सोत्तराच्छादनश्चैव यज्ञोपवीतो भुञ्जीत ॥ १२ ॥

उत्तराच्छादनमुपरिवासः । तेन यज्ञोपवीतेन यज्ञोपवीतं कृत्वा भुञ्जीत ।
नाऽस्य भोजने "अपि वा सुत्रमेवोपवीताथे" इत्ययं कल्पो भवतीत्येके । समु-
चय इत्यन्ये ॥ १२ ॥

अनु०—उत्तरीय वस्त्र को बायें कन्धे के ऊपर तथा दाहिनी मुजा के नीचे लपेट कर भोजन करे ॥ १२ ॥

नैयमिकं तु श्राद्धं स्नेहवदेव दद्यात् ॥ १३ ॥

यन्नियमेन कर्तव्यं मासि श्राद्धं, तत् स्नेहद्रव्ययुक्तमेव दद्यात् । न
शुष्कम् ॥ १३ ॥

अनु०—नियम पूर्वक किये जाने वाले मासिक श्राद्ध में चिकनाई से युक्त भोजन देना चाहिए । ॥ १३ ॥

तत्र विशेषः—

सर्पिर्मांसमिति प्रथमः कल्पः ॥ १४ ॥

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

अनु०—श्री तथा मांस से युक्त भोजन सर्वोत्तम समझा जाता है ॥ १४ ॥

अभावे तैलं शाकमिति ॥ १५ ॥

सर्पिणोऽभावे तैल मांसस्याऽभावे शाकम् । इतिशब्दाद्यचान्यदेव युक्तम् ॥ १५ ॥

अनु०—इन वस्तुओं का अभाव होने पर तैल और शाक से युक्त भोजन दे ॥ १५ ॥

मघासु चाधिकं श्राद्धकल्पेन सर्पिव्रह्मिणान् भोजयेत् ॥ १६ ॥

मघासु पूर्वपक्षेऽपि श्राद्धविधानेन सर्पिर्मिश्रमन्नं ब्राह्मणान् भोजयेत् ॥ १६ ॥

अनु०—मघा नक्षत्र में अधिक ब्राह्मणों को श्राद्ध के नियम के अनुसार द्रव्य मिश्रित अन्न का भोजन करावे ॥ १६ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकोनविंशो कण्डिका ॥ १९ ॥

मांसि श्राद्धे तिलानां द्राणद्रोण येनोपायेन शवनुयात तेनोपयो-
जयेत् ॥ १ ॥

येनोपायेनोपयोजयितुं शक्नुयात् अभ्यङ्गे, उद्धतने, मद्दये, भोज्ये चेति तेनो-
पायेन मांसिश्राद्धे तिलानां द्रोणं द्रोणमुपयोजयेत् । तत्रैकैकस्य ब्राह्मणस्य
तिलानां द्रोणं द्रोणमुपयोजयितुमशक्यत्वात् समुदितानुपयोजयेत् । द्रोणद्रोणमिति
चोप्सायचनं तु प्रतिमासिश्राद्धमुपयोजनार्थमिति केचित् । अन्ये तु एवंभूताः
प्रवलाः प्रयत्नेनाऽन्विष्य भोजयितव्या इति ॥ १ ॥

अनु०—प्रत्येक मासिक श्राद्ध पर एक द्रोण तिल जिस उपाय से संभव हो सके
उस उपाय से खर्च करे ॥ १ ॥

समुदेतांश्च भोजयेन्न चाऽतद्गुणायोच्छिष्टं दद्युः ॥ २ ॥

व्याख्यातमिदम् । दद्युरिति बहुवचनं तथाविधकर्तृबहुत्वापेक्षम् । वचन-
व्यत्ययो वा ॥ २ ॥

अनु०—सभी उत्तम गुणों से युक्त ब्राह्मणों को भोजन करावे और उस अन्न के
अवशिष्ट शंश को ऐसे ब्राह्मणों को न देवे जो गुण में उन ब्राह्मणों से हीन
होवें ॥ २ ॥

अथ पृष्टिकामस्यैवाऽपरः प्रयोग आ पटलसमाप्तः—

उदगयन आपूर्यमाणवसस्यैकरात्रमवराध्यंमुषोष्य तिथ्येण पुष्टि-
कामः स्थालीपाकं श्रवयित्वा महाराजमिष्ट्वा तेन सर्पिष्मता ब्राह्मणं
भोजयित्वा पुष्टयर्थेन सिद्धिं वाचयोट ॥ ३ ॥

पुष्टिकामः पुरुष एकरात्रावरमुपवास कृत्वा उदगयत आपूर्यमाणपक्षस्य पूर्व-
पक्षस्य सम्बन्धिना तिव्येण तस्मिन्नक्षत्रे स्थालीपाकं श्रपयित्वा महाराजं
वैश्रवणं यजेत । आव्यभागान्ते महाराजाय स्वाहेति प्रधानहोमः । स्विष्टकृदा-
द्विजयाद्वयः । परिपेचनान्ते तेन सर्पिष्मता स्थालीपाकेन ब्राह्मणं भोजयेत् ।
उत्तरविवक्षयेदं यचनम् । भोजयित्वा सिद्धिं वाचयीत पुष्टिरस्त्विति ॥ ३ ॥

अनु०—समृद्धि चाइने वाला श्राद्धकर्ता उत्तरायण में विष्व नक्षत्र होने पर, मास
के प्रथम पक्ष में कम से कम एक दिन और एक रात्रि उपवास करके स्थायीपाक
पकवावे और महाराज कुवेर के लिए अर्पित करे, द्युत मिलाकर उस अन्न से एक
ब्राह्मण को भोजन करावे और पुष्टि अर्थ वाले मन्त्र का पाठ कराकर समृद्धि को
शुभाशंसा करावे ॥ ३ ॥

एवमहृत्हरापरस्मात्तिष्यात् ॥ ४ ॥

एवमिदं स्थालीपाकश्रपणादिसिद्धिवाचनान्तमद्ग्रहः कर्तव्यमापरस्मात्ति-
ष्यात् यावदपरस्तिष्य आगच्छति ॥ ४ ॥

अनु०—अगले विष्व नक्षत्र के आने तक इस कर्म को प्रतिदिन करे ॥ ४ ॥

द्वौ द्वितीये ॥ ५ ॥

द्वितीये तिव्ये प्राप्ते द्वौ भोजयेत् । अन्यत्समानम् । एवमावृतीयात् ॥ ५ ॥

अनु०—दूसरे विष्व दिन को दूसरे मास में दो ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ५ ॥

त्रीस्तृतीये ॥ ६ ॥

तृतीये तिव्ये त्रीन् भोजयेदाचतुर्थात् ॥ ६ ॥

अनु०—तीसरे विष्व दिन को तीसरे मास में तीन ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ६ ॥

एवं संवत्सरमभ्युच्चयेन ॥ ७ ॥

एवमेतत्कर्म यावत्संवत्सरः पूर्यते तावत् कर्तव्यम् । ब्राह्मणभोजनं चाऽभ्यु-
च्चयेन भवति । चतुर्थाप्रभृति चत्वारः, पञ्चमप्रभृति पञ्चेत्यादि ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार एक वर्ष तक यह कर्म किया जाता है और प्रत्येक मास में
एक-एक ब्राह्मण की संख्या बढ़ाई जाती है ॥ ७ ॥

एवं कृते फलमाह—

महात्तं पोषं पुष्यति ॥ ८ ॥

महत्या पुष्टया युक्तो भवति ॥ ८ ॥

१. कुवेराय वैश्रवाणाय । महाराजाय नमः (तै. आर. १. ३१.) इति मन्त्र वैश्र-
वणस्य महाराजर्षदेन सामानाधिकरण्यात् ॥

अनु०—इस प्रकार अत्यन्त समृद्धि की प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

आदित एवोपवासः ॥ ९ ॥

उपवासस्त्वादित एव पुण्ये भवति । न प्रतिपुण्यम् ॥ ९ ॥

अनु०—किन्तु उपवास केवल मथन दिन को किया जाता है ॥ ९ ॥

आत्ततेजसां भोजनं वर्जयेत् ॥ १० ॥

आत्ततेजांसि तक्रवाजिनादीनि । तानि नोपभुञ्जीत ॥ १० ॥

अनु०—उन वस्तुओं के भोजन का परहेज करे किन्में तेज होता है (जैसे तक्र, दधि आदि) ॥ १० ॥

भस्मनुषाधिष्ठानम् ॥ ११ ॥

वर्जयेदित्येव । भस्मनुषांश्च नाऽधितिष्ठेत् नाऽऽक्रामेत् ॥ ११ ॥

अनु०—भस्म के ऊपर या घृसे के ऊपर न चले ॥ ११ ॥

पदा पादस्य प्रक्षालनमधिष्ठानं च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

एक्रेण पादेन पादान्तरस्य प्रक्षालनं अधिष्ठानं च वर्जयेत् न कुर्यात् ॥ १२ ॥

अनु०—एक पैर से दूसरे पैर को न धोवे और एक पैर के ऊपर दूसरा पैर न रखे १२ ॥

प्रेङ्खोलनं च पादयोः ॥ १३ ॥

प्रेङ्खोलनं दोलनमितस्तत्रालनम् ॥ १३ ॥

अनु०—धोनी पैरो को न हिलावे ॥ १३ ॥

जानुनि चाऽऽयाधानं जङ्घायाः ॥ १४ ॥

एकस्मिन् जानुनि इतरस्या जङ्घायाः अत्याधानमवस्थापनं च वर्जयेत् ॥ १४ ॥

अनु०—एक घुटने के ऊपर दूसरी बंधा को न स्थापित करे ॥ १४ ॥

नवैश्च नखवादनः ॥ १५ ॥

स्पष्टम् ॥ १५ ॥

अनु०—नखों से नखों को न रगड़े ॥ १५ ॥

स्फोटनानि चाऽकारणात् ॥ १६ ॥

पर्वसन्धीनां स्फोटनानि वर्जयेत् अकारणात्, कारणं ध्रमवातादि । वाद-

नरस्फोटनानीति समासपाठेऽप्येव एवार्थः ॥ १६ ॥

अनु०—बिना कारण के अंगुलियों से आवाज न करे ॥ १६ ॥

यच्चान्यत्परिचक्षते ॥ १७ ॥

यच्चान्यत्पदेवं उक्तव्यतिरिक्त कृणुच्छेदनादि शिष्टाः परिचक्षते गह्वन्ते तदपि वर्जयेत् ॥ १७ ॥

अनु०—अन्य कर्मों को भी न करे जिनका विशेष किया गया है ॥ १७ ॥

योक्ता च धर्मयुक्तेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च ॥ १८ ॥

एकश्चशब्दोऽनर्थकः । केचिन्नैव पठन्ति । धर्माविरुद्धा ये द्रव्यपरिग्रहास्तेषु च योक्ता ज्ञपाद्रजिता स्यान्निरोहस्स्यात् ॥ १८ ॥

अनु०—धर्म के अनुसार द्रव्य का उपभोग करने में सम्मन होवे ॥ १८ ॥

प्रतिपादयिता च तीर्थे ॥ १९ ॥

तीर्थे गुणवत् पात्रं, यज्ञो वा । तत्र द्रव्यस्याऽजितस्य प्रतिपादयिता स्यान् ॥ १९

अनु०—योग्य व्यक्ति को या बहुरूपों के ऊपर धन व्यय करे ॥ १९ ॥

यत्ता चाऽतीर्थे यतो न भयं स्यात् ॥ २० ॥

यत्ता नियन्ता अप्रदाता अतीर्थे अप्रदाता च स्यात् । यतः पुरुषादप्रदानेऽपि न भयं स्यात् । भयसम्भवे तु पिशुनादिभ्यो देयम् ॥ २० ॥

अनु०—(किसी) अयोग्य व्यक्ति को कोई वस्तु न दे, जिससे उसे भय न हो ॥ २० ॥

सप्रद्वीता च मनुष्यान् ॥ २१ ॥

अर्थप्रदानप्रियवचनानुसरणादिभिर्भुष्याणां सद्ग्रहणशीलस्स्यात् ॥ २१ ॥

अनु०—अर्थ देकर तथा प्रिय वचन से मनुष्यों से मित्रता रखे ॥ २१ ॥

भोक्ता च धर्माविप्रतिपिद्वान् भोगान् ॥ २२ ॥

भोक्ता च धर्माविप्रतिपिद्वान् भोगान् ॥ २२ ॥
धर्माविरुद्धा चे भोगाः सक्चन्दनस्वभायोऽसेवनादयः, तेषां च भोगशाल-
स्यान् ॥ २२ ॥

अनु०—उन सुखों का भोग करे जो धर्म के द्वारा निषिद्ध नहीं हैं ॥ २२ ॥

एवमभौ लोकावमिजयति ॥ २३ ॥

एवं महत्या पुष्ट्या युक्त उक्तप्रकारस्मृतिष्ठन्नुभौ लोकावमिजयति भोगेनेमं
लोकं, तीर्थे प्रतिपादनेन चाऽसुं लोकमिति ॥ २३ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने विशो कण्डिका ॥ २० ॥

अनु०—इस प्रकार वह दोनों लोकों को प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

इति चापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने चिद्विचितायानु-

बन्धलायां द्वितीयप्रश्नेऽष्टमः पटलः ॥ ८ ॥



अथ नवमः पटलः

‘सर्वाश्रमाणां समयपदानो’ लुक् पुरस्तात् । के पुनस्ते आश्रमाः ? इत्यत आह-

चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यम्, आचार्यकुलं, मौनं, वानप्रस्थ्यमिति ॥ १ ॥
आश्रम्यन्त्येषु श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमाः । एषा सामान्यसंज्ञा । गृहे तिष्ठति कुटुम्बरक्षणपर इति गृहस्थः । तस्य भावो गार्हस्थ्यम् । स एक आश्रमः । आचार्यकुलं तत्र वासो लक्षणया सोऽप्येकः । ‘मनु अववोधन’ मनुत इति मुनि-ज्ञानपरः । तस्य भावो मौनम् । सोऽपरः । वनं प्रतिष्ठत इति वनप्रस्थः । स एव वानप्रस्थः । प्रज्ञादित्वाद्गुणं । तस्य भावो वानप्रस्थम् । इतिशब्दः परिस-माप्त्यर्थः एतावन्त एवाऽऽश्रमा इति । चतुर्णामिवोपदेशोऽपि चत्वार इति व-चनं “एकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्येति स्तुत्यन्तरोक्तं मा प्राहोदिति ॥ १ ॥

अनु०—आश्रम चार हैं, गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (अर्थात् आचार्य कुल में निवास, ब्रह्मचर्याश्रम), मौन (अर्थात् संन्यास) तथा वानप्रस्थ ॥ १ ॥

तेषु सर्वेषु पथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति ॥ २ ॥

तेवाश्रमेषु चतुर्ष्वपि यथाशास्त्रमव्यग्रस्समाहितमना भूत्वा यो वर्तते, स क्षेममभयं पदं गच्छति । अनेनाऽऽश्रमविकल्प उक्तो वेदितव्यः निश्रेयसार्थिना-ऽन्यतमस्मिन्नाश्रमे यथाशास्त्रमचहितेन वर्तितव्यमिति । तथा च गौतमः-

‘तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवत’ इति ॥ २ ॥

अनु०—इन सभी आश्रमों में शास्त्र के नियम के अनुसार, विज्ञो से विचलित न होते हुए निवास करने वाले व्यक्ति का क्षेम होता है ॥ २ ॥

सर्वेषामुपनयनप्रभृति समान आचार्यकुले वासः ॥ ३ ॥

उपनयनप्रभृति य आचार्यकुले वासोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षादीनामन्यतमस्स सर्वेषामाश्रमाणां समानः ॥ ३ ॥

अनु०—उपनयन के समय से गुरुकुल में निवास का कर्तव्य सभी के लिए समान रूप से होता है ॥ ३ ॥

सर्वेषामनुत्सर्गो विद्यायाः ॥ ४ ॥

अनृत्सर्गः छान्दसो दीर्घः । विद्याया अनृत्सर्गोऽपि सर्वेषामाश्रमाणां ।
समानः तस्मादाचार्यकुले वासस्समान इति ॥ ४ ॥

अनु०—विद्या को परियाग न करना भी सभी का कर्तव्य होता है ॥ ४ ॥

वृद्धवा कर्माणि यत्कामयते तदारभेत ॥ ५ ॥

प्रत्याश्रमं यानि कर्माणि विहितानि तानि बुद्ध्वा गृहस्थस्येतानि कर्त-
व्यानि । एषामननुष्ठाने प्रत्यवायः । फलं चेदमेषाम्, एतानि शक्यान्त्यनुष्ठानुं,
नैतानीत्याचार्योऽपुश्रुत्य यत्कर्म फले वा कामयेत तदारभेत तमाश्रमं प्रति-
पद्येतेति ॥ ५ ॥

अनु०—प्रत्येक आश्रम में किए जाने वाले कर्मों को जानकर वैसा करना चाहे
वैसा करे । (जिस कर्मफल की इच्छा हो वैसा कर्म करे) ॥ २ ॥

तत्र गार्हस्थ्यस्य पूर्वमेव प्रपञ्चित्वाद्दक्षयनानन्तरं प्रतिपत्सित्तयाऽऽचार्य-
कुलस्य स्वरूपमाह—

यथा विद्यार्थस्य नियम एतेनैवान्तमनूपसीदत आचार्यकुले शरीर-
न्यासो ब्रह्मचारिणः ॥ ६ ॥

यथा विद्यार्थस्य उपकुर्वणस्य ब्रह्मचारिणः 'अथ ब्रह्मचर्यविधि'रित्यारभ्या-
ऽग्नीन्धनादिनियम इक्तः, अतस्तेनैव नियमेनाऽऽन्तमाशरीरपालादनपसीदतः
इपसदनमेवानूपसदनं तदुर्वृतः आचार्यकुले शरीरन्यासः परित्यागो भवति
ब्रह्मचारिणो नैष्टिकस्य । तत्रैवाऽऽमरणान्तिष्ठेत्, नाऽऽश्रमान्तरं गच्छेत् । यद्वि-
तमेवाश्रममात्मनः क्षेमं मन्येतेति । मनुः—

‘आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुषुत्रे गुणान्विते ।

गुरुद्वारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥

एषु त्वयिद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् ।

प्रयुञ्जानोऽनिशुश्रूपां साधयेद्देहमात्मनः ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।

स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेद्वाऽऽजायते पुनः ॥’ इति ॥ ६ ॥

अनु०--बो विद्यार्थी के नियम बताये गये हैं उन्हीं नियमों का धन्व तक पालन
करते हुए तथा पूजन विधि का पालन करते हुए नैष्टिक ब्रह्मचारी आचार्य के कुल
में शरीर छोड़े ॥ ६ ॥

अथ परिव्राजः ॥ ७ ॥

अथाऽनन्तरं परिव्राजो धर्मं लब्धते । दृष्टादृष्टार्थान् सर्वानेवाऽऽरम्भान्
पतित्यज्याऽऽत्मलाभाय संन्यासाश्रमं परिव्रजतेति परिव्राट् संन्यासो ॥७॥
अनु०—अत्र संन्यासो के नियमो का उल्लेख किया जाता है ॥ ७ ॥

अत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति ॥ ८ ॥

अत एव ब्रह्मचर्याश्रमादेव ब्रह्मचर्यवानविश्रुतब्रह्मचर्यः प्रव्रजति परिव्रज्यां
कुर्याद्यदि तथैव पश्चकपायो भवति । श्रयते च ' ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्
गृहाद्वा वनाद्दे'ति, 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति च । अत्र केचिदाहुः—
'अत एवे'ति वचनात् गृहाश्रमं प्रविष्टस्य तत्परित्यागेनाश्रमान्तरप्राप्तिराचार्य-
स्याऽनभिमतैवेति लक्ष्यते । तत्रायमभिप्रायः—दारपरिग्रहे सति 'यावज्जं वम-
ग्निहोत्रं जुहुयादिति श्रुत्या विरुध्यते । स कथं प्रव्रजेदिति । तस्मात्सत्यपि
वैराग्ये काम्यस्य कर्मणः परित्यागेन नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि कुर्वन्
प्रतिपिद्धानि वर्जयन् गृहस्थ एव मुच्यत इति । तथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

‘न्यायजितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिम्रियः ।

श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥' इति ।

अथ योऽनाहिताग्निस्तस्य विरक्तस्य गुन्याश्रमप्रवेशे को विरोधः ? ऋण-
श्रुतिविरोधः—'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्यज्ञेण जायते ब्रह्मचर्येणपिभ्यो
यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति । मनुरपि—

‘ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो ब्रजत्यधः ॥' इति ।

मोक्षो मोक्षाश्रमः । नन्वेवं ब्रह्मचर्यादर्पि प्रब्रज्या नोपपद्यते । अथ तत्र
'यदहरेव विरजेदिति श्रुत्या युक्तं प्रव्रजितुं तदा विरक्तस्य, 'गार्हस्थ्य-
दपि भविष्यति । स्मर्यते च—

‘प्राजापत्यां निरुत्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।

आत्मन्यनीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेद् गृहादिति ॥

तथा यो गृहस्थो वृद्धो मृतभार्यः पुनर्दार्कक्रियायामसमर्थः, तस्यापि युग्यते
प्रब्रज्या । तस्माद्यदहरेव विरजेदित्येव एव कालः प्रब्रज्यायाः, सर्वमन्य-
दविरक्तयेति युक्तम् । एवकारस्तु सूत्रे श्रुत्यनुसारेण प्रयुक्तः । यथा 'गृहाद्वा
वनाद्दे'ति ब्रुवाणैव श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याह, तथेति ॥ ८ ॥

१. बाबलो० ४

२, या० स्मृ० ३ २०२ ३. तै० सं० ६. ३. १०

४. म० स्मृ० ६. ३५

५. बाबलो. ४

६. गृहस्थस्यापि इति च० पु०

७. म० स्मृ० ६. ३८

८. 'एक एवांश' इति ऋ. पु.

अनु०—ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति ही संन्यास ग्रहण करे ॥ ८ ॥

तस्योपदिशन्ति ॥ ९ ॥

तस्य परिव्राजः कर्तव्यमुपदिशन्ति धर्मज्ञाः ॥ ९ ॥

अनु०—धर्मज्ञों ने संन्यासी के लिए निम्नलिखित नियमों का विधान किया ॥ ९ ॥

अनग्निरनिकेतस्स्यादशर्मोऽशरणो मूनिः स्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचं ग्रामे प्राणर्त्त प्रतिलभ्याऽनिहोऽनुमुत्रश्चरेत् ॥ १० ॥

ब्रह्मचारिणस्समिदानार्शान्कार्यं गृहस्थस्यौपासनाद्यग्निहोत्रादि वानप्रस्थस्य 'श्रामणकेत्ताग्निमाधये'ति विहितेऽनौ होमादि । तस्य तु नैर्वाचिधं किञ्चिदप्रिकार्यमतीत्यनग्निः । निकेतो निवासस्थानं स्वभूतं तदभावादनिकेतः । शर्म सुखं वैपयिकं तदस्य नास्तीत्यशर्मा । किञ्चिदपि शरणं न प्रतिपन्नः न वा कस्याचिच्छरणभूत इत्यशरणः । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः । अत्र बौधायनः—

'वृक्षमूलिको वेद सन्न्यासी वेदो वृक्षस्तस्य मूलं प्रणवः प्रणवात्मको वेदः प्रणवो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति होवाच प्रजापति'रिति । तत्रैव वाचं विसृजेत । अन्यत्र मौनव्रतः स्यात् । यावता प्राणा प्रियन्ते सा प्राणवृत्तिः । तावतीं भिक्षां ग्रामे प्रतिलभ्य । एतावानस्य ग्रामे प्रवेशः । अन्यदा बहिर्वासः । इहार्थाः कृष्यादयः परलोकार्थाश्च जपहोमादयो यस्य न सन्ति सोऽनिहोऽनुमुत्र इत्युक्तः । एवंभूतश्चरेत् । नैर्कस्मिन् ग्रामे व्यहमपि वसेत् । अत्र गौतमः—

३ 'न द्वितीयामपत्तुं रात्रिं ग्रामे वसेदिति' ३ वर्षासु ध्रुवशील' इति च ॥ १० ॥

अनु०—विना अग्नि के रहे, घर का, सुखों का तथा शरण का परित्याग करे, मौन रहे, केवल दैनिक अध्यवसाय के समय बोले, ग्राम में केवल इतने ही अन्न की भिक्षा मांगे बितने से उसकी बीविका चल सके । इस संसार को अथवा परलोक को चिन्ता किये बिना चारों ओर घूमता रहे । १० ॥

तस्य मुक्तमाच्छादनं विहितम् ॥ ११ ॥

इत् परैर्मुक्तं परित्यक्तमयोग्यतया, तत् तस्य विहितमाच्छादनं, तद्वास आच्छादयेत् । निर्णिञ्चयेति गौतमः ॥ ११ ॥

अनु०—दूयरी द्वारा फेंके गये बत्खों के पहनने का ही विधान सन्यासी के लिए किया गया है ॥ ११ ॥

सर्वतः परिमोक्षमेके ॥ १२ ॥

सर्वैरेव वासोभिः परिमोक्षमेक उपादिशन्ति । न किञ्चिदपि वासो विभृयात् । नग्न एव चरेदिति । अपर आह—

सर्वतो विधितो निषेधतद्वाऽस्य परिमोक्षमेके ब्रुवते । न किञ्चिदस्य कृत्यं न किञ्चिदस्य वर्ज्यमिति ॥ १२ ॥

अनु०—कुछ धर्मशौ का बहना है कि सभी बस्त्रों का परित्याग कर नग्न हो कर घूमे ॥ १२ ॥

एतदेवोदाहरणैः प्रपञ्चयति—

सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्याऽऽत्मानम-
न्विच्छेत् ॥ १३ ॥

सत्यं वक्तव्यमिति योऽयं नियमस्तं परित्यज्य सथा तत्र वक्तव्यमनृते
“तद्धि सत्याद्विशिष्यत” इत्यादिके धिपये अनृतं वक्तव्यमिति योऽयं नियमस्तं
च परित्यज्य । सुखं सृष्टभोजनादिजन्यम् । दुःखं शीतवातादिजन्यम् ।
वेदान् स्वाध्यायाध्ययनम् । इमं लोकं ऐहलौकिकं काम्यं कर्म । अमुं च
लोकं पारलौकिकं काम्यं कर्म । सर्वमेतन् परित्यज्य आत्मानमध्यात्मपटलो
(१-२२, २३) त्तमन्विच्छेत् उपासोतेति । तदेवं ज्ञानवलावलम्ब्येन हत-
विधिनियेधा ये स्वैरं प्रवर्तन्ते सिद्धाः तेषां मतमुपन्यस्तम् ॥ १३ ॥

अनु०—सत्य और असत्य का, सुख और दुःख का, वेदों का तथा इस लोक
और परलोक का परित्याग करके वह परमात्मा का ही चिन्तन करे ॥ १३ ॥

अधैतेपामेच स्वैरचारिणां^२ किं तत्र प्रमाणम् ? तत्राह—

बुद्धे क्षेमप्रापणम् ॥ १४

आत्मानि बुद्धेऽवगते सति तदेव ज्ञानं सर्वमशुभं प्रक्षाल्य क्षेमं प्रापयति ।
श्रयते हि—

^१ न कर्मणा वर्धते नो कनोयान् । तस्यैवात्मा पद्वित्तं विदित्वा । न
कर्मणा लिप्यते पापकेने^२ ति^३ तद्यथोपातूलमग्नी प्रोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वे
पाप्मानः प्रदूयन्ते^४ इति च ॥ स्मर्यते च—

^५ यधैर्धासि समिद्धोऽग्निभगसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानानिस्सर्वकर्मणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ इति ॥ १४ ॥

१. म० स्मृ० ८. १०४

२. कित्राणम् इति च० मु० ३. ४० उ० ७. ४. २३. तै० मा ३. १२. १४

४. छान्दो० ५. २४. ३ ५. धीमन्न. ग. ४. ३७

अनु०—आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने पर वह मोक्ष (परम कल्याण) प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

तद्विदं निराकरोति—

तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम् ॥ १५ ॥

यानि यतेरेव कर्तव्यप्रतिपादनपराणि शास्त्राणि, तैरेव तद्विप्रतिषिद्धम् । तत्र मनुः—

‘ कृद्ध्यन्तं न प्रतिकथ्येदाकृष्टः कुशलं वदेत् ।

सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमवृतां वदेत् ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।

नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेव कर्हिचिन् ॥ इति

अतो यतिमेव प्रकृत्य यानि विहितानि कर्माणि तानि कर्तव्यानि । यानि च निषिद्धानि तानि च वर्जनीयानि ॥ १५ ॥

अनु०—किन्तु यह नियम शास्त्रों के विपरीत है ॥ १५ ॥

‘बुद्धे क्षेमप्रापण’ मित्येतत् प्रत्यक्षविरुद्धमित्याह—

बुद्धे चैत्क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत ॥ १६ ॥

आत्मबोधमात्रेण चेत् क्षेमं प्राप्यते, तदा इहैव शरीरे दुःखं नोपलभेत ज्ञानी । न चैतदस्ति । न हि ज्ञानिनां मूर्धाभिरिकंमन्योऽपि क्षुधादुःखःमेव तावत् क्षणमात्रमपि सोढुं प्रभवति ॥ १६ ॥

अनु०—यदि केवल आत्म के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती हो तो आत्मज्ञ को इत लोक में भी किसी दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए ॥ १६ ॥

एतेन परं व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

परलोके भवमपि दुःखमेतेन व्याख्यातं—न स्वैरचारिणां निवर्तत इति । तस्मात् कर्माभिः परिपक्वकपाय एव श्रवणमनननिदिध्यासनैः साक्षात्कृतात्मस्वरूपः प्रतिषिद्धेषु कटाक्षमाल्यनिक्षिपन्नष्टाङ्गयोगनिरलो मुच्यत इति* । अत्र बोधायनः^३—‘एकदण्डी त्रिदण्डी वे’ति । गौतमः^२—‘मुण्डत्रिशिखी वे’ति ॥

अनु०—इसलिए आगे आने वाले आश्रम का विधान किया गया है ॥ १७ ॥

* एतच्चिह्नानन्तरं अत्र यदुदाहृतं ‘ज्ञानेन सर्वं दहन्त’ इति तत्र ज्ञानदद्यायाः प्रागांबितानि कर्माणि प्रायश्चित्तेन ज्ञानेन वा दहन्त इत्युच्यते, न पुनर्ज्ञानदशायां स्वैरचारोऽनुज्ञायते । यस्य हि स्वशरीरेऽपि बीमस्ता स कथं पश्वादिभिरविशेषस्त्रीसङ्गमादौ प्रवर्तत’ इति भागः क. पुरस्क एवास्ति अधिकपाठतया परिगणितः च.पुस्तके टिप्पण्याम्

१. म० सू० ६. ४८, ५० २. बौ० ष० २. ९. १०. ४० ३. गौ० ष० ३. २२

अथ वानप्रस्थः ॥ १८ ॥

अनन्तरं वानप्रस्थाश्रम उच्यते ॥ १८ ॥

अनु०—अथ वानप्रस्थ के नियमों की व्याख्या की जाती है ॥ १८ ॥

अत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति ॥ १९ ॥

प्रव्रजति प्रकर्षेण व्रजति अपुनःप्रवेशाय वनं प्रतिष्ठित इति । तथा च गौतमः '—श्रमं च न प्रविशेदिति । गतमन्यत्, उत्तरं च ॥ १९ ॥

अनु०—ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति ही वन में प्रवेश करता है । ॥ १९ ॥

तस्योपविशन्त्येकार्गिनरनिकेतस्स्यादशमऽशरणो मुनिःस्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचम् ॥ २० ॥

कः पुनरेकोऽग्निः ? न तावदौपासनः, ब्रह्मचारिस्थात् । तस्माल्लौकिकेऽग्नौ यथापूर्वं सायंप्रातरसमिध आदध्यादित्यर्थो विवक्षितः ।

अपरं आह—'श्रमणकेनाग्निमाधोये' ति गौतमः । अस्यार्थः—श्रमणकं नाम वैखानससूत्रम् । तदुक्तेन प्रकारेण एकोऽग्निराधोयः । तस्मिन् सायंप्रातर-भिकार्यमिति । 'तथा च बोधायनः—'वानप्रस्थो वैखानसशब्दसमुदाचारो, वैखानसो वने मूलफलाशी तपशीलस्सवनेपूदकमुपगृहान् श्रमणकेनाऽग्निमुप-समाधोये' त्यादि । अन्यद्गतम् ॥ २० ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रद्वितीयप्रश्ने एकविंशो कण्डिका ॥ २१ ॥

अनु०—वानप्रस्थ के लिए इन नियमों का विधान किया गया है । केवल एक अग्नि प्रज्वलित करे, घर में न रहे, किसी कुल का भोग न करे, किसी शरण में न रहे, मौन रहे' केवल दैनिक अध्यवसाय के समय बोलें । २० ॥

तस्याऽऽरण्यमाच्छादनं विहितम् ॥ १ ॥

अरण्ये भवमारण्यमजिनचल्कलादि ॥ १ ॥

अनु०—उतके लिए वन में प्राण्य (मुगचर्म या बल्कल) बल ही विहित है ॥ १ ॥

ततो मूलैः फलैः पर्णैस्त्वृणैरिति वतयंश्चेत् ॥ २ ॥

ततो मूलादिभिर्वतयन् दृष्टिः प्राणयत्रा तां कुर्वेच्छरेक्षरणशोलः स्यात् ॥ २ ॥

अनु०—तम मूलों, फलों, पर्णों और तिनकों आदि से बीचिका निर्वाह करते हुए भ्रमण करें ।

अन्ततः प्रवृत्तानि ॥ ३ ॥

मूलादिभिरः वयंगृहीतैः कश्चित्कालं वर्तयित्वा अन्ततः अन्ते प्रवृत्तानि स्वयमेव पतितानि अभिनिश्चयेदिति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । तान्यभिनिश्चित्य तैर्वर्तयेदिति ॥ ३ ॥

अनु०—और अन्त में स्वयं गिरे हुए फलों, पत्तों आदि का ही भक्षण करके रहे । ३ ॥

ततोऽपो वायुमाकाशमित्यभिनिश्चयेत् ॥ ४ ॥

ततः कियन्तश्चित्कालमवभृच्चः ततो वायुभक्ष तत आकाशमभिनिश्चयेत् न किञ्चित् भक्षयेदिति । अभिनिश्चयणं सेवनम् ॥ ४ ॥

अनु०—तब कुछ दिन तक केवल जल पीकर जीवन धारण करे, फिर कुछ समय तक केवल वायु का सेवन करके रहे और फिर केवल आकाश का ही सेवन करे ॥ ४ ॥

तेषामुत्तर उत्तरस्संयोगः फलतो विशिष्टः ॥ ५ ॥

संयुज्यते संश्रयत इति संयोगः । तेषां मूलादीनां मध्ये उत्तरमुत्तरं समाश्रयणं फलतो विशिष्टमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

अनु०—इनमें से प्रत्येक उत्तरवर्ती पदार्थ का सेवन करके जीविका निर्वाह करने का अधिकधिक पुण्यफल होता है ॥ ५ ॥

अथ वानप्रस्थस्यैवाऽऽनुपूर्व्यमेक उपदिशन्ति ॥ ६ ॥

अथेति पश्चान्तरोपन्यासे । पूर्वं ब्रह्मचर्यादेव वनप्रवेश उक्तः । एके त्वाचार्यान्तर्यैव वानप्रस्थस्याऽऽनुपूर्व्यं कर्मापदिशन्ति ॥ ६ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि केवल वानप्रस्थ के लिए अन्य आश्रमों के कर्मों को क्रमानुसार करना चाहिए ॥ ६ ॥

टि०—पहले यह विचार व्यक्त किया जा चुका है कि वानप्रस्थ ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु यह सूत्र एक नया मत प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार वानप्रस्थ के लिए आश्रमों को अनुपूर्वता का उपदेश किया गया है ॥ ६ ॥

कथम् ?—

विद्यां समाप्य द्वारं कृत्वाऽनीनाघाय कर्माण्यरभते सोमावरा-
र्ध्यानि ते यानि ध्रूयन्ते ॥ ७ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितो विद्यां समाप्य गृहस्थश्च भूत्वाऽग्नीनाघाय कर्माणि कुर्यात् ।

कान्ति ? सोमावराध्यानि अवराधं पश्चार्धं तत्र भवोऽवराध्याः सोमः अवराध्यां
येषां तानि सोमावराध्यानि सोमान्तानि हविर्यज्ञाख्यानि चातुर्मास्यादीन्
हविर्यज्ञान् सोमं चेत्यर्थः । यानि श्रूयन्ते श्रुतौ विहितानि ॥ ७ ॥

अनु०—वेद का अध्ययन समाप्त करके, विवाहोपरान्त गृहस्थ होकर तथा
अग्नि का आधान कर तोमयज्ञ तक के वे सभी कर्म करे जो श्रुति में उपदिष्ट हैं ॥७॥

गृहान् कृत्वा सदारस्सप्रजस्सहाग्निभिर्वाहिर्गर्माद्भसेत् ॥ ८ ॥

अथ ग्रामाद्दहिरण्ये गृहान् कृत्वा सकुटुम्बस्स हैव चाग्निभिर्गामाद्दहि-
र्भसेत् । अस्मिन्पक्षे प्रागुक्तमेकाग्निरित्येतन्नाऽस्ति ॥ ८ ॥

अनु०—ग्राम से बाहर वन में एक घर बनाकर वहाँ पत्नी, पुत्र-पुत्रियों तथा
अग्नि के साथ निवास करे ॥ ८ ॥

एको वा ॥ ९ ॥

अथवा पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य स्वयमेक एव वसेत् । अस्मिन् पक्षे 'प्राजाप-
त्यां निरुप्येष्टि'मिति परिव्राज उक्तेन न्यायेन श्रौतानग्नीनात्मनि समारोप्य
श्रामणकेनाऽग्निमाधाय एकाग्निर्भवेत् ॥ ९ ॥

अनु०—अथवा अकेले ही रहे ॥ ९ ॥

सिलोच्छेन वर्तयेत् ॥ १० ॥

व्याख्यातः सिलोच्छः । तेन वर्तयेत् प्राणयात्रां कुर्यात् । इदं सकुटुम्बस्य
एकाकिनश्च साधारणम् । एकाकिन एवेत्यन्ये ॥ १० ॥

अनु०—खेतों में गिरे हुए अन्न बीनकर अपने बीबन का पोषण करे ॥ १० ॥

न चाऽत ऊर्ध्वं प्रतिगृह्णीयात् ॥ ११ ॥

यदा सिलोच्छेन घृत्तिर्जाता अत ऊर्ध्वं न कुर्वन्नदपि प्रतिगृह्णीयात् ॥११॥
अनु०—उस समय से किसी प्रकार का दान न ग्रहण करे ॥ ११ ॥

अभिपिक्तश्च जुहुयात् ॥ १२ ॥

यदा जुहुयात्तदा अभिपिक्तः स्नातः । अनुवादोऽयं स्नाने विशेषं विधा-
तुम् ॥ १२ ॥

अनु०—स्नान करने के बाद हवन करे ॥ १२ ॥

यत्रैरपोऽप्युपेयादभिध्नन्नभिमुख आदित्यमुदकमुपस्पृशेत् ॥ १३ ॥
शरीरवेगेन जलाशयं प्रविशेत् । प्रविश्य चाऽभिघ्नन् हस्तेनोदकं ताडयन्
उदकमुपरस्पृशेत् स्नायात् आदित्याभिमुखः ॥ १३ ॥

अनु०—विना वेग के घनैः बल में प्रवेश करे और बल धो शय से पीटे बिना
सर्व की ओर मूल करके स्नान करे ॥ १३ ॥

‘इति सर्वत्रोदकोपस्पर्शनविधिः ॥ १४ ॥

सर्ववर्णोश्रमसाधारणमेतत् । तथाचोत्तरत्र तस्य ग्रहणम् ॥ १४ ॥

अनु०— स्नान करने की यह विधि सभी वर्णों और आश्रमों के लिए सामान्य समझनी चाहिए ॥ १४ ॥

तस्य दृन्दद्रव्याणामेक उपदिशन्ति पाकार्थं भोजनार्थं वासिपरशु-
दात्रकाजानाम् ॥ १५ ॥

यानि पाकार्थानि ताम्रभाण्डादीनि । यानि च भोजनार्थानि कांस्या-
दीनि । वासिर्द्रव्यादि । तेषां सर्वेषां वास्यादीनां चतुर्णां^२ एकैकस्य द्वे द्वे द्रव्ये
उत्पाद्ये इत्येक उपदिशन्ति । काजमपि वास्यादिवटुपकरणविशेषो
दारुमयः ॥ १५ ॥

अनु०—कुछ आचार्यों का मत है कि भोजन पकाने तथा खाने के पात्रों के
तथा फाटने के औजार, फरसा, हँसिया तथा काब नाम के हथियारों में प्रत्येक के
बोड़े बनवाये ॥ १५ ॥

द्वन्द्वानामेकैकमादायेतराणि दत्त्वाऽरण्यमवत्तिष्ठेत् ॥ १६ ॥

तेषां पाकादिसाधनानां द्रव्याणामेकैकं द्रव्यं स्वयमादायेतराणि भार्यायै
दत्त्वा अरण्यमवत्तिष्ठेत् उपत्तिष्ठेन् आश्रयेदिति ॥ १६ ॥

अनु०—(इन पात्रों और औजारों के) जोड़ों में से एक को लेकर दूसरे को
अपनी पत्नी को देकर वन को प्रस्थान करे ॥ १६ ॥

तस्याऽऽरण्येनैवाज्त ऊर्ध्वं होमो वृत्तिः प्रतीक्षाच्छादनं च ॥ १७ ॥

तस्या वानप्रस्थस्याऽतोऽरण्यप्रवेशदूर्ध्वं आरण्येनैव नीचारादिना होमः
वृत्तिः प्राणयान्ना प्रतीक्षा अतिथिपूजा च आच्छादनं वल्कलादिना ॥ १७ ॥

अनु०—उसके बाद वन की बस्तुओं से ही होम कर्म करे, अपना जीवननिर्वाह
करे, भविष्यियों का सत्कार करे तथा शरीर का आच्छादन करे ॥ १७ ॥

येषु कर्मसु पुरोडाशाश्चरवस्तेषु कार्याः ॥ १८ ॥

येषु दर्शपूर्णमासादिषु पुरोडाशा विहिताः गृहस्थस्य, तेज्वस्य तत्स्थाने^१
चरवः कार्याः ॥ १८ ॥

अनु०—(गृहस्थाश्रम के) बिन कर्मों के लिए (मांसमिश्रित) पुरोडाश का
विधान किया गया है उन कर्मों में पुरोडाश के स्थान पर (चावल से सिद्ध) चर
का प्रयोग करे ॥ १८ ॥

१. ‘इति विधिः’ इत्येव सूत्रम् च्छ० पु. २. एकैकस्यां विधायां इति च. पु०

३. अतवस्त्रावितान्तरुमपकवण्डुलपकृत्तिकथरः ।

सर्वं चोपाशु सह स्वाध्यायेन ॥ १९ ॥

सर्वं च कर्मकाण्ड साङ्ग प्रधानमुपाशु भवति पारायणसङ्गग्रह्याध्ययनेन सह । तदप्युपाशु कर्तव्यमिति ॥ १९ ॥

अनु०—सभी मन्त्री का तथा दैनिक स्वागम्य का पाठ इस प्रकार करे कि वह दूसरा को न सुनाई पड़े ॥ १९ ॥

नाऽऽरण्यमभ्याश्रावयेत् ॥ २० ॥

उपशुवचनादेव सिद्धवचनमाभिमुख्यप्रतिषेधार्थम् । तेनाऽरण्यस्था यथा नाऽऽभिमुख्येन शणुयु तावदुपाश्रित्विति ॥ २० ॥

अनु०—वन के निवासियों को अपने मन्त्रों का पाठ न सुनावे ॥ २० ॥

अग्न्यर्थं शरणम् ॥ २१ ॥

शरण गृह तदन्यर्थमेव ॥ २१ ॥

अन्त०—वेवल अग्नि की रक्षा के लिए ही एक गृह बनावे ॥ २१ ॥

आकाशे स्वयम् ॥ २२ ॥

रत्रय चाऽऽकाश एव वसेत् ॥ २२ ॥

अनु०—स्वय खुले हुए स्थान में ही रहे ॥ २२ ॥

अनुपस्तीर्णे शय्यासने ॥ २३ ॥

शयन चाऽऽसन चाऽऽनुपस्तीर्णे देशे कुर्यात् न तु किञ्चिदुपस्तीर्य ॥ २३ ॥

अनु०—उसकी शय्या और आसन पर किसी प्रकार का आच्छादन न होवे ॥ २३ ॥

नवे सस्ये प्राप्ते पुराणमनुजानीयात् ॥ २४ ॥

नवे धान्ये शय्यामाफनीवारादौ प्राप्ते जाते पुराण पूर्वसञ्चित सस्यमनुजा नियान् परित्यजेत् । तत्र मनु—

‘त्यजेद्वाश्वयुजे मासि मुन्यन्न पूर्वसञ्चितम् ।

जीर्णानि चैव वासासि पुण्यमूलफलानि च ॥’ इति ॥ २४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्विवायप्रश्ने द्वाविंशो कण्डिका । २२ ॥

अनु०—नया अन्न प्राप्त करने पर पुराने संचित अन्न का परित्याग करे ॥ २४ ॥

भूयांसं वा नियममिच्छन्नन्वहमेव पात्रेण सायंप्रातरर्थमाहरेत् ।
इदमेकाकिनो वानप्रस्थस्य । भूयांसं नियममिच्छन्न सस्यं सञ्चिन्वत्यात् ।
किं तर्हि ? अन्यहमेव पात्रेण येनकेनचित् सायंप्रातश्चाऽर्थमशनीयमात्रमाहरेत्
वानप्रस्थेभ्य एव ॥ १ ॥

अनु०—यदि वानप्रस्थ और अधिक बठोर नियम का पालन करना चाहे तो
(अन्न का सचय न करे) प्रतिदिन सायं तथा प्रातःकाल केवल अपने भिक्षापात्र में
खाने भर का भोजन एकत्र करे ॥ १ ॥

एवं कियन्तचित्कालं वर्तयित्वा—

ततो मूलैः फलैः पणैस्त्वणैरिति वर्तयंश्चरेदन्ततः प्रवृत्तानि ततोऽप्यो
वायुमाकाशमित्यभिनिश्चयेत् । तेषामुत्तर उत्तरस्संयोगः फलतो
विशिष्टः ॥ २ ॥

सर्वं गतम् ॥ २ ॥

अनु०—उसके बाद अपने जीवन का पोषण एकत्र किए गए मूलों से, फलों से,
पत्तों और तिनकों से करता हुआ भ्रमण करे । अन्त में स्वयं प्राप्त हुए मूलों, फलों,
और तृणों से जीवन धारण करे, तब क्रमशः जल, वायु तथा आकाश का सेवन
करे । इनमें क्रमशः बाट वाले पदार्थ का सेवन कर जीवननिर्वाह करने से उत्तरोत्तर
अधिक पुण्यफल की सिद्धि होती है ॥ २ ॥

निरूपिता आश्रमाः । अथेदानीं पक्षप्रतिपक्षरूपेण तेषामेव प्राधान्यमप्रा-
धान्यं च निरूप्यते—

अथ पुराणे श्लोकाबुदाहरन्ति—

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः । दक्षिणेनाऽयंम्यः
पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे ॥ ३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ये गृहस्था ऋषयः प्रजामीषिरे प्रजातिमभ्यनन्दन् तै
अर्यम्यो यो दक्षिणेन पन्थाः दक्षिणायतनमार्गः तं प्राप्य द्वान्द्वेग्योक्तेन "धूमादि-
मार्गेण गत्वा पुनरपि सम्भूय श्मशानानि भेजिरे मरणं प्रतिपेदिरे । जायस्य
त्रियसंवैत्याजीवं जीवभावमापेदिरे इति गृहस्थानां निन्दा ॥ ३ ॥

अनु०—इस सन्दर्भ में पुराण से भी दे श्मशान उद्धृत किये जाते हैं । वे अस्ती
द्वार ऋषि, जो सन्तान चाहते थे, सूर्य के दक्षिण के मार्ग से गये और श्मशान
में पहुँचे ॥ ३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ये प्रजां नेषिर ऋषयः । उत्तरेणाऽयंभ्यः ।
पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते ॥ ४ ॥

ये 'तु प्रजाति नाभ्यनन्दन्' ते उत्तरायणमार्गेण 'अर्चिरादिमार्गेण' गत्वा
अमृतत्वं विभक्तियत्ययः, अमृतत्वाय कल्पते वचनव्यत्ययः कल्पन्ते समर्था-
रसम्पद्यन्ते ॥ ४ ॥

अनु०—अस्सी हजार ऋषि जो सन्तान के इच्छुक नहीं थे, सूर्य के उत्तर के
मार्ग से गये और उन्होंने अभरत्व प्राप्त किया ॥ ४ ॥

इत्यूर्ध्वरेतसां प्रशंसा ॥ ५ ॥

गृहस्थादन्ये त्रयोऽपि ऊर्ध्वरेतसः तेषामेवा प्रशंसेति ॥ ५ ॥

अनु०—इस प्रकार ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचर्यपालन करने वालों की प्रशंसा की
गयी है ॥ ५ ॥

पुनरपि तेषामेव प्रकारान्तरेण प्रशंसा—

अथाऽपि सङ्कल्पसिद्धयो भवन्ति ॥ ६ ॥

अथाऽपि अपि च सङ्कल्पादेव सिद्धयो भवन्ति तेषामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ६ ॥

अनु०—ऊर्ध्वरेता तपस्वियों की इच्छाएँ उनके संकल्प से ही सिद्ध हो
जाती हैं ॥ ६ ॥

तत्रोदाहरणम्—

यथा वर्षं प्रजा दानं दूरेदर्शनं मनोजवता यच्चाऽन्यदेवंयुक्तम् ॥७॥

यदि महत्यामनादृष्टी 'सत्यां' 'वर्षंतु देव' इति ते कामयेत् तदा कामयर्थी
पर्जन्यो भवति । यदि वा कश्चिदपुत्रमनुगृह्णीयुः—पुत्रोऽय जायतामिति स
पुत्रवानेव भवति । यदि वा 'चोलेष्ववस्थितास्त्वेव हिमवन्तं दिदृशेरन्' तथैव
तद्भवति । मनस इव जवो येषां ते मनोजवाः तेषां भावो मनोजवता । यदि
कामयेन् अमुं देशमित्यामेव कालकलायां प्रानुयायेति, ततो यावता कालेन
मनस्वं देशं प्रानुयुरिति । यच्चान्यदेवंयुक्तम् रोगिणामारोग्यादि तदपि सङ्कल्पा-
देव तथा भवति ॥ ७ ॥

अनु०—बैसे वर्षा करने, पुत्रोत्पत्ति का अमोघ आशोर्वाद, किसी भी प्रकार
की वस्तु का दान, दूर तरु देलने की इच्छा, मन के समान वेग से विचरण करने की
शक्ति, तथा इसी प्रकार की दूसरी इच्छाओं की सिद्धि संकल्प से ही हो जाती है ॥७॥

१. प्रजो० इति० च० पु० २. छा० उ० ५. १०. १. २

३. सत्यां इति नास्ति च० पु० ४. 'दूरेषु' इति० छ० पु०

यस्मादेवम्—

तस्मान्छ्रुतितः प्रत्यक्षफलत्वाच्च विशिष्टानाश्रमानेतानेके ब्रुवते ।
तस्मान्छ्रुतितः 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रब्रजेदि'त्यादिश्रुत्यनुगतत्वादुक्तेन-
प्रकारेण प्रत्यक्षफलत्वाच्च एतानूध्वरे तसामाश्रमान् विशिष्टान् गार्हस्थ्यदुक्तप्रा-
नेके ब्रुवत इति ॥ ८ ॥

अनु०—इस कारण श्रुति के बचन के अनुसार तथा प्रत्यक्ष फल उत्पन्न होने से कुछ धर्मों लोग ऊर्ध्वरेता तन्स्वियों के आश्रमों को सबसे उत्कृष्ट बताते हैं ॥८॥

तदिदं गार्हस्थ्योत्कर्षप्रतिपादनेन निराकरोति—

त्रैवृद्यविद्वानां तु देदाः प्रमाणमिति निष्ठा तत्र यानि श्रूयन्ते
त्रोहिवपश्चाज्यपयःकपालपत्नीसम्बन्धान्युच्चैर्नैचैः कार्यमिति तैर्विरुद्ध
आचारोऽप्रमाणमिति मन्यन्ते ॥ ९ ॥

अथयथा विद्या त्रिविद्या त्रयो वेदाः । तां ये पाठत्वाऽर्धतश्च विदन्ति ते
त्रैविद्याः । तेषु पक्वज्ञानात्त्रैविद्यबुद्धाः । तेषां वेदशास्त्रविदां वेदा एव
प्रमाणम् अतीन्द्रियेऽर्थ इति, निष्ठा निर्णयः । यथाह भगवान् जैमिनिः—
'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः', इति^३ प्रत्यक्षमनिमित्तमिति च । ततश्च तत्र
वेदे यानि कर्माणि श्रूयन्ते, क्लिष्टक्षणाणि ? त्रोहियवादिभिस्सम्बद्धानि "उच्यैः
ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषे"स्त्वेवंप्रकाराणि तैर्विरुद्ध आचारः प्रमाणं न
भवतीति मन्यन्ते । एतदुक्तं भवति—सर्वेषु वेदेषु सर्वासु च शास्त्रासु अग्नि-
होत्रादीनि^४ विरवस्तुजामयनपर्यन्तानि कर्माण्येव तात्पर्यतया विधीयन्ते ।
अतो गार्हस्थ्यमेव श्रेष्ठम् । ऊर्ध्वरेतसां त्याश्रमास्त्वद्विरुद्धा नैवाऽऽश्रयणीयाः
यदि वेदाः प्रमाणमिति । तथा च गौतमः—'एकाश्रम्यं त्याचार्याः प्रत्यक्षवि-
धानान् गार्हस्थ्ये'ति । एवं गार्हस्थ्यं प्रशस्यते ॥ ९ ॥

अनु०—हीन प्रकार की विद्याओं के ज्ञाता विद्वानों का मत है कि वेद ही
परम प्रमाण है, इस कारण वेदों से त्रोहि, यव, यशु, आख्य, दुष्य, खप्पर से
तथा पत्नी के साथ उरुच या मन्द स्वर से मन्त्रों के पाठ करते हुए अग्नि कर्मों के
करने का विधान है उन्हें ही करना चाहिए और इस कारण उनके विपरीत
आचारण का निर्देश करने वाले नियम को वे लोग प्रमाण नहीं मानते हैं ॥ ९ ॥

१. वेदशास्त्राद्यविदां इति छ० पु० २. जै० सू० १. १. २ ३. जै० सू० १. १. ४

४. तद्वत्सर्वस्वसाधं सत्रं विरवस्तुजामयनम् । अत्र संवत्सरशब्दो दिनपर इति
मीमांसकाः । पू० मी० ६. ७. १३

श्मशानानि भोजिर इति निन्द्यां परिहरति—

यत्तु श्मशानमुच्यते नानाकर्मणामेवोऽन्ते पुरुषसंस्कारो विधीयते ॥१०॥
यत्तु गृहस्थानां श्मशानं श्रूयते स एष नानाधर्मणामग्निहोत्रादीनामन्ते
पितृमेधाख्यः पुरुषसंस्कारो विधीयते । न तु पिशाचा भूत्वा श्मशानमेव
सेवन्त इति ॥ १० ॥

अनु०—ऊपर जो श्मशान शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अभिप्राय यह
है कि अनेक प्रकार के अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों के लिए पितृमेध नाम का
अन्तिम संस्कार किया जाता है (यह अर्थ नहीं है कि वे लोग पिशाच बनकर
श्मशान में ही चक्कर काटते रह जाते हैं) ॥ १० ॥

युत इत्याह—

ततः परमन्तर्यं फलं स्वर्ग्यंशब्दं श्रूयते ॥ ११ ॥

ततः परं श्मशानकर्मणोऽन्ततरम्, अन्तन्व्यपरिमितं स्वर्गशब्दश्चाच्यं
फलं श्रूयते—स एष यद्वायुधी यजमानोऽङ्गसा स्वर्गं लोकमेतीति । अन्तन्व्यं
त्वर्ग्यमिति यकारश्चाब्दसः उपजनः अपपाठो वा ॥ ११ ॥

इत्यापत्तन्व्यधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने त्रयोविंशो कर्ण्डिका ॥ १३ ॥

अनु०—श्रुति में कहा गया है कि उस श्मशान कर्म के बाद अन्तर्व स्वर्ग का
फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

पुनरपि गार्हस्थ्यमेव प्रकारान्तरेण स्तौति—

अथाप्यस्य प्रजातिपमृतमान्नाय आह—प्रजामनु प्रजायसे तदु
ते मर्त्याऽमृतमिति ॥ १ ॥

अथाऽपि अपि च अस्य गृहस्थस्य प्रजापति प्रजासन्तानम् अमृतम् अमर-
णम् आम्नायो वेद् आह हे मर्त्यं मरणधर्मन् ! प्रजां जायमानामनु त्वं प्रजा-
यसे त्वमेव प्रजारूपेण जायसे । तदेव ते मरणधर्मिणः अमृतममरणमिति । न
त्य म्रियसे, यतस्त्व प्रजारूपेण तिष्ठसीति ॥ १ ॥

अनु०—एतके अतिरिक्त एहस्य की सन्तान को अमृत बताकर वेद ने कहा
है: हे मरणधर्मां मनुष्यों, तुम अमृत सन्तान में पुनः उत्पन्न होते हो, अतः सन्तान
ही तुम्हारे लिए अमरत्व है ॥ १ ॥

उपपन्नं चैतदित्याह—

अथाऽपि स एवाऽयं विहृदः पूयवप्रत्यक्षोऽणोपलभ्यते इत्यते चाऽपि

१. यकारोपजन-छान्दसः इति भवितुं युक्तम् ।

सारूप्यं देहत्वमेवाऽप्यत् ॥ २ ॥

अपि च स एवाऽयं पृथग्विरूढः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते । स एव द्विधाभूत इव लक्ष्यते । दृश्यते हि सारूप्यं द्वयोः । देहमात्रं तु भिन्नम् । देहत्वमिति स्वार्थिकत्वः ॥ २ ॥

अनु०—अपरंच, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि पिता ही दूतरा रूप धारण कर पुत्र के रूप में उत्पन्न दिखाई पड़ता है । उन दोनों में सारूप्य होता है, केवल शरीर ही भिन्न होता है ॥ २ ॥

यदि पुत्ररूपेणाऽवस्थानं, किमेतावतेत्याह—

ते शिष्टेषु कर्मसु वर्तमानाः पूर्वेषां साम्परायेण कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति ॥ ३ ॥

ते पुत्रादिश्रेष्ठेषु चोदितेषु कर्मसु वर्तमाना अवस्थिताः पूर्वेषां पितृपिता-महाद्रीनां साम्परायेण परलोकैतन्सम्बद्धानां कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति—अस्याऽयं पुत्र एवं कर्मा, अस्याऽयं पौत्र इति । स्वर्गं च वर्धयन्ति । कीर्तिमतां हि स्वर्गवासश्श्रूयते ॥ ३ ॥

अनु०—बो पुत्र वेदोक्त शिष्ट कर्मों वा समादन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वे अपने दिवंगत पूर्वजों के यश तथा स्वर्गीय सुख की अभिवृद्धि करते हैं ॥ ३ ॥

एवमवरोऽवरः परेषाम् । ४ ॥

एवमनेन प्रकारेण अवरोऽवरः परेषां कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयति ॥ ४ ॥

अनु०—इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के पुरुषों के सुख और यश को बढ़ाती है ॥ ४ ॥

आभूतसम्प्लवात्ते स्वर्गजितः ॥ ५ ॥

भूतसम्प्लवो महाप्रलयः । आत्मज्ञाने पुत्रिणस्वर्गजितो भवन्ति ते च ॥ ५ ॥

अनु०—इस प्रकार वे पुत्रवाले दिवंगत पुरुष महाप्रलय तक स्वर्ग में निवास करते हैं और स्वर्ग के जेता होते हैं । ५ ॥

पुनरसर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे ॥ ६ ॥

प्रलयानन्तरं सर्गः, तत्र संसारस्य बीजार्थाः प्रजाधर्माः प्रजापतयो भवन्तीति भविष्यत्पुराणे श्रूयते ॥ ६ ॥

अनु०—प्रलय के बाद वे ही पुनः संसार की उत्पत्ति के बीज (प्रजापति) होते हैं ऐसा भविष्यत्पुराण में कहा गया है ॥ ६ ॥

अथाऽपि प्रजापतेर्वचनम् ॥ ७ ॥

अपि च प्रजापतेरपि वाक्यमस्मिन्नर्थे भवति । गार्हस्थ्यमेव वरिष्ठ-
मिति ॥ ७ ॥

अनु०—इस सन्दर्भ में प्रजापति का यह वचन भी उल्लेखनीय है ॥ ७ ॥

त्रयीं विद्यां ब्रह्मचर्यं प्रजातिं श्रद्धां तपो यज्ञमनुप्रदानम् । य
एतानि कुर्वते तैरित्सह स्मो रजो भूत्वा ध्वंसतेऽन्यत्प्रशंसन्ति ।

त्रयीं विद्यां त्रयाणां वेदानामध्ययनम् । ब्रह्मचर्यमष्टात्त्वारिंशदाद्रिकम् ।
प्रजातिं प्रजोत्यादनम् । श्रद्धामास्तिक्यम् । तप उपवासादि । यज्ञमग्निहोत्रादिकं
सोमयागान्तम् । अनुप्रदानं अन्तर्वेदि बहिर्वेदि च दानम् । य एतानि कर्माणि
कुर्वते, तैरित् तैरेव सह वयं स्मः त एवाऽस्माकं सहायाः । अन्यत् ऊर्ध्वरेत-
सामाश्रमादिकं प्रशंसन् पुरुषो रजः पांसुर्भूत्वा ध्वंसते नश्यति । इतिशब्दो
वचनसमाप्त्यर्थः । यथैवं तर्हि शिष्टेषु वर्तमानाः पुत्राः पूर्वेषां क्रीतिं स्वर्गो
च वर्धयन्ति, तथा प्रतिपिष्टेषु वर्तमाना अक्रीतिं नरकं च वर्धयेयुः ॥ ८ ॥

अनु०—जो निम्नलिखित कर्मों का सम्पादन करते हैं वे हमारे साथ निवास
करते हैं, वीनों चेदों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य, सन्तानोत्पत्ति, भद्रा, तप, यज्ञ, तथा
दान । जो इन कर्मों से भिन्न कर्म करते हैं वे पूछ में मिलकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

तत्राऽह—

तत्र ये पापकृतस्त एव ध्वंसन्ति यथा पूर्णं वनस्पतेर्ग परान्
हिसन्ति ॥ ९ ॥

तत्र प्रजासन्ताने चे पापस्य कर्तारः, त एव ध्वंसन्ते न परान् पित्रादीन्
हिसन्ति । यथा यदेव पूर्णं वनस्पतेः कीटादिभिर्दूषितं तदेव पतति, न वनस्पति
शाखान्तरं वा पातयति तद्वत् ॥ ९ ॥

अनु०—जो पुत्र पापकर्म करते हैं केवल वे ही नष्ट होते हैं, उनके पिता
आदि दूसरे व्यक्ति नष्ट नहीं होते, जिस प्रकार वृक्ष के पत्तों को ही काड़े आदि नष्ट
करते हैं, वृक्ष या शाला आदि को नष्ट नहीं करते ॥ ९ ॥

एतदेवोपपादयति—

नाऽस्याऽस्मिन्ल्लोके कर्मभिस्सम्बन्धो विद्यते तथा परस्मिन् कर्म-
फलैः ॥ १० ॥

अर्थेति सामान्यापेक्षमेकवचनम् । अस्य पित्रादेः पूर्वपुरुषस्य अस्मिन्
लोके पुत्रकृतेः कर्मभिः सम्बन्धो न विद्यते । दृष्टान्तोऽयम् । यथा पुत्रकृतं पु
कर्मसु पित्रादेः कर्तृत्वं नाऽस्ति, तथा परस्मिन्नापि लोके कर्मफलेरपि सम्बन्धो
नाऽस्त्येत्यर्थः ॥ १० ॥

अनु०—इव लोक में पूर्वव का अपने वंश में उत्पन्न पुत्रादि द्वारा किये गये कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं होता और न परलोक में उनके कर्मों के फल से ही कोई सम्बन्ध होता है ॥ १० ॥

तदेतेन वेदितव्यम् ॥ ११ ॥

यदुक्तं ये पापकृत्वत् एव ध्वंसन्ति न परान् हिंसन्तीति तदर्थरूपमेतेन वक्ष्यमाणेन हेतुना वेदितव्यम् ॥ ११ ॥

अनु०—इसे निम्नलिखित कारण से जाना जा सकता है ॥ ११ ॥

प्रजापतेऋषीणामिति सर्गोऽयम् ॥ १२ ॥

प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य ऋषीणां च मरीच्योद्गोनामयं सर्गो देवादित्स्विय-
गन्तः । ते चाऽध्वस्ता एव स्वे र्दे परे वर्तन्ते । यदि च पुत्राः पापकृताः स्वयं
ध्वंसमानाः परानपि ध्वंसयेयुः, तदैतन्नोपपद्यते—पुण्यकृताः सुखेनाऽद्यापि
वर्तन्ते इति ॥ १२ ॥

अनु०—यह सृष्टि प्रजापति तथा ऋषियों की है ॥ १२ ॥

अत्रोदाहरणमाह—

तत्र ये पुण्यकृतस्तेषां प्रकृतयः परा ज्वलन्त्य उपलभ्यन्ते ॥ १३ ॥

तत्र स्वर्गं ये पुण्यकृतो वसिष्ठाद्यन्तेषां प्रकृतयश्शरीराणि परा ज्वलन्त्याः
ज्वलन्त्यः दीप्यमाना उपलभ्यन्ते, द्विवि यथा सप्तविमण्डलम् । शयते चः
'सुकृतां वा एतानि ज्योतीषि, यन्नक्षत्राणो'ति । इदमपि प्रमाणं न पुत्राणां ध्वंसे
पूर्वेषां प्रवृत्तस इति ॥ १३ ॥

अनु०—चो ऋषि अपने पुण्यकर्मों के कारण स्वर्ग में निवास करते हैं उनके
शरीर आकाश में अत्यधिक प्रकाशपूर्ण दिखाई पड़ते हैं (जैसे सप्तविमण्डल) ॥ १३ ॥

स्यान्तु कर्मावयवेन तपसा वा कश्चित्सशरीरोऽन्तवन्तं लोकं जयति
सङ्कुरासिद्धिश्च स्यान्न तु तज्ज्यैष्ठ्यमाश्रमाणाम् ॥ १४ ॥

कर्मावयवेन पूर्वोक्तितानां कर्मणामेकदेशेत सुख्येण तपसा वा तीव्रेण
कश्चिदूर्ध्वरेतास्सहशरीरेणाऽन्तवन्तं लोकं जयतीति यत्तत् स्यात् सम्भवेदपि ।
यच्च सङ्कल्पदेव सिद्धित्वादिति, तदपि स्यात् न तु तदाश्रमाणां ज्यैष्ठ्यकारण-
मिति । तदेव 'मीकाश्रम्यं त्वाचार्या' इत्ययमेव पक्षः स्थापितः । अन्ये मन्यन्ते-

सर्वे आश्रमा द्रूपिता भूपिताश्च । ततस्तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः
श्रेयं गच्छतीत्येवैव स्थितमिति ॥ १४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रदृत्तौ द्वितीयप्रश्ने चतुर्विंशो कण्डिका ॥ १७ ॥

अनु०— किन्तु यद्यपि कोई व्यक्ति पूर्वजन्मों से उत्पन्न पुण्यफलों के कारण
अपना अपनी वपस्याओं के कारण शरीर धारण करते हुए भी स्वर्ग प्राप्त कर सकता
है, संकल्प से सभी इच्छाओं को सिद्ध कर सकता है, फिर भी ये फल एक आश्रम
का दूसरे आश्रमों से भेद मानने के कारण नहीं माने जा सकते ॥ १४ ॥

इति आपस्तम्बधर्मसूत्रदृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायां

उज्ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने नवमः पटलः ॥ ९ ॥



अथ दशमः पटलः

व्याख्यातास्सर्ववर्णानां साधारणवैशेषिका धर्मा राज्ञस्तु विशेषा-
द्रक्ष्यामः ॥ १ ॥

उक्तवक्ष्यमाणसङ्कीर्तनं श्रोत्रदुद्धिसमाधानार्थम् । अहिंसासत्यास्तेयादयः
सर्ववर्णानां साधारणधर्माः । अध्ययनादयस्त्रयाणाम् अध्यापनादयो ब्राह्मणस्य ।
शुद्धादयः क्षत्रियस्य । कृष्यादयो वैश्यस्य । शुश्रूषा शूद्रस्य । राजाऽत्राभिपिच्छो
विविधैः । तस्यैव हि बक्ष्यमाणं धर्मजातं सम्भवति । तस्य विशेषाद्विशेषतो
यद्वक्तव्यं तद्वक्ष्यामः । विशेषानिति द्वितीयान्तपाठस्तु युक्तः ॥ १ ॥

अनु०—सभी वर्णों के साधारण तथा विशेष कर्मों की व्याख्या कर दी गयी ।
अब हम राजा के कर्तव्यों का विशेष रूप से विवेचन करेंगे ॥ १ ॥

दक्षिणाद्वारं वेदम तुरं च मापयेत् ॥ २ ॥

वेदम गृहं पुरं नगरं तदुभयमपि दक्षिणाद्वारं मापयेत् कारयेत् स्थपत्या-
दिभिः । दक्षिणापूर्व द्वारं यस्य तत्तथोक्तम् ॥ २ ॥

अनु०—राजा इस प्रकार का नगर तथा प्रासाद बनवाये जिसके द्वारा उत्तर
दिशा की ओर हो ॥ २ ॥

अन्तरस्यां पुरि वेदम ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव प्रकाराणां मध्ये या पूस्तस्यामन्तरस्यां पुरि वेदम मापयेदा-
त्मनः ॥ ३ ॥

अनु०—प्रासाद नगर के बीच में होना चाहिए ॥ ३ ॥

तस्य पुरस्तादावसथस्तदामन्त्रणमित्याचक्षते ॥ ४ ॥

तस्य वेदमनः पुरस्तादवसथः कारयितव्यः । एतय वसन्त्यस्मिन्नित्याव-
सथः आस्थानमण्डपः । तस्यामन्त्रणमिति संज्ञा^१ ॥ ४ ॥

अनु०—उस प्रासाद की आगे एक आवसथ भवन हो और उसे आमन्त्रण नाम
दिया जाय ॥ ४ ॥

दक्षिणेन पुरं सभा दक्षिणोदगद्वारा यथोभयं सन्दृश्येत बहिरन्तरं
चेति ॥ ५ ॥

दक्षिणेनेत्येवन्तम् । पुरमिति^२ 'एनपा द्वितीये'ति द्वितीयान्तम् । पुरस्य
दक्षिणतः श्वदूरे सभा कारयितव्या । दक्षिणोदगद्वारा दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च

दिशि द्वारं यस्यास्ता तथोक्ता । किमर्थमुभयत्र द्वारमिति चेत् । यद्विद्वृतं
यच्चाऽभ्यन्तरं तदुभयमपि यथा सन्देहयेतेत्येवमर्थमिति । सैषा द्यूतसभा ।
तस्यां द्यूतार्थितः प्राविशन्तीति तद्वायस्थानं राज्ञः ॥ ५ ॥

अनु०—नगर से कुछ दूर दक्षिण की ओर समाभवन इनवाये बितके द्वार दक्षिण
तथा उत्तर की ओर ही । तथा उसके भीतर और बाहर देखा जा सकता हो ॥ ५ ॥

सर्वेष्वेवाऽजस्ता अग्नयस्सुः ॥ ६ ॥

वेदमन्यावसथे सभायांमित्येतेषु सर्वेष्वेव स्थानेषु लौकिका अग्नयोऽजस्ताः
सुः । अविच्छेदेन धार्याः ॥ ६ ॥

अनु०—इन दोनों स्थानों पर अग्नि निरन्तर प्रज्वलित रहे ॥ ६ ॥

अग्निपूजा च नित्या यथा गृहमेधे ॥ ७ ॥

तेषु चाग्निषु नित्यमग्निपूजा कार्या । यथा गृहमेधे औपासने सायंश्रावर्होम
इत्यर्थः । मान्वावपि तावैव, द्रव्यमपि तदेव ॥ ७ ॥

अनु०—इन अग्निषु नै नित्य इव न किंवा जाना चाहिए बैसे ग्रहस्य नित्य होम
कर्म करता है ॥ ७ ॥

आवसथे श्रोत्रियावराध्यांनतिथीन् वासयेत् ॥ ८ ॥

आवसथाह्ये स्थाने अतिथीन् वासयेत् । ते विशेष्यन्ते श्रोत्रियावराध्या-
निति । अवरपर्यायोऽवराध्यशब्दः । यदि सर्वान्वासयितुं न शक्नोति श्रोत्रि-
यानपि तावद्वासयेदिति ॥ ८ ॥

अनु०—आवसथ में अतिथियों को दिक्राये और वे अतिथि कम से कम वेदों के
विद्वान् अवस्य हों ॥ ८ ॥

तेषा यथागुणभावसथाः शय्याऽल्पानं च विदेयम् ॥ ९ ॥

तेषामतिथीनां यथागुणं विद्याद्युक्तानुगुणभावसथादि विदेयं विशेषण
देयम् । आवसथा अपवरकादयः । शय्या लघ्वाद्दयः । अन्नमोदनादि । पानं
तक्रादि ॥ ९ ॥

अनु०—उन अतिथियों के गुणों के अनुसार उन्हें निवासस्थान. आसन, शय्या
अन्न तथा पेष पदार्थ देना चाहिए ॥ ९ ॥

गुरुनमात्पांश्च नातिजोवेत् ॥ १० ॥

गुरुवः पित्रादयः । अमात्या मन्त्रिणः । तान्नाऽतिजोवेत् मन्स्यमोम्यान्त्या-
दनादिषु तान्नाऽतिशयोत् ॥ १० ॥

अन०—अपने गुरुओं तथा मन्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम का (भोजन, बल आदि की दृष्टि से उत्तम) जीवन न व्यतीत करे ॥ १० ॥

न चास्य विपयो क्षुधा रोगेण हिमातपाभ्या वाऽवसीदेदभावा-
द्वुद्धिपूर्वं वा कश्चित् ॥ ११ ॥

अस्य राज्ञो विपये राष्ट्रे क्षुधा आहाराभावेन बुभुक्षया रोगेण व्याधिना
हिनेन नीहारेण वर्षादीनामप्युपलक्षणमेतत् । आतपः आदित्यरश्मितापः । एतैः
प्रकारैरभावात् बुद्धिपूर्वं वा न कश्चिद्ब्रह्मणोऽप्यवसीदेत् अवसन्नो न स्यात् ।
राज्ञो ह्ययमपराधो यद्वाहाराद्यभावेन कश्चिदवसन्नः स्यात् । बुद्धिपूर्वं वेत्यत्रो-
दाहरणम्—यद्वा कश्चित् क्रमृणं वा दाप्यो भवति, तदा नाऽसौ हिमातपयोरु-
पनिवेशयितव्यः भोजनाद्वा निरोद्धव्यः । तथा कर्वाणं राजा दण्डयेदिति ॥११॥

अनु०—उसके राज्य में अभाव के कारण अथवा जानबूझकर किसी को बूख,
रोग, शीत, वाप, आदि से कष्ट नहीं पहुँचना चाहिए ॥ ११ ॥

सभाया मध्येऽधिदेवनमुद्धत्याऽवोक्ष्याऽऽन्निवेषेद्युगमान् वैभोत
कान् यथार्थान् ॥ १२ ॥

पूर्वोक्तायाः सभाया मध्ये अधिदेवनं यस्योपरि कित्वा अक्षैर्दीव्यन्ति
तस्थानमधिदेवनम् । तत् पूर्वं काष्ठादिना उद्धन्ति उद्धत्याऽवोक्षति । अवोक्ष्य
तत्राऽऽन्नं युग्मसङ्ख्याकान्वैभोतकान् विभोतकवृक्षस्य विंकारभूतान् यथार्थान्
याचद्भिर्द्युतं निर्वर्तते, तावतो निवपति । कः ? यस्तत्र राज्ञा नियुक्तः सभिको
नाम ॥१२॥

अनु०—सभाभवन के मध्य में सभाध्यक्ष एक ऊँचा स्थान बनवावे, अपने
हाथ की नीचे किये हुए उस पर बल छिड़के, उसपर युग्म संख्या में विभोतक
(काष्ठ) के बने हुए अक्ष (गोरियों) कितनी आवश्यक ही उतनी मात्रा
में रखे ॥ १२ ॥

आर्याः शुचयस्सत्यशीला दोवितारस्त्युः ॥ १३ ॥

आर्याः द्विजातयः । शुचयोऽर्थशुद्धाः । सत्यशीलास्तस्यवादिनः । एवंभूता
एव पुरुषास्तत्र दोवितारः स्युः । त एव तत्र दोव्येयुरित्यर्थः । तेच तत्र देवित्वा
यथाभाषितं पणं सभिकाय दत्त्वा गच्छेयुः । स च राज्ञे तमायमहरहः प्रतिमासं
प्रतिसंवत्सरं वा दद्यात् । स एव च स्थानान्तरे दीव्यतो दण्डयेत्, सभास्थाने
च कलहकारान् । तत्र याज्ञवल्क्यः—

‘‘म्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ।

शृङ्गीयाद्दूर्तकितवादितरादृशकं शतम् ॥

स सन्ध्याकालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।

जितपुद्गुद्राहचैवैत्रं दद्यात्सत्यं षचः क्षमी ॥' इति ॥ १३ ॥

अनु०—युत खेडने वाले आर्य अर्थात् प्रथम तीन वर्गों के होते पवित्र आचरण बाँटे तथा सत्यवारी होवें ॥ १३ ॥

आयुप्रग्रहणे नृत्तगीतवादित्राणीति राजाघोनेभ्योऽन्यत्र न विद्ये-
रन् ॥ १४ ॥

आयुप्रग्रहणादीनी राजाघोनेभ्यो राजाश्रया चे पुढपास्तेभ्योऽन्यत्र न विद्येर-
न भवेयुः । उत्सवादिष्वन्यत्रापि भवतीत्याचारः ॥ १४ ॥

अनु०—अन्नो का अम्भार, मृत्य, गीत वाद्यवादन आदि कैवल्य राजा के
अर्धान्त्य सेवकों के निवास स्थलों पर ही होते अन्यत्र नहीं ॥ १४ ॥

क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्करभयं न विद्यते ॥ १५ ॥
यस्य राज्ञी विषये ग्रामेऽरण्ये च चोरभयं नास्ति स एव राजा क्षेमकृत्
क्षेमकृत् । न त्वन्त्यः शतं तुभ्यं शतं तुभ्यमिति ददानोऽपि ॥ १५ ॥

अनु०—बिस राजा के राज्य में ग्राम में अथवा वन में चोरों का भय नहीं होता
वही कल्याणकारी राजा होता है ॥ १५ ॥

इत्यापत्तन्वधमसूत्रवृत्तौ द्वितीय प्रदने पञ्चविंशो कण्ठिका ॥ २५ ॥

मृत्यानामनुपरोधेन क्षेत्रं वित्तं च ददद्ब्राह्मणेभ्यो यथाहंमन्तर्त्ता-
लोकात्मिभ्ययति ॥ १ ॥

मृत्यानामनुपरोधेन भृत्यवर्गस्य यथोपरोधो न भवति तथा ब्राह्मणेभ्यो
यथाहं विद्यावृत्तानुरूपं क्षेत्रं वित्तं च दद्यात् । एवं ददद्मन्तर्त्तोल्लोकन्मिभ्ययति ॥ १ ॥

अनु०—दो राजा अपने सेवकों को किसी प्रकार की दानि पँडूबाये बिना ब्राह्मणों
को उनको विद्या तथा उनके चरित्र आदि के अनुसार धन देता है, वह अनन्त ढोडों
को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

ब्राह्मणस्वान्यपजिपगीमाणो राजा यो हन्यते तमाहुरात्मयूपो
यज्ञोऽन्तर्दक्षिण इति ॥ २ ॥

ब्राह्मणस्त्वानि चौरादिभिरपहृतानि अपजिगीपमाणः ब्राह्मणेभ्यो दानाया-
पजित्य ग्रहोतुमिच्छन् यो राजा युद्धे चौरहन्त्ये तमात्मयूपोऽन्तर्दक्षिणो यज्ञ
इत्याहुर्धर्मज्ञः । सङ्ग्रामो यज्ञः । तस्य आत्मा यूपस्थानीयः । आत्मेति शरीरमाह ।
अन्तरात्मा तु यूपस्थानीयः । प्रत्यानिनोपितं तु द्रव्यं दक्षिणो । सूत्रे तु 'तं यज्ञ
इत्याहु' रिति गीणो वादः ॥ २ ॥

अनुः—कहा जाता है कि जो राजा किसी ब्राह्मण की चोर आदि द्वारा अपहृत सम्पत्ति को छीनकर ब्राह्मण को वापस दिलाने के प्रयत्न में मृत्यु प्राप्त करता है, वह इस प्रकार का यश करता है। जिसमें उसका शरीर ही यश का मूल्य होता है। तथा असीमित दक्षिणा ही बांकी है ॥ २ ॥

एतेनाऽन्ये शूरा व्याख्याताः प्रयोजने युध्यमानास्तनुत्यजः ॥ ३ ॥

प्रयोजनं चोरोदिभिरपहृतानां ब्राह्मणस्वानां पत्यानयनादि, तदर्थं युध्यमाना ये शूरास्तनुत्यजो भवन्ति तेऽन्येतेन राज्ञा व्याख्याता आत्मयुपा यज्ञा अनन्वदक्षिणा इति ॥ ३ ॥

अनु०—आगे के सूत्र में उन वीरों के पुण्यफलों का निर्देश किया गया है जो किसी भ्रष्ट प्रयोजन से शुक करते हुए शरीर त्याग करते हैं ॥ ३ ॥

ग्रामेषु नगरेषु चाऽऽर्याञ्छुचोन् सत्यशीलान् प्रजागुप्तये निदध्यात् ॥ ४ ॥

आर्याञ्छुचीन् सत्यशीलानिति व्याख्यातम् । एवं भूतान् पुरुषान् ग्रामेषु नगरेषु च प्रजानां रक्षणार्थं निदध्यात् नियुञ्जीव ॥ ४ ॥

अनु०—ग्रामों तथा नगरों में प्रजा की रक्षा के लिए तीन उच्च वर्णों कं, पवित्र आचरण वाले तथा सत्यवादी पुरुषों को नियुक्त करें ॥ ४ ॥

तेषां पुरुषास्तथागुणा एव स्युः ॥ ५ ॥

तेषां नियुक्तानां ये पुरुषा नियोज्याः तेऽपि तथागुणा आर्याद्विगुणा एव स्युः ॥ ५ ॥

अनु०—उनके सेवकों में भी उसी प्रकार के गुण होने चाहिए ॥ ५ ॥

सर्वतो योजनं नगरं तस्करेभ्यो रक्ष्यम् ॥ ६ ।

सर्वतः सर्वोसु दिक्षु योजनमात्रं नगरं तस्करेभ्यो रक्षणीयम् । रक्ष्यन्नित्यपपाठः ॥ ६ ॥

अनु०—वे नगर की प्रत्येक दिशा में एक योद्धा तक नगर की चोरी आदि से रक्षा करें ॥ ६ ॥

क्रोशो ग्रामेभ्यः ॥ ७ ॥

ग्रामेभ्यस्तु सर्वोसु दिक्षु क्रोशो रक्ष्यः । ग्रामेभ्यः इति 'यतश्चाऽध्वकाल परिमाणं तत्र पञ्चमी वक्तव्ये'ति पञ्चमी ॥ ७ ॥

अनु०—प्रत्येक ग्राम के चारों ओर एक कोश तक रक्षा करें ॥ ७ ॥

तत्र यन्मुष्पते तैस्त्वत्प्रतिदाप्यम् ॥ ८ ॥

तत्र योजनमात्रे क्रोशमात्रे वा यन्मुष्यते चोपते ते न्युज्याः स्वामिभ्यस्त-
त्सविद्व्यू राज्ञा वैस्तत् प्रतिदाप्यम् राजा वैः प्रतिदापयेदिति प्रायेण इत्योष्ट्यप-
वकारं पठन्ति ॥ ८ ॥

अनु०—इन सीमाओं क भीतर बो भी उग्नति चोरो हो उसे इन्हों रक्षापुरुषों
से जुक्वा करावा बाय ॥ ८ ॥

धाम्यं शुल्कमवहारयेत् ॥ ९ ॥

तत्र गौतमः—

‘विंशतिभागशुल्कः पण्ये’ इति । यद्वाणिभिर्विक्रीयते हिङ्गुनादि, तस्य
विंशतितमं भागं राजा गृह्णीयात् । तस्य शुल्क इति सज्ञा । एष धान्यः धान्य-
इशुल्कः । तमाधिकृतैर्वाऽवहारयेत् प्राहयेदिति । मूलादिषु विशेषतैरेवोक्तः—

‘मूलफलपुष्पीपथिमधुनांसलुण्ठनानां षाष्टिक्य’मिति ॥ ९ ॥

अनु०—राबा ठनसे न्यायोचित कर भी एकत्र इत्वाये ॥ ९ ॥

अकरः श्रोत्रियः ॥ १० ॥

श्रोत्रियः करं न दाप्यः । अन्ये दाप्याः ॥ १० ॥

अनु०—विद्वान् भोत्रिय ब्राह्मण कर से मुक्त होवा हे ॥ १० ॥

सर्ववर्णानां च खियः ॥ ११ ॥

अकरः । वर्णमहणात् प्रतिलोनादिक्रियो दाप्याः ॥ ११ ॥

अनु०—सभी वर्णों की स्त्रियों भी कर से मुक्त होवो हैं ॥ ११ ॥

कुमाराश्च प्राक् व्यञ्जनेभ्यः ॥ १२ ॥

व्यञ्जनानि श्मश्रुवादीनि । श्रावत्तानि नोत्सृजन्ते तावदकराः ॥ १२ ॥

अनु०—बालक उस समय तक कर से मुक्त होते हैं जब तक उनमें दुवातस्या के
चिह्न (दाढ़ी-मूँह) प्रकट नहीं हो जाते ॥ १२ ॥

ये च विद्यार्था वसन्ति ॥ १३ ॥

विद्याभुङ्गिर्य ये गुरुषु वसन्ति ते श्रावव्यञ्जना अप्यसनात्तवेदा अकराः ।

अनु०—जो लोग अध्ययनार्थ गुरुकुल में निवास करते हैं वे कर से मुक्त होते
हैं ॥ १३ ॥

तपस्विनश्च ये धर्मपराः ॥ १४ ॥

तपस्विनः कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः । धर्मपराः, अफलाकाङ्क्षिणः नित्यने-

मितिकथमंनिरताः । धर्मपरा इति किम् ? ये अभिचारकामा मन्त्रसिद्धये तप-
स्त्यन्ते ते अकरा मा भूवन्निति ॥ १४ ॥

अनु०—धर्म के आचरण में संलग्न तपस्वी भी कर से मुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

शूद्रश्च पादावनेका ॥ १५ ॥

यस्त्रैवर्णिकानां पादावनेका स शूद्रोऽप्यकरः ॥ १५ ॥

अनु०—चरणों को धोकर जीविका निर्वाह करने वाला शूद्र भी अकर होता
है ॥ १५ ॥

अन्धमूकबधिररोगाविष्टाश्च ॥ १६ ॥

एतेऽप्यकराः यावदान्ध्यादि ॥ १६ ॥

बन्धे, गूरे, बहरे तथा रोगी कर से मुक्त होते हैं ॥ १६ ॥

ये व्यर्था द्रव्यपरिग्रहैः ॥ १७ ॥

ये च परिव्राजकादयः द्रव्यपरिग्रहैर्व्यर्था निष्ययोजनाः शास्त्रतो येषां द्रव्य-
परिग्रहः प्रतिषिद्धः तेऽप्यकराः ।

तथा च वसिष्ठः—

“अकरः श्रोत्रियो राजा पुमाननाथः प्रत्रजितो बालवृद्धतरुणप्रशान्ता”
इति ॥ १७ ॥

अनु०—बिना लोगों के बिना धन ग्रहण करना शास्त्र से निषिद्ध है वे संन्यासी-
आदि) कर से मुक्त होते हैं ॥ १७ ॥

अबुद्धिपूर्वमलङ्कृतो युवा परदारमनुप्रविशन् कुमारौ वा वाचा
वाध्यः ॥ १८ ॥

यत्र परदारा आसते कुमारी वा पतिवरा, तत्र युवा अलङ्कृतः अबुद्धि-
पूर्वमज्ञानादनुप्रविशन् वाता वाध्यः—अत्रेयमास्ते, माऽत्र प्रविशेति ॥ १८ ॥

अनु०—आभूषणों आदि से अलङ्कृत जो युवक अनजान में भी किसी ऐसे स्थान
पर प्रवेश करता है जहाँ एक विवाहिता स्त्री या विवाहयोग्य कन्या बैठी हो उसे डाँट
कर रोकना चाहिए ॥ १८ ॥

बुद्धिपूर्वं तु दुष्टभावो दण्डयः ॥ १९ ॥

यस्तु ज्ञानन्तेव दुष्टभावः प्रलोभनार्थी प्रविशति स दण्ड्यो द्रव्यानुत्तरुत्सप-
राधानुरूपं च । दुष्टभावग्रहणमाचार्यादिप्रेषितस्य प्रवेशे दण्डो मा भूदिति ।

अनु०—किन्तु यदि वह ऐसा बुरा नीयत से जानबूझकर करता है तो उसे
(आर्थिक) दण्ड देना चाहिए ॥ १९ ॥

सन्निपाते वृत्ते शिशुच्छेदनं सवृषणस्य ॥ २० ॥

सन्निपातो मैथुनं, तस्मिन् वृत्ते शिशुच्छेदनं वृषणः । सवृषणस्येत्युपसर्जनरथापि शिशुस्य विशेषणम् । सवृषणस्य शिशुस्य च्छेदनमिति ॥ २० ॥

अनु०—यदि उसने वस्तुतः ऐसी स्त्री से मैथुन किया हो तो उसका शिशु अण्डकोषों के साथ कटवा दे ॥ २० ॥

कुमार्यां तु स्त्रान्यादाय नाशयः ॥ २१ ॥

कुमार्यां तु सन्निपाते वृत्ते सर्वस्वहरणं कृत्वा देशान्निर्वास्यः, न शिशुच्छेदः ॥ २१ ॥

अनु०—यदि उसने कुमारी कन्या के साथ मैथुन किया हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर उसे देश से निष्कासित कर देना चाहिए ॥ २१ ॥

अथ मृत्ये राज्ञा ॥ २२ ॥

अथ सन्निपातात्प्रभृति ते परदारकुमार्यो राज्ञा भृत्ये प्रासाच्छादनप्रदानेन भर्तव्ये ॥ २२ ॥

अनु०—उसके बाद ऐसी परस्त्री तथा कुमारी कन्या का मरण-पोषण राजा करें ॥ २२ ॥

रक्ष्ये चाऽत ऊर्ध्वं मैथुनात् ॥ २३ ॥

अतः प्रथमात् सन्निपातात् ऊर्ध्वं मैथुनाच्च रक्ष्ये यथा पुनः मैथुनं नाचरतस्तथा कार्ये ॥ २३ ॥

अनु०—उसके बाद राजा उनकी मैथुन किये जाने से रखा करें ॥ २३ ॥

निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ २४ ॥

यदि ते एवं निरुद्धे निर्वेषणमभ्युपेतः अभ्युपगच्छतः तदा निर्वेषाभ्युपाये तु स्वामिहस्ते अवंसृजेत् दद्यात् । परदारं भर्त्रं श्वशुराय वा, कुमारीं पित्रे भ्रात्रे वा । अनभ्युपपत्ते तु प्रायश्चित्तस्य यावज्जीवं निरोधः ॥ २४ ॥

यदि वे विहित प्रायश्चित्त करें तो उन्हें उनके स्वमियो तथा संशकों के हाथों में सौंप देना चाहिए ॥ २४ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रे द्वितीयप्रश्ने षट्त्रिंशो कण्डिका ॥ २३ ॥

चरिते यथापुरं घर्माद्धि सम्बन्धः ॥ १ ॥

चरिते तु निर्वेषे यथापुरं यथापूर्वं, धर्मात्, तृतीयार्थे पञ्चमी । घर्मेण सम्बन्धो भवति । हिशब्दो हेतौ । यस्मादेवं तस्मात् अवश्यं प्रायश्चित्तं कारयितव्ये । ततो यद्वाविवाहादौ न कश्चिदेष इति ॥ १ ॥

अनु०—उन (स्त्रियों या कन्याओं) को प्रायश्चित्त कर लेने के बाद उसी प्रकार का मानना चाहिए जैसे वे पहले मानी जाती थीं, कारण स्त्री पुरुष के सम्बन्ध धर्म के अनुसार होते हैं ॥ १ ॥
परदारप्रसङ्गादुच्यते—

सगोत्रस्थानीयां न परेभ्यस्समाचक्षोत ॥ २ ॥

योऽनपत्यः आत्मनश्शक्त्यभावं निश्चित्य क्षेत्रज्ञं पुत्रमिच्छन् भार्यां परत्र नियुङ्क्ते, मृते वा तस्मिन् तत्पित्रादयस्सन्तानकाङ्क्षिणः, तद्विषयमेतत् । कुलान्तरप्रविष्टा सगोत्रस्थानीया । सा हि पूर्वं पितृगोत्रा सती^१ भर्तृगोत्रधर्मैरधि क्रियेत । अतः भर्तृपक्ष्याणां सगोत्रस्थानीया भवति । भर्ता तु साक्षात्सगोत्रः । तां सगोत्रस्थानीयां न परेभ्योऽस्सगोत्रेभ्यस्समाचक्षीत—इयमनपत्या, अस्यामपत्यमुत्पाद्यतामिति । सगोत्रायैव तु सामाचक्षोत, तत्रापि देवराय, तदभावे^३ सपिण्डेभ्यः ॥ २ ॥

अनु०—पति के कुल में प्रवेश करने वाली (पति के गोत्र वाली) स्त्री को (क्षेत्रज्ञ पुत्र की इच्छा से) उस गोत्र से भिन्न गोत्र वाले पुरुष से नियोग के लिए सम्बन्ध नहीं कराना चाहिए । (अर्थात् पति के गोत्र के पुरुष से ही नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा देनी चाहिए, उसमें भी भरसक देवर से नियोग होना चाहिए—हरदत्त) ॥ २ ॥

कः पुनस्सगोत्रस्य विशेषः ? तमाह—

कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति ॥ ३ ॥

हि यस्मात् स्त्री कन्या प्रदीयमाना कुलायैव प्रदीयत इत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः । तस्मात् सगोत्रायैव समाचक्षीतेति^४ ॥ ३ ॥

अनु०—क्योंकि कहा गया है कि कन्या एक कुल को दी जाती है (पति के कुल को दी जाती है, केवल पति को ही नहीं) ॥ ३ ॥

तस्मिन् नियोगं दृष्यति—

तदिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नम् ॥ ४ ॥

यद्यथैव पूर्वं कृतवन्तः, तथाऽपि तदद्यत्वे विप्रतिपन्नं विप्रतिपिद्धम् ।

१. पारस्यै. इति. क. पु.

२. भर्तृगोत्रधर्मैरधिक्रियते ।

३. तपिण्डाय इति. च पु.

४. ' कुलाय कन्या स्वचिद्वेषु दाशते । गोत्रजे न केनचिदप्यनुभूयते । उक्तं च वृत्तसतिना—अभर्तुं का भ्रातृभार्यां प्रदणं चातिदूषितम् । कुले कन्या प्रदानं च देशेभ्यन्येषु दृश्यते इति' इत्यधिकः पाठः घ. पु.

क्षुतः ? इन्द्रियदीर्घल्यात् । दुर्बलेन्द्रिया ह्यक्षत्वे मनुष्याः । ततश्च शास्त्रज्ञ्या-
जेनापि भर्तृव्यतिक्रमेऽतिप्रसङ्गस्यादिति ॥ ४ ॥

अनु०—किन्तु यह नियोग का नियम अब निषिद्ध हो गया है क्योंकि पुरुषों की
इन्द्रियाँ दुर्बल हो गई हैं (वे संयम नहीं करते) ॥ ४ ॥
सगोत्रविषयेऽपि यो विशेषस्सोऽपि नास्तोत्याह—

अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः ॥ ५ ॥

येन पाणिना पूर्वमग्निसाक्षिकं पाणिगृहीतः कन्यायाः, तस्मान् पाणेरेत्यो
भवति सगोत्रस्याऽपि पाणिः । यस्मादेवं पाणेः परत्वमविशिष्टं समानम् ?
तस्माद्विशेष इति । अविशिष्टमित्यपपाठः ॥ ५ ॥

अनु०—बिस पुरुष के हाथ से विवाह के समय कन्या का ग्रहण किया जाता है
उस पुरुष के हाथ की छोड़कर दूसरे व्यक्तियों के हाँथ (चाहे वे सगोत्री हों या पर-
गोत्री) एक समान ही होते हैं ॥ ५ ॥

पाणिरन्त्यो भवतु, को दोषः ?

तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोरनरकः ॥ ६ ॥

तस्य पाणेर्व्यतिक्रमे उभयोर्दम्पत्योः नरको भवति । खलु पुनरिति प्रसिद्धि-
द्योतकौ निपातौ । अतः पत्याऽपि न स पाणित्याव्यः यः पूर्वं गृहीतः । भार्य-
याऽपि न स पाणित्याव्यो येन पूर्वमात्मानः पाणिगृहीतः ॥ ६ ॥

अनु०—यदि विवाह के पाणिग्रहण के नियम का उल्लंघन होता है तो पति-पत्नी
दोनों ही नरक प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात् ॥७॥

आरभ्यतऽनेनेत्यारम्भणः योऽयं दम्पत्योः परस्परनियमः, स आरम्भणो
यस्य स नियमारम्भणः । एवंभूतो योऽभ्युदयस एवं वर्षीयान् । वृद्धतरः ।
कस्मान् वर्षीयान् ? एवमुक्तप्रकारेण नियोगलक्षणेन यदपत्यमारभ्यते तस्मादेव-
मारम्भणादपत्याद्वर्षीयानिति । अपत्यादिति पाठः । आपत्यादिति प्रायेण पठ-
न्ति ॥ ७ ॥

अनु०—इस प्रकार नियोग द्वारा प्राप्त पुत्र को अपेक्षा वैवाहिक पवित्रता के
नियम के निर्वाह करने का परलोक में प्राप्य फल भेयत्कर होता है ॥ ७ ॥

नाश्य आर्यशूद्रायाम् ॥ ८ ॥

आर्यैर्वर्णिकः शूद्रायां परभार्यायां प्रसक्तो राज्ञा राष्ट्रान्नाश्यः निर्वास्यः ८
अनु०—यदि प्रथम तीन उच्च वर्णों का पुरुष शूद्र वर्ण की स्त्री से मैथुन करे तो
उसे देश से निकाल देना चाहिए ॥ ८ ॥

अनु०—धर्मशौं ने उपदेश दिया कि जो ब्राह्मण अपने ही वर्ण की पर छी से मैशुन करता है वह पतित व्यक्ति के लिए विहित प्रायश्चित्त का चतुर्थश प्रायश्चित्त करे (अर्थात् पतित के लिए बारह वर्ष की प्रायश्चित्त की अवधि है, ऐसे ब्राह्मण को तीन वर्ष तक प्रायश्चित्त करना होता है ॥ ११ ॥

एवमभ्यासे पादः पादः ॥ १२ ॥

एवमभ्यासे प्रत्याभ्यासं पादः पादः पतति ॥ १२ ॥

अनु०—इसी प्रकार इस अपराध के पुनःपुनः करने पर पतित के लिए विहित प्रायश्चित्त का चतुर्थश प्रायश्चित्त और करे ॥ १२ ॥

चतुर्थे सर्वम् ॥ १३ ॥

अतः—चतुर्थे सन्निपाते सर्वमेव पतति । ततश्च पूर्णद्वादशवार्षिकं कर्तव्य-
चतुर्थी नव वर्षाणि । द्वितीये षड्वर्षाणि । एतच्च प्रतियोगं खोभेदेन प्रथमदू ।
कपस्य । एकस्यामेव त्वभ्यासे कल्प्यम् । तत्र—

^१धत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्भ्रतम्,

इति स्मरणात् खिया अपि प्रतिप्रयोगं पादः पादः पतति । तदनुरोधेन
कल्प्यम् ॥ १३ ॥

अनु०—यदि यह अपराध चौथी बार करे तो पतित के लिए विहित सम्पूर्ण
बारह वर्षों का प्रायश्चित्त करे ॥ १३ ॥

जित्वाच्छेदनं शूद्रस्याऽऽर्ष्यं धार्मिकमाक्रोशतः ॥ १४ ॥

शूद्रो द्विजातीनामन्यतमं धार्मिके स्वकर्मस्थं यद्याक्रोशति निन्दति गहते,
तदा तस्य जिह्वा छेत्तव्येति । मनुस्तु सामान्येनाह-

^२येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्याऽपराधुयात् ।

तदङ्गं तस्य छेत्तव्यं तन्मनोरुशासनम् इति ॥

गौतमस्तु—^४शूद्रो द्विजातीनविसन्धायाम्भिहत्य च वाग्दण्डपाठप्याभ्यामङ्गं
भोच्यो येनोपहन्त्या' दिति ॥ १४ ॥

अनु०—प्रथम तीन वर्णों के गुणवान् व्यक्तिकी निन्दा करने या उसको अपशब्द
कहने पर शूद्र की जीभ काट लेनी चाहिए ॥ १४ ॥

वाचि पथि शय्यायामासन इति समोभवतो दण्डताडनम् ॥ १५ ॥

यस्तु शूद्रो वागादिष्वार्यैरसमीभवति, न तु न्यगभूतः, तस्य दण्डेन ताडनं
कर्तव्यम् । से दण्डेन ताडयितव्यः । अयमस्य दण्डः ॥ १५ ॥

अनु०—बो शूद्र प्रथम तीन वर्णों के पुरुषों के साथ धार्तोलप में, मार्ग में चलने में, शय्या पर, बैठने के आसन पर तथा अन्य कर्मों में समानता का व्यवहार करे उसे डण्डे से पीटने का दण्ड दिया जाना चाहिए ॥ १५ ॥

पुरुषवधे स्तेये भूम्यादान इति स्वान्यादाय वध्यः ॥ १६ ॥

भूम्यादानं परक्षेत्रस्य बलात्बोकारः, पुरुषवधादिषु निमित्तेषु शूद्रस्सर्वस्वहरणं कृत्वा पद्म्याध्यः मारयितव्यः ॥ १६ ॥

अनु०—किसी पुरुष का वध करने पर, चोरी करने, भूमि पर बलपूर्वक कब्जा करने पर शूद्र की संपूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर लेना चाहिए तथा उसका वध कर देना चाहिए ॥ १६ ॥

चक्षुनिरोधस्त्वेतेषु ब्राह्मणस्य ॥ १७ ॥

ब्राह्मणस्य त्वेतेषु निमित्तेषु चक्षुषो निरोधः कर्तव्यः । पट्टबन्धादिना चक्षुषी निरोद्धव्ये' यथा यावज्जीवं न पश्यति । न तूत्पाटयितव्ये ।

'न शरीरो ब्राह्मणदण्डः । अक्षतो ब्राह्मणो ब्रजे'दिति स्मरणात् । 'चक्षुनिरोध' इति रेफलोपदृष्टान्दसः ॥ १७ ॥

अनु०—किन्तु यदि एक ब्राह्मण ये सब अपराध करे तो उसकी आँहों को पट्ट-बन्ध आदि से इस प्रकार बन्द करा देना चाहिए कि वह बीबन भर देख न सके ॥ १७ ॥

नियमातिक्रमिणमन्यं वा रहसि दन्धयेत् ॥ १८ ॥

यो वर्णाश्रमप्रयुक्तान्नियमानतिक्रामति तं नियमातिक्रमिणमन्यं वा प्रतिपिच्छानां कर्तारं रहसि निगलितं निरुन्ध्यात् ॥ १८ ॥

अनु०—नियमों का उल्लंघन करने वाले अथवा किसी अन्य प्रकार के अपराधी को एकान्त में बन्धन में रखे ॥ १८ ॥

आसमापत्तेः ॥ १९ ॥

यावदसौ नियमान् प्रतिपत्स्ये प्रतिपिच्छेभ्यो निवर्तिष्य इति ब्रूयात् ॥ १९ ॥
अनु०—जब तक वह अपराधी यह प्रतिज्ञा न करे कि मैं नियम का पालन कर्हंगा तथा निषिद्ध कर्मों से दूर रहूँगा तब तक उसे बन्धन में रखे ॥ १९ ॥

असमापत्तौ नाशयः ॥ २० ॥

यद्यसौ दीर्घकालं निरुद्धोऽपि न समापद्येत, ततो नाशयः निवोस्यः ॥ २० ॥
अनु०—यदि वह इस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं करता तो उसे देश से निकाल देना चाहिए ॥ २० ॥

आचार्यं ऋत्विक्स्नातको राजेति त्राणं स्युरन्यत्र वध्यात् ॥ २१ ॥

यदि दण्डे प्रवृत्तं राजानमाचार्यो ब्रूयात्—अहमेनमतः परं वारयिष्यामि
मुच्यतामयमिति । अतोऽङ्गदण्डे प्राप्तेऽर्थदण्डम्, अर्थदण्डे प्राप्ते ताडनम्,
ताडने प्राप्ते धिग्दण्डमिति कृत्वा तद्वशे विस्तृजेत् । एवमृत्विजि । ऋत्विगाचार्यो
राज्ञस्सवभूतो न दण्ड्यस्य । स्नातको विद्याव्रताभ्याम् । राजा अनन्तरादिः ।
सर्वं, एते राज्ञस्सम्मान्याः । अतस्ते दण्ड्यस्य त्राणं स्युः । इत्केन प्रकारेण रक्षका
भवेयुः । नान्यः कश्चित् । तेऽप्यन्यत्र वध्यात् यस्य वधानुगुणोऽपराधः न तस्या-
ऽऽचार्यादयोऽपि त्राणम्, हन्तव्य एव स इति ॥ २१ ॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने सप्तविंशो कण्डिका ॥ २७ ॥

अनु०—आचार्यं, ऋत्विक् स्नातक और राजा किसी अपराधी को बिसे मृत्यु-
दण्ड को छोड़कर कोई अन्य दण्ड मिला हो रखा कर सकते हैं (धुइ
सकते हैं) ॥ २१ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ हरदत्तमिश्रविरचितायासु-

ज्वलायां द्वितीयप्रश्ने दशमः पटलः ॥ १० ॥



अथैकादशः पटलः

क्षेत्रं परिगृह्योत्थानाभावात्फलाभावे यस्समृद्धस्स भावि

तदपहार्यः ॥ १ ॥

वैश्यो वैश्यवृत्तिर्षो परस्य क्षेत्रं कृष्यर्थं परिगृह्य यदि उत्थानं कृषिविषयं यत्नं न कुर्यात्, तदभावाच्च फलं न स्यात्, तत एतस्मिन्निमित्ते स कर्पकस्स-मृद्धक्षेत्रेत्स्मिन् भोगे यद्भावि फलं तदपहार्यः अपहारयितव्यः । राज्ञा क्षेत्रस्वामिने दाय्यः ॥ १ ॥

अनु०—यदि कोई व्यक्ति दूसरे का खेत खेती करने के लिए लेकर उसमें खेती करने का यत्न नहीं करता, जिसके कारण उस खेत में फल नहीं उत्पन्न होता, तो यदि वह पुरुष धनी हो तो उससे समाहित फसल का मूल्य खेत के स्वामी को दिखवा जाय ॥ १ ॥

अवशिनः कीनाशस्य कर्मन्यासे दण्डताडनम् ॥ २ ॥

कीनाशः कर्पकः । तस्याऽवशिनः अस्वतन्त्रस्य निर्धनस्य कर्मन्यासे स चेत् कृषिकर्म न्यसेत् विच्छिद्यन्त तस्य दण्डेन ताडनं कर्तव्यं स दण्डेन ताडयितव्यः । अर्थाभावान्नाऽर्थदण्डः ।

अपर आह—अवशी अवरयः अविधेयः यः क्षेत्रं परिगृह्याऽवशिनः कीनाशस्य कृषिकर्म न्यसेत् न स्वयं कुर्यात्, तदा स परिग्राहको दण्डेन ताडयितव्य इति । यदि वा अवशिन इति घटुमीहिः । यस्य कीनाशस्य वशी स्वतन्त्रः क्षेत्रधान्नास्ति, स यदि पूर्वकृष्टस्य क्षेत्रस्य कृषिकर्म न्यसेत् न कुर्यात्, तस्य दण्ड-ताडनं दण्ड इति राजपुरुषस्योपदेशः ॥ २ ॥

अनु०—कृषि धर्म में जमींदार के वश में न रहकर बीच में काम छोड़ने वाले मजदूर को पीटना चाहिए ।

टि०—इस सूत्र की दूसरी व्याख्या भी है कि जो मजदूर जमींदार की जमीन लेकर-कृषि कर्म नहीं करता है और खेत वेकार पड़ा रहता है उस मजदूर को यदि उसके पास फसल का मूल्य देने के लिए धन न हो तो पीटना चाहिए ॥ २ ॥

तथा पशुपस्य ॥ ३ ॥

पशुपो गोपालः तस्याऽपि कर्मन्यासे पालनस्याऽकरणे दण्डेन ताडनं दण्डः ॥ ३ ॥

अनु०—इनी मकार का दण्ड गौ के उस चरवाहे को मिलना चाहिए जो कार्य छोड़ देता है ॥ ३ ॥

आ० प० २४

अवरोधनं चाऽस्य पशूनाम् ॥ ४ ॥

ये!चाऽस्य पशवो रक्षणाय समर्पितास्तेषां चाऽवेराधनमपहरणं कर्तव्य-
मन्यस्य गोपस्य समर्पणीया इति ॥ ४ ॥

अनु०—अथवा उसे स्वार्य जो पशु दिये गये हों उनका उपहरण करके उन्हें
दूसरे गोप को देना चाहिए ॥ ४ ॥

हित्वा व्रजमादिनः कर्शयेत्पशून् ॥ ५ ॥

ये पशवो व्रजे गोष्ठे निरुद्धात्वं व्रजं हित्वा आदिनस्सस्यदेर्भक्षयितारो
भवन्ति; तान् कर्शयेत् वन्धनादिना कृशान् कुर्यात् । कः ? यत् भक्षितं तद्वान्,
राजपुरुषो वा ॥ ५ ॥

अनु०—गोशाले में बंधे हुए पशु यदि तुड़ाकर या गोशाले से निकलकर किसी
को फसल आदि खा लें तो (फसल का स्वामी अथवा राजा के पुरुष) उन पशुओं
को घेरकर उन्हें कृश बना दें ॥ ५ ॥

नाऽतिपातयेत् ॥ ६ ॥

नाऽतिनिरोधं कुर्यात् न ताडयेद्वेति ॥ ६ ॥

अनु०—किन्तु उन्हें अत्यधिक कष्ट नहीं देना चाहिए ॥ ६ ॥

अवरुध्य (१) पशून्मारणे नाशने वा स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ ७ ॥

यदि पशुपः पशून्वरुध्य पालयितुं गृहीत्वा सभयस्थाने विसृज्योपेक्षया
मारयेत् नाशयेद्वा । नाशनं चोरादिभिरपहरणम् । स स्वामिभ्यः पशून्वसृजेत्
प्रत्यर्पयेत् पश्वभावे मूल्यम् ॥ ७ ॥

अनु०—यदि पशुओं का रखवाला पशुओं को निगरानी करके छिप छेकर उन्हें
मर जाने दे या चोरों आदि से अपहृत हो जाने दे, तो वह ऊनका मूल्य स्वामी को
लुफ्फता करे ॥ ७ ॥

प्रमादादरण्ये पशून्सृष्टान् दृष्ट्वा ग्राममानीय स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ ८ ॥

यदि स्वामिनः प्रमादादरण्ये पशून्सृष्टेयुः विना पालकेन ततस्तान् दृष्ट्वा
ग्राममानीय स्वामिभ्यः अर्पयेत् । कः ? यत्तत्र रक्षकत्वेन राजा नियुक्तः ॥ ८ ॥

अनु०—यदि राजा का पुरुष पशुओं के स्वामी द्वारा असावधानी से, विना
रखवाले के वन में छोड़ गये पशुओं को देले तो उन्हें ग्राम में लाकर स्वामी को
सौंप दे ॥ ८ ॥

पुनः प्रमादे सकृदवरुध्य ॥ ९ ॥

पुनः प्रमादादुत्प्रेषु सकृद्वरुष्य स्वामिभ्योऽवसृजेत् ॥ ९ ॥

अनु०—यदि पशुओं का स्वामी इसी प्रकार की असावधानी दुबारा करे तो पशुओं को कुछ दिन घेर कर रखे और फिर वापस कर दे ॥ ९ ॥

तत ऊर्ध्वं न सूक्षेत् ॥ १० ॥

ततो द्वितीयात् प्रयोगादूर्ध्वं 'ग्राममानीये' त्यादि यदुक्तं तन्न सूक्षेत् ना-
द्रियेत तस्मिन् विषये उपक्षेत् ॥ १० ॥

अनु०—उसके बाद असावधानी करनापर उन पशुओं पर ध्यान न दे ॥ १० ॥

परपरिग्रहमविद्वानाददान एधोदके मूले पुष्पे फले गन्धे

ग्रासे शाक इति वाचा वाध्यः ॥ ११ ॥

एधाधोदकं च एधोदकम् । असौ गवाद्यर्थो यवसादिः । सर्वत्र विषय-
सप्तमी । यः परपरिग्रहोऽयमित्यविद्वानजानन् एधादिग्रमादत्ते गृह्णाति, स
तस्मिन्विषये तत्र नियुक्तेन राजपुरुषेण निष्ठुर्या वाचा बाध्यः निवायः ॥११॥

अनु०—जो व्यक्ति ई धन, बल, मूठ, फूल, पदम गन्ध, घास, शाक आदि बिना यह
बाने हुए कि वे किसी अन्य व्यक्तिके हैं ग्रहण करले उसे राजपुरुष वाणी से डाटकर
रोके ॥ ११ ॥

विदुषो वाससः' परिमोषणम् ॥ १२ ॥

यस्तु विद्वानेवाऽऽदत्ते तस्य वाससोऽपहारः कर्तव्यः ॥ १२ ॥

अनु०—जो व्यक्ति बानबूझ कर ग्रहण कर लेता है उसके वस्त्र का अपहरण कर
केना चाहिए ॥ १२ ॥

अदण्ड्यः कामकृते तथा प्राणसंशये भोजनमाददानः ॥ १३ ॥

तथाशब्दस्य भोजनमित्यनेन संबन्धः । प्राणसंशयदशायामेधो-दकादेरादाने
कामकृतेऽप्यदण्ड्यः । तथा भोजनमप्याददानः प्राणसंशये न दण्ड्य इति ॥१३॥

अनु०—किन्तु जो व्यक्ति प्राणोंका संकट होनेपर बानबूझकर दूसरेका भोजन ग्रहण
कर लेता है, उसे दण्ड नहीं देना चाहिए ॥ १३ ॥

प्राप्तनिमित्ते दण्डाकर्मणि राजानमेनस्सृशति ॥ १४ ॥

प्राप्तं दण्डनिमित्तं यस्य तस्मिन् पुरुषे दण्डाकर्मणि दण्डशयऽक्रियायां यदि
दयाऽर्थलोभेन वा प्राप्तदण्डं न कुर्यात् तदा तदेनो राजानमेव सृशति ॥१४॥

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्नेऽष्टाविंशो कण्डिका ॥ २८ ॥

अनु०—यदि राजा किसी दण्ड्य अपराधीको दण्ड नहीं देता तो वह पाप उसीको
मिलता है ॥ १४ ॥

ननु' शास्त्रफलं प्रयोक्तारि, तत्कथमन्यकृतमेनोऽन्यं स्पृशतीति, बहुविधत्वात् कर्तृभेदस्येत्याह—

प्रयोजयिता मन्ता कर्तति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनः ॥ १ ॥

धर्ममधर्मं वा प्रकुर्वाणं यः प्रयुक्ते-इदमित्थं कुर्विति, स प्रयोजयिता । स चाऽनेकप्रकारः-आज्ञापकोऽभ्यर्थयिता अनुग्राहक इति । भृत्यादे-निकृष्टस्य प्रवर्तना आज्ञा । गुर्वादेराराध्यस्य प्रवर्तनाऽभ्यर्थना । अनुग्रहो द्विविधः— उपदेशस्तत्सधर्माचरणं चेति । तत्र य इत्थमर्थमुपदिशति त्वं शत्रुमित्थं व्यापादय, धर्माजनेऽयं तेऽभ्युपाय इति स उपदेश । यः पुनः केनचिज्जिघांसितं पलायमानं वा निरुणद्धि निरुद्धश्च हन्यते स निरोद्धाऽनुग्राहकः । मन्ता अनुमन्ता यस्याऽनुमतिमन्तरेणाऽर्थो न निवर्तते स राजादिको धर्माधर्मयोरेनुमन्ता । कर्ता साक्षात्क्रियाया निवर्तकः । एते त्रयोऽपि स्वर्गफलेषु नरकफलेषु च कर्मसु धर्मष्वधर्मेषु च भागिनः फलस्यांशभागिनःअंशभाजः । सर्वेषां च यथाकर्थांचित् कर्तृत्वम् ॥ १ ॥

अनु०-नो कर्म करनेके लिए उद्योहित करता है, जो कर्म करनेमें सहायक होता है तथा जो कर्म करता है व तीनों ही उसके फलके स्वर्ग सा नरकमें समान रूपसे भागी होता है ॥ १ ॥

यो भूय आरभते तस्मिन् फलविशेषः ॥ २ ॥

तेषु प्रयोजकादिषु यो भय आरभते यस्य व्यापारोऽर्थनिवृत्तावधिकम्पयुज्यत तास्मिन् फलावशेषो भवति ॥२॥

अनु०-नो कमक संपादनमें सबसे अधिक योगदान देता है वह विशेष (अर्च्छे या २) फलका भागी होता है ॥ २ ॥

यद्यत्येधम्—

॥ कुटुम्बिनौ घनस्येशाते ॥ ३ ॥

कुटुम्बिनौ दम्पती । तो घनस्य परिग्रहे विनियोगे च ईशाते । यद्यत्येधं, तथापि भर्तुर्नुज्ञया विना स्त्री न विनियोक्तुं प्रभवति । भर्ता तु प्रभवति । तदेतेन वेदितव्यं 'नहिभर्तुर्विप्रासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ती'ति (२.१४.२०) । अनु०-पति और पत्नी दोनोंका परिवारका सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है ।

॥ तयोरनुमतेऽन्येऽपि तद्धितेषु वर्तन् ॥ ४ ॥

तयोर्दम्पत्योरनुमतेऽनुमती सस्यामन्येऽपि पुत्रादयः तयोरेहिकेष्वामुष्मिकेषु च हितेषु वर्तन् द्रव्यविनियोगेनाऽपि ॥ ४ ॥

अनु०-उनकी आशाके अनुसार परिष्कारके दूसरे सदस्यों को भी उन्हीं के कर्मों में संलग्न होना चाहिए ॥ ४ ॥

विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना बृद्धा मेधाविनो धर्मेण्वविनिपातिनः ॥५॥

अथिप्रत्यर्थिनोर्विप्रतिपद्धो वादो विवादः । तत्र विद्यादिगुणसंयुक्ता निर्णैता-
रस्त्युतिरि वाक्यशेषः । विद्या अध्ययनसम्पत्, अध्ययनसहितं शास्त्रज्ञानं वा ।
अभिजनः बुलशुद्धिः । बृद्धाः परिणतवयसः, मेधाविनः ऊद्गोपेहकुशलाः ।
धर्मेषु वर्णाश्रमप्रयुक्तेषु आर्वनिपातिनः, विनिपातः प्रमादः तद्रहिताः ।

अनु०-अर्थी, प्रत्यर्थी के विवादमें विद्यासे सम्पन्न, कुशलं, बुद्ध, बुद्धिमान तथा धर्म पालनमें सावधान पुरुष ही निर्णायक होंगे ॥ ५ ॥

सन्देहे लिङ्गतो देवेनेति विचित्य ॥ ६ ॥

ते च निणयन्तसन्देहस्थलेषु लिङ्गतोऽनुमानेन देवेन तप्तमापादिना इति-
शब्दः प्रक्षारे । यच्चान्यदयं युक्त वचनव्याघातादि तेन च विचित्यार्थिर्यति-
मन्वित्य निर्णैतारस्त्युचित्यध्याहृतं वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ ६ ॥

अनु०-जो विषय सन्देहापन्न हो उन विषयोंमें उन्हें अनुमान, दैव परीक्षण आदि साधनोंसे तथ्यता निर्धारण करना चाहिए ॥ ६ ॥
अथ साक्ष्यविधिः-

पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धेऽपामन्ते राजवत्युभयतस्समाख्याप्य सर्वानुमते
मुख्यस्सत्य प्रश्न ब्रूयात् ॥ ७ ॥

पुण्याहो देवनक्षत्रम्, प्रातर्मध्याह्नादिषु अग्निविद्धे अग्निमिथ्या तत्समीपे अ-
पामन्त उदकशुषुपनिधाय तत्समीपे राजर्चात राजाधिष्ठिते सदासि राजप्रहृणं प्रा-
ड्विवाकादेरुपलक्षणम् उभयतः उभयोरर्थप्रत्यर्थिनोरसमाख्याप्य किमहं युवयोः
प्रमाणभूतः साक्षीत्यात्मानं ख्यपथित्या । यदि वा उभयतः उभयोरपि पक्षयोस्स-
त्यवचने च असत्यवचने च साक्षिणो यद्भावि फलं तत्,

सत्यं ब्रह्मवृत्तं त्यक्त्वा सत्येन स्वर्गमेप्स्यसि ।

'अनुतेन महाघोरं नरकं प्रतिपत्यसे ॥

इत्यादिना प्रकारेण समाख्याप्य प्राड्विवाकादिभिः पृष्ट इति शेषः । सर्वा-
नुमते अथिप्रत्यर्थिनोस्सभ्यानां चानुमतौ सत्यां सभ्यो मुख्यः साक्षिगुणरूपेतो
दोषैश्च वर्जितस्साक्षी प्रश्नं पृष्टमर्थं सत्यं यथाऽऽत्मना ज्ञातं तथा ब्रूयात् ॥७॥

अनु०-किसी शुभ दिन को, प्रातःकाल, पलकी हुई अग्नि के समष्ट, बल से भरे हुए कण्ड के निचट, रात्रा की उपस्थिति में, दोनों पक्षों की सहमति से उचमगुणों से सम्पन्न साक्षी को बुढाकर उससे निर्णायक सत्यमाषण की प्रतिष्ठा कराकर प्रश्न पूछे ।

अनुते राजा दण्डं प्रणयेत् ॥ ८ ॥

साक्षिणाऽनुतमुक्तमिति प्रतिपन्ने राजा 'दण्डं प्रणयेत् ।

अत्र मनुः—

‘यस्य दृश्येत सप्ताहो दुक्तसाक्ष्यस्य साक्षिणः ।

रोगोऽभिज्ञातिमरणं दाय्यो दण्डं च तस्समम् ॥’ इति ॥ ८ ॥

न केवलमसत्यवचने राजदण्डः, किं तर्हि !

अनु०—यदि साक्षीका असत्यभाषण करना सिद्ध हो तो राजा उसे दण्ड दे ॥ ८ ॥

नरकश्चाऽत्राधिकः साम्पराये ॥ ९ ॥

साम्परायः परलोकः, तत्र नरकश्च भवति, न तु,

“राजभिर्भूतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलास्वर्गमायान्ति सन्तस्तमुक्तितनो यथा ॥

इत्यस्यायं विषय इति ॥ ९ ॥

इसके अतिरिक्त यदि साक्षी असत्य भाषण करता है तो उसे मृत्युके बाद नरक मिलता है ॥ ९ ॥

सत्ये स्वर्गं सर्वभूतप्रशंसा च ॥ १० ॥

सत्य वक्ते स्वर्गो भवति । सर्वाणि च भूतान्येन प्रशंसन्ति अपि देवाः ।

अनु०—सत्यभाषण करने पर साक्षीको स्वर्गको प्राप्ति होती है और सभी लोग (देवता भी) उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ १० ॥

सा निष्ठा या विद्या स्त्रीषु शूद्रेषु च ॥ ११ ॥

स्त्रीषु शूद्रेषु च या विद्या सा निष्ठा समाप्तिस्तस्यामप्यधिगतायां विद्याकर्म परित्यजतीति ॥ ११ ॥

अनु०—जो विद्या स्त्रियों और शूद्रों में होती है वही विद्या की अन्तिम सीमा है । उसका ज्ञान प्राप्त करने परही सभी विद्याओं का ज्ञान पूरा होता है ॥ ११ ॥

आथर्वणस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति ॥ १२ ॥

अथर्वणा प्रोक्तमधीयते ये ते आथर्वणिकाः । वसन्तादिभ्यष्टक् । तेषां समाप्त्नायः । “आथर्वणिःकरयेकलोपध्व” आथर्वणः । तस्य वेदस्य शेष इत्युपदिशन्ति धर्मज्ञाः—या विद्या खंषु शूद्रेषु चेति ॥ १२ ॥

अनु०—धर्मज्ञों का कथन है कि स्त्रियों और शूद्रों की विद्याएं अथर्ववेदको ज्ञान का परिशिष्ट श्रेय होती हैं ॥ १२ ॥

१. तं दण्डयेत् इति क. पु. २. म. स्पृ. ८. १०८. ३. उक्तावाक्यस्य इति च. पु.

४. ऋणं दाय्यो दमं च सः इति. च. पु. मुद्रितपुस्तकेषु च । ५. म. स्पृ. ८. ३१८.

कृच्छ्रु धर्मसमाप्तिस्सामान्नेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते ॥ १३ ॥

सामान्नेनं प्रतिपदपठः । तेन धर्मसमाप्तिः कृच्छ्रा न शक्या कर्तुम् । किं तु लक्षणकर्मणा समाप्यते येन सामान्येन भिन्नानामप्यधिगमो भवति तल्लक्षणं, तस्य कर्मणा करणेन समाप्यते । कर्मणात्त्विति द्वितकारपाठोऽयमर्थः । आदिति वा निपातस्य प्रश्लेषः । स च सद्य इत्यस्यार्थे द्रष्टव्यः ॥ १३ ॥

अनु०—वेदके अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लेने भरसे धर्मका बोध करना कठिन है, किन्तु उसके द्वारा लक्षित कर्मों के आचरणसे धर्मका पाठन सरलतासे होता है ।

तत्र लक्षणम् ॥ १४ ॥

सर्वजनपदेष्वेकान्तसमाहितमार्याणां वृत्तं सम्यग्बिनीतानां

वृद्धानामात्मवतामलोलुपानामदाम्भिकानां वृत्तसादृश्यं

भजेत एवमुभौ लोकावभिजयति ॥ १५ ॥

पूर्वेषु गतम् ॥ १५ ॥

यनु०—इन सन्देहास्पद विषयों के लक्षण इस प्रकार है ॥ १४ ॥

अनु०—सभी बनपदों में अपने आचार्यों के प्रति मय्यक् विनीत रहने वाले बृद्ध, इन्द्रियों का संयम करने वाले, लोभ तथा पाण्डित्यसे दूर रहने वाले तीन उच्चवर्णों के आर्यों द्वारा जो आचरण सबकी सहमतिसे मान्य हो उसीके अनुसार आचरण करना चाहिए । इस प्रकार कर्म करने वाला इस लोक तथा परलोक-दोनो का फल प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

स्त्रीभ्यस्सर्ववर्णेष्वथ धर्मशेषान्प्रतीयादित्येक इत्येके ॥ १६ ॥

सकव्यतिरिक्ता ये धर्मास्ते धर्मशेषान् स्थादीनामपि सकाशात् प्रतीयादित्येके मन्यन्ते । ते च प्रतिजनपदं प्रतिशुलं च भिन्नास्तथैव प्रतिपत्तव्याः । तत्र त्राविद्धाः कन्यामेपथ्ये सवितर्यादित्यपूजामाचरन्ति भूमौ मण्डलमालिख्य, इत्यादीन्युदाहरणानि । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ १६ ॥

अनु०—कुछ धर्मश्री का मत है कि बिन अक्षरिध नियमों का विधान नहीं किया गया है उन कर्मों का ज्ञान शिष्योंसे तथा सभी वर्णके पुरुषोंसे प्राप्त करना चाहिए ।

इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयप्रश्ने एकोनत्रिंशो कण्डिका ॥ २९ ॥

इति चाऽऽपस्तम्बधर्मसूत्रवृत्तौ श्रीहरदत्तमिश्रविरचितायामुज्ज्वल्लायाम्
द्वितीयप्रश्ने एकादशः पटलः ॥ ११ ॥

सामासमिदमुज्ज्वलोज्वलितमापस्तम्बधर्मसूत्रम् ॥

सूत्र में आये हुए नामों एवं विषयों की

अनुक्रमणिका

अग्नि, अपवित्र होने पर ११५, परिव्राजक के लिए नहीं ३३९, आधान ३४३, उप-समाधान २२८, २५४ परित्यागी का अन्न अर्घ्य १४१ में प्रवेश १८७, १८८, २०१ की पूजा ३४, ३५६ अग्नि-होथ १०३ हवन ३०९, स्पर्श ३३३, पञ्चाग्नि ३२३, बीच से जाना वर्जित २८४, कर्त्रीचीनीयसंस्था १४०	आवकीर्णी, १९२ आवभृथ, शुद्धि के लिए १८४ अतिथि पूजा २६० आवि, आविक चर्म २३ अशुचिकर, कर्म १५६, २०७ अश्वमेध, का खान १८४ आङ्गिरस, मन्त्र १४ आचमन, ३५, ५१, ११०, ११७-१२०, १२५, २३७, २५०, ३३० आचार्य, योग्यता ८, परिभाषा ९ आदेश २८, मिश्रण का देवता ३०, २८, के समीप जाना ६५, बैठना ६२, त्याज्य ६६, मुख्य पर उपवास ३०७, अनध्याय ७६, ७४, पादोपसंमरण ४४, शिष्य द्वारा बदोषन ३६, कुल में निवास २६, ३३६, १०२, माहण, राजन्य, वैश्य २४८, मधुपर्क का अधिकारी २६५, की पत्नी के प्रति आदर ५७, ५८, पत्नी का अभिवादन १०७, आचार्य की धन ३०३ दण्ड ३६८, शुश्रूषा १०४ आत्मदाह, २०१ आत्मलाग, १६२, १६४, १६७ आत्मा, का रूप १६८-१७२ आग्नेयी, स्त्री की इत्या १८१ आयर्वेण, वेद ३७४ आपद्धर्म, १३६, १५१ आम, चावल १३५ आर्य, प्रमाण १५०, सम्पर्क २०१ आवीसूत्र, मेखला २१ इन्द्रधनु, ८६, २१७ इन्द्रियसंयम, १५३ इष्टि, शुद्धि के लिए १९४
अग्नि, अपवित्र होने पर ११५, परिव्राजक के लिए नहीं ३३९, आधान ३४३, उप-समाधान २२८, २५४ परित्यागी का अन्न अर्घ्य १४१ में प्रवेश १८७, १८८, २०१ की पूजा ३४, ३५६ अग्नि-होथ १०३ हवन ३०९, स्पर्श ३३३, पञ्चाग्नि ३२३, बीच से जाना वर्जित २८४, कर्त्रीचीनीयसंस्था १४० अग्नीष, मिथुक के लिए २४४ अङ्गमङ्ग, प्रायश्चित्त १९१ अजिन, उत्तरीय २४, वैश्य के लिए २२ अणिक, पुत्र से बहने वाला १४२ अतियि, राजा २६१, पूजा १०३, ११०, २२५, मोजम २४५ अद्विवास्वर्णी, ब्रह्मचारी १९ अध्यात्म, १५८ अध्यापन, वर्जित २२० ब्राह्मण के लिए २०५ अनहुद्, बैल, मांस मत्स्य १३१, १३२, इत्या का प्रायश्चित्त १८९ अनध्याय, ४५, २८७ अनुपेत, का प्रायश्चित्त १३ अनुवाक, का अध्ययन वस्तुतः से निषिद्ध ८३ अन्तेवासी, ६५, ३१९ अन्न, विक्रय १५२ अनूप, मक्षण १२१ अमाकृतिक, दौनाचार १९१ अभिवास्त, आत्मवाती २०२, २३४ अभिवादन, गुरु का ४१, वर्णों के लिए ४२, विशि १०५, १०७, २४६ अमेष्प, १२४, १२६ अयस्, मेखला में २१ अलङ्कार, पक्षी का धन ३०४	

उग्र, वर्णसंस्कार से दक्षिणार्ध धन ५६
 उच्छिष्ट, ५१, ५७, २१९, ३२७, गुरु का
 ३०, आचार्यं पुत्र का ५८, पिता और
 माई का ३३, स्त्री का २६९
 उत्सर्जन, कर्म २५३
 उपनयन, ६, १२, ३३६, आचार्य की
 योग्यता ८, उपेत का निवास १६, शूद्र
 के लिए निषिद्ध ५
 उपवास, गृहस्थ के लिए २२६ वैश्वदेव में
 २३९, ३३४
 उपसंग्रहण, ५०, ५७, ७७, ५४, २४९,
 ६३, माई बहनों का १०५
 उपाकर्म, ६७, ८०, ८९, २५२
 उपानह, ५९, निषिद्ध ५३
 उरुकापात, अनध्याय का निमित्त ८५
 ऋतुकाल, में पत्नीगमन २३०, २५२, २८९
 ऋत्विक्, दण्ड से रक्षा ३६८, गुण २७३,
 मधुपर्क ३६५
 ऋषि, कलियुग में अभाव ३९
 ओंकार, मदल ९८
 ओषधि, सूँवने का निषेध ५२, मक्षण ८१
 औदुम्बर, चमस २२९, दण्ड २२
 कण्व, १९८, १४३, १४४
 कन्या, का दोष कथन निषिद्ध २१६
 कम्बल, ब्रह्मचारी का २४
 कर्मग्रहण, ३६० आदि
 कान्जुकी, ५९
 काण्ड, उग्रकर्म, समापन ८०, ८१
 काम, के लिए श्वन्न १९३ मन्त्र २४२
 काम्य, कर्म १०
 कापाय, वस्त्र २२
 कीनाश, कृपित्थान ३६९
 कुम्भट, मांस १३२
 कुमारी, मैथुन ३६२, दोषकरण २१६
 कुमालनाय, २२३
 कुच्छ, व्रत, १९५, १९६, १८७
 कृषि, रथाग का दण्ड ३६९
 कृष्ण, वर्ण, शूद्र १९७ वस्त्र २१२

केशवपन, वैश्वदेव में २३७
 कौरस, १४३, १४४, १९८
 क्रय, विवाह में २९३
 क्रोधादि, दोष १७६, २१९
 क्लीब का, अन्न अग्रश्रा २४३, १४६ उत्तरा
 भिकार नहीं २९४
 क्षत्रिय, ४, अन्न अग्राश्रा १३७, अभिवादन
 १०८, उपनयन की अवधि ११, धर्म
 २७२ इत्या का प्रायश्चित्त १७८
 चार, निषिद्ध १९, ३१
 क्षौमवस्त्र, राजस्य का २२
 खड्ग, (यौद्ध) मांस ३१८
 मन्थ, का रथाग २०
 गर्दम, वा यान २२४, धी ध्वनि से
 अनध्याय ७७
 गुरु, अभिवादन, ४९, की प्रसन्नता ४०,
 समीप बैठने का नियम ४८, की
 प्रदक्षिणा ५२, चरणसेवा ४५, गुरुतृप्य
 १५५, १८५, ३०१ गुरुश्लो का आदर
 ५७
 गृहमेध, ३५६
 गृहतोषी, २२५, २२९, २३८
 गृहस्थ, के भोजन की मात्रा २७०
 गो, रक्षा, प्रायश्चित्त १८३, दान, १७९,
 मधुपर्क में २६५, मांस मत्स्य १३२,
 ३१७, दक्षिणा अतिथि के लिए २६५,
 स्वर्ण वस्त्र २१५
 गोत्र, नियोग में ३६३, विवाह में २७९,
 आचार्य के निकट ५०
 ग्रीष्म, क्षत्रिय का उपनयन १०
 चन्द्र, परित्येव ८६, अनध्याय ८५, २१८
 चमस, ३२९
 चाण्डाल, धी उपस्थिति में अनध्याय ७०,
 अतिथि २६८, स्वर्ण २३४, २३५
 चातुर्मासी, अनध्याय ७२
 चारी, गुप्तचर का अन्न अग्राश्रा १४१
 छुत्र, निषिद्ध ५३
 जटा, ब्रह्मचारी के लिए २१

ऊप, १९३, १९४	निर्कृति, १९२
तप, परिमया ३८, तपस्वी को कर से मुक्ति ३६०	नीहार, कुहरा, अनध्याय ८४, ८६
तामली, शैलला २२	शुप्यमीत, ३५८
तिल, दान ३३२, भक्षण का प्रागञ्चि १९३, १९४, विकस १५३	न्यमोथ, का दण्ड २२
तिष्य तैथा ६७	पत्नी, नाम १३२, मांस १३२, हत्या का प्रागञ्चि ३१८
त्रिमधु, त्रिसुपर्ण, त्रिणाचिकेत, ३२३	पंक्तिगवत, ३२३
त्रिभ्रावण, ९९	पण्य, अपण्या १५१
त्रिसहस्रचत, ९९	पण्डित, १७३
त्रैविष्टक ब्रह्मचर्य, ११	पतनीय कर्म, १५४, १८
दक्षिणा, ५६, ३१९, २१५, शूर के लिए ३१, अतिथिपूर्वा में ३६०, के लिए मिश्रा २७२	पतित, के समीप अनध्याय ६९, १५४, के लिए मार्ग त्याग २७६
दण्ड, ब्रह्मचर्य का २२, अपराध में २७५, ३६५ आदि	पतित, माता के प्रति कर्तव्य २००
दधि, मधुपर्क में ३६५	पत्नी, पञ्चोत्तम ऋतुकाल में २५२, २८९, अर्द्धकरण २२०, परिश्याग २०२, गुरुजनों के समक्ष पत्नी से व्यवहार २५१, का घन ३०४, से वैटवारा नदी ३०५, की शृत्यु पर उपास ३०७
दन्तप्रच्छालन. निविट ६०	पय, पशुओं का २२९-२३०
दह, ७१	परिवेष, सूर्य चन्द्र का ८६
दान, श्राद्ध में ३१७	परिचापन, केशकरण ७४
दाय, २८९	परिवाज, ३३७
दास, का भोजन २७०, का विनिमय १५२	पर्ण, पर केशवपन २३७, उपास २३६
दासी, द्वारा लाया गया भोजन १२५	पलाश, का दण्ड २२
दीक्षित, का भ्रम १४०	पशु, ध्वनि पर अनध्याय ७७, का-दूध १३०, अमस्य १३१, मांस भक्षण
दीक्षित, जुमा खेल्ने वाले ३५७	शशुचिकर १५६, मूल्य के रूप में १३३, १३८, नांस, श्राद्ध में ३१७
देशकुलधर्म, ३०६	शशुनाश, ३७०
शूत, ३५७	शशुप, चरवाहा ३६८
द्रोण, मात्रा ३३२	शागिग्रहण, २२५, ३०५, ३६४
घन, दक्षिणार्ध शूद्र से ५६, उग्र से ५६, समावृत्त का ५५	शाशुका, बर्जिन, २२१
घर्म, का उद्देय १४८, का खोज ३७५	शाडुकी, ५९
घर्ममण्डाद, २२३	शावमानी, मन्त्र १४, १५
धेनुमन्या, २१६	विषयाक, खाद्य पदार्थ ३२४
नगरप्रवेश, बर्जित २२२	विता, के लिए भिक्षण ७३, की शृत्यु पर उपास ३०७, से आचार्य श्रेष्ठ ९, शृत्यु पर अनध्याय ७४, शुश्रूषा १०४
नम, न रहने का आदेश ११२	
नदी, संरक्षण का निषेध २२४	
नरक, ९४	
नियोग, ३६३	

पुत्र, की उत्पत्ति २०६ ज्येष्ठ का वन २१४	भविष्यपुराण, ३५९
पुत्री, का धन ३०३	भिष्ठा, के निमित्त २७१, अमिशस्त के लिए २८२, गुरु के लिए ५५, अन्न की प्रशंसा ३०, आह्वण ब्रह्मचारी के लिए २७, राजन्य, वैश्य का २७
पुराण, से उद्धरण १४५, ३४९	भियक्, चिकित्सक, का अश्रु अमोन्वय १३९, १४६
पुरुष, के वष का दण्ड ३६७	भूत, बलि ९५, २४४
पुष्करसादि, का मत १४४, १९८	भृतवाही, दोष १७५, २१९
पौषकस, वर्णसंकर २३४	भूमिचलन, अनध्याय का निमित्त ८५
प्रजापति, ३५२, ३५३	भोजन, ब्रह्मचारी का १९, मात्रा २७०, 'दमसान' के यहाँ वर्जित १५
प्रदक्षिणा, ५२, २८५	भोज्य, वस्तुएँ १२८
प्राचीन्नावीर्ती, २४३	अणुहा, २०३
प्राणायाम, १९३, २८६	मरस्य, अमध्य १३३, शतबलि ३१८
प्रायश्चित्त, 'दमसान' के लिए १५, आह्वण के लिए १३७	मद्य, अपेय १२९
प्रेङ्ख, २१७	मधु, अतिथि के लिए २५९, प्राह्य १३५, वर्जित १९, ३१, १२८, ३२५
फळ, आदि का ग्रहण ३०१, धृति ३४२, ३४७	मधुपर्क, २६५
घलि, वैशदेव २३९ आदि	मनु, ३०४, ३५०
अस्ताजिन, बकरे का चर्म ३३	मनुष्य, का विनिमय १५२
ब्रह्म, वेद ३८, १००, ४०, १०२	मन्यु, देवता १९३
ब्रह्मचर्य, शैथिल्य ११, विधि १८	महायज्ञ, ९५, सत्र ९५
ब्रह्मचारी, के गुण २५, यज्ञ ३१, सिद्धि ४१, निवृत्त १६, १८, भोजन २७०, नैष्ठिक ३३७	मासिष्ठ, वस्त्र २३
ब्रह्मविदु, ३१८	मांस, गो का ३१७, भैंस का ३१७, गर्दम का १९२, स्वशरीर का हवन के लिए १८८, पक्षियों का ३३२, अतिथि के लिए २५९, भक्षण अष्टाधिकर १५६, विक्रय १५९, प्राह्य १३५, वर्जित १९, ३१, ३२१, १२८, १३३, २५२, ३२५, अनध्याय ८०, उत्तम भोजन ३३१
ब्राह्मसदन, २४२	माता, की सेवा २००, शुश्रूषा १०४, की मृत्यु पर उपवास ३०७, अनध्याय ७४, के पास खाली हाथ न जाना ६४, समावृत्त की ५५, से आचार्य श्रेष्ठ ९, का आशौच ३०७, के लिए भिक्षा २७१, आयु कर्म होना ३२९
ब्रह्महृण, १२	भ्रातृ, का धर्म ३३९, ३४३, भोजन २७०
ब्राह्मण, ४, उपनयन की ऋतु १०, उपनयन की अवधि ११, की मेलना २१, का पलाशदण्ड २२, का वस्त्र ३२, का भिक्षाचरण २७, की अमिवादनविधि ४२, ही आचार्य २४८, से संभाषण ६९, ३३५, का अन्न १३७, शक्यारण का निषेध २०४, का स्पर्श २१५, की सेवा १९७, की गौ की रक्षा १८३, की इत्या का प्रायश्चित्त १८१, वाणिय निषिद्ध १५०, का निवासस्थान ११६, चोर २३४, के प्रति अनादर २४६, की चोरी ३५८, भोजन ३२८, शत्रिय कर्म ३२२, के बीच जाना २८४, अपराधी २७४, के कर्म २७२, के लिए मार्ग २७६	

श्रुत्यु, की कथा २२३
 मेखला, २१, २२
 मैथुन, वर्जित, २०, २१३, २२०, २२८, २३०, २३०, २५२, परकी गमन २८९, ३२२, कुमारी से ३६२
 मौझी, मेखला २२
 यक्षुप्यचित्र मन्त्र, १४
 यज्ञ, १९४, पात्र की शुद्धि १२७, अक्षिधि पूजा २५९
 यज्ञोपवीत, ११०, २४७, ३३१
 यान, निषिद्ध ५३
 योग, १५८
 रजस्वला, माषण निषिद्ध ६९
 राजन्य, उपनयनकाल १०, मेखला २१, दण्ड २२, वस्त्र २२, २३, मृगचर्म २३, भिक्षा २७, अमिवादन ४२, १०७, २४६, चोर २३४, आचार्य २४८, अतिथि २६१
 राजा, के लिए मार्ग २७६, मधुपर्क २६५, उत्तराधिकारी ३०३, का धर्म ३५५
 रुद्र, २१८, २४७, मन्त्र २४३
 रोहिणी, ६७, ७१
 रौरव, रुद्रभृग का चर्म २३
 लवण, वंशित १९, ३१, १२८, १९७, २००, २३८, ३१०
 वचन, का संयम १९३
 वयरय, का अभिवादन १०८
 वर्ण, श्रेष्ठता का विचार ४, का ध्वंस २३४
 वसन्त, माक्षण का उपनयन १०, अनुवाक का अध्ययन निषिद्ध ८३
 वख, ब्रह्मचारी का ४८, कांजुकी ५९, उत्तरीय २४७, स्त्रीवास २३२, लातक का २१२,
 वाजसनेयक, मांसभक्षण विहित १२२
 वागसेनेयिनाह्वण, ९०, ९२
 यागिज्य, निषिद्ध १५०, की बस्तुएँ १५१
 यानभस्त्र, २४२
 यात्राणिस, पशु ३१८

वार्धुषिक, का अन्न अमोक्ष्य १२९
 वार्षार्यणि, का मत १४३, १४४, १९८
 वात, ब्रह्मचारी का बल २२
 विद्या, का विनिमय १५२, से उपनयन में जन्म ९
 विद्युत, अनध्याय का हेतु ७१
 विनिमय, अन्नादि का १५२
 विवाह, प्रकार २८२, के लिए मिथ्या २७१, सवर्णा से २८९, में दान २९३, दूसरा निषिद्ध २७७, माक्षण के यहाँ निषिद्ध १२, 'दमशान' के यहाँ वर्जित १५
 विष्णुक्रम, अतिथिपूजा में २६०
 वृत्ति, अमिश्रित की १८३
 वेद, प्रमाण २४९, ३, छ अंग २६५, से सगर्विणी की श्रेष्ठता ७, अध्ययनकाल १७, अध्ययन की दक्षिणा ५६
 वेदम, राजप्रासाद ३५५
 वेण, मट २३४
 वैभीतक, दूत की मोटी ३५७
 वैरमण, अध्ययन का उत्सर्जन ७३
 वैश्य, ४, उपनयनकाल १०, अदधि ११, मेखला २१, दण्ड २२, बल २२, २३, ब्रह्मचारी की मिथ्या २८, अमिवादन की विधि ४२, १०७, १०८, २४६, आचार्य २४८, के कर्म २७२, इत्या का प्रायश्चित्त १७९, चोर २३४
 वैश्वदेव कर्म, २३६
 व्याहृति, द्वारा सिंचन १४
 ब्राह्म्य, २६१
 बाण, शाणीवस्त्र २२
 शतबलि, मत्स्य ३१८
 शार्दू, में नैरेय का उपनयन १०
 शर्म्या, ७१
 शब्दया, ब्रह्मचारी की १९
 शव, रहने पर अनध्याय ७०, होने पर भोजन निषिद्ध १२२, शवशिरध्वज १८१
 शास्त्र, अनुमान द्वारा ९४
 शिला, वपन के विषय में ७५

शिलाज्जीव, १३९

शुल्क, ३६०

शुश्रूषा, १०४

शूद्र, ४, उपनयन नहीं ५, सेवाक्रम ६,
कुण्य वर्ण १९७, अतिथि २४६, रसोदया
२३६, को विद्या ३७४, वध ३६५,
दण्ड ३६६, कर से मुक्ति ३६९, के लिए
गर्दम का मांस १९२, का प्रायश्चित्त
१९०, इत्या का प्रायश्चित्त १७९,
यौनसंबन्ध १५६, द्वारा लाया
गया अन्न १२३, १२५, अभिवादन
१०८, के समीप अनध्याय ६९, से
दक्षिणार्ध धन ५६, उच्छिष्ट भिक्षा
का दान २९

शूद्र, को देखने पर अनध्याय ६९, मैथुन
का प्रायश्चित्त १९१, १९६, ३६४

रमशान, कई पीढ़ी से अनुपेत १५, में

अनध्याय ६८

श्राद्ध, ३१३ भोजन से अनध्याय ७९, ८४,

का अन्न वर्जित २५२

श्रावणी, ६७, १९४

श्रुति, श्रेष्ठता ३२, २११, ३४९

श्रोत्रिय, १४२, ३२३, ३५३, वध का

प्रायश्चित्त १८४, अतिथि २६३, में

कामुकता ३०४, को भिक्षानिवेदन २८,

मृत्यु पर अनध्याय ७६, का अभिवादन

१०९, को मधुपर्क २६५

श्वेतकेतु, ३९, १०२

संस्कृती, की योग्यता ८

सचेल, ज्ञान ११४

सत्र, में शिखाधपन ७५, महासत्र ९५

सपिण्ड, उत्तराधिकारी २९५

सब्रह्मचारी, के प्रति आदर ५८

समय, पुरुष कृत व्यवस्था १, ९२, शुश्रूषा

९९

समावृत्त, ५५, ९८, १०४, २४९, का

आचार ५८, परिचापन निषिद्ध ७५

समिध्, का आहरण ३४

सर्पिण्, उत्तम भोजन ३३१, अतिथि के लिए
२५९

सखानुषय, ८६

सवन, अतिथिपूर्णा में २६०

सामाचारिक, धर्म १

सामपवित्र, मन्त्र १४

सामगान, पर अनध्याय ७७

सावित्री, को श्रेष्ठता ७, काल बीतने का

प्रायश्चित्त ११, जप १९३, १९४

सिलोच्छ्र, २७२, ३४४

सुरापान, का प्रायश्चित्त १८६

सुवर्ण, को चोरी का प्रायश्चित्त १८६, मूल्य
११८

सूतक, में भोजन र्याख्य १२२

सृप, २४१

सूर्मि, लोहे की स्त्री प्रतिमा १८६, २०१

सूर्य, ग्रहण ८५, परिवेष ८६, चन्द्रमा के
साथ २१८

सैरी, मेलला २२

स्तनयित्तु, ७१, ८४

स्तेन, १८६, १९८, २३४, ३५९

स्त्री, तथा अज्ञकारी २५, कन्या का दोष-

कथन २१६, विशिष्ट वस्त्र २३२, को

विद्या ३७४, को दण्ड ३६५, कुमारी से

मैथुन ३६२, कुल के लिए ३६३, यज्ञा

से मैथुन ३६४, द्वारा होम निषिद्ध

३१०, सवर्णा २८९, का उच्छिष्ट

वर्जित २६९, के लिए मार्ग २७३,

विवाह योग्य कन्या से छेड़लानी

का दण्ड ३६१, कर से मुक्ति ३६०,

परस्त्रीगमन ३२३, गर्भिणी को भोजन

२४५, द्वारा पति का रक्षण २०२, के

लिए प्रायश्चित्त १९०, इत्या का

प्रायश्चित्त १८०, आश्रयी १८१, वध

वर्षों की १५६, स्वर्ण के नाद आचमन

१२०, सुवर्णा वर्जित ५३, अकारण

स्वर्ण वर्जित ५४, देखने पर अनध्याय

६९, नम्र न देखना ५२, अभिवादन

१०७, १०९

श्यालीपाक, २२८, २२९, २३१, २३२	हरिण, का चर्म २३
स्नातक, २०९, २१०, २०४, २६५, दण्ड से	हारिद्र, वल २३
रक्षा ३६८	हारिद्र, १४५, १००, १९८, १९९, २०१,
खान, की विधि ब्रह्मचारी के लिए २०	२०७, २०८
स्वर्ग, ४३, २४४, २३०, २२५, २५१, २७४	होम, ३१०, ३४५
स्वाध्याय, ४१, ३४६	

